श्रीअरविंद-साहित्य

खंड 9

दिव्य जीवन

THE LIFE DIVINE

श्रीअरविंद

भारत सरकार शिक्षा-मंत्रालयकी मानक ग्रंथोंकी
प्रकाशन-योजनाके अंतर्गत प्रकाशित

श्रीअरविंद सोसायटी
पांडिचेरी - 2

1
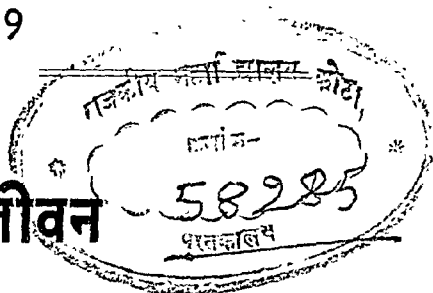
अनुवादक :
श्यामसुन्दर झुनझुनवाला

प्रथम संस्करण वर्ष

भारत सरकार शिक्षा-मंत्रालयकी मानक ग्रंथोंकी प्रकाशन-योजनाके अंतर्गत इस पुस्तकका अनुवाद और पुनरीक्षण वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोगकी देख-रेखमें किया गया है और इस पुस्तककी 1000 प्रतियाँ भारत सरकारद्वारा खरीदी गयी हैं।

मूल्य रु०

Price Rs.

स्वत्वाधिकारी : श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट, पांडिचेरी-2;
प्रकाशक : श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी-2
मुद्रक : सम्मेलन मुद्रणालय, इलाहाबाद (भारत)
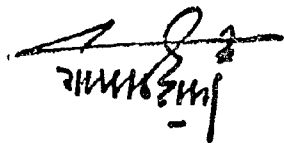
प्रस्तावना

हिंदी और प्रादेशिक भाषाओंको शिक्षाके माध्यमके रूपमें अपनानेके लिये यह आवश्यक है कि इनमें उच्च कोटिके प्रामाणिक ग्रंथ अधिक-से-अधिक संख्यामें तयार किये जायँ। भारत सरकारने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोगके हाथमें सौंपा है और उसने इसे बड़े पैमानेपर करनेकी योजना बनायी है। इस योजनाके अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओंके प्रामाणिक ग्रंथोंका अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाये जा रहे हैं। यह काम अधिकतर राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकोंकी सहायतासे प्रारंभ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वयं अपने अधीन भी करवा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक हमें इस योजनामें सहयोग दे रहे हैं। अनूदित और नये साहित्यमें भारत सरकारद्वारा स्वीकृत शब्दावलीका ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारतकी सभी शिक्षा-संस्थाओंमें एक ही पारिभाषिक शब्दावलीके आधारपर शिक्षाका आयोजन किया जा सके।

'दिव्य जीवन' पुस्तक श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी-२ के द्वारा प्रकाशित की जा रही है। प्रस्तुत ग्रंथ इस पुस्तकका तीसरा और अंतिम भाग है। 'दिव्य जीवन' के मूल लेखक श्रीअरविंद हैं। यह श्रीअरविंदकी प्रधान दार्शनिक कृति है और इसका पुनरीक्षण श्रीअरविंद अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्रके तत्त्वावधानमें हुआ है। आशा है भारत सरकारद्वारा मानक ग्रंथोंके प्रकाशन-संबंधी इस प्रयासका सभी क्षेत्रोंमें स्वागत किया जायगा।

[signature]

अध्यक्ष

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

(केंद्रीय हिंदी निदेशालय)

शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार,

नयी दिल्ली।

विषय-सूची

दिव्य जीवन

द्वितीय ग्रंथ

उत्तरार्द्ध

15. सद्वस्तु और पूर्ण ज्ञान .. 1
16. पूर्ण ज्ञान और जीवन-लक्ष्य; अस्तित्वके चार सिद्धान्त .. 29
17. ज्ञानकी ओर प्रगति—ईश्वर, मनुष्य और प्रकृति .. 60
18. क्रमविकास-प्रक्रिया—आरोहण और समाकलन .. 84
19. सप्तधा अज्ञानमेंसे सप्तधा ज्ञानकी ओर .. 113
20. पुनर्जन्म-तत्त्व .. 133
21. लोक-लोकांतरका क्रम .. 162
22. पुनर्जन्म और अन्यान्य लोक; कर्म, जीव और अमरत्व .. 194
23. मनुष्य और क्रमविकास .. 233
24. आध्यात्मिक मानवका क्रमविकास .. 261
25. रूपांतर-त्रय .. 310
26. अतिमानसकी ओर आरोहण .. 346
27. विज्ञानमय पुरुष .. 399
28. दिव्य जीवन .. 458

परिशिष्ट

हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावली .. 524

दिव्य जीवन

द्वितीय ग्रंथ

विद्या एवं अविद्या

–आध्यात्मिक क्रमविकास

उत्तरार्द्ध

ज्ञान एवं आध्यात्मिक क्रमविकास

अध्याय पन्द्रह

सद्वस्तु और पूर्ण ज्ञान

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन...।

इस आत्माको सत्य द्वारा और सम्यक् या पूर्ण ज्ञान द्वारा उपलब्ध करना होगा।

—मुण्डकोपनिषद्
III.1.5

...समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥
...यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

तुम मुझे मेरे समग्र रूपमें कैसे जानोगे, यह सुनो...कारण, जो साधक सिद्ध हो चुके हैं उनमें भी कोई ही मेरी सत्ताके संपूर्ण सत्यको जानता है।

—गीता
VII.1, 3

अतएव, यही अज्ञानका मूल है, यही उसका स्वरूप, ये ही उसके सीमांत हैं। उसका मूल है ज्ञानका परिसीमन, उसका विशिष्ट धर्म है सत्ताका अपनी अखंडता और संपूर्ण सद्वस्तुसे वियोजन; उसके सीमांतका निर्धारण चेतनाके इस वियोजनकारी विकास द्वारा होता है, कारण यह विकास हमारे अपने सच्चे आत्मा और जगत्के सच्चे आत्मा और समग्र प्रकृतिको हमसे ओझल रखता और हमें दृश्यमान् बहिस्तलीय जीवनमें रहनेको बाध्य करता है। अखंड पूर्णताकी ओर वापसी या प्रगति, परिसीमनका विलोप, पृथगात्मकताका विघटन, सीमांतोंका अतिक्रमण, हमारी मूलभूत और संपूर्ण सत्यताकी पुनःप्राप्ति, इन्हें अवश्य ही ज्ञानकी ओर आंतरिक मोड़का चिह्न और अज्ञानसे विपरीत विशिष्ट धर्म होना चाहिए। सीमित तथा पृथगात्मिका चेतनाके स्थानपर एक मूलभूत और अखंड चेतना अधिष्ठित करनी होगी जो आदि सत्य और आत्मा

तथा विश्व-सत्ताके संपूर्ण सत्यके साथ एकात्म हो। पूर्ण ज्ञान ऐसी वस्तु है जो अखंड सद्‌वस्तुमें विद्यमान ही है; वह कोई नयी या अवतक अस्तित्वहीन रहती वस्तु नहीं जिसका कि मन द्वारा सर्जन या उपार्जन या आविष्कार करना हो, या जिसे मन द्वारा सीखना या वनाना हो, वल्कि वह तो ऐसी वस्तु है जिसे खोज लेना है या जिसके आवरणको हटाना है; वह आध्यात्मिक प्रयासके सामने स्वयं प्रकट होनेवाला सत्य है। वह सत्य वस्तुतः हमारे गभीरतर और महत्तर आत्मामें आवृतावस्थामें विद्यमान है; वह हमारी अपनी आध्यात्मिक चेतनाकी स्वरूप-धातु ही है, और अपने वाह्य आत्मामें भी उसके प्रति जाग्रत् होकर ही हमें उसे अधिकृत करना है। एक पूर्ण आत्म-ज्ञान है जिसका हमें पुनरुद्धार करना है, और चूँकि जगत्-आत्मा भी हमारा ही आत्मा है, अतः वह आत्मज्ञान पूर्ण जगत्-ज्ञान भी होता है। एक ऐसा ज्ञान भी है जिसे मन सीख सकता या निर्मित कर सकता है, उसका अपना मूल्य भी है, परंतु जव हम ज्ञान और अज्ञानकी वात कहते हैं तव हमारा अभिप्राय इस ज्ञानसे नही होता।

अखंड आध्यात्मिक चेतनामें सत्ताके सारे प्रान्तोंका ज्ञान रहता है; वह उच्चतमको निम्नतमके साथ सारी मध्यवर्त्तिनी भूमिकाओं द्वारा संयुक्त करती और एक अविभाज्य संपूर्णको प्राप्त करती है। उच्चतम शिखरपर वह 'निर्विशेष' के सत्-तत्त्वकी ओर उन्मीलित होती है जो अनिर्वचनीय है, कारण वह अपनी ही आत्म-संवित्‌के अलावा सवके लिये अतिचेतन है। हमारी सत्ताके निम्नतम छोरपर उसे निश्चेतना दिखायी देती है जहाँसे हमारे क्रमविकासका आरंभ होता है; परंतु साथ ही उसे उन गहराइयोंमें उस स्वयं-संवृत 'एक' तथा 'सर्व' की संवित् होती है, वह निश्चेतनामें अंतर्गूढ़ रहती चेतनाको अनावृत करती है। उसकी व्याख्या-कारिणी, प्रकटकारिणी दृष्टि, इन दो चरमोंके बीच विचरण करती हुई, 'वहु' में उस 'एक' की अभिव्यक्तिका, सांत वस्तुओंकी असमतामें 'अनंत' की एकसमताका, शाश्वत कालमें कालातीत 'शाश्वत' की विद्यमानताका संधान पाती है; उसका यह देखना ही उसके लिये विश्वका अर्थ प्रकाशित करता है। यह चेतना विश्वका विलोप नहीं करती, वल्कि उसे हाथमें लेती और उसका छिपा हुआ अर्थ लगा कर उसे रूपांतरित करती है। वह व्यष्टि-जीवनका विलोप नहीं करती; वह व्यष्टि-सत्ता और व्यष्टि-प्रकृतिको उनके सामने उनका सच्चा अर्थ

प्रकट करके और दिव्य 'सद्वस्तु' और दिव्य 'प्रकृति'से उनका जो पार्थक्य हो गया है उसे पार करनेमें उन्हें समर्थ करके रूपांतरित करती है।

जब हम पूर्ण ज्ञानकी बात कहते हैं तो एक अखंड 'सद्वस्तु'को मानकर चलते हैं। कारण, वह ज्ञान ऋत-चित्की ही एक शक्ति और वह ऋत-चित् 'सद्वस्तु'की ही चेतना है। परंतु सद्वस्तुके विषयमें हमारे भाव और अनुभव हमारी चेतनाकी स्थिति और गति, उसकी दृष्टि, उसके बल, उसके ग्रहणसामर्थ्यके अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं; यह दृष्टि, यह बल एकाग्र और अनन्य हो सकते हैं या विस्तीर्ण, सर्वग्राही और व्यापक। यह बिलकुल संभव है,—और हमारे विचारके लिये और आध्यात्मिक उपलब्धिकी एक बहुत उच्च भूमिकाके लिये इस प्रवृत्तिका अपने क्षेत्रमें प्रामाण्य भी है,—कि हम अनिर्वचनीय 'निर्विशेष'की सत्ताका प्रतिष्ठापन करें, इसपर बल दें कि वही एकमात्र 'सद्वस्तु' है, व्यष्टि-सत्ता और विश्व-सृष्टिका अपने आत्माके लिये निषेध और विलोप करें, उन्हें अपने सद्वस्तुविषयक भाव और अनुभवसे बाहर निकाल दें। व्यक्तिका सत्-तत्त्व निर्विशेष ब्रह्म है, विश्वका सत्-तत्व भी निर्विशेष ब्रह्म है: व्यक्ति एक परिणाम मात्र, विश्वके अन्दर एक कालिक प्रादुर्भाव है; स्वयं विश्व एक परिणाम, एक अधिक विशाल और अधिक संश्लिष्ट कालिक प्रादुर्भाव है। ज्ञान और अज्ञान, ये दोनों अभिधाएँ इसी प्रादुर्भावकी वस्तुएँ हैं; परम अतिचेतना तक पहुँचनेके लिये दोनोंका अतिक्रमण करना होगा: अहं-चेतना और विश्व-चेतना उसी परम अतिक्रांतिमें विलुप्त हो जाती हैं और रह जाता है केवल 'निर्विशेष'। कारण, 'निर्विशेष' ब्रह्म केवल अपने आत्म-तादात्म्यमें ही रहता है और समस्त अन्य-ज्ञानसे परे है; वहां ज्ञाता और ज्ञेयका भाव और अतएव उस ज्ञानका भाव भी जिसमें वे मिलते और एक हो जाते हैं, विलुप्त हो जाता है, उसका अतिक्रमण हो जाता है, वह अपना प्रामाण्य खो देता है, और फलस्वरूप, निर्विशेष ब्रह्म मन तथा वाणीके लिये सर्वदा अगम्य ही रहेगा। हमने जो दृष्टि सामने रखी है, जिसके अनुसार अज्ञान भी उस दिव्य ज्ञानकी या तो सीमित या संवृत क्रिया ही है जो चेतनमें अंशतः सीमित और निश्चेतनमें संवृत है, उस दृष्टिके विरोधमें या उसके परिपूरकके रूपमें, हम वस्तुओंके क्रमको इस अन्य सिरेसे यह कह सकते हैं कि ज्ञान भी एक उच्चतर अज्ञान ही है, क्योंकि यह उस निर्विशेष 'सद्वस्तु' तक पहुँचनेसे पूर्व एक

जाता है जो अपने-आपके लिये स्वप्रकाश, परंतु मनके लिये अज्ञेय है। इस निर्विशेषवादमें चिंतनका एक सत्य है और आध्यात्मिक चेतनामें होनेवाली परम अनुभूतिका एक सत्य भी; परंतु वह अकेला ही संपूर्ण और व्यापक आध्यात्मिक चिंतनका समग्र स्वरूप नहीं होता और वह परम आध्यात्मिक अनुभूतिकी संभावनाओंको निःशेष नहीं करता।

सद्वस्तु, चेतना तथा ज्ञानपर निर्विशेषवादका दृष्टिकोण प्राचीनतम वेदांतके एक पार्श्वपर प्रतिष्ठित है, परंतु वह उसकी समूची विचारधारा नहीं। उपनिषदोंमें, जो कि प्राचीनतम वेदांतके प्रेरणालब्ध शास्त्र हैं, हमें निर्विशेष ब्रह्मकी अभिपुष्टि मिलती है, शुद्ध एवं अनिर्वचनीय विश्वातीत स्वरूपका अनुभूत प्रत्यय मिलता है; परंतु, 'निर्विशेष'की अभिपुष्टिके खंडन-रूपमें नही वरन् उपपरिणाम रूपमें, हमें विश्वक दिव्य पुरुषकी अभिपुष्टि भी मिलती है, विश्वात्माका और विश्वमें ब्रह्मकी संभूतिका अनुभूत प्रत्यय भी मिलता है। समान रूपसे हमें व्यक्तिके अंदर भागवत् 'सद्वस्तुकी' अभिपुष्टि मिलती है: यह भी एक अनुभूत प्रत्यय है; उसे किसी प्रतिमासकी तरह नहीं, वरन् वास्तविक संभूतिकी तरह स्वीकार किया गया है। विश्वातीत 'निर्विशेष'के अतिरिक्त अन्य सब कुछको अस्वीकार करनेवाली अनन्य, चरम और ऐकांतिक अभिपुष्टिके स्थानपर हमें एक सर्वग्राही अभिपुष्टि उसके दूरतम निष्कर्षतक ले जायी गयी मिलती है: 'सद्वस्तु' एवं 'ज्ञान'का यह प्रत्यय, जो वैश्व और 'निर्विशेष' को एक ही दृष्टिमें आच्छादित कर लेता है, हमारी अपनी दृष्टिसे मूलतः एकमेल है; कारण, इसमें यह निहित है कि अज्ञान भी ज्ञानका एक अर्ध-आवृत अंग है और जगत्-ज्ञान आत्म-ज्ञानका अंग। ईशोपनिषद् परम ब्रह्मकी समस्त अभिव्यक्तियोंकी एकता और सत्यता पर बल देती है; वह सत्यको किसी एक पहलूमें ही सीमित करना अस्वीकार करती है। ब्रह्म अचल है और सचल भी, आंतरिक है और बाह्य भी; वह वह सब कुछ है जो समीप है और दूर है, चाहे आध्यात्मिक रूपसे हो, चाहे काल और देशके विस्तारमें; वही सत्पुरुष है और सारी संभूतियां भी, वह लक्षण और कर्मसे रहित 'शुद्ध' एवं 'नीरव' है, जगत् और जागतिक पदार्थोंका संगठक 'कवि' और 'मनीषी' है; वह वह 'एकं' है जो विश्वमें वह सब बन जाता है जिसका हमें बोध होता है, वह सर्वानु-स्यूत है और वह भी जिसमें वह निवास करता है। उपनिषद्की घोषणा है कि पूर्ण एवं मुक्तिदायक ज्ञान वह है जो न तो आत्माका वर्जन

करता है, न उसकी सृष्टियोंका: प्रमुक्त पुरुष इन सबको 'स्वयम्भू'की संभूतियोंकी नाईं देखता है, वह देखता है एक आंतरिक दृष्टिसे और ऐसी चेतनासे जो विश्वको अपने-आपके अन्दर देखती है, न कि, जैसा सीमित और अहमात्मक मन करता है, बहिर्मुखी होकर उन्हें अपने-आपसे भिन्न वस्तुकी नाईं बाहरकी ओर देखती हो। वैश्व अज्ञानमें रहना अंधता है, परन्तु ज्ञानके ऐकांतिक निर्विशेषवादमें आबद्ध हो जाना भी अंधता है: ब्रह्मको युगपत् और साथ-साथ ज्ञान और अज्ञानके रूपमें जानना, परा स्थितिकी प्राप्ति 'संभूति' और 'असंभूति'के यौगपद्य द्वारा करना, विश्वातीत और विश्वात्माकी उपलब्धिको साथ साथ संबंधित करना, अपार्थिवमें अधिष्ठान और पार्थिव सृष्टिमें आत्म-संविन्मय अभि-व्यक्ति संसिद्ध करना,—यही पूर्ण ज्ञान है, यही अमृतत्त्वका भोग है। संपूर्ण ज्ञानसे युक्त यह संपूर्ण चेतना ही दिव्य जीवनकी भित्तिका निर्माण करती और दिव्य जीवनकी प्राप्ति संभव करती है। इससे यह परिणाम निकलता है कि 'निर्विशेष'की निर्विशेष तात्त्विकता कोई अनमनीय अनिर्देश्य एकत्व नहीं होगी, कोई वैसी अनंतता नहीं होगी जो उन सबसे रहित हो जो शुद्ध स्वयम्भू सत्ता नहीं और केवल वह और सांतके अपवर्जन द्वारा ही प्राप्य हो, वरन् ऐसी वस्तु ही होगी जो इन परिभाषाओंसे परे है, वस्तुतः किसी भी वर्णनसे परे है, वह चाहे इतिवाचक हो या नेतिवाचक। समस्त इतिवाद और नेतिवाद उसके रूपोंके व्यंजक हैं, और हम चरम इतिभाव तथा चरम नेतिभाव दोनोंके द्वारा ही निर्विशेष तक पहुँच सकते हैं।

सुतरां, एक ओर हमें यह कहा जाता है कि निर्विशेष स्वयम्भू, शाश्वत अद्वय आत्म-सत्ता ही सद्वस्तु है और नीरव तथा निष्क्रिय आत्मा या उदासीन निश्चल पुरुषकी अनुभूति द्वारा हम इस अलक्षण एवं अव्यवहार्य निर्विशेषकी ओर बढ़ सकते हैं, स्रष्ट्री शक्ति चाहे भ्रमात्मिका माया हो चाहे रचयित्री प्रकृति, उसके क्रियाकलापोंको अस्वीकार कर सकते हैं, विश्व-भ्रांतिके सारे चक्करसे परित्राण पाकर शाश्वत शांति एवं निश्चल-नीरवतामें चले जा सकते हैं, अपनी व्यक्तिगत सत्तासे छुटकारा पा सकते हैं और अपने-आपको उस एकमात्र सच्चे 'सत्'में खो दे सकते या पा ले सकते हैं। दूसरी ओर हमें एक 'संभूति' मिलती है जो 'सत्पुरुष'की सच्ची गतिधारा है, और सत्ता तथा संभूति दोनों एक ही निर्विशेष 'सद्वस्तु'के सत्य हैं। पहली दृष्टि उस दार्शनिक धारणापर प्रतिष्ठित है जो हमारे चिंतनमें आनेवाले इस चरम बोधको, हमारी चेतनामें आनेवाले

इस ऐकांतिक अनुभवको निरूपित करती है कि वह 'निर्विशेष' सकल संबंधों और निर्देशनाओंसे रहित सद्वस्तु है: इसके परिणामस्वरूप यह तर्कसंगत और व्यावहारिक आवश्यकता स्थापित होती है कि सापेक्षताओंके जगत्‌को अवास्तव सत्ताका मिथ्यात्व मानकर, असत् या कमसे कम, एक निम्नतर और क्षणभंगुर, कालिक और व्यावहारिक स्वानुभव मानकर अस्वीकार किया जाय, और आत्माको उसकी मिथ्या अनुभूतियों या अवर रचनाओंसे मुक्त करनेके लिये उस जगत्‌को चेतनामेंसे काट निकाला जाय। दूसरी दृष्टि 'निर्विशेष'के विषयमें इस धारणापर आधारित है कि वह न तो इति-भावसे, न नेतिभावसे ही सीमेय है। वह इस अर्थमें सारे संबंधोंसे परे है कि वह अपनी सत्ताकी शक्तिमें किन्हीं भी सापेक्षताओंसे न तो बद्ध है, न सीमेय ही: हमारी सापेक्ष धारणाएँ उच्चतम हों या निम्नतम, इतिवाचक हों या नेतिवाचक, उनसे वह 'निर्विशेष' नहीं बँध सकता, वे 'निर्विशेष'की परिधि नहीं बन सकतीं; 'निर्विशेष' न तो हमारे ज्ञानसे आबद्ध है, न अज्ञानसे, न हमारे सत्ता-संबंधी प्रत्ययसे, न अ-सत्ता संबंधी प्रत्ययसे। फिर, उसे यह कहकर भी सीमित नहीं किया जा सकता कि वह संबंधोंको धारण करनेमें, उनका पोषण और सर्जन या उन्हें अभिव्यक्त करनेमें असमर्थ है: इसके विपरीत, एकत्वकी अनंतता और बहुत्वकी अनंततामें अपने-आपको अभिव्यक्त करनेके सामर्थ्यको उसकी निर्विशेषताका ही अंतर्निहित बल, चिह्न, परिणाम माना जा सकता है, और यह संभावना अपने-आपमें ही विश्व-सत्ताकी एक पर्याप्त व्याख्या है। निस्संदेह, संबंधोंके विश्वकी सृष्टि करनेके लिये 'निर्विशेष' स्वरूपतया बाध्य नहीं, किंतु साथ ही वह किसी विश्वकी सृष्टि नहीं करनेके लिये भी बाध्य नहीं हो सकता। स्वयं वह कोई शुद्ध रिक्तता नहीं; कारण, रिक्त निर्विशेष निर्विशेष नहीं,—हमारी यह धारणा कि कोई शून्य है केवल इस बातका धारणात्मक चिह्न है कि हमारा मन उसे जानने या पकड़नेमें असमर्थ है: जो कुछ भी है और जो कुछ भी हो सकता है उसकी किसी अनिर्वचनीय सारसत्ताको वह अपने अन्दर धारण किये रहता है; और चूंकि वह उस सारसत्ता और उस संभावनाको अपने अंदर धारण किये रहता है, अतः हमारे या जगत्‌के अस्तित्वके लिये जो कुछ भी मूलभूत है उसके चिर-स्थायी सत्य या उसकी अंतर्निहित, भले ही सुप्त, और साध्य वास्तविकताको वह अपनी अद्वितीयताकी किसी रीतिमें अवश्य धारण किये होगा। यह साध्य वास्तविकता जब साकार होती है

या यह चिरस्थायी सत्य जब अपनी संभावनाओंका प्रविस्तार करता है तो उसे ही हम अभिव्यक्ति या सृष्टि कहते और विश्वरूपमें देखते हैं।

अतः निर्विशेष या परब्रह्मके सत्यकी धारणा या उपलब्धिमें विश्वके सत्यके वर्जन या विलोपनका कोई अंतर्निहित अनिवार्य परिणाम नहीं। एक मूलतः अवास्तव विश्व किसी भाँति भ्रमकी एक अव्याख्येय शक्ति द्वारा अभिव्यक्त हो गया है, निर्विशेष ब्रह्मकी उसपर दृष्टि नहीं होती, या वह उससे अलग रहता है, और जैसे स्वयं वह विश्वसे अप्रभावित रहता है वह भी विश्वको प्रभावित नहीं करता, —यह धारणा, मूलतः, 'तत्' को सीमित करनेके लिये हमारी मनश्चेतनाके ही असामर्थ्यका 'तत्' पर अध्यारोप है। हमारी मनश्चेतना जब अपनी सीमाओंको पार कर जाती है तो अपना ज्ञानका स्वीय पंथ और साधन खो देती और निष्क्रियता या अवसानकी ओर बढ़ती है; साथ ही अपनी पूर्व अंतर्वस्तुओंपरसे उसकी पकड़ छूट जाती या छूट जाना चाहती है, एक समय उसके लिये जो कुछ एकमात्र वास्तव था उस सबकी वास्तवताकी उसकी धारणा विच्छिन्न हो जाती या हो जाना चाहती है: निर्विशेष परब्रह्मकी धारणा इस रूपमें करके कि वह नित्य अव्यक्त है हम उसपर यह अध्यारोप करते हैं कि उसमें भी ऐसी ही असमर्थता है, जो कुछ हमारे लिये अवास्तव हो गया है या हमें अवास्तव लगता है उससे वह पृथक् है या उसकी ओरसे तटस्थ है; हमारी यह धारणा होती है कि हमारे मनकी निवृत्ति या आत्म-निर्वापण होनेपर जैसा होता है, उस ब्रह्मको अपने शुद्ध निर्विशेष स्वरूपके ही कारण प्रातिभासिक अभिव्यक्तिके इस जगत्के साथ सारे संबंधोंसे रिक्त होना ही चाहिये, उसे जगत्को संबोध या किसी क्रियात्मक संरक्षणका अवलंब देनेमें, जिससे जगत्को एक वास्तवता प्राप्त हो जाय, असमर्थ रहना ही चाहिये, या यदि ऐसा कोई संबोध हुआ भी, तो उसका स्वरूप एक ऐंद्रजालिक मायाका होगा, एक ऐसी 'अस्ति'का होगा जो है नहीं। परंतु यह अनुमान करनेका कोई बाध्यकारी कारण नहीं कि यह खाई होगी ही; हमारी सापेक्ष मानवीय चेतना किसके लिये समर्थ है और किसके लिये असमर्थ, यह परम सामर्थ्यका मापक या मानक नहीं; उसकी धारणाएँ परम कोटिकी आत्म-संवित्पर लागू नहीं की जा सकतीं: हमारे मानसिक अज्ञानको अपने-आपसे निस्तार पानेके लिये जो आवश्यक रहता है वह परब्रह्मके लिये आवश्यक नहीं हो सकता; परब्रह्मको न तो अपने-आपसे निस्तार पानेकी

आवश्यकता होती है, न ऐसा ही कोई कारण रहता है कि जो उसके लिये संबोध्य है उसे संबोधगत करनेसे वह पराङ्मुख हो।

एक वह अव्यक्त अज्ञेय है; एक यह व्यक्त ज्ञेय है जो हमारे अज्ञानके सामने अंशतः व्यक्त और उस दिव्य ज्ञानके सामने संपूर्णतः व्यक्त है जो उसे अपनी अनंततामें धारण किये हुए है। यदि यह सत्य है कि वह अज्ञेय हमारी पकड़में न तो अज्ञान द्वारा और न हमारे आत्यंतिक तथा विशालतम मनोमय ज्ञान द्वारा ही आ सकता है, तो साथ ही यह भी सत्य है कि चाहे हमारे ज्ञान द्वारा हो चाहे हमारे अज्ञान द्वारा, 'तत्' अपने-आपको विविध रूपसे अभिव्यक्त करता है; कारण, वह अपने-आपसे भिन्न अन्य किसी वस्तुको अभिव्यक्त नहीं कर सकता, क्योंकि अन्य किसी भी वस्तुका अस्तित्व नहीं हो सकता: अभिव्यक्तिके इस वैचित्र्यमें वही 'एकत्व' है और विविधत्वके द्वारा हम उस 'एकत्व'को स्पर्श कर सकते हैं। परन्तु ऐसा होनेपर भी, इस सह-अस्तित्वको स्वीकार करनेपर भी, यह संभव रहता है कि 'संभूति'को तिरस्कृत करनेका अन्तिम फैसला और दंड निर्णीत कर दिया जाय और यह निश्चित कर दिया जाय कि उसका परित्याग और निर्विशेष सत्तामें वापस गमन आवश्यक है। यह निर्णय 'निर्विशेष'की वास्तव वास्तवता और सापेक्ष विश्वकी खंडित और भ्रमकारी वास्तवताके बीचके भेदपर आधारित हो सकता है।

कारण, ज्ञानके इस उन्मेषमें हमें 'एक' और 'बहु'की दो कोटियाँ वैसे ही मिलती हैं, जैसे सांत और अनंत, वह जो संभूत होता और वह जो संभूत नहीं होता पर नित्य सत् है, रूपी और अरूप, आत्मा और जड़, परम अतिचेतन और अवम निश्चेतना। इस द्वैत बोधमें और इससे निस्तार पानेके लिये हमारे लिये यह मार्ग खुला रहता है कि हम इस द्वैतमेंसे एककी प्राप्तिको ज्ञान कहें, और दूसरेकी प्राप्तिको अज्ञान। वैसी अवस्थामें हमारे जीवनका चरम पुरुषार्थ होगा संभूतिके अवर सत्यमेंसे निवृत्त होकर 'सत्' के महत्तर सत्यकी ओर गमन, अज्ञानमेंसे ज्ञानकी ओर छलांग और अज्ञानका वर्जन, 'बहु' से प्रस्थान कर एक'में, सांतसे अनंतमें, रूपसे अरूपमें, भौतिक विश्वके जीवनसे अध्यात्म-सत्तामें, निश्चेतनाके वर्तमान अधिकारमेंसे निकलकर अतिचेतन सत्तामें अभिगमन। इस समाधानमें यह मान्यता है कि हमारी सत्ताकी दोनों कोटियोंके प्रत्येक युग्ममें उनके बीच एक अटल विरोध है, उनमें अंततः मेल नहीं बैठाया

जा सकता। या, यदि दोनों ही ब्रह्मको अभिव्यक्त करनेके साधन हों तो इनमें जो अवर कोटि है वह मिथ्या या अपूर्ण सूत्र है, ऐसा साधन है जो निश्चित रूपसे विफल होगा, ऐसा मूल्य-तंत्र है जो हमें अंतमें संतुष्ट नहीं कर सकेगा। बहुत्वके संभ्रमोंसे असंतुष्ट हो कर, उससे प्रकट हो सकनेवाले उच्चतम प्रकाश, शक्ति और आनंदका भी तिरस्कार करते हुए, हमें आगे बढ़कर उस परम एकाग्रता और एक-स्थितिताकी ओर जाना ही होगा जिसमें सारे आत्म-वैचित्र्यका विराम हो जाता है। हम अपने-आपपर अनंतके दावेके कारण सांतके बंधनोंमें सर्वदा निवास करते रहने या वहाँ संतुष्टि, विशालता और शांति पानेमें अक्षम हैं, अतः हमें वैयक्तिक प्रकृति और विश्व-प्रकृतिके सारे बंधनोंको तोड़ देना होगा, सारे मूल्यों, प्रतीकों, प्रतिरूपों, आत्म-संज्ञाओं और असीमेयकी सीमाओंको नष्ट कर देना होगा और अपनी स्वीय अनंततासे नित्यतुष्ट 'आत्मा'में समस्त क्षुद्रता और विभाजनको निमज्जित कर देना होगा। रूपोंसे विरक्त होकर,, उनके मिथ्या और चंचल आकर्षणोंके सम्मोहनसे निकलकर, उनकी द्रुत अचिरता और उनके पुनरावर्तनके व्यर्थ चक्रसे क्लांत और भग्नोत्साह होकर, हमें प्रकृतिके चक्रोंमेंसे निकलकर शाश्वत 'सन्मात्र'की रूपहीनता और लक्षणहीनतामें चले जाना ही होगा। जड़तत्त्व और उसकी स्थूलतासे लज्जित होकर, प्राणके निष्प्रयोजन स्पंदन और विक्षोभके प्रति अधीर होकर, मनकी निरुद्देश्य दौड़से क्लांत होकर या उसके सारे लक्ष्यों और उद्देश्योंकी निश्चित व्यर्थताका बोध पाकर, हमें मुक्त होकर 'आत्मा'की शाश्वत प्रशांति और शुचितामें चले जाना ही होगा। निश्चेतन है एक निद्रा या कारावास, चेतन है अंतमें परिणामहीन प्रयासोंका चक्र या स्वप्न-का भटकना: हमें जाग्रत होना होगा अतिचेतनमें जहाँ 'शाश्वत'के आत्म-ज्योतिर्मय आनंदमें रात्रि और अर्ध-प्रकाशोंके सारे अंधकारका अवसान हो जाता है। 'शाश्वत' ही हमारी शरण है; बाकी सब मिथ्या मूल्य हैं, अज्ञान हैं, अज्ञानकी भूलभुलैयाएँ हैं, जीवका प्रापंचिक प्रकृतिमें आत्म-व्यामोह हैं।

हमारी ज्ञान और अज्ञान-विषयक धारणा इस निषेधको और इसके आधारगत विरोधी भावोंको अस्वीकार करती है: वह इनमें पुनर्मेल बैठानेके एक विशालतर समाधानका संकेत करती है, भले ही वह अधिक कठिन क्यों न हो। वस्तुतः हम देखते हैं कि ये जो प्रतीयमान रूपसे विरोधी अभिधाएँ हैं, एक और बहु, रूप और अरूप, सांत और अनंत,

इनका उतना परस्पर विरोध नहीं, जितना कि परस्पर संपूरण; ये ब्रह्मके पर्यायक्रमसे आनेवाले वैभव नहीं है—ऐसा नहीं है कि अपनी सृष्टिमें ब्रह्म अपने-आपको बहुत्वमें प्राप्त करनेके लिये एकत्वको चिर रूपसे खो देता हो, और अपने-आपको बहुत्वमें न खोज पाकर, एकत्वकी प्राप्तिके लिये बहुत्वको पुनः खो देता हो,—वरन् ये ब्रह्मके दोहरे और सहवर्ती वैभव हैं जो एक दूसरेकी व्याख्या करते हैं; ये कोई ऐसे विकल्प नहीं जिनमें परस्पर सामंजस्य बैठाना आशासे परे हो, वरन् उस एक ही 'सद्वस्तु'के दो चेहरे हैं, जिनमेंसे प्रत्येकको केवल पृथक्-पृथक् जाँच कर नहीं, अपितु दोनोंकी साथ-साथ अनुभूति करके हम उस 'सद्वस्तु' तक पहुँच सकते हैं;—यद्यपि ऐसी पृथक् जाँच भी ज्ञानकी प्रक्रियाका एक न्याय्य, यहाँ तक कि अनिवार्य डग या अंग भी हो सकती है। ज्ञान निस्संदेह उस 'एक'का ज्ञान है, 'सत्पुरुष'की उपलब्धि है और अज्ञान है 'सत्पुरुष'का आत्मविस्मरण, बहुत्वमें पृथक्त्वका अनुभव और संभूतियोंकी टीकसे न समझी गयी भूलभुलैयामें रहना या चक्कर लगाना: परंतु इसका उपचार तब हो जाता है जब संभूतिगत जीव वर्द्धित होता हुआ उस सत्पुरुषका ज्ञान, उस सत्पुरुषकी संवित् प्राप्त करता है जो बहुत्व-भावमें ये सकल भूत हो जाता है, और ऐसा इस कारण हो सकता है कि उनका सत्य उसकी कालातीत सत्तामें पहलेसे विद्यमान है। ब्रह्मका संपूर्ण ज्ञान ऐसी चेतना है जिसमें ये दोनों साथ अविकृत रहते हैं, और इनमेंसे किसीका भी ऐकांतिक अनुसरण सर्वगत सद्वस्तुके सत्यके किसी एक पहलूको दृष्टिसे अवरुद्ध कर देता है। समस्त संभूतियोंसे अतीत सत्पुरुषकी प्राप्ति द्वारा हमें विश्वजीवनकी आसक्ति और अज्ञानके बंधनोंसे स्वतंत्रता मिलती है और उस स्वतंत्रता द्वारा संभूति तथा विश्व-जीवन पर मुक्त अधिकार होता है। संभूतिका ज्ञान ज्ञानका अंग है; वह अज्ञानवत् केवल इस कारण कार्य करता है कि हम उसमें बंदी होकर रहते हैं, अविद्यायां अंतरे, सत्पुरुषके 'एकत्व'को गृहीत नहीं रखते जो कि उसका आधार, उसका उपादान, उसका आत्मा और उसकी अभिव्यक्तिका कारण है, और जिसके बिना संभूति संभव नहीं हो सकती थी।

वस्तुतः, ब्रह्म केवल संबंधोंसे अतीत, अलक्षण एकत्वमें ही नहीं, विश्व-जीवनके बहुत्वके अंदर भी एक है। विभाजनकारी मनकी क्रियाओंके प्रति संविद् रहता हुआ, परंतु उससे सीमित न होता हुआ, ब्रह्म अपने

एकत्वको बहुमें, संबंधोंमें, संभूतिमें भी उतनी ही सहजतासे प्राप्त करता है जैसे बहुत्वसे, संबंधोंसे, संभूतिसे अलग हट जानेमें। तो, हमें भी, यदि उसके एकत्व को ही संपूर्णतया प्राप्त करना है, उसे विश्वके अनंत आत्म-वैचित्र्यमें प्राप्त करना होगा, क्योंकि वह वहाँ भी विद्यमान है, वही सब कुछ है। बहुत्वकी अनंतता अपनी व्याख्या और न्याय-संगति केवल तब पाती है जब वह उस 'एक'की अनंततामें अंतर्विष्ट और उसके द्वारा अविकृत हो; परंतु उस 'एक' की अनंतता भी अपने-आपको बहुकी अनंततामें बाहर उँड़ेलती और आत्म-प्रतिष्ठ रहती है। अपनी ऊर्जाओंका यह बहिर्प्लावन करना और साथ ही अपने-आपको उसमें खो नहीं देना, उसके उलटफेरों और विभिन्नताओंकी असीमता और अंतहीनतासे पराजित होकर पीछे नहीं हटना और साथ ही उसके परिवर्तन-वैचित्र्यमें स्वयं विभक्त नहीं होना, यह सामर्थ्य निर्मुक्त पुरुषकी, अपने स्वीय अमर आत्म-ज्ञानको अविकृत रखनेवाले चिन्मय पुरुषकी दिव्य शक्ति है। 'आत्मा'के सांत आत्म-वैचित्र्य, जिनमें मन आत्मज्ञानको खोकर फँस जाता और वैचित्र्योंमें बिखर जाता है, फिर भी अनंतके निराकरण नहीं, उसकी अंतहीन अभिव्यंजनाएँ ही होते हैं और उनके अस्तित्वका कोई दूसरा कारण या अर्थ नहीं होता: अनंत भी, जब वह अपनी असीम सत्ताके आनंदमें प्रतिष्ठित रहता है, उसी असीमताके आनंदको विश्वमें अपने अनंत आत्म-सीमांकनमें प्राप्त करता है। दिव्य पुरुष अपने सारमें सकल रूपोंसे अतीत होनेके कारण असंख्य रूप धारण करनेमें असमर्थ नहीं; उन्हें धारण करनेसे वह अपना दिव्यत्व भी नहीं खोता, बल्कि उनके अंदर अपनी सत्ताके आनंद और अपने देवत्वकी महिमाओंको उँडेलता है। इस स्वर्णका स्वर्ण रहना इस कारण समाप्त नहीं हो जाता कि वह सब प्रकारके आभूषणोंमें गढ़ा जाता है और बहुसंख्यक मुद्राओं और मूल्योंमें मुद्रित होता है, और पृथ्वी-शक्ति भी, जो कि इस सारी रूपायित भौतिक सत्ताका तत्त्व है, अपना निर्विकार दिव्य भाव इस कारण नहीं खो देती कि वह निवासयोग्य जगतोंमें रूपायित होती, पहाड़ियों और खाइयोंमें बिखरती, गृहस्थ और परिवारके बर्तनों, या कठोर धातुरूपमें अस्त्रशस्त्र और इंजिनके रूपोंमें ढाली जानेको तैयार मिलती है। जड़तत्त्व,——स्वयं रूपधातु, वह सूक्ष्म हो या घनी, मनोमयी हो या मृन्मयी,——अध्यात्म-सत्ताका रूप और शरीर है और यदि उसे अध्यात्म-सत्ताकी स्वाभिव्यक्तिका आधार नहीं बनाया जा सकता था तो उसका

कभी सृजन नहीं होता। भौतिक विश्वकी प्रतीयमान निश्चेतना अपने अंदर अंधकारमें उस सबको धारण किये रखती है जो ज्योतिर्मय अतिचेतनमें शाश्वत रूपसे स्वतः-प्रकट है; उसे कालमें प्रकट करना प्रकृतिका धीमा और स्वेच्छाकृत आनंद और उसके युगचक्रोंका लक्ष्य है।

परंतु सद्‌वस्तुके विषयमें अन्य धारणाएँ भी हैं, ज्ञानके स्वरूपके विषयमें अन्य धारणाएँ भी हैं जो विचारणीय हैं। एक यह दर्शन है कि जो कुछ भी अस्तित्वमें है 'मन'की विषयिगत रचना है, 'चेतना'का निर्माण है, और यह मात्र भ्रम है कि 'चेतना'से स्वतंत्र कोई स्वयम्भू विषय-वस्तु है, कारण, वस्तुओंकी किसी ऐसी स्वयंभू सत्ताका कोई प्रमाण न तो हमारे पास है और न हो सकता है। इस दृष्टिकोणका परिणाम यह हो सकता है कि सृजनात्मिका 'चेतना' एकमात्र 'सद्‌वस्तु'के रूपमें प्रतिष्ठित हो जाय या सारे ही अस्तित्वको अस्वीकार किया जाय और 'असत्' या कोई निर्ज्ञान शून्य एकमात्र 'सद्‌वस्तु'के रूपमें प्रतिष्ठित हो जाय। कारण, एक दर्शनके अनुसार चेतनाकी निर्मित वस्तुओंमें कोई अंतर्भूत सत्यता नहीं होती, वे निर्मितियाँ मात्र होती हैं; यहाँ तक कि जो चेतना उनका निर्माण करती है वह भी अनुभवोंका एक प्रवाह मात्र है, वे अनुभव संबंध और अविच्छिन्नताका रूप धारण करते और अविच्छिन्न कालके बोधकी रचना करते हैं, परंतु सत्यतः इन वस्तुओंका कोई स्थिर आधार नहीं, क्योंकि वे प्रतीयमान वास्तवता ही हैं। इसका अर्थ यह होगा कि एक तो आत्म-चेतन अस्तित्व और दूसरे जो कुछ भी सत्ताकी गतिधाराका उपादान है, इन दोनोंका शाश्वत अभाव ही सद्‌वस्तु है; ज्ञानका अर्थ होगा निर्मित विश्वके प्रतिभाससे हटकर उस अभावकी ओर वापसी। इस भाँति आत्म-निर्वापण द्विविध और संपूर्ण होगा, पुरुषका विलोप, प्रकृतिकी निवृत्ति या विलोप; कारण, पुरुष और प्रकृति हमारी सत्ताके द्विदल हैं और उनके अंदर वह सब आ जाता है जिसे हम अस्तित्व कहते हैं, और इन दोनोंका अभाव पूर्ण निर्वाण है। अतएव, सत्-तत्त्व या तो एक निश्चेतना होगा जिसमें यह प्रवाह और ये निर्माण प्रकट होते हैं या एक अतिचेतना जो आत्मभाव या अस्तित्व-भावसे परे होगी। परंतु विश्वके संबंधमें यह दृष्टि वस्तुओंके प्रतीयमान रूपके संबंधमें ही तबतक सत्य होती है जबतक हम अपने बाह्य मनको चेतनाका समग्र स्वरूप मानते हों; उसी 'मन'की क्रियाके वर्णन-रूपमें

यह प्रामाणिक है; वहाँ, निस्संदेह, सब कुछ एक प्रवाह और अचिर 'चेतना'का एक निर्माण दिखायी देता है। परंतु यदि कोई श्रेष्ठतर और गभीरतर आत्म-ज्ञान और जगत्-ज्ञान हो, तादात्म्य-जनित ज्ञान हो, ऐसी चेतना हो जिसके लिये वह ज्ञान स्वाभाविक है, ऐसा 'सत्पुरुष' हो जिसके लिये वह चेतना शाश्वत आत्म-संवित् है, तो यह दृष्टि अस्तित्वके संपूर्ण विवरणके रूपमें मान्य नहीं रह सकती; कारण, तब विषयी और विषय, दोनों उस चेतना और पुरुषके लिये सत्य और अंतरंग हो सकते हैं, दोनों उसके अंश, उसके स्वरूपके रूप, उसकी सत्ताके लिये प्रामाणिक हो सकते हैं।

दूसरी ओर, यदि निर्माता 'मन' या 'चेतना' सत्य हो और एकमात्र सत्यता हो, तो भौतिक सत्ताओं और पदार्थोंका अस्तित्व तो हो सकता है, किंतु वह शुद्धतः विषयिगत-संरचनात्मक होगा, उसे चेतनाने अपने-आपमेंसे बनाया होगा, उसे चेतनाने टिकाए रखा होगा और उनका विलोप होनेसे उस चेतनामें ही उसका विघटन होगा। कारण, यदि और कुछ भी नहीं है, स्रष्ट्री शक्तिके आधाररूपमें कोई 'सत्' या 'पुरुष' नहीं है, कोई धारयिता 'शून्य' या 'असत्' भी नहीं है, तो सब कुछकी सृष्टि करनेवाली स्वयं इस चेतनाकी सत्ता या रूपधातु होनी ही चाहिये या स्वयं उसे सत्ता या रूपधातु होना चाहिये; वह यदि निर्माण खड़े कर सकती है तो वे अवश्य ही उसीकी रूपधातुसे बने निर्माण या उसीकी सत्ताके रूप होंगे। जो चेतना किसी 'सत्' की नहीं या स्वयं ही सत्ता-स्वरूप नहीं, वह अवश्य ही एक अवास्तवता होगी, शून्यकी या शून्यमें दृक्शक्ति मात्र होगी जो वहाँ 'कुछ नहीं'से बने अवास्तव निर्माण खड़े करती होगी,—यह सिद्धांत, जब तक सारे अन्य सिद्धांत अमान्य नहीं प्रमाणित हो जाते, आसानीसे स्वीकार्य नहीं। सुतरां यह स्पष्ट हो जाता है कि हम जिसे चेतनावत् देखते हैं वह अवश्य ही कोई पुरुष या सत्ता है जिसके चेतना-उपादानसे ही सब कुछका सर्जन हुआ है।

परंतु यदि हम इस प्रकार सत्ता और चेतनाकी द्विदलीय या द्वैत सत्यतापर वापस पहुँचते हैं तो या तो वेदांतके अनुसार एक आद्य सत्पुरुषको या सांख्यके अनुसार अनेक पुरुषोंको मान सकते हैं जिनके सामने 'चेतना' या कोई 'ऊर्जा' जिसे हम चेतनाधारिणी मानते हैं अपने निर्माण उपस्थित करती है। यदि केवल पृथक् आद्य पुरुषोंका बहुत्व ही सत्य हो, तो चूंकि प्रत्येक पुरुष अपनी स्व-चेतनामें अपना स्व-जगत् होगा

या सृष्ट करेगा, अतः एक ही अभिन्न विश्वमें उनके संबंधोंकी व्याख्या करनेमें कठिनाई होगी; कोई अद्वय 'चेतना' या अद्वय 'ऊर्जा' होनी ही चाहिये जिसमें वे पुरुष एक अभिन्न मनोनिर्मित विश्वमें मिलते हैं, यह चेतना या ऊर्जा सांख्यकी अद्वय प्रकृतिके समरूप होगी जो अनेक सदृश पुरुषोंके अनुभवका क्षेत्र होती है। इस सिद्धांतमें यह लाभ है कि इससे जीवोंके बहुत्व, वस्तुओंके बहुत्व और उनके अनुभवके विविक्तत्वके बीच एकत्वकी व्याख्या हो जाती है और साथ-ही-साथ व्यष्टि-सत्ताकी पृथक् आध्यात्मिक प्रगति और नियति वास्तव हो जाती है। परंतु यदि हम यह मान सकते हैं कि एक 'अद्वय चेतना' या 'अद्वय ऊर्जा' है जो बड़ी संख्यामें अपनी आकृतियोंकी रचना करती और अपने जगत्‌में सत्ताओंकी अनेकताके लिये स्थान देती है, तो यह माननेमें भी कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये कि एक आद्य 'सत्‌पुरुष' है जो अनेक पुरुषोंका धारयिता हो या उनमें व्यक्त होता हो, वे उसकी एक ही सत्ताके जीव या आध्यात्मिक शक्तियाँ हों; इससे यह परिणाम भी निकलता है कि सारे पदार्थ, चेतनाकी सारी आकृतियाँ उस 'सत्‌पुरुष'की आकृतियाँ होंगी। तब यह प्रश्न होगा, क्या यह बहुत्व और ये आकृतियाँ उस अद्वय 'वास्तव सत्'की वास्तवताएँ हैं, या कि प्रातिनिधिक व्यक्तित्व और प्रतिरूप मात्र, या कि 'मन'के द्वारा उस 'वास्तव सत्‌के' प्रतिरूपवत् सृष्ट प्रतीक या मूल्य? यह मुख्यतया इसपर निर्भर करेगा कि वहाँ कौन सक्रिय है, हमारा परिचित 'मन' या कि एक गभीरतर और श्रेष्ठतर चेतना जिसका एक बाह्य उपकरण, जिसके प्रवर्तनोंकी कार्यसंपादिका शक्ति, जिसकी अभिव्यक्तियोंका माध्यम ही 'मन' है। यदि पहला विकल्प सत्य है तो 'मन'के द्वारा निर्मित और दृष्ट विश्वकी वास्तवता विषयिगत या प्रतीकवत् या प्रतिरूपवत् ही होगी: यदि दूसरा विकल्प सत्य है तो विश्व और उसकी प्राकृतिक सत्ताएँ और पदार्थ उस 'एक सत्‌की' सच्ची वास्तवताएँ, उसकी सत्ताकी शक्तिके द्वारा अभिव्यक्त उसकी सत्ताके रूप या शक्तियाँ होंगे। तब मन सर्वगत 'सद्‌वस्तु' और उसकी शक्ति, सृष्टिशीला चित्-शक्ति, प्रकृति, मायाके बीच एक दुभापिया ही रह जायगा।

यह स्पष्ट है कि जिस 'मन'का स्वरूप हमारी बहिस्तलीय बुद्धि है वह अस्तित्वकी अप्रधान शक्ति ही हो सकता है। कारण, उसपर लगी असामर्थ्य और अज्ञानकी छाप इस बातका चिह्न होती है कि वह आद्या स्रष्ट्री शक्ति नहीं, अपितु अन्य किसीसे उद्भूत है; हम देखते है कि

वह जिन वस्तुओंको देखता है उन्हें वह जानता या समझता नहीं, उनपर उसका कोई स्वचलित नियंत्रण नहीं; उसे श्रम-निर्मित ज्ञान और नियंत्रण-कारी शक्तिका उपार्जन करना होता है। ये वस्तुएँ यदि मनके अपने निर्माण होतीं, उसकी आत्म-शक्तिकी रचनाएँ होतीं, तो यह आरंभिक असामर्थ्य नहीं हो सकता था। हो सकता है कि ऐसा होनेका कारण यह हो कि व्यष्टि-मनको केवल सामनेके भागका और अमौल बल और ज्ञान रहता है और एक विश्वमन है जो संपूर्ण है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्ति-मत्ताके लिये समर्थ है। परंतु हमारा परिचित मन ज्ञानकी खोज करता अज्ञान है; वह अंशोंका ज्ञाता और विभाजनोंका कर्त्ता है जो एक समाहारपर पहुँचने, टुकड़ोंको साथ-साथ जोड़कर संपूर्ण बनानेका उद्योग करता है,—वस्तुओंका न तो सार उसके अधिकारमें होता है, न उनका समग्र रूप ही: विश्वमन यदि वैसे ही गुणधर्मवाला हो तो अपने विभाजनोंके संकलनको अपनी विश्वात्मकताकी शक्ति द्वारा जानना उसके लिये संभव रहेगा, परंतु उसे फिर भी सारका ज्ञान नहीं होगा, और सारके ज्ञानके बिना सच्चा पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। जिस चेतनाको सारका ज्ञान है और समग्रका भी, जो चेतना सारसे समग्रकी ओर और समग्रसे अंगोंकी ओर अग्रसर होती है वह 'मन' नहीं रह जायगी, वह होगी पूर्ण ऋत-चित् जिसे अंतर्निहित आत्म-ज्ञान एवं जगत्-ज्ञानपर स्वतः-स्फूर्त अधिकार होगा। सद्‌वस्तुके विषयिनिष्ठ अवलोकनको हमें इसी आधारसे देखना चाहिये। यह सच है कि चेतनासे स्वतंत्र वस्तुनिष्ठ वास्तवता जैसी कोई चीज नहीं; परंतु साथ ही वस्तुनिष्ठतामें भी एक सत्य है और वह यह है कि वस्तुओंकी सत्यता किसी ऐसी चीजमें रहती है जो उनके अंदर है और हमारा मन उनकी जो व्याख्या करता है और अपने प्रेक्षणके आधारपर जो निर्माण खड़े करता है, उनसे वह स्वतंत्र है। ये निर्मितियाँ विश्वके वे विषयिनिष्ठ प्रतिरूप या आकार हैं जिन्हें मनने बनाया है, परंतु विश्व और उसके पदार्थ प्रतिरूप या आकार मात्र नहीं। वे सार-रूपमें चेतनाकी ही सृष्टियाँ हैं, परंतु उस चेतनाकी जो सत्ताके साथ एक है, जिसकी धातु 'सत्पुरुष'की स्वरूप-धातु है और जिसकी सृष्टियाँ भी उसी धातुकी हैं, अतएव सत्य हैं। इस दृष्टिके अनुसार, जगत् चेतनाकी शुद्धतः विषयिनिष्ठ सृष्टि नहीं हो सकता; वस्तुओंका विषयिनिष्ठ सत्य और उनका वस्तुनिष्ठ सत्य, दोनों ही वास्तव हैं, वे एक ही 'सद्‌वस्तु'के दो पहलू हैं।

अपनी मानवीय भाषाके सापेक्ष और संकेतप्रद शब्दोंमें कहें, तो एक विशेष अर्थमें, जिस 'तत्'से हमारा और सकल वस्तुओंका अस्तित्व है, सकल वस्तुएँ उस 'तत्'की ओर हमारे बढ़ने और समीपतर जानेके लिये प्रतीक हैं। एकत्वका आनंत्य एक प्रतीक है, बहुत्वका आनंत्य एक अन्य प्रतीक : फिर, चूंकि बहुत्वमें प्रत्येक वस्तु एकत्वकी ओर वापस निर्देश करती है और हर वस्तु जिसे हम सांत कहते हैं एक प्रातिनिधिक आकृति, एक रूप-पुरोभाग, एक छायाचित्र है जो अनंतके किसी अंशका आभास देता है, अतः विश्वमे जो कुछ भी विशेपित होता है—उसकी सारी वस्तुएँ, घटनाएँ, भाव-रूपायण, प्राण-रूपायण,—उनमेंसे प्रत्येक, अपनी बारीमें, एक संकेत-सूत्र और एक प्रतीक है। हमारे आत्मपरक मनके लिये सत्ताका आनंत्य एक प्रतीक है, असत्का आनंत्य एक अन्य प्रतीक। निश्चेतनका आनंत्य और अतिचेतनका आनंत्य निर्विशेष परब्रह्मकी अभिव्यक्तिके दो ध्रुव हैं, इन दोनों ध्रुवोंके मध्य हमारा अस्तित्व और एकसे दूसरेकी ओर हमारा गमन 'अव्यक्त'की इस अभिव्यक्तिको अधिकाधिक हस्तगत करना, उसकी सतत व्याख्या करना, उसका आत्मनिष्ठ निर्माण करना होते है। अपनी आत्म-सत्ताके ऐसे उन्मीलनसे हम ब्रह्मकी अनिर्वचनीय विद्यमानताके प्रति चेतन होते हैं और स्वयं अपने प्रति और जगत् और जो कुछ है और जो कुछ नही है उस सबके प्रति इस रूपमें चेतन होते है कि ये उसका अनावरण हैं जो कभी भी अपने ही शाश्वत एवं परम आत्म-ज्योतिके अतिरिक्त अन्य किसीके भी सामने अपने-आपको संपूर्णतः अनावृत नहीं करता।

परंतु यह अवलोकन-विधि मनकी उस क्रियाकी होती है जब मन 'सत्पुरुष' और बाह्य 'संभूति'के बीचके संबंधकी व्याख्या करता है। यह अवलोकन एक क्रियावंत मानसिक प्रतिरूपकी नाईं मान्य रहता है जो अभिव्यक्तिके किसी विशेष सत्यके अनुरूप होता है, परंतु साथ ही यह अनुबंध भी है कि अपने इन प्रतीकात्मक मूल्योंके कारण स्वयं वे वस्तुएँ सार्थक संकेत या अमूर्त प्रतीक मात्र नही हो जातीं, जैसे कि गणितके सूत्र या ज्ञानके लिये मन द्वारा व्यवहृत अन्य चिह्न होते हैं: कारण, विश्वमें जो रूप और घटनाएँ होती हैं वे 'सद्वस्तु'की द्योतिका वास्तवताएँ हैं; वे 'तत्'की स्वाभिव्यंजनाएँ है, 'सत्पुरुष'की क्रियाएँ और शक्तियाँ है। प्रत्येक रूप अस्तित्वमें इस कारण है कि वह अपने अंतर्वासी 'तत्'की किसी शक्तिकी अभिव्यक्ति है; प्रत्येक घटना सत्-

पुरुषकी अभिव्यक्तिके क्रियात्मक प्रक्रममें सत्पुरुषके किसी सत्यके कार्यान्वयनका एक स्पंद है। विश्वके संबंधमें मनके व्याख्यात्मक ज्ञानको, उसके विषयिपरक निर्माणको इसी सार्थकतासे प्रामाण्य मिलता है; हमारा मन प्रमुखतया द्रष्टा और व्याख्याकार है, स्रष्टा तो वह गौण और अ-मौल रूपसे ही है। सारी मानसिक विषयिपरकताका मूल्य वास्तवमें यही है कि वह उसमे सत्पुरुषके किसी ऐसे सत्यको प्रतिबिंबित करती है जिसका अस्तित्व उस प्रतिबिंबसे स्वतंत्र है,—वह स्वतंत्रता चाहे स्थूल विषयरूपमें उपस्थित होती हो चाहे स्थूलसे परेकी वास्तवताके रूपमें जो मनके लिये तो ग्राह्य किन्तु स्थूल इन्द्रियोंके लिये अग्राह्य हो। सुतरां, मन विश्वका आदि निर्माता नहीं : वह एक मध्यवर्ती शक्ति है जो सत्ताकी कुछ वास्तविकताओंके लिये मान्य है; वह अभिकर्त्ता है, मध्यवर्ती है, भव्यार्थको भूतार्थमें परिणत करता है, और सृष्टिमें उसका भाग है, परंतु यथार्थ स्रष्ट्री तो विश्वातीत एवं विश्वव्यापी अध्यात्म-सत्तामें अंतर्निष्ठ एक चेतना, एक शक्ति है।

सद्वस्तु और ज्ञानके बारेमें एक बिल्कुल विपरीत दर्शन है जो यह प्रतिष्ठित करता है कि बहिर्व्यक्त सद्वस्तु ही एकमात्र संपूर्ण सत्य है और वस्तुनिष्ठ ज्ञान ही एकमात्र पूरा विश्वसनीय ज्ञान। इस दर्शनका आरंभ स्थूल सत्ताके ही एकमात्र मलगत सत्ता होनेके भावसे और यदि अंतरात्मा या अध्यात्म-सत्ताका अस्तित्व हो ही तो चेतना, मन, अंतरात्मा या अध्यात्म-सत्ताको विश्व-क्रियामें लगी भौतिक ऊर्जाके एक अस्थायी परिणाम होनेकी हीनावस्थामें डाल देनेसे होता है। जो कुछ भी स्थूल और बहिर्व्यक्त नहीं, उसकी वास्तवता न्यून रहती है, क्योंकि वास्तवता स्थूल और बहिर्व्यक्त रूपपर आश्रित है; वास्तवताका पासपोर्ट पा सकनेसे पहले उसे अपनी स्थापना स्थूल मनके सामने वस्तुनिष्ठ प्रमाण देकर या स्थूल और बाह्य वस्तुओंके सत्यके साथ किसी मान्य और प्रमाणनीय संबंध दिखाकर करनी होगी। परंतु यह स्पष्ट है कि इस समाधानको उसके कड़े रूपमें स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें सर्वांगीणता नहीं, अपितु वह सत्ताके किसी एक ही पार्श्व, यहाँतक कि सत्ताके किसी एक ही प्रान्त या जिलेको देखती और शेष सब कुछको अंतर्निहित वास्तवतासे रहित, सार्थकतासे रहित, अव्याख्यात छोड़ देती है। इस दृष्टिको उसकी चरमता तक ले जाया जाय तो पत्थर या मिष्टान्नकी वास्तवता श्रेष्ठतर मान्य हो जायगी और विचार, प्रेम, साहस,

प्रतिमा और महानताकी वास्तवता, अंधकार और संकटसे भरे जगत्का सामना करते और उसपर अधिकार प्राप्त करते मानवीय अंतरात्मा और मनकी वास्तवता, निम्नतर और आश्रित, यहाँ तक कि निःसार और क्षणभंगुर मान ली जायगी। कारण, ये वस्तुएँ, जो हमारी प्रत्यक्-वृत्त दृष्टिके लिये इतनी महान् हैं, इस दर्शनके लिये केवल इतनी ही सार्थक है कि ये एक बहिर्व्यक्त भौतिक जीवनके प्रति एक बहिर्व्यक्त भौतिक सत्ताकी प्रतिक्रियाएँ हैं; ये केवल वहीं तक वैध हैं जहाँ तक ये बहिर्व्यक्त वास्तवताओंके साथ व्यवहार करतीं और उनपर अपना प्रभाव डाल पाती हैं: अंतरात्माका यदि अस्तित्व हो भी तो वह एक बहिर्व्यक्त वास्तव जगत्-प्रकृतिकी एक घटना मात्र है। परंतु, इसके विपरीत, यह मान्यता हो सकती है कि बहिर्व्यक्तका मूल्य केवल इस नाते है कि उसका अंतरात्मासे संबंध है; वह अंतरात्माकी कालगत प्रगतिके लिये एक क्षेत्र, एक सुयोग, एक साधन है: विषयकी सृष्टि विषयीकी अभिव्यक्तिकी क्षेत्र-भूमिके रूपमें ही होती है। बहिर्व्यक्त विश्व 'अध्यात्म-सत्ता'की संभूतिका बाह्य रूप मात्र है; यहाँ यह एक प्रथम रूप, एक आधार है, किंतु सत्ताकी सारवस्तु, उसका प्रधान सत्य नहीं। विषयिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ व्यक्त 'सद्वस्तु'के दो आवश्यक पहलू हैं और उनका मूल्य एक समान है; और बहिर्व्यक्तके प्रदेशमें भी चेतनाके स्थूलातीत विषयको स्वीकार्य होनेका उतना अधिकार है जितना कि स्थूल वस्तुनिष्ठताको; उसे पहलेसे ही विषयीका भ्रम या विभ्रम कहकर नहीं हटा दिया जा सकता।

वस्तुतः विषयिनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता स्वतंत्र वास्तवताएँ नहीं, अपितु अन्योन्याश्रित हैं। वे वही सत्-पुरुष हैं जो, चेतनाके द्वारा, अपने-आपको विषयके द्रष्टा विषयी-रूपमें देखता है और जो ही अपनी ही चेतनाके सामने अपने-आपको विषयीके विषय-रूपमें उपस्थित करता है। अधिक एकदेशीय दृष्टि केवल चेतनामें अस्तित्व रखनेवाली किसी भी वस्तुके लिये सारपूर्ण वास्तवता नहीं मानती, या अधिक ठीक-ठीक कहें तो किसी भी ऐसी वस्तुके लिये नहीं मानती जो आंतरिक चेतना या आंतरिक इन्द्रियसे तो प्रमाणित होती, किंतु स्थूल इन्द्रियोंके लिये निराधार या अप्रमाणित रहती है। परंतु बहिरिन्द्रियोंका साक्ष्य केवल तब विश्वसनीय हो सकता है जब वे अपने विषय-संबंधी विवरणको चेतनाके सामने रखती हैं और वह चेतना उनके विवरणको अर्थ देती,

उसकी बाह्यतामें अपनी आंतरिक संबोधिमूलक व्याख्या जोड़ती और युक्तिसिद्ध समर्थन द्वारा उसका औचित्य ठहराती है; कारण, इन्द्रियोंका साक्ष्य अपने-आपमें सर्वदा अपूर्ण होता है, पूरा निर्भरयोग्य नहीं होता, अंतिम तो अवश्य ही नहीं होता, कारण वह अधूरा होता है और निरंतर भ्रान्तिकी संभावनाके अधीन रहता है। वस्तुतः बहिर्व्यक्त जगत्को भी जाननेके लिये हमें अपनी आंतरिक चेतनाके अतिरिक्त कोई साधन नहीं, स्थूल इन्द्रियाँ भी उस चेतनाके उपकरण ही हैं; जगत् केवल उस चेतनाके सामने नहीं, वरन् उस चेतनामें जैसा प्रकट होता है, वैसा ही वह हमारे लिये होता है। यदि उस विश्वतश्चक्षुके साक्ष्यको हम मानसिक या अतिभौतिक विषयोंके लिये यथार्थ मानना अस्वीकार करें तो भौतिक विषयोंके लिये भी उसके साक्ष्यको यथार्थ स्वीकार करनेका पर्याप्त कारण नहीं रह जायगा; यदि चेतनाके आंतरिक या अभौतिक विषय अवास्तव हों, तो बहिर्व्यक्त भौतिक विश्वके भी अवास्तव होनेकी पूरी संभावना है। अवबोध, विवेक, सत्यता-परीक्षण हर दशामें आवश्यक होते हैं, परंतु आंतरिक और अतिभौतिकके सत्यता-परीक्षणकी विधि अवश्य ही उस विधिसे भिन्न होगी जिसे हम भौतिक और बाह्य विषयवस्तुके लिये सफलतासे प्रयुक्त करते हैं। आंतरिक अनुभवको बहिरिन्द्रियोंके साक्ष्यके सामने पेश नहीं किया जा सकता; उसके देखनेके अपने मानक हैं, सत्यता-परीक्षणके लिये उसकी अपनी आंतरिक विधि है: वैसे ही, अतिभौतिक वास्तवताओंका स्वरूप ही ऐसा है कि वे जब भौतिकमें प्रक्षिप्त होती हैं, तबके अलावा उन्हें स्थूल या ऐंद्रिय मनके न्यायके सामने पेश नहीं किया जा सकता; और जब वे भौतिकमें प्रक्षिप्त होती हैं तब भी उनके संबंधमें स्थूल या ऐंद्रिय मनका निर्णय प्रायः अयोग्य होता है और उसकी ओर सतर्क रहना आवश्यक होता है। उनकी सत्यताका परीक्षण केवल अन्य इन्द्रियों द्वारा और छानबीन तथा स्वीकरणकी ऐसी विधि द्वारा किया जा सकता है जो उनकी अपनी सत्यता के लिये, उनके स्वरूपके लिये लागू हो।

वास्तवता या तात्विकताकी विभिन्न भूमियाँ हैं; बहिर्व्यक्त और स्थूल उनमेंसे केवल एक भूमि है। स्थूल या बहिर्वृत्त मनके लिये वह विश्वासोत्पादिका होती है, कारण वह इन्द्रियोंको सीधे प्रत्यक्ष होती है, जबकि आंतरिक और स्थूलोत्तरके ज्ञानके लिये मनको डग-डगपर भूल कर सकनेवाले खंड चिह्नों और तथ्यों और निष्कर्षोंके अतिरिक्त और

कोई साधन नहीं है। हमारी अंतर्मुखी गतिविधि और आंतरिक अनुभूतियां उतनी ही वास्तविक घटनाओंका प्रदेश हैं जितनी कि कोई भी बाह्य भौतिक घटनाएं; परंतु यदि वैयक्तिक मन अपने स्व-व्यापारका कुछ अंश अपरोक्ष अनुभव द्वारा जान सकता है, तो भी दूसरोंकी चेतनामें जो घटित हो रहा है उसके संबंधमें वह केवल उतनी ही जानकारी पा सकता है जितनी उसे अपनी चेतनासे उसकी चेतनाके साम्यानुमानसे या उसके बाह्य प्रेक्षणसे मिल सकनेवाले चिह्नों, तथ्यों, निष्कर्षोंसे प्राप्त हो सकती है और इसके अतिरिक्त वह उस संबंधमें अज्ञ रहता है। अतः हम अपने-आपके लिये आंतरिक रूपसे वास्तव हैं, परंतु दूसरोंके अदृश्य जीवनकी वास्तवता हमारे लिये वहाँ तक परोक्ष ही है जहाँ तक कि वह हमारे अपने मन, प्राण और इन्द्रियोंपर आघात नहीं करती। यह मनुष्यके स्थूल मनका परिसीमन है, और इससे उसमें यह अभ्यास उत्पन्न होता है कि वह स्थूलमें ही संपूर्णतया विश्वास करता है और जो कुछ उसके स्वानुभव या उसकी समझनेकी क्षमताके दायरेसे संगत नहीं, या उसके अपने मानक या सुप्रतिष्ठित ज्ञानकी समष्टिके अनुरूप नहीं, उसपर संशय करता या आपत्ति उठाता है।

इस अहं-केन्द्रिक अभिवृत्तिको हालमें ज्ञानके मान्य मानकका उच्च आसन दे दिया गया है; प्रकट या अप्रकट रूपसे यह सूक्तिकी तरह मान्य हो गया है कि सारे सत्योंको प्रत्येक मनुष्यके व्यक्तिगत मन, बुद्धि और अनुभवके निर्णयके सामने पेश करना होगा, अथवा किसी सार्वजनिक या सार्वभौम अनुभव द्वारा उनके सत्यका परीक्षण करना होगा या, कमसे कम, इसके द्वारा उन्हें परीक्षणीय होना ही चाहिये, केवल तभी वे मान्य हो सकेंगे। परंतु स्पष्ट ही यह वास्तवता या तात्विकताका और ज्ञानका मिथ्या मानदंड है, क्योंकि इसका अर्थ होता है सामान्य या औसत श्रेणीके मन और उसके सीमित सामर्थ्य तथा अनुभवका सर्वेसर्वा होना, औसत श्रेणीकी बुद्धिके लिये जो अविसामान्य है या उससे परे है उसका बहिष्करण। इस चरम रूपको लें तो व्यक्तिका प्रत्येक वस्तुका परीक्षक होनेका दावा एक अहमात्मक भ्रम है, स्थूल मनका कुसंस्कार है, कुल मिलाकर एक स्थूल और भद्दी भ्रांति है। इसके पीछे सत्य यह है कि प्रत्येक मनुष्यको अपने अपने सामर्थ्यके अनुसार अपने-आपके लिये विचार करना है, अपने लिये ज्ञान प्राप्त करना है, परंतु उसका निर्णय केवल तब मान्य हो सकता है जबकि वह सीखनेको तैयार और

महत्तर ज्ञानकी ओर सदा उन्मीलित रहे। यह युक्ति दी जाती है कि स्थूल मानदंड और वैयक्तिक या सार्वजनीन सत्यता-परीक्षणके सिद्धांतसे प्रस्थान कर जानेका परिणाम घोर प्रवंचनाओंमें पड़ना और अपरीक्षित सत्यों और विपर्यगत कल्पनाओंको ज्ञानके प्रदेशमें प्रवेश देना होगा। परंतु ज्ञानकी खोजमें प्रवंचना और भूलका, व्यक्तित्व और अपनी स्वानुभूतिका प्रवेश सर्वदा विद्यमान रहते हैं, और स्थूल या वस्तुनिष्ठ मानकों और पद्धतियोंमें भी उनका वर्जन नहीं होता। भूल-भ्रांतिकी संभावना आविष्कारका प्रयत्न नही करनेका कोई कारण नहीं, और आंतरिक आविष्कारका अनुसरण अन्वेषण, प्रेक्षण और सत्यता-परीक्षणकी आंतरिक विधिसे ही करना होगा; अतिभौतिकके अन्दर अनुसंधानमें उपयुक्त साधन और विधियोंको निकालना, मानना और जाँचना ही होगा जो उन साधनों और विधियोंसे भिन्न होंगी जिनसे हम स्थूल पदार्थोंके घटकों और भौतिक प्रकृतिगत ऊर्जाकी प्रक्रियाओंकी छानबीन करते हैं।

यदि किसी सामान्य प्राक्तन संस्कार और पूर्वधारणाके वश जिज्ञासा करनेसे अस्वीकार कर दिया जाय तो यह ज्ञान-विरोध होगा, जो ज्ञानके विस्तरणके मार्गमें वैसा ही विघ्न होगा जैसा कि यूरोपमें वैज्ञानिक आविष्कारका विरोधी धर्माश्रित ज्ञान-विरोध था। महत्तम आंतरिक आविष्कारों, आत्म-सत्ताकी अनुभूति, विश्वचेतना, मुक्तात्माकी आंतरिक प्रशांति, मनपर मनके सीधे प्रभाव, अन्य चेतना या अपने विषयोंके साथ अपरोक्ष सम्पर्क करती चेतनासे वस्तुओंके ज्ञान प्रभृतिको और कुछ भी मूल्य रखनेवाली किसी भी आध्यात्मिक अनुभूतिको सामान्य मनके न्यायालयमें उपस्थित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस मनको इन वस्तुओंका कोई अनुभव नहीं होता और निजके अन्दर अनुभूतिके अभाव या असामर्थ्यको वह उनकी अप्रामाणिकता या उनके न होनेका प्रमाण मानता है। स्थूल अवलोकनपर आधारित भौतिक सूत्रों, व्यापक सिद्धांतों और आविष्कारोंकी स्थूल सत्यताको इस न्यायालयके सम्मुख लाया जा सकता है, परंतु वहाँ भी सत्यतः समझने और निर्णय करनेके लिये क्षमताके प्रशिक्षणकी आवश्यकता रहती है; हर कोई अप्रशिक्षित मन आपेक्षिकताके गणित या अन्य कठिन वैज्ञानिक सत्योंको नहीं समझ सकता, और न तो उनके परिणामकी, न उनकी प्रक्रियाकी प्रामाणिकताका ही निर्णय कर सकता है। जो भी वास्तवताएँ, जो भी अनुभूतियाँ हैं, सच्ची मानी जानेके लिये, निस्संदेह, उसी या सदृश अनुभूतिके द्वारा

परीक्षणीय होनी ही चाहिये। इस प्रकार, वस्तुतः, सभी मनुष्य आध्यात्मिक अनुभूति पा सकते, उसका अनुसरण कर सकते और अपने अंदर उसकी सत्यताका परीक्षण कर सकते हैं, परंतु केवल तब जब उनमें वह क्षमता आ जाय या वे उन आंतरिक पद्धतियोंका अनुसरण कर सकें जिनके द्वारा वह अनुभूति और सत्यता-परीक्षण संभव होते हैं। इन प्रत्यक्ष और आरंभिक सत्योंका एक क्षण विवेचन करना इस कारण आवश्यक है कि इनके प्रतिकूल विचार एक हालके कालमें मानव-मानसमें सर्वप्रभुताशाली रहे हैं, और संभव ज्ञानके एक विशाल प्रदेशके विकासके मार्गमें अवरोध बनकर खड़े रहे हैं,—वे विचार केवल अब पीछे हट रहे हैं। मानव-आत्माके लिये यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि वह आंतरिक अथवा अंतर्गूढ़ तत्त्वकी गहराइयों, आध्यात्मिक तत्त्वकी गहराइयों और अब भी अतिचेतन रहनेवाले तत्त्वकी गहराइयोंमें गोता लगानेको मुक्त रहे और स्थूल मन और उसकी विषयनिष्ठ बाह्य ठोसताओंके संकीर्ण प्रदेशकी चहारदिवारियोंमें बन्द न हो जाय, कारण, केवल इसी राहसे उस अज्ञानसे मुक्ति मिल सकती है जिसमें हमारी मानसताका निवास है और मुक्त होकर एक संपूर्ण चेतनामें, एक सच्ची और समग्र आत्मोपलब्धि एवं आत्मज्ञानमें अभिगमन हो सकता है।

पूर्णज्ञान चेतना एवं अनुभवके सारे संभव प्रदेशोंकी खोजकी, उनके अनावरणकी मांग करता है। कारण, हमारी सत्ताके आंतरिक प्रदेश हैं जो प्रकट सतहके पीछे रहते हैं; इनको मापना होगा और जिसका भी पता चलेगा उसे समग्र वास्तवतामें सम्मिलित करना होगा। आध्यात्मिक अनुभवका आंतरिक क्षेत्र मानव-चेतनाका एक बहुत महान् प्रदेश है; हमें उसकी गहरीसे गहरी गहराइयों और उसके विशालसे विशाल प्रसारोंमें प्रवेश करना होगा। अतिभौतिक भी उतना वास्तव है जितना कि भौतिक; उसे जानना संपूर्ण ज्ञानका अंग है। अतिभौतिकके ज्ञानको रहस्यवाद और गुह्य विद्यासे संयुक्त कर दिया गया है, और गुह्य विद्याको कुसंस्कार और कल्पनाकी उड़ानकी भ्रांति कहकर निषिद्ध कर दिया गया है। परंतु गुह्य क्षेत्र भी सत्ताका एक अंग है; सच्ची गुह्य विद्याका अर्थ अतिभौतिक वास्तवताओंमें अनुसंधान और जीवन तथा प्रकृतिके गुप्त नियमोंका, जो कुछ भी बाहरी तलपर प्रकट नहीं है उसका अनावरण है, अधिक कुछ नहीं। यह विद्या मन और उसकी ऊर्जाके गुप्त नियमोंका, प्राण और उसकी ऊर्जाके गुप्त नियमोंका, सूक्ष्म-भौतिक

और उसकी ऊर्जाओंके गुप्त नियमोंका, प्रकृतिने जिसे सतहपर दृश्य क्रियामें नहीं रखा है उस सबका आविष्कार करनेका प्रयत्न करती है; वह प्रकृतिके इन गुप्त सत्यों और शक्तियोंके प्रयोगमें भी प्रवृत्त होती है जिससे वह मानव आत्माके प्रभुत्वको मनकी सामान्य प्रक्रियाओंसे, प्राणकी सामान्य प्रक्रियाओं, हमारी दैहिक सत्ताकी सामान्य प्रक्रियाओंसे परे विस्तृत कर दे। आध्यात्मिक प्रदेशमें, जो कि सतही मनके लिये वहाँ तक गुह्य रहता है जहाँ तक वह सामान्यसे परे जाता और अधिसामान्य अनुभवमें प्रवेश करता है, केवल आत्मा और अध्यात्म-सत्ताका ही आविष्कार नहीं, वरन् आध्यात्मिक चेतनाकी उन्नयनकारिणी, अनुप्राणन-कारिणी और पथप्रदर्शिका ज्योति और अध्यात्म-शक्तिका, ज्ञानकी आध्यात्मिक रीतिका, कर्मकी आध्यात्मिक रीतिका आविष्कार भी संभव होता है। इन चीजोंको जानना और इनके सत्यों और शक्तियोंको मानवताके जीवनमें लाना उसके क्रमविकासका एक आवश्यक अंग है। स्वयं विज्ञान भी अपनी रीतिसे एक गुह्य विद्या है; कारण, वह उन सिद्धांतोंको प्रकाशमें लाता है जिन्हें प्रकृतिने छिपा रखा है और वह प्रकृतिकी ऊर्जाओंकी उन प्रक्रियाओंको विमुक्त करनेके लिये जिन्हें प्रकृतिने अपनी सामान्य प्रक्रियाओंमें सम्मिलित नहीं कर रखा है और प्रकृतिकी गुह्य शक्तियों और प्रक्रियाओंको, भौतिक-इन्द्रजालके एक विशाल तंत्रको मनुष्यकी सेवामें संगठित और नियोजित करनेके लिये अपने ज्ञानको प्रयुक्त करता है; वस्तुतः, सत्ताके सत्यों, प्रकृतिकी गुप्त शक्तियों और प्रक्रियाओंको उपयोगमें लानेके अलावा न तो कोई अन्य इन्द्रजाल है और न हो सकता है। यह भी पाया जा सकता है कि भौतिकके ज्ञानको संपूर्ण करनेके लिये अतिभौतिक ज्ञान आवश्यक है, कारण, भौतिक प्रकृति-की प्रक्रियाओंके पीछे एक अतिभौतिक तत्त्व, एक मानसिक, प्राणिक या आत्मिक शक्ति और क्रिया होती है जो ज्ञानके किसी भी बाह्य साधनके लिये अगोचर होती है।

बहिर्व्यक्त वास्तव ही एकमात्र या मूलभूत रूपसे प्रामाणिक है, इसके लिये जो भी आग्रह होता है वह जड़की आधारिक वास्तवताके भावपर खड़ा होता है। परंतु अब यह स्पष्ट है कि जड़ किसी भी भाँति मूलभूत रूपसे वास्तव नहीं; वह ऊर्जाका एक निर्माण है: बल्कि यह भी कुछ संदिग्ध होने लगा है कि स्वयं इस 'ऊर्जाके कार्यों और सृष्टियोंकी व्याख्या इससे भिन्नतया की जा सकती हो कि वे एक निगढ़

'मन' या 'चेतना'की शक्तिकी गतियाँ हैं जिसके नियम उस ऊर्जाकी निर्माण-प्रक्रियाएँ और निर्माण-ढग है। अतः जड़को एकमात्र वास्तवता मानना संभव नहीं रह जाता। विश्व-सत्ताकी भौतिक व्याख्या एक ऐकांतिक संकेंद्रणका, 'सत्ता'की एक ही गतिधारापर अभिनिवेशका परिणाम थी, और इस प्रकारके ऐकांतिक संकेंद्रणकी एक अपनी उपयोगिता है, अतएव वह अनुमेय है; हालके युगमें उसने अपना औचित्य भौतिक विज्ञानके इतने सारे विपुल और असंख्य सूक्ष्म आविष्कारों द्वारा प्रमाणित कर दिया है। परतु विश्व-सत्ताकी सारी समस्याका समाधान किसी अपवर्जक एकदेशीय ज्ञानपर आधारित नहीं हो सकता; हमें केवल यह नहीं जानना है कि जड़ क्या है और उसकी प्रक्रियाएँ क्या हैं, वरन् यह भी कि मन और प्राण क्या हैं और उनकी प्रक्रियाएँ क्या हैं, और हमें अध्यात्म-सत्ता और अंतरात्माको भी जानना होगा और भौतिक सतहके पीछे जो कुछ है उस सबको भी: तभी हमें वह ज्ञान हो सकता है जो समस्याके समाधानके लिये पर्याप्त रूपसे समग्र हो। यही कारण है कि विश्व-सत्ताके जो सिद्धांत मन या प्राणके साथ अनन्य या प्रबल रूपसे संलग्न होकर खड़े होते हैं और मन या प्राणको एकमात्र मूलभूत सद्वस्तुके रूपमें देखते हैं, उन्हें स्वीकृतिके लिये विस्तृत आधार नहीं रहता। ऐकांतिक संकेंद्रणके ऐसे अभिनिवेशके परिणाममें एक फल-दायिनी संवीक्षा हो सकती है जिससे मन और प्राणपर बहुत प्रकाश पड़े, परंतु उससे समस्याका समग्र समाधान नहीं मिल सकता। ऐसा बहुत अच्छी तरह हो सकता है कि बाह्य जीवनको अवगूढ़ सत्ताकी एकमात्र वास्तवताकी अभिव्यंजनाके लिये प्रतीकोंकी एक योजना मात्रके रूपमें देखनेसे, अवगूढ़ सत्तापर ऐकांतिक या प्रबल संकेंद्रणसे, अवगूढ़ सत्ता और उसकी प्रक्रियाओंपर सबल प्रकाश पड़े और मानव-जीवकी शक्तियाँ बृहत् रूपसे विस्तृत हो जायें, परंतु केवल इतना ही समग्र समाधान नहीं होगा, न ही वह हमें 'सत्तत्त्व' या 'सद्वस्तु'के समग्र ज्ञानतक पहुँचानेमें सफल होगा। हमारी दृष्टिमें, अध्यात्म-पुरुष ही, आत्मा ही विश्व-सत्ताका मूलभूत तत्त्व है; परंतु यदि इस मूलभूत तत्त्वपर ऐकांतिक संकेंद्रण हो जाय, मन, प्राण या जड़की सारी सत्यताका बहिष्कार किया जाय या उनकी सत्यता केवल यह मानी जाय कि वे 'आत्मा' पर अध्यारोप हैं या 'अध्यात्म-पुरुष' द्वारा प्रक्षिप्त निःसार छायाएँ ही, तो इससे एक स्वतंत्र और मूलगत आध्यात्मिक उपलब्धिके लिये तो सहायता मिल

संकेगी, परंतु विश्व-जीवन और व्यष्टि-जीवनके सत्यके पूर्ण और प्रामाणिक समाधानके लिये नहीं।

अतः पूर्ण ज्ञान अस्तित्वके सारे पार्श्वोंका ज्ञान होगा, उसे वे दोनों रूपोंमें, पृथक्-पृथक् रूपमें और सबके साथ प्रत्येकके संबंधमें और 'अध्यात्म-पुरुष'के सत्यके साथ सबके संबंधमें ज्ञात होंगे। हमारी वर्तमान अवस्था एक अज्ञान और एक बहुमुखी खोज है; वह सारी वस्तुओंके सत्यको पाना चाहती है, परंतु,—जैसा कि अन्य सबकी व्याख्या करनेवाले मूलभूत सत्यके संबंधमें, सकल वस्तुओंके आधारमें स्थित 'सद्वस्तु' के संबंधमें मानव-मनकी परिकल्पनाओंके आग्रह और विभिन्नताओंसे स्पष्ट होता है,—मूलभूत सत्यको, सर्वाधार 'सद्वस्तु'को किसी ऐसे 'सत्'में पाना होगा जो एक साथ ही मूलभूत होगा और विश्वव्यापी भी; वह वह है जो, एक बार जान लिये जाने पर, सब कुछका परिग्रहण और सब कुछकी व्याख्या करता ही है,—'यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति': मूलभूत 'सत्' अवश्यमेव सकल अस्तित्वका सत्य, व्यक्तिका सत्य, विश्वका सत्य, विश्वातीतका सत्य भी होगा और उसे अपने अंदर समाये रखेगा। ऐसी 'सद्वस्तु'की खोजमें जब 'मन' प्रत्येक वस्तुकी जाँच जड़से आरंभ कर ऊपरकी ओर यह देखनेको उठता चला कि कहीं वही तो वह 'सद्वस्तु' नहीं, तो वह किसी गलत संबोधिसे नहीं अग्रसर हुआ था। आवश्यक इतना ही है कि इस जिज्ञासाको उसके अंततक ले जाया जाय और अनुभवके उच्चतम तथा अंतिम स्तरोंकी जाँच की जाय।

परंतु चूंकि हमारी ज्ञान-यात्राका आरंभ अज्ञानसे ही होता है, अतः हमें अज्ञानके गुप्त स्वरूप और पूरे विस्तारकी खोज प्रथम करनी है। एक भौतिक, देशीय और कालिक विश्वमें हमारे पृथगात्मक जीवनकी परिस्थितिके ही नाते हम सामान्यतः जिस अज्ञानमें निवास करते हैं उसपर यदि हम दृष्टिपात करें तो देखते हैं कि जिस किसी भी दिशासे हम उसके अधिक अँधियारे पक्षको देखें या उसकी ओर जायँ, अंतमें यही तथ्य ठहरता है कि वह एक बहुमुख आत्म-अज्ञान है। हम उस 'निर्विशेष'के प्रति अज्ञ हैं जो हमारी सत्ता और संभूतिका मूल है; हम सत्ताके आंशिक तथ्योंको, संभूतिके कालिक संबंधोंको अस्तित्वका समग्र सत्य मान लेते हैं,—यह है मूला अविद्या, प्रथम, आद्य अज्ञान। हम देशातीत, कालातीत, अक्षर एवं अचल आत्माके प्रति अज्ञ हैं; हम काल-

और देशमें विश्व-संभूतिकी सतत सचलता और परिवर्तनशीलताको अस्तित्वका सारा सत्य मान लेते हैं,—यह दूसरा, विश्वगत अज्ञान है। हम अपने विश्वात्माके प्रति, विश्वसत्ता, विश्वचेतनाके प्रति, सकल सत्ता तथा संभूतिके साथ अपने अनंत एकत्वके प्रति अज्ञ हैं; हम अपने शरीर, प्राण और मनकी सीमित अहमात्मिका सत्ताको अपना सच्चा आत्मा मानते हैं और जो कुछ भी उससे भिन्न है उसे अनात्मा,—यह तीसरा, अहमात्मक अज्ञान है। हम कालमें अपनी नित्य संभूतिके प्रति अज्ञ है, कालकी एक अल्प अवधिमें, देशके एक छोटेसे क्षेत्रमें अपने इस छोटेसे जीवनको ही हम अपना आदि, मध्य और अंत मानते हैं,—यह चौथा, कालावच्छिन्न अज्ञान है। इस संक्षिप्त कालिक संभूतिमें भी हम अपनी विशाल और संश्लिष्ट सत्ताके प्रति, हमारी वाह्य संभूतिके लिये जो अतिचेतन, अवचेतन, अंतश्चेतन, परिचेतन है उसके प्रति अज्ञ हैं; स्पष्टतः मनोमय हुए अनुभवोंमेंसे छोटीसी चुनी राशिको साथ रखती अपनी वाह्य संभूतिको ही हम अपना संपूर्ण अस्तित्व मानते हैं,—यह पाँचवा, मनोगत अज्ञान है। हम अपनी संभूतिकी सच्ची गठनके प्रति अज्ञ हैं; मन या प्राण या शरीर या इनमेंसे किन्हीं दो या तीनोंको ही हम अपना सच्चा तत्व या अपने अस्तित्वका संपूर्ण परिचय मानते हैं जबकि जो उनका उपादान और निर्माता है, जो उन्हें अपनी गुह्य विद्यमानतासे निर्धारित करता है और जो अपने उन्मज्जनके द्वारा प्रभुत्वशाली रूपसे उनकी क्रियाओंका निर्धारण करनेको अभिप्रेत है, वह हमारी दृष्टिमें नहीं रहता, —यह छठा, आधारगत या सांस्थानिक अज्ञान है। इन सारे अज्ञानोंके परिणामस्वरूप अपने जगत्-जीवनका सच्चा ज्ञान, शासन और भोग हमसे छूटा रह जाता है; हम अपने विचार और इच्छामें, संवेदनों और कर्मोंमें अज्ञानी हैं और प्रत्येक स्थलपर जगत्के प्रश्नोंको गलत या अपूर्ण उत्तर देते हैं, भ्रांति और कामना, प्रयास और विफलता, सुख और दुःख, पाप और भूलकी भूलभुलैयामें भटकते रहते है, वक्र मार्गका अनुसरण करते हैं, बदलते लक्ष्यको अंधतासे टटोलते हैं, —यह सातवाँ, व्यावहारिक अज्ञान है।

हमारी अज्ञान-विषयक धारणा अवश्य ही हमारी ज्ञान-विषयक धारणाको निर्धारित करेगी, और चूंकि हमारा जीवन वह अज्ञान है जो ज्ञानको अस्वीकार करता और साथ ही उसे खोजता भी है, अतः वही धारणा मानवके प्रयत्नके लक्ष्य और विश्व-प्रयासके उद्देश्यको भी निर्धारित

करेगी। सुतरां, इस सप्तविध अज्ञानसे जो कुछ छूटा और अज्ञात रहता है उसके आविष्कार द्वारा, अपनी चेतनामें सप्तविध आत्म-प्रकटन द्वारा इस सप्तविव अज्ञानका निरसन ही पूर्ण ज्ञानका अर्थ होगा:—इसका अर्थ होगा यह ज्ञान कि 'निर्विशेप' ही सकल वस्तुओंका मूल है; आत्मा, अध्यात्म-सत्ता, सत्पुरुषका ज्ञान, और विश्वके संबंधमें यह ज्ञान कि वह आत्माकी संभूति है, सत्पुरुषकी संभूति है, अध्यात्म-सत्ताकी अभिव्यक्ति है; जगत्‌के संबंधमें यह ज्ञान कि हमारे सच्चे आत्माकी चेतनामें वह हमारे साथ एक है और, इस भाँति, अहंके पृथगात्मक भाव और जीवनके द्वारा हमारा उससे जो विभाजन हो गया है उसका निरसन; अपनी चैत्य सत्ताका ज्ञान और मृत्यु तथा पार्थिव जीवनसे परे, कालमें, उसके अमर अस्तित्वका ज्ञान; सतहके पीछे अपनी महत्तर और आंतरिक सत्ताका ज्ञान; अंदरके आत्मपुरुष और उनसे ऊपरकी अतिचेतन, आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक सत्ताके साथ सच्चे संबंधमें अपने मन, प्राण और शरीरका ज्ञान; अंतमें, अपने विचार, इच्छा और कर्मके सच्चे सामंजस्य और सच्चे उपयोगका ज्ञान और अध्यात्म-सत्ता, आत्मा, दिव्य पुरुष, अखंड आध्यात्मिक 'सद्वस्तु'की चेतन अभिव्यक्तिके रूपमें हमारी समस्त प्रकृतिके परिवर्तनका ज्ञान।

परंतु यह कोई बौद्धिक ज्ञान नहीं जिसे हमारी चेतनाके वर्तमान साँचेमें सीखा और पूरा किया जा सकता हो; इसे अवश्य ही एक अनुभव, एक संभूति, एक चेतनाका परिवर्तन, एक सत्ताका परिवर्तन होना चाहिये। इससे संभूतिका क्रमवैकासिक स्वरूप आता है, और यह तथ्य आता है कि हमारा मनोमय अज्ञान हमारे क्रमविकासमें एक भूमिका मात्र है। अतएव, पूर्ण ज्ञान हमारी सत्ता और हमारी प्रकृतिके क्रमविकास द्वारा ही आ सकता है और इसका अर्थ कालमें कोई वैसी ही धीमी प्रक्रिया हो सकती है जैसी अन्य क्रमवैकासिक रूपांतरोंके साथ थी। परंतु इस निष्कर्पके विरोवमें यह तथ्य है कि क्रमविकास अव चेतन हो गया है और उसकी पद्धति और उसके डगोंका स्वरूप सर्वथा वैसा होना आवश्यक नहीं रह गया है जैसा तव था जव वह अपनी प्रक्रियामें अचेतन था। पूर्ण ज्ञान चूंकि चेतनाके ही परिवर्तनका परिणाम होगा, अतः उसे किसी ऐसी प्रक्रियासे प्राप्त किया जा सकता है जिसमें हमारी इच्छा और प्रयासका भाग हो, जिसमें वे अपने डग और अपनी पद्धतिका आविष्कार और प्रयोग कर सकें: हमारे अंदर उसका वर्द्धन

एक चेतन आत्म-रूपांतर द्वारा बढ़ सकता है। अब यह देखना आवश्यक होगा कि क्रमविकासकी इस नयी प्रक्रियाका तात्त्विक विधान संभवतया क्या होगा और पूर्ण ज्ञानकी वे कौन सी गतिधाराएँ हैं जो उसमें अनिवार्य रूपसे आविर्भूत होंगी,—या अन्य शब्दोंमें, जो चेतना दिव्य जीवनका आधार होगी उसका स्वरूप क्या होगा और उस जीवनके रूपायण या रूपधारणकी, भौतिकीकरण की या, जैसा कहा जा सकता है, "संसिद्धि"की आशा कैसे की जा सकती है?

•

अध्याय सोलह

पूर्ण ज्ञान और जीवन-लक्ष्य; अस्तित्वके चार सिद्धांत

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते... ॥

हृदयसे जड़ी रहनेवाली सारी कामनाएँ जब छूट जाती हैं, तब मर्त्य अमर हो जाता और यहाँ भी ब्रह्मका संभोग करता है।

—बृहदारण्यकोपनिषद्
IV.4.7

ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति॥

वह ब्रह्म हो जाता और ब्रह्ममें ही चला जाता है।

—बृहदारण्यकोपनिषद्
IV.4.6

अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव॥

यह अशरीर एवं अमर प्राण तथा तेज ही ब्रह्म है।

—बृहदारण्यकोपनिषद्
IV.4.7

अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव।
तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः॥

वह पुरातन पथ लंबा और संकड़ा है,—मैंने उसे स्पर्श किया है, मैंने उसे प्राप्त किया है,—वह पथ, जिससे धीर (ज्ञानी), ब्रह्मविद्, मुक्तिको प्राप्त कर यहाँसे ऊर्ध्वतन स्वर्गलोकोंकी ओर प्रस्थान करते हैं।

—बृहदारण्यकोपनिषद्
IV.4.8

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।...
निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।...
ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते॥

मैं पृथ्वी-पुत्र हूँ, भूमि मेरी माता है...वह मुझे अपनी बहुविचित्र निधि, अपनी गुहाहित संपदा प्रदान करे....हे पृथ्वी, हम तुम्हारी चारुताकी बात करें जो तुम्हारे ग्रामों और अरण्यों, समितियों और संग्रामोंमें है।

—अथर्ववेद
XII.1.12, 44, 56

...सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥
यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे॥

पृथ्वी, जो भूत और भविष्यकी ईश्वरी है, हमारे लिये एक विशाल लोक बना दे....पृथ्वी, जो महासागरमें जल थी और जिसके पथका अनुसरण मनीषीगण ज्ञानकी मायासे करते है, पृथ्वी, जिसका अमृतमय हृदय परम व्योममें सत्यसे आवृत है, वह उस उच्चतम राज्यमें हमारे लिये तेज और बल प्रतिष्ठित करे।

—अथर्ववेद
XII.1.1, 8

त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवेदिवे।
यस्तातृषाण उभयाय जन्मने मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये॥

हे अग्नि, श्रुतज्ञानकी दिन प्रति दिन वृद्धिके लिये मर्त्यको तुम्हीं परम अमृतत्वमें प्रतिष्ठित करते हो; जिस सूरिको उभय-जन्मकी तृष्णा है, उसके लिये तुम दिव्यानंद और मानव-सुखकी सृष्टि करते हो।

—ऋग्वेद
I.31.7

नः...देव! दितिं च रास्वादितिमुरुष्य॥

हे देव! अदितिको, अनंतको हमारे लिये संरक्षित रखो, दितिको, सांतको हमपर उँडेल दो।

—ऋग्वेद
IV.2.11

परंतु चेतनाके क्रमवैकासिक आरोहणके तत्त्वों और प्रक्रियाकी विवेचना करनेके पहले यह फिरसे कहना आवश्यक है कि हमारा पूर्ण ज्ञानका सिद्धांत 'सद्वस्तु' और उसकी अभिव्यक्तिके मूलभूत सत्योंके रूपमें किन्हें प्रतिष्ठित करता और किन्हें वह उसके प्रभावी और क्रियाशील पक्षोंके रूपमें तो स्वीकार करता है किंतु जीवन और विश्वकी संपूर्ण व्याख्याके लिये पर्याप्त नहीं मान सकता। कारण, ज्ञानका सत्य ही जीवनके सत्यका आधार होगा और उसीसे जीवनका लक्ष्य निर्धारित होगा; स्वयं क्रम-विकास-प्रक्रिया सत्ताके एक ऐसे सत्यका विकास है जो यहाँ एक आद्या निश्चेतनामें गुहाहित है और एक आविर्भूत होती चेतनाके द्वारा उसमेंसे बाहर लाया जाता है, वह चेतना आत्मोन्मेषमें स्तर-स्तर उठती जाती है जबतक कि वह वस्तुओंकी समग्र वास्तवता और एक समग्र आत्म-ज्ञानको अपने अंदर अभिव्यक्त न कर सके। जिस सत्यसे इसका आरंभ होता है और जिसको इसे अभिव्यक्त करना है, उसीके स्वरूपपर क्रम विकासकी प्रगति-धारा, उसकी प्रक्रियाके डग और उनका सार्थक्य निर्भर करेंगे।

हमारी पहली स्थापना यह है कि एक 'निर्विशेष' ही निखिल वस्तुओंका मूल और अवलंब और उनकी गुप्त सद्वस्तु है। 'निर्विशेष सद्वस्तु' मनके विचार और मनकी भाषाके लिये अनिर्देश्य और अनि-र्वचनीय है; वह स्वयम्भू है और अपने-आपके लिये वैसे ही स्वप्रकाश है जैसे सभी परम तत्त्व स्वप्रकाश हैं, परंतु हमारे मनके इतिवाद और नेतिवाद, उन्हें चाहे पृथक्-पृथक् लें चाहे साथ मिलाकर, उसे निरूपित या सीमित नहीं कर सकते। किंतु, साथ ही, एक आध्यात्मिक चैतन्य है, एक आध्यात्मिक ज्ञान है, एक तादात्म्यज्ञान है जो उस 'सद्वस्तु'को उसके मूलभूत पहलुओं और उसकी अभिव्यक्त शक्तियों तथा आकृतियोंमें हस्तगत कर सकता है। जो कुछ भी है वह इस वर्णनके अंतर्गत आ जाता है और, इस ज्ञानसे उसके अपने सत्य या गुह्य अर्थमें देखा जाय तो, उसे इस रूपमें माना जा सकता है कि वह उस 'सद्वस्तु'की एक व्यंजना है और स्वयं भी एक सद्वस्तु है। यह अभिव्यक्त सद्वस्तु इन

मूलभूत रूपोंमें स्वयम्भू है; कारण, सारी आधारभूत सद्वस्तुएँ किसी ऐसी वस्तुका व्यक्त किया जाना है जो 'निर्विशेष'में नित्य और अंतर्निहित रूपसे सत्य है; परंतु जो कुछ मूलभूत नहीं है, जो कुछ कालिक है, वह प्रातिभासिक है, वह जिस सद्वस्तुको व्यक्त करता है उसपर आश्रित रूप और बल है, और उसीके सहारे और अपने सार्थक्यके अपने सत्यके सहारे और वह जिसे अपने अन्दर लिये रहता है उसके सत्यके सहारे सत्य है, कारण, वह भी वही है, वह कोई आकस्मिक वस्तु नहीं, निराधार नही, भ्रमात्मक नही, व्यर्थ निर्मित आकार नहीं। जो विकृत और आवृत करता है, जैसे मिथ्यात्व सत्यको विकृत और आवृत करता है और अशुभ शुभको, उसकी भी निश्चेतनाके सच्चे परिणामोंके रूपमें कालिक सत्यता है; परंतु ये विपरीत आकार स्वक्षेत्रमें वास्तव होते हुए भी अभिव्यक्तिके सहायक ही है, मूलगत नहीं, और उसकी गतिधाराके कालिक रूप या बलकी नाईं उसके उपयोगमें आते हैं। अतएव विश्व-सत्ता सत्य है 'निर्विशेष'के कारण जिसकी वह स्वाभिव्यक्ति है, और जो कुछ भी विश्वसत्तामें धारित है वह सत्य है विश्वसत्ताके कारण जिसे वह रूप और आकार देता है।

'निर्विशेष' दो अभिधाओंमें व्यक्त होता है:—सत्ता और संभूति। सत्ता मूलभूत तत्व है, संभूति एक परिणाम-प्रभावी तत्त्व। संभूति सत्ताकी क्रियात्मक शक्ति और परिणाम है, उसकी सृजनात्मिका ऊर्जा और क्रियान्विति है, उसके अक्षर अरूप सारका सतत और स्थायी किंतु क्षर रूप, प्रक्रिया, परिणाम है। अतः, संभूतिको अपने-आपमें पर्याप्त माननेवाले सारे सिद्धांत अर्ध-सत्य हैं, अपने प्रतिपादन और दर्शनपर ऐकांतिक संकेंद्रणसे उन्हें सृष्टिका जो थोड़ा ज्ञान अर्जित होता है उसके लिये मान्य है, परंतु अन्यथा वे केवल इस कारण मान्य हैं कि सत्ता संभूतिसे पृथक् नहीं, अपितु उसमें विद्यमान है, उसका उपादान और उसकी निर्मात्री है, उसके प्रत्येक अत्यल्प परमाणुमें और उसके असीम विस्तार और प्रसारमें अंतर्निहित है। संभूति अपने-आपको संपूर्ण रूपसे केवल तब जान सकती है जब वह अपने-आपको सत्ता-रूपमें जानती है; संभूतिगत जीव आत्मज्ञान और अमरत्वको तब पाता है जब वह परम और निर्विशेषको जान लेता और अनंत तथा शाश्वतके स्वरूपको प्राप्त कर लेता है। यही कार्य हमारे जीवनका परम लक्ष्य है, क्योंकि यही हमारी सत्ताका सत्य है और फलतः इसे ही हमारी संभूतिका अंतर्निहित लक्ष्य,

उसका आवश्यक परिणाम भी होना चाहिये: हमारी सत्ताका यह सत्य जीवमें अभिव्यक्तिकी एक आवश्यकता, जड़में एक गुप्त ऊर्जा, प्राणमें एक प्रेरणा और प्रवृत्ति, एक कामना और एषणा, मनमें एक इच्छा, लक्ष्य, प्रयास, उद्देश्य हो जाता है; जो आरंभसे उसके अंदर गुह्य है उसे व्यक्त करना ही क्रमविकासिनी प्रकृतिकी सारी गोपन प्रवृत्ति है।

अतः हम उस सत्यको स्वीकार करते हैं जिसपर विश्वातीत 'निर्विशेष'के दार्शनिक सिद्धांत खड़े होते हैं; हम यदि मायावादके अन्तिम निष्कर्षोंका विरोध करते हैं तो भी उसके सिद्धांतको इस रूपमें स्वीकार किया जा सकता है कि मनोगत अंतरात्मा, मनोमय पुरुष, जब 'निर्विशेष'के समीप जाने और उसमें प्रवेश करनेके लिये अपने-आपको संभूतिसे वियुक्त कर लेता है, तब एक आध्यात्मिक-व्यावहारिक अनुभूतिमें उसे वस्तुओंको इसी तरह देखना होता है। परंतु साथ ही, चूंकि संभूति सत्य है और अनंत तथा शाश्वतकी आत्म-शक्तिमें अनिवार्य भी, अतः यह भी अस्तित्वके संबंधमें एक सम्पूर्ण दार्शनिक सिद्धांत नहीं हो सकता। संभूतिगत जीवके लिये यह संभव है कि वह अपने-आपको सत्पुरुषवत् जान ले और संभूतिका स्वामी हो जाय, अपने-आपको साररूपमें अनंतवत् जाने परंतु साथ ही सांतमें स्वाभिव्यक्त अनंतवत् भी, उस कालातीत शाश्वतवत् भी जाने जो अपने-आपको और अपने कार्योंको आधारदायिनी स्थिति और काल-नित्यताकी विकासमान् गतिशीलतामें देख रहा हो। यह उपलब्धि संभूतिका चरमोत्कर्ष है, सत्ताके सक्रिय स्वरूपकी संपूर्ति है। सुतरां इसे भी वस्तुओंके समग्र सत्यका अंग होना ही चाहिये; कारण, केवल इसीसे विश्वको पूरा आध्यात्मिक सार्थक्य प्राप्त होता और सृष्टिगत जीवका औचित्य सिद्ध होता है। जो व्याख्या विश्वसत्ता और व्यष्टिसत्ताको सारी सार्थकतासे वंचित करती है वह समूची व्याख्या नहीं हो सकती, उसका प्रस्तावित समाधान भी एकमात्र सच्ची मीमांसा नहीं हो सकता।

हम जिस दूसरी स्थापनाको आगे रखते हैं वह यह है कि हमारे आध्यात्मिक अनुभवके लिये 'निर्विशेष'का मूलभूत तत्त्व है सच्चिदानंद, जो विश्वातीत 'सद्वस्तु' है, स्वयम्भू है, परंतु साथ ही सारी अभिव्यक्तिका आधारनिष्ठ गुप्त सत्य भी; कारण, सत्ताके मूलभूत सत्यको संभूतिका भी मूलभूत सत्य अवश्यमेव होना चाहिये। सब कुछ 'तत्'की अभिव्यक्ति है; कारण, जो उसके विरोधी प्रतीत होते हैं वह उन सबमें भी निवास

करता है और उसे प्रकट करनेके लिये उनपर उसका जो गुप्त चाप है वह क्रमविकासका कारण है; निश्चेतनापर वह चाप इसलिये है कि वह अपने-आपमेंसे अपनी निगूढ़ चेतनाको विकसित करे, प्रतीयमान असत्पर वह चाप इसलिये है कि वह गुह्य आध्यात्मिक सत्ताको अपने अंदर प्रकट करे, जड़-तत्त्वकी असंवेदनशील उदासीनतापर वह चाप इसलिये है कि वह सत्ताके एक विविध आनंदको विकसित करे जो अपनी लघु संज्ञाओंसे, अपने सुख-दुःखके विरोधी द्वन्द्वोंसे मुक्त होकर, अस्तित्वके मूलस्थ आनंद, आध्यात्मिक आनंदमें वर्द्धित हो जाय।

'सत्ता' एकमेवाद्वितीय है, परंतु यह एकत्व अनंत है और अपने अनंत बहुत्व या बहुविधत्वको अपने अंदर धारित रखता है: वह एक सर्व है; वह सारभूत सत्ता ही नहीं, सर्व-सत्ता भी है। एकका अनंत बहुत्व और बहुका शाश्वत एकत्व उस एक ही सद्वस्तुके दो सत्य या पहलू हैं जिनपर सृष्टि अधिष्ठित है। सृष्टिके इस मूलभूत सत्यके कारण 'सत्' हमारे विश्वानुभवके सामने तीन स्थितियोंमें उपस्थित होता है,—विश्वातीत सत्, विश्वात्मा और बहुमें व्यष्टि-आत्मा। परंतु बहुत्वसे चेतनाके एक 'व्यावहारिक' विभाजनको, एक परिणाम-प्रभावी अज्ञानको अवकाश मिलता है जिसमें बहुको, व्यक्तियोंको, शाश्वत स्वयम्भू एकत्वकी संवित् नही रह जाती, जिस विश्वात्मामें और जिससे उनका जीवन, उनकी क्रिया, उनकी सत्ता है, उसका एकत्व विस्मृत हो जाता है। परंतु इस अंतर्गूढ़ एकत्वकी शक्तिके कारण संभूतिगत जीव इस अज्ञानावस्थासे बाहर आने और अंतमें उस अद्वय दिव्य पुरुषका और उस दिव्य पुरुषके साथ अपने एकत्वका ज्ञान पुनः प्राप्त करने और साथ ही सारी व्यष्टि-सत्ताओं और सारे विश्वके साथ अपना आध्यात्मिक एकत्व पुनः प्राप्त करनेकी ओर अपने ही अदृश्य प्रकृत स्वरूपसे और क्रमविकासिनी प्रकृतिके गुह्य चापसे प्रेरित होता है। उसे केवल यह अनुभव नहीं करना है कि वह विश्वमें है, वरन् यह भी कि विश्व उसमें है और विश्वपुरुष उसका महत्तर आत्मा है; व्यक्तिको विश्वात्मक हो जाना है और उसी गतिधारामें अपनी विश्वातीत तुरीयताका भी अनुभव पा लेना है। सद्वस्तुके इस त्रिरूपको जीव और विश्वाभिव्यक्तिके समग्र सत्यके अंतर्गत करना आवश्यक है, और अवश्य ही, यही आवश्यकता क्रमविकासिनी प्रकृतिकी प्रक्रियाकी अंतिम दिशाका निर्धारण करेगी।

अस्तित्व-विषयक जो भी दृष्टियाँ तुरीयता तक नहीं पहुँचतीं और उससे अनभिज्ञ रहती हैं, वे सत्ताके सत्यके अधूरे विवरण ही होंगी। भगवान् और विश्वकी एकात्मकताको देखनेवाला सर्वब्रह्मवाद या सर्वेश्वरवाद एक सत्य है, क्योंकि यह सब जो कुछ भी है ब्रह्म है: परंतु जब वह विश्वातीत 'सद्वस्तु' तक नहीं पहुँचता और उसे छोड़ देता है तो वह संपूर्ण सत्यसे पहले ही रुक जाता है। दूसरी ओर, जो भी दृष्टि केवल विश्वकी प्रतिष्ठा करती और व्यक्तिको विश्व-ऊर्जाकी उप-उत्पत्ति कहकर विदा कर देती है, वह जगत्-क्रियाके एक प्रत्यक्ष तथ्यपूर्ण रूपपर अत्यधिक बल देनेके कारण भूल करती है; यह दृष्टि केवल प्राकृत व्यक्तियोंके संबंधमें सत्य होती है किंतु उसका भी संपूर्ण सत्य नहीं होती: कारण, प्राकृत व्यक्ति, प्रकृतिसत्ता निस्संदेह विश्व-ऊर्जाकी एक उत्पत्ति है, परंतु वह साथ ही, अंतरात्माका प्रकृति-व्यक्तित्व है, आंतरिक सत्ता और पुरुषका प्रकटनकारी रूपायण है, और यह अंतरात्मा विश्वात्माका नश्वर कोषाणु या विलयनीय अंश नहीं है, वरन् उसकी मूल अमर सत्यता विश्वातीतमें है। विश्वपुरुष अपने आपको व्यष्टि-पुरुष द्वारा व्यक्त करता है, यह सत्य है, परंतु यह भी सत्य है कि विश्वातीत सद्वस्तु अपने-आपको व्यष्टि-सत्ता और विश्व दोनोंके द्वारा व्यक्त करती है; जीव 'परम'का सनातन अंश है, न कि प्रकृतिका खंड। परंतु जो दृष्टि विश्वको केवल वैयक्तिक चेतनामें अस्तित्ववान् देखती है, वह समान रूपसे और बहुत स्पष्ट रूपसे, एक खंड सत्य ही होगी: आध्यात्मिक व्यक्तिके विश्वत्वका और अपनी चेतनामें सारे विश्वका आलिंगन करनेकी उसकी समर्थताका बोध इस दृष्टिका प्रामाण्य है; परंतु न तो विश्व और न वैयक्तिक चेतना ही अस्तित्वका मूलभूत सत्य है, कारण, दोनों विश्वातीत 'दिव्य पुरुष' पर निर्भर हैं और उसीसे दोनोंका अस्तित्व है।

वह दिव्य पुरुष, वह सच्चिदानंद, एक साथ ही निर्व्यक्तिक और सव्यक्तिक है। वह एक सत्-स्वरूप है और निखिल सत्यों, शक्तियों, क्रियाबल और सत्ताओंका उत्स और आधार है, परंतु वह साथ ही अद्वय विश्वातीत चिन्मय पुरुष है एवं सर्व-पुरुष भी, सकल सचेतन भूत जिसके आत्मा और व्यक्तित्व ही हैं; कारण, वह सच्चिदानंद ही उनका सर्वोच्च आत्मा है और सर्वांतर्वासी होकर अधिष्ठित है। विश्वमें जीवके लिये यह एक आवश्यकता होती है,—और अतः क्रमवैकासिकी ऊर्जाकी

यह आंतरिक दिशा और उसका अंतिम अभिप्राय भी है,—कि वह अपने इस सत्यको जाने और उसमें वर्द्धित होवे, दिव्य पुरुषके साथ एक हो जाय, अपनी प्रकृतिको दिव्य प्रकृतिमें, अपनी सत्ताको दिव्य सत्तामें, अपनी चेतनाको दिव्य चेतनामें, अपनी सत्ताके आनंदको सत्के दिव्य आनंदमें उत्तीर्ण करे, और इस सबको अपनी संभूतिमें ग्रहण करे, संभूतिको उस सर्वोच्च सत्यकी अभिव्यक्ति बना दे, दिव्यात्माको, अपने जीवनके प्रभुको अंतरमें उपलब्ध करे और साथ ही उनके द्वारा संपूर्णतया अधिकृत रहे, उनकी दिव्य ऊर्जासे परिचालित हो और एक संपूर्ण आत्म-दान और समर्पणके भावमें रहे और कर्म करे। अस्तित्वके संबंधमें जो द्वैतवादी और ईश्वरवादी दृष्टियाँ ईश्वर और जीवके शाश्वत वास्तव अस्तित्व और दिव्य ऊर्जाके शाश्वत वास्तव अस्तित्व और विश्व-क्रियाको प्रतिष्ठित करती है, वे भी इस दिशामें समग्र अस्तित्वके एक सत्यको प्रकट करती हैं; परंतु उनका निरूपण यदि ईश्वर और जीवकी मूलगत एकताको या उनकी पूर्ण एकत्वकी समर्थताको अस्वीकार करता है, या प्रेम द्वारा, चेतनाके ऐक्य द्वारा, सत्तामें सत्ताके संलयन द्वारा 'दिव्य एकत्व'में जीवके विलयकी परम अनुभूतिके आधारमें जो है उसकी उपेक्षा करता है, तो यह निरूपण भी संपूर्ण सत्य नहीं हो पाता।

हमारे विश्वमें 'सत्'की अभिव्यक्ति एक संवृतिका रूप लेती है जो एक क्रमविकासका आरंभ-बिंदु है,—जड़तत्त्व है सबसे नीचेकी भूमिका और आत्मा है शिखर। संवृतिकी अवरोहण-धारामें अभिव्यक्त सत्ताके सात तत्त्व, अभिव्यक्त होती चेतनाके सात स्तर पहचाने जा सकते हैं जिनका हमें बोध हो सकता है या जिनकी यहाँ उपस्थिति और अंत-र्विद्यमानताकी ठोस अनुभूति या एक प्रतिबिंबित अनुभूति हो सकती है। इनमें प्रथम तीन आद्य और मूलभूत तत्त्व हैं और वे चेतनाकी ऐसी विश्वव्यापी स्थितियाँ होते हैं जहाँ हम आरोहण करके पहुँच सकते हैं; जब हम ऐसा कर लेते हैं तो हम आध्यात्मिक सद्वस्तुकी मूलभूत अभि-व्यक्ति या उसके आत्म-रूपायणके परम धामों या स्तरोंसे अवगत होते हैं जहाँ दिव्य सत्ता, दिव्य चेतनाकी शक्ति और अस्तित्वके दिव्य आनंदके उल्लासके एकत्वको पुरोभागमें रखा जाता है,—यहाँकी तरह प्रच्छन्न या छद्मवेशमें नहीं, क्योंकि हम उन्हें उनकी संपूर्ण स्वतंत्र प्रकृततामें धृत रख सकते हैं। एक चौथा तत्त्व, अतिमानसिक ऋत-चित् भी उनके साथ संयुक्त होता है; एकत्वको अनंत बहुत्वमें अभिव्यक्त करनेवाला

यह तत्त्व 'अनंत'की आत्म-निर्देशनाकी विशिष्ट शक्ति है। परम सच्चि-दानंदकी यह चतुर्विध शक्ति 'अध्यात्म-पुरुष'के शाश्वत आत्मज्ञानपर आधारित अभिव्यक्तिका परार्द्ध होती है। हम यदि इन तत्त्वोंमें या सत्ताके किसी भी ऐसे लोकमें प्रविष्ट हों जहाँ 'सद्वस्तु' शुद्ध रूपमें विद्यमान है, तो हमें उनमें एक संपूर्ण स्वातंत्र्य और ज्ञान मिलते हैं। सत्ताके अन्य तीन लोक और शक्तियाँ, जिनसे हम वर्तमानमें भी अवगत हैं, अभिव्यक्तिका अपरार्द्ध होते हैं; यह मन, प्राण और जड़का गोलार्द्ध है। अपने-आपमे ये भी श्रेष्ठतर तत्त्वोंकी शक्तियाँ हैं; परन्तु जहाँ कहीं भी वे अपने आध्यात्मिक स्रोतोंसे पृथक् होकर अभिव्यक्त होते हैं, परिणामतया उनका सच्चे अविभक्त अस्तित्वके स्थानपर एक विभक्त अस्तित्वमें 'व्यावहारिक' स्खलन हो जाता है: यह स्खलन, यह पार्थक्य एक सीमित ज्ञानकी अवस्थाकी रचना करता है जो अपनी ही सीमित जगत्-व्यवस्था पर ऐकांतिक रूपसे संकेंद्रित है और जो कुछ भी उसके पीछे स्थित है उसका और अंतःस्थ एकत्वका उसे विस्मरण हो जाता है, अतः यह अवस्था वैश्व और वैयक्तिक अज्ञानकी है।

भौतिक लोकमें उतर आनेपर, जिसकी उत्पत्ति हमारा प्राकृत जीवन है, इस स्खलनकी पराकाष्ठा निश्चेतनामें होती है, संवृत सत्ता और चेतनाको उस निश्चेतनामेंसे एक क्रमिक विकास द्वारा उन्मज्जित होना होता है। यह अनिवार्य क्रमोन्मेष पहले जड़को और एक जड़ जगत्को विकसित करता है और ऐसा करनेको वह बाध्य है; जड़में प्राण और प्राणधारिणी भौतिक सत्ताओंका प्राकट्य होता है; प्राणमें मन अभिव्यक्त होता है और विचारशील तथा प्राणधारिणी शरीरी सत्ताएँ प्रकट होती हैं; मन अपनी शक्तियों और क्रियाओंको जड़में नित्य वर्द्धित करता है, उसमें अतिमानस या ऋत-चित् अवश्य प्रकट होगा,—निश्चेतनामें जो समाया हुआ है वस्तुतः उसकी शक्तिके कारण और उसे अभिव्यक्तिमें लानेके लिये प्रकृतिमें जो नियति है उसके कारण अतिमानसका प्राकट्य अनिवार्य है। प्रकट होता अतिमानस 'अध्यात्म'के आत्मज्ञान और संपूर्ण ज्ञानको एक अतिमानसिक सजीव सत्तामें अभिव्यक्त करता है और उसी विधानानुसार, एक अंतर्निहित आवश्यकता और अनिवार्यताके परिणाम-स्वरूप, उसे यहाँ दिव्य सच्चिदानंदकी सक्रिय अभिव्यक्ति भी संपादित करनी ही चाहिये। यही पार्थिव क्रमविकासकी योजना और व्यवस्थाका सार्थक्य है; यही वह आवश्यकता है जो उसके सारे डगों और आरोह-

क्रमोंका, उसके तत्त्व और उसकी प्रक्रियाका निर्धारण करेगी। मन, प्राण और जड क्रमविकासकी संसिद्ध विभूतियाँ हैं और हमें सुविदित हैं; अतिमानस और सच्चिदानंद-त्रिपुटी वे गुप्त तत्त्व हैं जिन्हें अभी तक पुरोभागमें नहीं रखा गया है और अभी भी अभिव्यक्तिके रूपोंमें चरितार्थ करना बाकी है, उन्हें हम केवल संकेतों और एक आंशिक तथा खंड क्रियाके ही आधारपर जानते हैं जो निम्नतर गतिधारासे अभी भी वियुक्त नहीं हुई है और अतः जिसे आसानीसे नहीं पहचाना जा सकता। परंतु उनका क्रमोन्मेष भी संभूतिगत जीवकी नियतिका अंग है,—पृथ्वी-जीवनमें और जड़में मनको ही नहीं, वरन् उसके ऊपर जो कुछ है उस सबको, जो कुछ वस्तुतः उतर तो आया है परंतु अब भी पृथ्वी-जीवन और जड़में प्रच्छन्न है उस सबको संसिद्ध और सक्रिय करना होगा।

हमारा पूर्ण ज्ञानका सिद्धांत 'मन'को 'सत्'के एक सृष्टिकारक तत्त्वके रूपमें, उसकी एक शक्तिके रूपमें स्वीकार करता और उसे अभिव्यक्तिमें उसका स्थान देता है। उसी तरह वह प्राण और जड़को 'अध्यात्म'की शक्तियाँ मानता है, और उनमें भी एक सृष्टिकारिका 'ऊर्जा' है। परंतु जो दृष्टि मनको एकमात्र या परम सृष्टिकारक तत्त्व बना देती है और जो दार्शनिक सिद्धांत प्राण या जड़को उसी एकमात्र सत्यता या प्रधानता-का पद दे देते हैं, वे एक अर्ध-सत्यको प्रकट करते हैं, समग्र ज्ञानको नहीं। यह सच है कि जब जड़का प्रथम उन्मज्जन होता है तो वह प्रमुख तत्त्व बन जाता है; वह समस्त वस्तुओंका आधार, समस्त वस्तुओंका उपादान, समस्त वस्तुओंका अंत जान पड़ता है और अपने निजी क्षेत्रमें वह ऐसा है भी: परंतु यह पाया गया है कि स्वयं जड़ किसी अजड़ वस्तुका, 'ऊर्जा'का परिणाम है, और यह 'ऊर्जा' कोई स्वयम्भू वस्तु या किसी शून्यमें क्रियमाण वस्तु नहीं हो सकती, बल्कि हो सकता है कि वह एक निगूढ़ 'चेतना' और 'सत्'की क्रिया ही हो, और गहराईसे संवीक्षा करनेपर उसके ऐसा होनेकी संभावना दिखायी देती है: और जब आध्यात्मिक ज्ञान तथा अनुभवका आविर्भाव होता है तो यह संभावना निश्चिति हो जाती है,—तब यह देखनेमें आता है कि जड़में जो सृष्टि-कारिका ऊर्जा है वह 'आत्मा' की शक्तिका स्पंदन है। स्वयं जड़ आद्य और अंतिम सद्वस्तु नहीं हो सकता। साथ ही, जड़ और आत्माके बीच विच्छेद करनेवाली और उन्हें विरोधियोंके रूपमें उपस्थित करनेवाली

दृष्टि भी अस्वीकार्य है; जड़ आत्माका एक रूप, आत्माका एक आवास है, और यहाँ स्वयं जड़में आत्माकी संसिद्धि हो सकती है।

फिर यह भी सत्य है कि जब प्राण उन्मज्जित होता है तो वही प्रधान हो जाता है, जड़को अपनी अभिव्यक्तिका यंत्र बना लेता है, और ऐसा दीखने लगता है मानों स्वयं वही वह गुप्त आद्य तत्त्व हो जो सृष्टिमें फूट पड़ता और अपने-आपको जड़के रूपोंमें अवगुंठित कर लेता है; इस प्रतीतिमें एक सत्य है और इस सत्यको पूर्ण ज्ञानके अंग-रूपमें स्वीकार भी करना होगा। प्राण आद्या 'सद्वस्तु' तो नहीं, फिर भी उसका एक रूप, एक बल है, जिसे जड़के अंदर सृष्टिकारिका प्रेरणा बनाकर यहाँ भेजा गया है। अतः प्राणको इस रूपमें स्वीकार करना होगा कि वह हमारी क्रियाशीलताका साधन और वह सक्रिय साँचा है जिसके अंदर हमें यहाँ दिव्य सत्ताको उँडेलना है; परंतु उसे इस प्रकार केवल इस कारण स्वीकार किया जा सकता है कि वह एक दिव्य ऊर्जाका रूप है और स्वयं वह ऊर्जा प्राण-शक्तिसे महत्तर है। प्राण-तत्त्व वस्तुओंका समग्र आधार और मूल नहीं; उसकी सृष्टिशीला क्रिया तब तक पूर्ण नहीं बनायी जा सकती और प्रभुताशाली रूपसे संपन्न नहीं की जा सकती या अपनी सच्ची गतिधाराको ही नही पा सकती जब तक कि वह अपने-आपको दिव्य पुरुषकी ऊर्जाके रूपमें न जानने लगे और अपनी क्रियाको उन्नीत और सूक्ष्म बनाकर उसे परा प्रकृतिके प्रवाहके लिये अबाध सरणि न बना दे।

अब मनकी बारी आती है, और जब वह उन्मज्जित होता है तो वही प्रधान हो जाता है; वह प्राण और जड़को अपनी अभिव्यक्तिके साधन-रूपमें, अपने विकास और अपने प्रभुत्वके क्षेत्र-रूपमें व्यवहृत करता है, और इस प्रकार कार्य करना आरंभ करता है मानों वही एकमात्र सद्वस्तु हो, और जैसे वह विश्वका साक्षी है वैसे ही उसका स्रष्टा भी हो। परंतु मन भी एक सीमित और अ-मौल शक्ति ही है; वह अवि-मानसका एक परिणाम या दिव्य अतिमानस द्वारा प्रक्षिप्त यहाँ एक ज्योतिर्मयी छाया है: एक विशालतर ज्ञानकी ज्योतिको अंगीकार करके ही वह अपनी पूर्णता प्राप्त कर सकता है; उसे अपनी अधिक अल्प, अपूर्ण और परस्पर-विरोधी शक्तियों और मूल्योंको अतिमानसिक ऋत-चित्की दिव्य रूपसे प्रभावी शक्तियों और सामंजस्यपूर्ण मूल्योंमें रूपांतरित करना होगा। उत्तरार्द्धकी सारी शक्तियाँ, जिनके साथ उनके

अज्ञान-निर्माण भी रहते है, शाश्वत आत्मज्ञानके परार्द्धसे हमपर अवतरित होती ज्योतिमें रूपांतरित होकर ही सच्चे आत्म-स्वरूपको पा सकती है।

सत्ताकी ये तीनों निम्नतर शक्तियाँ निश्चेतनके आधारपर निर्माण करती है और निश्चेतन ही उनका उद्गम और अवलंब जान पड़ता है। भौतिक जगत्का सारा ढाँचा निश्चेतनाके काले नागके विशाल फनों और अंधकारमयी पीठपर खड़ा होता है; उसकी ऊर्जाएँ वस्तुओंका प्रवाह खोल देती हैं, उसके धूमिल इंगित स्वयं चेतनाका आरंभ-बिंदु और सारे प्राण-संवेगका उत्स जान पड़ते हैं। इस उद्गम और प्राधान्यके परिणाम-स्वरूप अब एक ऐसी विचार-धारा है जो निश्चेतनको वास्तविक उद्गम और स्रष्टाके रूपमें लेती है। निस्संदेह, यह मानना होगा कि एक निश्चेतन शक्ति, एक निश्चेतन उपादान क्रमविकासका आरंभ-बिंदु है, परंतु क्रमविकासमें जिसका उन्मज्जन हो रहा है वह चिदात्मा है, न कि निश्चेतन सत्ता। निश्चेतन और उसके प्राथमिक कार्योंमें सत्ताकी अधिकाधिक ऊँची शक्तियोंकी लड़ीसे अंतर्वेधन होता और उन्हें चेतनाके अधीन किया जाता है ताकि उसके क्रमविकासके विरोधी विघ्नोंको, उसके अनुबंधोंके चक्रको धीरे-धीरे भग्न किया जाय, उसकी तमिस्राकी नाग-कुंडलियोंको सूर्य-देवके शर विद्ध करें। इसी भाँति हमारे भौतिक उपादानकी मर्यादाओंका ह्रास होता है और अंतमें उनको पार किया जा सकता है और मन, प्राण तथा शरीर दिव्य चेतना, ऊर्जा तथा आत्माके महत्तर धर्मसे अधिकृत किये जाकर रूपांतरित किये जा सकते हैं। पूर्ण ज्ञान अस्तित्व-विषयक सारी दृष्टियोंके वैध सत्योंको स्वीकार करता है; वे सत्य अपने क्षेत्रोंमें वैध हैं, परंतु यह ज्ञान उनकी सीमाओं और निषेधोंसे छुटकारा पाना चाहता और इन आंशिक सत्योंका सामंजस्य और पुनर्मेल एक विशालतर सत्यमें करना चाहता है जो हमारी सत्ताके सारे बहुल पक्षोंको अद्वय सर्वगत 'सत्ता'में परिपूरित करता है।

इस स्थलपर हमें एक डग आगे बढ़ना होगा और हमने जिस तत्त्व-ज्ञानात्मक सत्यका इस तरह कथन किया है उसे केवल अपने विचार और आंतरिक गतिविधिके ही नहीं, वरन् अपनी जीवन-दिशाके निर्धारक-रूपमें, अपने स्वानुभव और जगत्-अनुभवके क्रियागत समाधानके निर्देशकके रूपमें देखने लगना होगा। हमारे तत्त्वज्ञानको, विश्वके मूलभूत सत्य और जीवनके तात्पर्य-संबंधी हमारे दर्शनको स्वभावतया हमारी जीवन-संबंधी संपूर्ण धारणा और अभिवृत्तिका निर्धारक होना चाहिये; जीवनका

लक्ष्य, हमारी धारणानुसार, उसी आधारपर निर्मित होना चाहिये। तत्त्वज्ञानात्मक दर्शनशास्त्र सत्ताकी प्रक्रियाओं और उन प्रक्रियाओंके परिणामी व्यापारोंके प्रसंगसे हटकर उसकी मूलभूत सत्यताओं और तत्त्वोंके निर्धारणका प्रयास है। परंतु प्रक्रियाएँ मूलभूत सत्यताओंपर ही निर्भर करती हैं: हम जिसे सत्ताके सत्यके रूपमें देखते हों उसीके अनुरूप हमारी अपनी जीवन-प्रक्रियाको, उसके लक्ष्य और पद्धतिको होना चाहिये; अन्यथा हमारा तत्त्वज्ञानका सत्य क्रियावंत महत्वसे विहीन बुद्धिकी एक क्रीड़ा मात्र होगा। यह सच है कि बुद्धिको सत्यकी खोज, जीवन-उपयोगिताकी किसी पूर्वकल्पित धारणाके अवैध हस्तक्षेपके विना, सत्यके ही लिये करनी है। परंतु, फिर भी, एकबार जब उस सत्यका आविष्कार हो गया तो उसे हमारी आंतरिक सत्ता और हमारे वाह्य क्रियाकलापोंमें भी सिद्ध होना ही चाहिये: यदि ऐसा नही है तो उसका बौद्धिक महत्व हो सकता है, किंतु सर्वांगीण महत्त्व नहीं; तब वह बुद्धिके लिये तो एक सत्य होगा, परंतु हमारे जीवनके लिये विचारकी किसी पहेलीके समाधान या किसी अमूर्त अवास्तवता या मृत अक्षरसे अधिक नहीं होगा। सत्ताके सत्यको जीवनके सत्यका शासक होना ही चाहिये; ऐसा नहीं हो सकता कि इन दोनोंमें कोई संबंध या अन्योन्याश्रय न हो। जो हमारे लिये जीवनका श्रेष्ठतम सार्थक्य है, अस्तित्वका मूलभूत सत्य है, उसे ही हमारे अपने जीवनका स्वीकृत अर्थ, हमारा लक्ष्य, हमारा आदर्श होना होगा।

इस दृष्टिकोणसे, मोटामोटी तौरपर, चार मुख्य सिद्धांत हैं, या सिद्धांतोंकी चार श्रेणियाँ हैं, और उनके अनुरूप मनोवृत्तियाँ और आदर्श हैं जो अस्तित्वके सत्यकी चार विभिन्न धारणाओंसे संगत हैं। इन्हें हम ये नाम दे सकते हैं:—विश्वातीत, विश्वक और ऐहिक, अपार्थिव अथवा पारलौकिक, और समाकलक या समन्वयात्मक या संमिश्र, अर्थात् वे सिद्धांत जो उन तीनों तत्त्वों या उनमेंसे किन्हीं दो को समन्वित करनेका प्रयत्न करते हैं जिन्हें विलग करनेकी प्रवृत्ति अन्य सिद्धांतोंमें होती है। हमारा दर्शन इस अंतिम श्रेणीके अन्तर्गत आयगा: उसके अनुसार हमारा यहाँका जीवन एक संभूति है जिसका मूल और जिसका लक्ष्य एक दिव्य पुरुष है; वह एक प्रगतिशील अभिव्यक्ति, एक आध्यात्मिक क्रमविकास है; विश्वातीत उसका उत्स और आश्रय है, परलोक एक स्थिति और संयोजिका कड़ी है, विश्व और इहलोक उसका क्षेत्र

है, मानवीय मन और प्राण एक उच्चतर और उच्चतम पूर्णताकी ओर विमुक्त होनेके लिये उसकी ग्रंथि और वर्तन-बिंदु। अतएव, पहले हमें उन तीनों मनोंपर यह देखनेके लिये दृष्टिपात करना चाहिये कि वे जीवनके समाकलनकारी दर्शनसे कहाँ अलग होते हैं और उनके आधार-सत्य उसके ढाँचेमें कहाँतक ठीक बैठते हैं।

विश्वातीत दर्शनके अनुसार एकमात्र परम 'सद्वस्तु' ही संपूर्णतया सत्य है। इस अवलोकनमें विश्वसत्ता और व्यष्टि-जीवकी एक अवास्तवता, एक व्यर्थताके भावकी ओर एक विशिष्ट प्रवणता रहती है, परंतु यह भाव मूलभूत नहीं, इसके प्रधान विचार-तत्त्वका अनिवार्य संगी नहीं। इसके चरम रूपोंके जगत्-दर्शनमें मानव-जीवनका कोई सच्चा अर्थ नहीं होता; वह अंतरात्माकी कोई भूल अथवा जीनेकी इच्छाका प्रलाप होता है, एक भ्रांति या अज्ञान होता है जो अद्वितीय 'सद्वस्तु'पर किसी भाँति आच्छादित हो जाता है। विश्वातीत ही एकमात्र सच्चा सत्य है; या, हर दशामें, 'निर्विशेष' ही, परब्रह्म ही समस्त सत्ताका मूल और लक्ष्य है, बाकी सब कुछ एक मध्य-विराम है जिसका कोई स्थायी अर्थ नहीं। यदि ऐसा हो तो यह परिणाम निकलता है कि एकमात्र कर्त्तव्य, हमारी सत्ताके लिये बुद्धिमत्ताका एकमात्र और उपयुक्त पंथ यह है कि हमारा आंतरिक विकास या आत्माका कोई प्रच्छन्न विधान जब भी इसे संभव कर दे, हम जीवनमात्रसे दूर हो जायें, वह जीवन चाहे ऐहिक हो या स्वर्गलौकिक। यह सच है कि भ्रम अपने-आपके लिये वास्तव है, व्यर्थता अर्थपूर्ण होनेका दिखावा करती है; उसके नियम और तथ्य,—वे केवल तथ्य हैं, सत्य नहीं, व्यवहारसिद्ध वास्तवताएँ है, वास्तव वास्तवताएँ नहीं,—हमपर तबतक बाध्यकारी हैं जबतक हम भ्रांतिमें रहते हैं। परंतु यथार्थ ज्ञानके किसी भी दृष्टिकोणसे, वस्तुओंके सच्चे सत्यकी किसी भी दृष्टिमें, यह सारी आत्म-भ्रांति एक वैश्व पागलखानेके नियमोंसे शायद ही श्रेष्ठतर प्रतीत होती है; जबतक हम पागल हैं और हमें पागलखानेमें रहना है हम उसके नियमोंके अधीन रहनेको विवश हैं और हमें अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार उनका सदुपयोग या दुरुपयोग करना होगा, परंतु जहाँतक हमारे उचित लक्ष्यकी बात है वह यह होगा कि हम अपने पागलपनसे मुक्त हो जायँ और प्रकाश, सत्य तथा स्वातंत्र्यमें चले जायँ। इस तर्ककी कठोरतामें जो कोई भी ढिलाइयाँ की जायँ, समय विशेषके लिये जीवन और व्यक्तित्वको सार्थक करनेके हेतु जो

कोई भी छूटें दी जायँ, फिर भी इस दृष्टिकोणके अनुसार जीवनका सच्चा धर्म वह हर कोई नियम होगा जो हमें शीघ्रसे शीघ्र आत्मज्ञानकी पुनःप्राप्ति करनेके लिये सहायता दे सके और निर्वाणकी ओर ले जानेवाली सबसे सीधी राह हो; सच्चा आदर्श व्यष्टि और विश्वसत्ताका 'निर्विशेष'में अवसान, आत्म-विलोपन ही होगा। बौद्धोंके द्वारा निर्भीकता और स्पष्टतासे उद्घोषित आत्म-निर्वापणका यह आदर्श वैदांतिक विचारधारामें एक आत्म-प्राप्ति है: परंतु 'निर्विशेष'के अंदर अपनी सच्ची सत्तामें अपने वर्द्धनसे व्यक्तिकी आत्म-प्राप्ति तभी संभव होगी जबकि दोनों परस्पर-संबंधित सत्य हों; आत्म-प्राप्तिकी यह बात तब नहीं लागू हो सकेगी यदि 'निर्विशेष'का अंतिम जगत्-विनाशी आत्म-प्रतिष्ठापन एक अवास्तव या कालावच्छिन्न व्यक्तिमें मिथ्या व्यक्तिगत सत्ताके विलोप द्वारा और उस वैयक्तिक चेतनाके लिये समस्त वैयक्तिक और विश्व-सत्ताके विनाश द्वारा हो,—भले ही ये भ्रांतियाँ, 'निर्विशेष' द्वारा अनुमत अज्ञान-जगत्में, असहाय रूपसे अनिवार्य होकर, विश्वव्यापी, शाश्वत और अविनाशी अविद्यामें चाहे कितनी ही क्यों न चलती चलें।

परंतु जीवनकी पूरी व्यर्थताका यह भाव अस्तित्वके विश्वातीत सिद्धांतका अनिवार्य परिणाम नहीं। उपनिषदोंके वेदांतमें ब्रह्मकी संभूतिको वास्तव कहकर स्वीकार किया गया है, अतएव संभूतिके सत्यके लिये अवकाश रहता है : इस सत्यमें जीवनका एक ऋत विधान रहता है, हमारी सत्ताके सुखखोजी तत्त्वकी एक अनुमेय संतुष्टि रहती है, उसका कालिक जीवनका हर्ष रहता है, उसकी व्यावहारिक ऊर्जाका, उसके अंदरकी चेतनाकी कार्यकारिणी शक्तिका प्रभावी उपयोग होता है; परंतु उसकी कालिक संभूतिके सत्य और विधानकी एक बार पूर्ति हो गयी तो जीवको अपनी अंतिम आत्मोपलब्धिकी ओर वापस मुड़ना होता है, क्योंकि उसकी स्वाभाविक अंतिम संपूर्ति है अपनी आद्य सत्ता, अपने शाश्वत आत्मा, अपने कालातीत सत्यमें निस्तार पाना, मुक्ति पाना। संभूतिका एक चक्र है जिसका शाश्वत् सत्से आरंभ और उसीमें अंत होता है; या, यदि 'परम'को व्यक्तिक या अतिव्यक्तिक सद्वस्तु-रूपमें देखें तो विश्वमें संभूति और जीवनकी एक अस्थायी लीला है, एक क्रीड़ा है। यहाँ, स्पष्टतः, जीवनका इसके अतिरिक्त और कोई सार्थक्य नहीं कि वह 'सत्-पुरुष'की संभूतिकी इच्छा है, संभूतिके लिये चेतनाकी इच्छा और उसकी शक्तिकी प्रवृत्ति है, उसका संभूतिका आनंद है; कारण, जब यह इच्छा व्यक्तिसे हट जाती या

उसमें परिपूरित हो जाती है और सक्रिय नहीं रह जाती, तब व्यक्तिके लिये संभूतिका विराम हो जाता है: परंतु विश्व तो टिका ही रहता या सृष्टिमे सदा ही वापस आता रहता है, क्योंकि संभूतिकी इच्छा शाश्वत है और ऐसा होना आवश्यक भी है, क्योंकि यह एक शाश्वत सत्की अंतर्निष्ठ इच्छा है। कहा जा सकता है कि इस दृष्टिमें एक यह त्रुटि है कि इसके अनुसार व्यक्तिकी कोई मूलभूत वास्तवता नहीं, उसकी प्राकृत या उसकी आध्यात्मिक क्रियाशीलताका कोई स्थायी मूल्य और सार्थक्य नही: परंतु यह उत्तर दिया जा सकता है कि चिरस्थायी व्यक्तिगत सार्थक्यके लिये, व्यक्तिगत चिरत्वके लिये यह मांग हमारी अज्ञानमयी बाह्य चेतनाकी भ्रांति है; व्यक्ति उस 'सत्'की एक अल्प-स्थायी संभूति है, और यह एक सर्वथा पर्याप्त मूल्य और सार्थक्य है। यह भी कहा जा सकता है कि शुद्ध या निर्विशेप 'सत्ता'में कोई मूल्य और सार्थक्य नहीं हो सकते: मूल्योंका अस्तित्व विश्वमें है और वहाँ वे अपरिहार्य भी हैं, परंतु केवल सापेक्ष और अस्थायी निर्माणोंकी तरह ही; कालनिर्मितिमें कोई निरपेक्ष मूल्य, कोई शाश्वत और स्वयम्भू सार्थक्य नही हो सकते। यह कथन पर्याप्त रूपसे निर्णायक जान पड़ता है और ऐसा लगता है कि इस विपयमें अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। परंतु फिर भी प्रश्न बचा रह जाता है; कारण, हमारी वैयक्तिक सत्तापर जो बल दिया जाता है, उससे जो मांग की जाती है, वैयक्तिक पूर्णता और मुक्तिका जो मूल्य लगाया जाता है वे इतने बड़े हैं कि उन्हें एक गौण व्यापारका साधन मानकर, विश्वमें 'शाश्वत'की संभूतिके विशाल चक्रोंके बीच एक नगण्य कुंडलीका कुंडलन और विकुंडलन मानकर विदा कर देना संभव नहीं।

अब हम विश्वक-ऐहिक दृष्टिको ले सकते हैं जो विश्वातीतके ठीक विपरीत है, विश्वसत्ताको वास्तव मानती है, और भी आगे जाती और उसे एकमात्र वास्तवता मानती है, और उसका देखना सामान्यतः भौतिक विश्वमें होनेवाले जीवनतक सीमित होता है। यदि ईश्वरका अस्तित्व हो भी, तो वह एक शाश्वत संभूति है; या यदि ईश्वरका अस्तित्व नही है तो प्रकृति एक नित्य संभूति है, फिर, प्रकृतिको हम चाहे जैसी भी क्यों न मानते हों, उसे शक्तिकी जड़तत्त्वके साथ क्रीड़ाके रूपमें या एक महा विश्वप्राणके रूपमें देखते हों या यह भी स्वीकार करते हों कि प्राण और जड़में एक विश्वव्यापी निर्व्यक्तिक मन है। पृथ्वी संभूतिका क्षेत्र है या उसके अस्थायी क्षेत्रोंमें एक है; मनुष्य संभूतिका उच्चतम

संभव रूप है या उसके अस्थायी रूपोंमेंसे केवल एक रूप है। संभव है कि वैयक्तिक रूपसे मनुष्य सर्वथा मर्त्य हो, मानव-जाति भी पृथ्वीके अस्तित्वकी कुछ थोड़ी अवधितक ही टिकी रहे, प्राणको पृथ्वी सौर जगत्‌में अपने अस्तित्वकी दीर्घतर अवधितक ही धारित रख सके, स्वयं उस सौर्य जगत्‌का भी एक दिन अंत हो जाय, या कमसे कम, ऐसा हो सकता है कि वह संभूतिमें सक्रिय या उत्पादक तत्त्व नहीं रह जाय, स्वयं वह विश्व जिसमें हम रहते हैं विघटित हो जाय या संकुचित होकर अपनी 'ऊर्जा'की बीजावस्थामें चला जाय: परंतु संभूतिका तत्त्व शाश्वत है—या, अंततः उतना तो शाश्वत है ही जितना कि अस्तित्वकी अंधकार-पूर्ण अस्पष्टतामें कुछ भी हो सकता है। यह अनुमान करना निस्संदेह संभव है कि मानव-व्यक्ति काल-प्रवाहके मध्य चैत्य सत्ताके रूपमें स्थायी है, इस जीवनके बाद कोई लोकोत्तर जीवन या अन्यत्र अन्य जीवन हुए विना इस पृथ्वीपर या विश्वमें आत्मानुप्रवेश या पुनर्जन्म निरंतर चलता है: ऐसी दशामें इस अंतहीन संभूतिका लक्ष्य विश्वमें कहींपर निरंतर वर्द्धित होनेवाली पूर्णताके आदर्शको माना जा सकता है या पूर्णताकी ओर गमन या चिर आनंदकी ओर प्रगतिके आदर्शको। परंतु चरम ऐहिक दृष्टिमें यह कल्पना मुश्किलसे ही प्रतिपाद्य होती है। मानव-विचारकी कुछ परिकल्पनाएँ इस दिशामें हुई हैं, किंतु उन्होंने कोई सारवान् रूप नहीं लिया। संभूतिमें चिरस्थायी रहनेका भाव सामान्यतया एक महत्तर अपार्थिव सत्ताकी मान्यताके साथ संयुक्त रहा है।

जिस साधारण दृष्टिके अनुसार पार्थिव जीवन केवल एक वार आता है या वह भौतिक विश्वमें एक सीमावद्ध अल्पकालिक यात्रा है,—कारण, संभवतया अन्य ग्रहोंमें भी मननधर्मी जीव हों,—उसके लिये मनुष्यकी मर्त्यताको स्वीकार करना और उसे निष्क्रिय रूपसे सहना या एक सीमित व्यक्तिगत या सामूहिक जीवन और जीवन-लक्ष्योंके साथ सक्रिय रूपसे व्यवहार करना, यही चुनाव संभव होता है। मानव-व्यक्ति यदि अपने व्यक्तिगत प्रयोजनोंके अनुसरणमें या जवतक प्राण निकल न जायँ तवतक किसी तरह जीते रहनेमें संतुष्ट नहीं है तो उसके लिये एकमात्र उच्च और युक्तिसंगत राह यह है कि वह संभूतिके विधानोंका अध्ययन करे और तव वुद्धिसे हो या संवोधिसे, आंतरिक रूपसे हो या जीवनकी क्रिया-धारामें, जीवनकी संभावनाओंको अपनेमें या अपने-आपके लिये या जिस जातिका वह अंग है उसमें अथवा उसके लिये चरितार्थ करनेको उन

विधानोंसे उत्तम लाभ उठाये; उसका कार्य यह है कि यहाँ जो वास्तविकताएँ विद्यमान हैं उनका अधिकतम लाभ उठाये और जो उच्चतम संभावनाएँ यहाँ विकसित की जा सकती हैं या निर्मित हो रही हैं उन्हें पकड़े या उनकी ओर आगे बढ़े। कालकी प्रक्रियामें, जातिके अनुभवके विकासक्रममे, समूची मानव-जाति ही, व्यष्टि और समष्टिकी क्रियाके पुंज द्वारा, इसे पूरी प्रभावकारिताके साथ संपन्न कर सकती है: परंतु मानव-व्यक्ति भी अपनी सीमाओंके भीतर इसके लिये सहायता दे सकता है, जीवनकी जो थोड़ी अवधि उसे दी गयी है उसमें कुछ दूरी तक अपने-आपके लिये ये सारी चीजें कर सकता है; परंतु विशेप रूपसे, उसके विचार और कर्म जातिके वर्तमान बौद्धिक, नैतिक और प्राणिक कल्याण और उसकी भावी प्रगति के लिये योगदान हो सकते हैं। उसमें सत्ताकी एक महत्ताका सामर्थ्य है; वह यदि यह स्वीकार करता है कि उसका वैयक्तिक विनाश अनिवार्य है और शीघ्र होनेवाला है, तो भी इस कारण, उसमें जो इच्छा और विचार विकसित किये गये हैं उनका उच्च उपयोग करने या जो महान् लक्ष्य मानव-जाति द्वारा कार्यान्वित किये जायँगे या किये जा सकते है उनकी ओर उन्हें निर्देशित करनेसे वह नही रुकता। मानव-जातिकी समष्टि-सत्ताकी अस्थायिता भी, अस्तित्व-संबंधी अत्यंत जड़वादी दर्शनको छोड़कर, बहुत अधिक अंतर नहीं लाती, कारण, जबतक विश्व-संभूति मानवीय शरीर तथा मनका रूप लेती है, उसने अपने मानव-प्राणीमें जिस विचार, जिस इच्छाको विकसित किया है उसका कार्यान्वयन होगा और उसका बुद्धिमानीसे अनुसरण करना मानव-जीवनका प्राकृत धर्म और उत्तम नियम है। मानव-जाति, उसका कल्याण और उसकी प्रगति, जबतक मानव-जाति पृथ्वीपर टिकी है, हमारी सत्ताके ऐहिक लक्ष्यके लिये विशालतम क्षेत्र और स्वाभाविक सीमाएँ हैं; हमारे आदर्शोंके स्वरूप और विस्तारका निर्धारण जातिके प्रवर स्थायित्व और समष्टि-जीवनके गुरुत्व और महत्वसे होना चाहिये। परंतु यदि मानव-जातिके कल्याण या प्रगतिका बहिष्कार यह कह करके कर दिया जाय कि वह हमारा कार्य नही या वह भ्रांति है, तो भी व्यक्ति तो रहता ही है; तब व्यक्तिके द्वारा अपनी श्रेष्ठतम संभव पूर्णताको उपलब्ध करना या उसकी प्रकृतिकी जो कोई भी मांग हो उसके अनुरूप उसके जीवनका उत्तम उपयोग करना ही जीवनका सार्थक्य होगा।

पारलौकिक दृष्टि भौतिक विश्वकी वास्तवताको स्वीकार करती

और पृथ्वी तथा मानव-जीवनके अस्तित्वके अल्पस्थायित्वको ऐसे प्रथम तथ्यके रूपमें लेती है जिससे हमें आरंभ करना होता है; परंतु वह दृष्टि इसमें सत्ताके ऐसे अन्य लोकों या स्तरोंका दर्शन जोड़ देती है जिनका अस्तित्व शाश्वत या, अंततः, अधिक स्थायी होता है; वह मनुष्यके शरीरकी मर्त्यताके पीछे मनुष्यमें अंतःस्थ अंतरात्माका अमरत्व देखती है। वैयक्तिक मानव-आत्मा शरीरसे अलग अमर है, चिरस्थायी है, यह विश्वास इस जीवन-धारणाका आधारशब्द है। सत्ताके भौतिक या ऐहिक लोकसे उच्चतर लोकोंमें इस दर्शनका अगला विश्वास इस प्रथम विश्वासके कारण ही आवश्यक हो जाता है, क्योंकि जिस जगत्की प्रत्येक क्रिया शक्तिकी जड़के रूपोंमें और उनके साथ किसी क्रीड़ापर निर्भर करती है, वह चाहे आध्यात्मिक हो या मानसिक या प्राणिक या भौतिक, उस जगत्में अशरीरी आत्माके लिये स्थायी स्थान नहीं हो सकता। इस दर्शनसे यह भाव उद्‌गत होता है कि मनुष्यका सच्चा गृह यहाँ से परे है और पृथ्वी-जीवन किसी न किसी रूपमें केवल उसके अमरत्वका एक उपाख्यान या एक स्वर्गिक और आध्यात्मिक धामसे भौतिक जीवनमें च्युति ही है।

परंतु तब इस च्युतिका स्वरूप, मूल और अंत क्या है? पहले तो कुछ धर्मोंका यह लम्बे समयसे चलता आ रहा भाव है,—परंतु अब उसकी नींव बहुत हिल गयी है या वह बहुत अमान्य हो गया है—कि मनुष्य एक ऐसी सत्ता है जिसकी सृष्टि पृथ्वीपर प्रथमतः एक भौतिक सजीव शरीरके रूपमें की गयी है जिसमें या तो एक नवजात दिव्य आत्माको फूँक दिया जाता है या जिसे एक सर्वशक्तिमान् स्रष्टाकी आज्ञासे उसके साथ संयुक्त कर दिया जाता है। यह जीवन उसका एक एकाकी प्रसंग है, यह जीवन उसके लिये एकमात्र अवसर है जहाँसे प्रयाण कर वह एक शाश्वत आनंदके जगत् या एक शाश्वत दुःखके जगत्में चला जाता है और वह इनमेंसे कौनसे जगत्में जायगा, यह इसपर निर्भर करता है कि उसके कर्मोंकी राशि सामान्य या प्रधान रूपसे शुभ रही है या अशुभ, उसने किसी विशेष पंथ, उपासना-पद्धति, दिव्य मध्यस्थको स्वीकार किया है या अस्वीकार, उन्हें जाना है या उनसे अनजान रहा है, या नहीं तो, यह उसके परम स्रष्टाकी पूर्वनियत-कारिणी स्वेच्छाचारिणी सनकपर निर्भर करता है। परंतु यह कथन जीवनके पारलौकिक सिद्धांतके न्यूनतम युक्तिसंगत रहनेवाले संदिग्ध

मत या नियमका रूप लेता है। आत्माका शारीरिक जन्म द्वारा सृजन होता है, इस भावको अपना आरंभ-बिंदु मानकर चलते हुए भी हम यह अनुमान कर सकते हैं कि सबपर प्रयुक्त होनेवाले एक स्वाभाविक विधानके अनुसार जब आत्मा अपने जड़तत्त्वके मूल गर्भाशयको वैसे त्याग देता है जैसे कि कोषावस्थासे छूटी हुई और अपने हल्के और रंगीन परोंसे वायुमें उड़ान भरती तितली, तब उसे अपने शेष अस्तित्वका अनुसरण परेके एक अपार्थिव लोकमें करना होता है। या हम एक और भी अच्छी कल्पना यह कर सकते हैं कि आत्माका अस्तित्व ऐहिक अस्तित्वसे पूर्व भी रहा है, वह जड़तत्त्वमें पतित हुआ या उतरा है और स्वर्गिक सत्तामें उसका पुनरारोहण होगा। यदि हम आत्माका प्राक्-अस्तित्व स्वीकार करते हैं तो इस अंतिम संभावनाको कभी-कभी होने-वाली आध्यात्मिक घटना कहकर वहिष्कृत करनेका कोई कारण नहीं रहता,—यह धारणागम्य है कि अस्तित्वके अन्य लोककी सत्ता किसी उद्देश्यके लिये मानवीय शरीर और प्रकृति धारण कर सकती है: परंतु इस धारणाका पार्थिव सत्ताका सार्वभौम सिद्धांत या भौतिक विश्वकी सृष्टिका पर्याप्त युक्तिसंगत विवरण होना संभव नहीं दीखता।

कभी कभी यह कल्पना भी की जाती है कि पृथ्वीपर जीवन एक ही बार होता है, वह एक भूमिका मात्र है और जीवका अपनी मूल महिमाके समीपतर जानेका विकास लोक-लोकांतरोंकी शृंखलामेंसे गुजरते हुए होता है, वे लोक उसके विकासकी इतनी सारी अन्य भूमिकाएँ, उसकी यात्राके पड़ाव होते हैं। तब भौतिक विश्व, विशेषतः पृथ्वी-लोक, इस मध्य-भूमिकाके खेले जानेके लिये निर्दिष्ट एक भव्य क्षेत्र होगा जिसे एक दिव्य शक्ति, प्रज्ञा या स्वैरताने रचा होगा। इस विषयपर हम जो दृष्टिकोण अपनायेंगे, उसीके अनुसार यह पृथ्वी हमें अग्नि-परीक्षाका स्थल, विकासका क्षेत्र या आध्यात्मिक पतन और निष्कासनका दृश्य दिखायी देगी। एक यह भारतीय दृष्टि भी है जो जगत्को दिव्य लीलाके उद्यानके रूपमें अपरा प्रकृतिके इस जगत्में विश्व-जीवनकी अवस्थाओंके साथ दिव्य 'पुरुष'की क्रीड़ाके रूपमें देखती है; मनुष्यका अंतरात्मा जन्म-जन्मांतरकी दीर्घ धारामें इस लीलामें भाग लेता है, परंतु अंतमें दिव्य पुरुषके स्वधाममें पुनरारोहण और वहाँ नित्य सामीप्य एवं मिलनका भोग उसकी नियति है: इससे सृष्टि-प्रक्रिया और आध्यात्मिक अभियानमें एक विशेष युक्तिसंगत आधार आता है जो इस प्रकारकी आंतरात्मिक

गतिधारा या आंतरात्मिक चक्रके अन्य विवरणोंमें या तो है नहीं या स्पष्ट रूपसे संकेतित नहीं। परंतु सामान्य सिद्धांतके इन सारे विभिन्न कथनोंमें तीन मूलभूत विशिष्टताएँ सदैव होती हैं:—प्रथम तो मानव-आत्माके वैयक्तिक अमरत्वमें विश्वास; द्वितीय, इस विश्वासके आवश्यक परिणामस्वरूप, यह भाव कि पृथ्वीपर उसका प्रवास या तो एक अल्पकालीन यात्रा है या उसकी अपने उच्चतम शाश्वत स्वभावसे विच्युति, और यहांसे परेका कोई स्वर्ग ही उसका स्वधाम है; तृतीय, नैतिक और आध्यात्मिक सत्ताके विकासपर यह कहकर आग्रह कि यह उस आरोहणके लिये साधन है और फलतः इस जड़ जगत्में जीवनका एकमात्र पुरुषार्थ है।

ये अवलोकनकी तीन मूलधाराएँ है जिनमें प्रत्येकका जीवनको और अपना मनोभाव है और जिन्हें हमारे अस्तित्वके संबंधमें अपनाया जा सकता है; बाकी सामान्यतः या तो बीचमें आनेवाली चौकियाँ या इन तीनोंके परिवर्तित या मिश्रित रूप हैं और समस्याकी जटिलताके प्रति अधिक स्वतंत्रतासे अनुकूल होनेका प्रयत्न करती हैं। कारण, कुछ थोड़ेसे व्यक्ति जो कुछ भी करनेमें सफल हुए हों, यदि मनुष्यको समूची मानव-जातिकी दृष्टिसे देखें तो व्यवहारत यह असंभव है कि वह अपनी इन तीनों अभिवृत्तियोंमेंसे किसी भी एकको, अपनी प्रकृतिपर दूसरियोंके दावेका वर्जन करता हुआ, ऐकांतिक रूपसे लेवे और उसके प्रधान उद्देश्य द्वारा अपने जीवनको चिरस्थायी या संपूर्ण रूपसे निर्देशित कर सके। इनमेंसे दो या अधिकका अस्तव्यस्त मिश्रण, मनुष्यके जीवन-उद्देश्योंका उनके बीच विभाजन या संघर्ष, या समन्वयका कोई प्रयत्न, यही मनुष्यका अपनी जटिल सत्ताके विविध अंतर्वेगोंके साथ और उसके मनके जिन संबोधि-स्फुरणोंसे वे अपने अनुमोदनकी मांग करते हैं उनके साथ व्यवहार है। लगभग सारे मनुष्य अपनी ऊर्जाका अधिकांश भाग सामान्यतया पार्थिव जीवनके लिये, व्यक्ति और जातिकी ऐहिक आवश्यकताओं, हितों, कामनाओं, आदर्शोंके लिये लगाते हैं। इससे भिन्न हो भी नहीं सकता था; कारण, शरीरकी संभाल, मनुष्यकी प्राणमयी और मनोमयी सत्ताकी पर्याप्त उन्नति और तुष्टि, मनुष्यकी प्राप्य पूर्णताके भाव या मनुष्यके सामान्य विकास द्वारा पूर्णताके समीपतर जानेके भावसे आरंभ करनेवाले उच्च वैयक्तिक और विशाल समष्टि-आदर्शोंका अनुशीलन, इनके लिये हम अपनी पार्थिव सत्ताके स्वभावसे ही बाध्य हो जाते हैं; ये इस

सत्ताके धर्मका अंग, इसका स्वाभाविक अंतर्वेग और नियम, इसके विकासकी शर्त हैं, और इनके विना मनुष्य अपने परिपूर्ण मानवत्वको नहीं प्राप्त कर सकता। हमारी सत्ताके संबंधमें जो भी दृष्टि इन वस्तुओंकी अवहेलना करती, इन्हें अनुचित रूपसे तुच्छ समझती या असहिष्णुतासे तिरस्कृत करती है, वह इसी कारण मानव-जीवनका सामान्य और संपूर्ण नियम होनेके अयोग्य हो जाती है, फिर उसका अन्य सत्य या गुण या उपयोग चाहे जो कुछ भी क्यों न हो, किसी विशेप प्रकृतिके व्यक्तियोंके लिये अथवा आध्यात्मिक क्रमविकासकी किसी विशेप स्थितिमें वह चाहे कितनी ही उपयुक्त क्यों न हो। ये लक्ष्य प्रकृतिके विकासक्रमका आवश्यक अंग हैं और प्रकृति इसकी अच्छी साव-धानी वरतती है कि मानवजाति इन लक्ष्योंकी अवहेलना न करे; कारण, हमारे अंदर जो दिव्य योजना है ये लक्ष्य उसकी पद्धति और भूमिकाओंके अंतर्गत आते हैं, और अपने प्रथम डगों और उनकी मानसिक तथा भौतिक भूमिके संरक्षणके लिये सतर्कता प्रकृतिके लिये एक सर्वोपरि व्यवसाय है जिसे वह पृष्ठभागमें नही चले जाने दे सकती, क्योंकि ये चीजें प्रकृतिके निर्माणकी भित्ति और कायाकी हैं।

परंतु प्रकृतिने हमारे अंदर एक यह वोध भी रोप दिया है कि हमारी गठनमें ऐसा कुछ है जो मानवजातिके इस प्रथम ऐहिक स्वरूपके परे जाता है। यही कारण है कि मानव-जाति अस्तित्व-संबंधी ऐसी किसी भी दृष्टिको वहुत लंवे समयतक स्वीकार या उसका अनुसरण नहीं कर सकती जो इस उच्चतर और सूक्ष्मतर वोधकी उपेक्षा करती हो और हमे जीवनकी निरी पार्थिव विधिमे सर्वथा आवद्ध रखनेका उद्योग करती हो। हमपर यह संवोधि वापस आती है कि एक 'परतत्त्व' है, यह भाव और यह अनुभूति वापस आती है कि हममें एक अंतरात्मा और अध्यात्म-सत्ता है जो मन, प्राण और शरीरसे भिन्न या महत्तर है और उनके सूत्रसे सीमित नहीं, और अंतमें इस संवोधि, इस भाव और अनुभूतिका हमपर पुनः अधिकार हो जाता है। साधारण मनुष्य इस वोधकी तुष्टिके लिये अपने जीवनके असाधारण क्षणों या अपने जीवनके उत्तर भागको नियोजित करता है जव आयुने उसकी पार्थिव प्रकृतिके उत्साहको कुंठित कर दिया होगा, या वह उसे अपने स्वाभाविक कर्मके ऊपर या पीछे रहनेवाली किसी वस्तुके रूपमें देखता है जिसकी ओर वह अपनी प्राकृत सत्ताको कम या अधिक अपूर्णतासे मोड़ सकता है,

और इस भाँति वह इस बोधको पर्याप्त आसानीसे तुष्ट करता है। असाधारण मनुष्य परलोककी ओर इस रूपमें मुड़ता है मानों वह उसके जीवनका एकमात्र लक्ष्य और धर्म हो और अपनी स्वर्गिक प्रकृतिके विकासकी आशामें अपने पार्थिव अंगोंका यथासंभव ह्रास या दमन करता है। ऐसे युग आये हैं जब पारलौकिक दृष्टिने बहुत सबल अधिकार प्राप्त किया है, जब मनुष्य दो जीवनोंके बीच दोलायमान रहा है, एक ओर तो अपूर्ण मानव-जीवन जो अपना स्वाभाविक विशाल विस्तार नहीं कर सकता, और दूसरी ओर स्वर्गीय जीवनके लिये एक अस्वस्थ संन्यासवृत्त चाह जो भी थोड़े से जनोंको छोड़कर अपनी उत्तम शुद्ध और सुखद गतिधाराको नहीं पाती। यह जीवमें एक मिथ्या संघर्ष की रचनाका चिह्न है जो किसी ऐसे मानदंड या उपायको खड़ा करनेसे होती है जो क्रमविकासके विधानकी उपेक्षा करता है, या किसी एक पक्षपर अति बल देनेसे होती है जिसकी पकड़में वह पुनर्मेलकारी समीकरण नहीं आता जिसे हमारी प्रकृतिके दिव्य विन्यासमें कहीं पर विद्यमान होना ही चाहिये।

परंतु, अंतमें, जब हमारा मनोमय जीवन गभीरतर होता और सूक्ष्मतर ज्ञान विकसित होता है, हममें यह बोध अवश्य उदित होगा कि पार्थिव और पारलौकिक, ये दो ही हमारी सत्ताके प्रान्त नहीं; ऐसा कुछ भी है जो विश्वसे अतीत है और हमारी सत्ताका उच्चतम और दूरस्थ उत्स है। इस बोधमें हमारे आध्यात्मिक उत्साह, अंतरात्माकी अभीप्साकी ऊँचाई और तीव्रता, हमारी बुद्धिके दार्शनिक विलगाव या कठोर तार्किक असहिष्णुता, हमारी इच्छाकी उत्कंठा, जीवनकी कठिनाइयोंसे निरुत्साहित या उसके परिणामोंसे निराश हमारी प्राणिक सत्तामें आयी अस्वस्थ जुगुप्सा, इन चालिका शक्तियोंमेंसे किसी या किन्हीं या सबके द्वारा यह भाव आसानीसे संयुक्त हो जाता है कि इस सुदूर 'परम'के अतिरिक्त अन्य सब कुछ बिलकुल ही व्यर्थ और अवास्तव है, मानव-जीवन वृथा है, विश्वसत्ता मिथ्या है, पृथ्वी कटु विरूपता और निर्ममता है, स्वर्ग अपर्याप्त है, शरीरमें जन्मोंका पुनरावर्तन निरुद्देश्य है। यहाँ फिर यह बात है कि साधारण मनुष्य वस्तुतः इन भावोंको लेकर नहीं जी सकता; ये भाव, अधिकसे अधिक, उसके जीवनका रंग फीका कर देते और उसमें अशांत असंतोष ले आते हैं, जबकि उसे वह जीवन व्यतीत करते जाना ही होता है: किंतु, असाधारण मनुष्य अपने दृष्ट

सत्यके अनुसरणके लिये सब कुछ छोड़ देता है और उसके लिये ये भाव उसके आध्यात्मिक अंतर्वेगका आवश्यक आहार या उस एक प्राप्तिके लिये उद्दीपन हो जाते है जो उसके लिये एकमात्र महत्त्वपूर्ण वस्तु रह जाती है। ऐसे देश और समय रहे हैं जिनमें जीवनके प्रति यह दृष्टि-कोण बहुत सबल हो गया; जातिका एक महत्त्वपूर्ण भाग संन्यासीके जीवनकी ओर अलग मुड़ गया,—यद्यपि उसमें उस जीवनकी सच्ची पुकार सदैव नहीं रहती थी,—बाकी भागके लोग सामान्य जीवनमें संलग्न रहे परंतु उनके भी अंतरमें यह विश्वास था कि यह जीवन असत्य है,—और यह विश्वास ऐसा है जो अत्यधिक पुनरावृत्ति और हठ द्वारा जीवन-आवेगको हतोत्साह और उसके प्रेरक हेतुओंको अधिकाधिक क्षीण कर सकता है, यहाँ तक कि एक सूक्ष्म प्रतिक्रिया द्वारा, विश्वजीवनमें दिव्य पुरुषके विशालतर आनंदके प्रति हमारे स्वाभाविक प्रत्युत्तरका अभाव लाकर हमें एक सामान्य संकुचित जीवनमें निमग्न कर दे सकता है और उस महान् प्रगतिशील मानवीय आदर्शवादको विफल कर दे सकता है जिससे हमें एक सामूहिक आत्म-विकासकी ओर, संग्राम और उद्यमके उदार आलिंगनकी ओर प्रेरणा मिलती है। यहाँ फिर विश्वातीत 'सद्वस्तु'के विवरणमें एक अपर्याप्तताका चिह्न है, इसमें शायद कोई अतिरंजना या भ्रांत विरोध है, इसमें दिव्य समीकरण का अभाव है, सृष्टिका और स्रष्टाकी संपूर्ण इच्छाका समग्र बोध इससे छूटा रह गया है।

वह समीकरण केवल तब पाया जा सकता है जबकि हम अपनी समूची जटिल प्रकृतिके तात्पर्यको विश्व-गतिधारामें उसके सही स्थानमें जान लें; आवश्यकता है अपनी संमिश्र सत्ता और बहुमुखी अभीप्साके प्रत्येक अंगका पूरा न्यायोचित मूल्य मानने और उनके विभिन्नत्व तथा उनके एकत्व दोनोंकी कुंजी प्राप्त कर लेनेकी। यह प्राप्ति समन्वय या समाकलन द्वारा ही होगी, और चूँकि विकास मानव-जीवका स्पष्ट धर्म है, अतः उस कुंजीका आविष्कार एक क्रमवैकासिक समन्वय द्वारा होनेकी संभावना सबसे अधिक है। इस प्रकारके समन्वयका प्रयत्न प्राचीन भारतीय संस्कृतिमें किया गया था। उसने मानव-जीवनके चार न्यायोचित उद्देश्य स्वीकार किये थे—प्रथम, अर्थ, मनुष्यके प्राणभूत स्वार्थ और आवश्यकताएँ; द्वितीय, काम, उसकी कामनाएँ; तृतीय, धर्म, उसकी नैतिक और धार्मिक अभीप्सा; चतुर्थ, मोक्ष, उसका अंतिम आध्यात्मिक

लक्ष्य और नियति,—अन्य शब्दोंमें, उसके प्राण, शरीर और हृदयके दावे, ईश्वर, प्रकृति और मनुष्यके ज्ञानसे अनुशासित उसकी नैतिक और धार्मिक सत्ताके दावे, 'परतत्त्व'के लिये उसकी आध्यात्मिक एषणाके दावे जिसकी तुष्टि वह अज्ञानमय सांसारिक जीवनमेंसे अंतिम विमोचनकी प्राप्तिसे करना चाहता है। उसने जीवनके इस भावपर आधारित शिक्षा और तैयारीके एक पर्वकी व्यवस्था की, हमारे अंदरके नैतिक और धार्मिक भागके संयमकारी अनुशासनके नीचे मानवीय कामनाओं और स्वार्थोंकी तुष्टिके लिये सामान्य जीवनके एक पर्वकी व्यवस्था की, उपरति और आध्यात्मिक तैयारीके एक पर्वकी व्यवस्था की और जीवनके परित्याग और आत्मामें मुक्तिलाभके एक अंतिम पर्वकी व्यवस्था की। यह स्पष्ट है कि यदि इसे एक सार्वभौम नियमके रूपमें प्रयुक्त किया जाय तो इस निर्धारित प्रतिमानमें, हमारी यात्राके घुमावके इस निरूपणमें यह तथ्य छूट जाता है कि विकासके समूचे वृत्तका चक्कर किसी एक ही अल्प जीवन-अवधिमें सब कोई पूरा कर लें यह असंभव है; परंतु इसे इस सिद्धांत द्वारा संशोधित किया गया कि संपूर्ण क्रमविकास पुनर्जन्मोंके लंबे अनुक्रममें पूरा होता है और ऐसा होनेपर ही आध्यात्मिक मुक्तिके लिये योग्यता आती है। इस समन्वयमें आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि है, व्यापक दृष्टि है, सममिति है, संपूर्णता है, और इसने मानव-जीवनकी तंत्रीको उन्नत करनेके लिये बहुत कुछ किया भी; परंतु अंतमें वह ढह गया: उसके स्थानपर जगत्-परित्यागके अंतर्वेगकी अतिरंजना आ गयी जिसने इस समन्वयकी सममितताका ध्वंस कर दिया और उसे जीवनकी दो परस्पर-विरोधिनी गतिधाराओंमें काट डाला, एक तो नैतिक और धार्मिक रंग लिये हुए स्वार्थों और कामनाओंका प्राकृत जीवन, और दूसरा, जगत्-परित्यागपर अधिष्ठित अप्राकृत या अतिप्राकृत आंतरिक जीवन। वास्तवमें, प्राचीन समन्वयके भीतर ही इस अतिरंजनाका बीज पड़ा हुआ था और उसकी इस रूपमें च्युति होनी ही थी: कारण, हम यदि जीवनसे बच निकलनेको अपना वांछनीय लक्ष्य मानते हों, यदि हम जीवन-परिपूर्तिका कोई भी उच्च आदर्श खड़ा नहीं करते हों, यदि जीवनका कोई दिव्य सार्थक्य नहीं हो, तो मानवीय बुद्धि और इच्छाकी अधीरता अंतमें कोई छोटा मार्ग अवश्य खोज निकालेगी और जहाँतक संभव होगा किन्हीं भी अन्य अधिक कठिन और दीर्घकालिक प्रक्रियाओंसे पीछा छुड़ायगी; यदि वह ऐसा नहीं कर सके या यदि वह छोटे मार्गका

अनुसरण करनेमें असमर्थ हो, तो अहं और उसकी तुष्टियाँ उसके लिये रह जाती हैं, किंतु वहाँ प्राप्त करनेके लिये कोई और महत्तर वस्तु नहीं रह जाती। जीवन बँट जाता है आध्यात्मिक और सांसारिकमें, और हमारी प्रकृतिके इन अंगोंमें सामंजस्य या समन्वय नहीं, अपितु एकसे दूसरे मे हठात् संक्रमण ही हो सकता है।

एक आध्यात्मिक क्रमविकास, अंदरके सत्पुरुषका जन्म-जन्मांतरमें यहाँ उन्मेष,—मनुष्य जिसका मुख्य उपकरण हो जाता है और मानव-जीवन अपने उच्चतम बिंदुपर जिसका क्रांतिक वर्तन-बिंदु,—जीवन और आत्माके पुनर्मेलके लिये आवश्यक कड़ी है; कारण, इससे हमें मनुष्यकी समग्र प्रकृतिको विचारमें लेने और पृथ्वी, स्वर्ग तथा परम 'सद्वस्तु'की ओर उसके त्रिस्रोता आकर्षणके न्यायोचित स्थानको माननेका अवकाश मिलता है। परंतु उसके विरोधोंका संपूर्ण समाधान केवल इस आधार-पर हो सकता है कि मन, प्राण और शरीरकी निम्नतर चेतना अपना संपूर्ण सार्थक्य तबतक नहीं प्राप्त कर सकती जबतक कि वह उच्चतर आध्यात्मिक चेतनाकी ज्योति, शक्ति एवं आनंद द्वारा उन्नीत, पुनर्निरूपित, रूपांतरित न हो जाय, साथ ही, उच्चतर चेतना भी निम्नतरके साथ अपना पूरा सम्यक् संबंध, मात्र वर्जन द्वारा नहीं, वरन् उसे इस प्रकार धारण और अधीन करके, उसके अपरिपूरित मूल्योंको इस प्रकार उन्नीत करके, उसे इस प्रकार पुनर्निरूपित और रूपांतरित करके ही,—मनोमयी, प्राणमयी और अन्नमयी प्रकृतिको अध्यात्ममयी और अतिमानसमयी करके ही—प्राप्त कर सकती है। पार्थिव आदर्शने, जो आधुनिक मानसमें इतना अधिक सशक्त रहा है, मनुष्य और उसके पार्थिव जीवनको और जातिकी सामूहिक आशाको फिरसे प्रमुख स्थानपर ला बिठाया और समाधानके लिये हठीली मांगकी रचना की; उसने यह उपकार किया है। परंतु इसे अत्यधिक मात्रामें करके और अपनी अनन्यताके कारण उसने मनुष्यके क्षेत्रको अनुचित रूपसे सीमित कर दिया, मनुष्यमें जो वस्तु उच्चतम है और अंतमें विशालतम, उसकी उपेक्षा कर दी, और इस सीमायनके कारण वह अपने लक्ष्यका भी संपूर्ण अनुशीलन नहीं कर सका। यदि मन ही मनुष्य और प्रकृतिमें उच्चतम वस्तु होता तो निस्संदेह परिणाममें इस वैफल्यका घटित नहीं होना संभव था; तो भी, वहाँ क्षेत्रका परिसीमन होता, संभावना संकुचित होती, भविष्य सीमाबद्ध होता। परंतु मन यदि चेतनाका एक आंशिक उन्मीलन ही हो और

उससे परे ऐसी शक्तियाँ हों जिनके लिये हमारी जातिमें प्रकृति सक्षम हो, तो पृथ्वीसे परेकी बात तो अलग रही, स्वयं पृथ्वीपर हमारी आशा उन शक्तियोंके उन्मेषपर निर्भर करती है, साथ ही यह उन्मेष हमारे क्रमविकासका एकमात्र उपयुक्त मार्ग बन जाता है।

मन और प्राण भी वर्द्धित होकर अपनी परिपूर्णताको तबतक नहीं पा सकते जबतक कि उस विशालतर और महत्तर चेतनाका उन्मेष न हो जाय जिसके समीप भर ही मन जा सकता है। वह विशालतर और महत्तर चेतना आध्यात्मिक है, क्योंकि आध्यात्मिक चेतना बाकी चेतनासे केवल उच्चतर ही नहीं, अधिक समावेशकारिणी भी है। विश्वव्यापिनी एवं विश्वातीता, दोनों ही रहती हुई, वह मन और प्राणको अपनी ज्योतिमें उठा ले सकती और वे जिनकी खोज कर रहे हैं उन सबकी सच्ची और अधिकतम उपलब्धि उन्हें दे सकती है; कारण, उस चेतनाको ज्ञानका एक महत्तर करणत्व, गभीरतर बल और इच्छाका एक निर्झर, प्रेम, हर्ष एवं सौंदर्यकी एक असीम विस्तृति और तीव्रता प्राप्त हैं। ये ही वे चीजें हैं, ज्ञान, बल और हर्ष, जिनकी खोज हमारे मन, प्राण और शरीर करते हैं, और जिसके द्वारा वे सब अपनी अंतिम परिपूर्णता तक पहुँचते हैं उसका वर्जन उन्हें उनके अपने उच्चतम उत्कर्षसे रोकना है। जो विपरीत अतिरंजना आध्यात्मिक अस्तित्वकी केवल किसी विवर्ण शुद्धताकी मांग रखती है, वह अध्यात्म-तत्त्वकी सृजनात्मिका क्रियाको अकृत करती और दिव्य पुरुष अपनी सत्तामें जिसे अभिव्यक्त करता है उस सबको हमसे अलग हटाती है: वह केवल एक ऐसे क्रमविकासके लिये स्थान छोड़ती है जिसका कोई अर्थ नहीं, जिसकी कोई पूर्ति नहीं,—कारण, जो कुछ भी विकसित कर दिया गया है उस सबको काटकर अलग करना ही एकमात्र परमोत्कर्ष हो जाता है; वह या तो हमारी सत्ताकी प्रक्रियाको अज्ञानमें निमज्जनके एक अर्थहीन घुमाव और उसमेंसे वापस निकल जानेका रूप दे देती है या विश्व-संभूतिका एक ऐसा चक्र खड़ा करती है जिसमेंसे निकल जाना ही एक-मात्र समाधान हो। पारलौकिक अभीप्सा, जो मध्यवर्तिनी है, सत्ताकी एकताकी उच्चतम उपलब्धिकी ओर नहीं बढ़ती और इस तरह ऊर्ध्वमें उसकी परिपूर्तिको अधूरी रोक देती है, और वह भौतिक विश्वमें उसकी विद्य-मानताको और पार्थिव शरीरमें उसके जीवनग्रहणको उचित प्रचुर सार्थकता नहीं प्रदान करती और इस तरह नीचे भी उसे क्षीण कर देती है।

एकत्वका एक विशाल संबंध, एक समाकलन ही, संतुलनको पुनः स्थापित करता, सत्ताके समूचे सत्यको उद्भासित करता और प्रकृतिके डगोंको साथ जोड़ता है।

इस समाकलनमे विश्वातीत 'सद्वस्तु' सत्ताके परम सत्यके रूपमें सामने आती है; उसकी उपलब्धि हमारी चेतनाकी उच्चतम पहुँच है। परंतु यह उच्चतम 'सद्वस्तु' ही विश्वसत्ता, विश्वचेतना, विश्वेच्छा एवं विश्वप्राण भी है: उसने इन वस्तुओंको अपने-आपके वाहर नहीं, वरन् अपनी स्व-सत्तामें व्यक्त किया है, किसी विरोधी तत्त्वके रूपमें नहीं, वरन् अपने ही स्वोन्मेष और स्वाभिव्यक्तिके रूपमें। विश्वसत्ता कोई अर्थहीन सनक या कपोल-कल्पना या आकस्मिक भ्रांति नहीं; उसमें एक दिव्य सार्थक्य और सत्य है: अध्यात्म-तत्त्वकी वहुविधा स्वाभिव्यक्ति उसका अर्थ है, भगवान् हैं उसके रहस्यकी कुंजी। अध्यात्म-तत्त्वकी पूर्ण स्वाभिव्यक्ति हमारे पार्थिव जीवनका लक्ष्य है। यह तवतक नहीं प्राप्त हो सकता जवतक हम परम 'सद्वस्तु'के प्रति सचेतन न हो जायँ; कारण, 'परम'के स्पर्शसे ही हम निजका परमपद पा सकते हैं। परंतु वैश्व 'सद्वस्तु'का वर्जन करके भी ऐसा नहीं किया जा सकता: हमें विश्वात्मक हो जाना होगा, कारण, विश्वभावमें उन्मीलित हुए विना व्यक्ति असंपूर्ण रह जाता है। 'सर्वोच्च' तक पहुँचनेके लिये अपने-आपको 'सर्व'से पृथक् करनेवाला व्यक्ति अपने-आपको उत्तुंग शिखरोंमें खो देता है; विश्वचेतनाको अपने अंदर समाविष्ट करके वह अपने संपूर्ण आत्म-स्वरूपको पुनः प्राप्त करता है और साथ ही अपनी तुरीयताकी परम संपदाको भी सुरक्षित रखता है और उसकी और अपनी परिपूर्ति वैश्व संपूर्णतामें करता है। विश्वातीत, वैश्व और वैयक्तिकके एकत्वकी उपलब्धि स्वाभिव्यक्तिशील अध्यात्म-तत्त्वकी परिपूर्णताके लिये एक अपरिहार्य शर्त है; कारण, विश्व उसकी स्वाभिव्यक्तिकी संपूर्णताका क्षेत्र है, जवकि यहाँ उसका क्रमवैकासिक आत्मोन्मेष व्यक्ति द्वारा ही पराकाष्ठा पर पहुँचता है। परंतु ऐसा होनेसे केवल यही मान्य नहीं होता कि व्यक्तिकी सत्ता सच्ची है, 'परम'के साथ और सकल विश्वसत्ताके साथ हमारा निगूढ़ शाश्वत एकत्व भी प्रकट होता है। व्यक्तिके आत्म-समाकलनमें उसके अंतरात्माको विश्वत्व और विश्वातीतताके प्रति जागृत होना ही होगा।

पारलौकिक अस्तित्व भी सत्ताका एक सत्य है; कारण, भौतिक

ही हमारे अस्तित्वका एकमात्र लोक नहीं; चेतनाके अन्य लोक हैं, उनतक हम पहुँच सकते हैं और हमारे साथ उनके गुप्त संबंध पहलेसे विद्यमान हैं: अंतरात्माके जो कोई भी महत्तर प्रदेश हमारे लिये खुले हों उनतक नहीं जाना, उनका अनुभव नहीं पाना, उनके विधानको नहीं जानना और अपने अंदर अभिव्यक्त नहीं करना हमारा अपनी सत्ताके शिखर और परिपूर्णता तक पहुँचनेसे पहले ही रुक जाना है। परंतु चेतनाके उच्चतर लोक ही सिद्ध जीवके एकमात्र संभव क्षेत्र और धाम नहीं; फिर, अध्यात्म-पुरुषकी विश्वगत स्वाभिव्यक्तिका अंतिम और संपूर्ण अर्थ भी किसी ऐसे जगत्‌में प्राप्त नहीं हो सकता जो प्रारूपिक और अपरिवर्तनशील हो: जड़ जगत्, यह पृथ्वी, यह मानव-जीवन, ये भी अध्यात्म-पुरुष की स्वाभिव्यक्तिका अंग हैं और इनकी एक दिव्य संभावना है; वह संभावना क्रमविकासिनी है और इसमें सारे अन्य जगतोंकी संभावनाएँ समायी हैं जो चरितार्थ हुई तो नहीं हैं, किंतु चरितार्थ हो सकती हैं। पृथ्वी-जीवन किसी अदिव्य, व्यर्थ और दुःखमयी वस्तुके पंकमें च्युति नहीं, जिसे कोई शक्ति अपने सामने किसी नाटकके रूपमें या शरीरी अंतरात्माके सामने किसी ऐसी वस्तुके रूपमें उपस्थित करती हो जिसे पहले तो झेलना और बादमें अपनेसे दूर हटा फेंकना हो: वह सत्‌पुरुषके क्रमवैकासिक उन्मेषकी रंगभूमि है जो एक परम आध्यात्मिक ज्योति, शक्ति, आनंद एवं एकत्वकी ओर अग्रसर हो रहा है, और साथ ही उसमें स्वयं-सिद्धिकर अध्यात्म-पुरुषका बहुविध वैचित्र्य भी सम्मिलित है। पार्थिव सृष्टिमें एक सर्व-द्रष्टा प्रयोजन है; एक दिव्य योजना अपने विरोधों और जटिलताओंके बीचसे अपने-आपको क्रियान्वित कर रही है, ये विरोध और जटिलताएँ उस बहु-मुखी सिद्धिका चिह्न हैं जिसकी ओर जीवके विकास और प्रकृतिके प्रयासको ले जाया जा रहा है।

यह सच है कि जीव पृथ्वीसे परे एक महत्तर चेतनाके लोकोंमें आरोहण कर सकता है, परंतु यह भी सच है कि उन लोकोंकी शक्तिको, एक महत्तर चेतनाकी शक्तिको यहाँ विकसित होकर शरीर धारण करना है; आत्माका शरीरधारण उस शरीरधारणका साधन है। चेतनाकी सारी उच्चतर शक्तियोंका अस्तित्व इस कारण है कि वे परम 'सद्‌वस्तु' की शक्तियाँ हैं। हमारी पार्थिव सत्ताका भी वही सत्य है: वह अद्वय 'सद्‌वस्तु'की संभूति है जिसे इन महत्तर शक्तियोंको अपने अंदर

मूर्त करना है। उसका वर्तमान रूप एक आवृत और आंशिक आकृति है और हमारा अपने-आपको इसी प्राथमिक आकृति तक, अपूर्ण मानवताके वर्तमान विधान तक सीमित कर देना हमारी दिव्य शक्यताओंका बहिष्कार करना होगा। हमें तो अपने मानव-जीवनमें एक विशालतर अर्थको लाना है और उसमें अपने उस बहुत ही विशालतर भागको अभिव्यक्त करना है जो हम निगूढ़तः हैं। हमारी मर्त्यता हमारे अमरत्वके प्रकाशमें ही अपना औचित्य पाती है; स्वर्ग-लोकोंकी ओर उन्मीलित होकर ही हमारी पृथ्वी अपने संपूर्ण स्वरूपको जान सकती और संसिद्ध कर सकती है; व्यक्ति जब सत्ताके महत्तर लोकोंमें प्रवेश कर जाता है, 'परम'की ज्योतिका साक्षात्कार कर लेता है, 'दिव्य' एवं 'शाश्वत' सत्ता एवं शक्तिमें निवास करता है, तभी वह अपने-आपको सम्यक् रूपसे देख सकता और अपने जगत्का दिव्य उपयोग कर सकता है।

यदि हमारे जन्म और ऐहिक जीवनका तात्पर्य आध्यात्मिक क्रम-विकास न हो तो इस प्रकारका समाकलन संभव नहीं होगा; जड़में मन, प्राण तथा आत्माका क्रमविकास इस बातका चिह्न है कि यह समाकलन ही, जड़में अंतर्विष्ट निगूढ़ आत्माकी यह संपूरित अभिव्यक्ति ही उसका तात्पर्य है। अध्यात्म-सत्ता जो कुछ है उस सबकी संपूर्ण संवृति और उसका क्रमवैकासिक स्वोन्मेष हमारे भौतिक जीवनके युगल अयन हैं। एक यह संभावना है कि वह स्वाभिव्यक्ति सत्ताके नित्य अनावृत ज्योतिर्मय विकास द्वारा हो, एक यह संभावना भी है कि वह अभिव्यक्ति विविक्तः तो हो परंतु पूर्ण प्ररूपोंमें हो जो अपने-अपने स्वभावमें दृढ़बद्ध और संपूर्ण होंगे: उच्चतर लोकोंमें संभूतिका यही नियम है; अपने जीवन-तत्त्वमें वे प्रारूपिक हैं, क्रमविकासशील नहीं; उनमेंसे प्रत्येकका अस्तित्व अपनी-अपनी स्व-पूर्णतामें रहता है, परंतु एक निश्चल जगत्-सिद्धांतकी सीमाओंमें ही। किंतु एक यह संभावना भी है कि स्वाभिव्यक्ति आत्म-प्राप्ति द्वारा हो, वह एक ऐसा प्रविस्तार हो जो आत्म-निगूहनकी और आत्म-पुनःप्राप्तिके अभियानकी प्रगतिका रूप लेवे और उसके बीचसे निकले: यही इस विश्वमें होती संभूतिका तत्त्व-विधान है जिसका आदिपर्व है चेतनाकी संवृति और अध्यात्म-सत्ताका जड़में संगोपन।

अध्यात्म-सत्ताका निश्चेतनामें संवरण आरंभ है; आंशिक विकसनशील ज्ञानकी संभावनाओंकी क्रीड़ाको साथ लिये अज्ञानमें उन्मेष मध्य है, और

हमारी वर्तमान प्रकृतिकी असंगतियोंका कारण भी,—हमारी अपूर्णता इस बातका चिह्न है कि यह एक संक्रमणकालीन स्थिति है, एक ऐसा विकास है जो अभी तक पूरा नहीं हुआ है, एक ऐसा प्रयास है जो अपना मार्ग खोज रहा है; अध्यात्म-सत्ताके आत्मज्ञान और उसकी दिव्य सत्ता तथा चेतनाकी आत्म-शक्तिके प्रविस्तारमें संसिद्धि अंतिम उत्कर्ष है: जीवनमें अध्यात्मसत्ताकी प्रगतिशील स्वाभिव्यक्तिके इस चक्रमें ये तीन पर्व आते हैं। इनमेंसे जिन दो पर्वोंकी क्रीड़ा हो चुकी है वे प्रथम दृष्टिमें इस चक्रके परवर्ती संसिद्धिकारी पर्वकी संभावनाका निषेध करते लगते हैं, परंतु, तर्क-दृष्टिसे, इस तीसरे पर्वका उन्मज्जन उनके भीतर निहित है; कारण, यदि निश्चेतनाने चेतनाका उन्मेष किया है, तो जो आंशिक चेतना अबतक प्राप्त हो चुकी है वह संपूर्ण चेतनामें अवश्यमेव विकसित होगी। पार्थिव प्रकृतिकी एषणा है पूर्ण एवं दिव्य जीवनके लिये, और यह एषणा प्रकृतिमें 'दिव्य इच्छा'का चिह्न है। अन्य एषणाएँ भी हैं, और उन्हें भी आत्म-परिपूर्तिके साधन मिलते हैं; प्रत्याहार द्वारा परम शांति या आनंदमें प्रवेश, प्रत्याहार द्वारा दिव्य सान्निध्यके आनंदमें प्रवेश, ये पृथ्वी-जीवनमें जीवके लिये संभव हैं: कारण, 'अनंत'के लिये अभिव्यक्तिमें संभावनाएँ बहुल हैं और वह अपने निरूपणोंसे सीमित नहीं होता। परंतु इनमेंसे कोई भी प्रत्याहार पार्थिव संभूतिका तो मूलभूत अभिप्राय नहीं हो सकता; कारण, तब क्रमवैकासिकी प्रगतिके कार्यको हाथमें नहीं लिया जाता,—यहाँ ऐसी प्रगतिका लक्ष्य तो यहीं पर कोई आत्म-परिपूर्ति हो सकती है: इस प्रकारकी प्रगतिशील अभिव्यक्तिका मर्मार्थ सत्-पुरुषका एक पूर्ण संभूतिमें प्राकट्य ही हो सकता है।

मनुष्य विश्वमें अपने-आपको प्रतिष्ठित करनेके लिये है, यह उसका प्रथम कार्य है, परंतु उसे अपना विकास करना है और अंतमें अपना अतिक्रमण भी: उसे अपनी आंशिक सत्ताको संपूर्ण सत्तामें, अपनी आंशिक चेतनाको पूर्ण चेतनामें परिणत करना है; उसे अपने परिवेशपर प्रभुत्व प्राप्त करना है परंतु साथ ही विश्व-ऐक्य और विश्व-सामंजस्य भी; उसे अपने व्यक्तित्वको साकार करना है और विश्वात्मामें और अस्तित्वके सार्वभौम तथा आध्यात्मिक आनंदमें वर्द्धित भी। मनुष्यकी प्रकृतिका स्पष्ट अभिप्राय है रूपांतर, उसकी मानसतामें जो कुछ भी तमिस्र, भ्रांतिपूर्ण और अज्ञानपूर्ण है, उस सबका परिमार्जन और शोधन, अंतमें ज्ञान, इच्छा, संवेदन, कर्म और चरित्रके अवाध तथा वृहत् सामंजस्य तथा ज्योतिर्मयताकी प्राप्ति; यह एक ऐसा आदर्श है जिसे सर्जनशीला ऊर्जाने उसकी वुद्धिपर आरोपित किया है, एक ऐसी आवश्यकता है जिसे उसने उसकी मानसिक तथा प्राणिक धातुमें रोप दिया है। परंतु इसे केवल तव संपादित किया जा सकता है जवकि मनुष्य एक विशालतर सत्ता तथा एक विशालतर चेतनामें वर्द्धित हो: मनुष्य अपनी वर्तमान और प्रत्यक्ष प्रकृतिमें अंशतया और अस्थायी रूपसे जैसा है, उसमेंसे उसका उस ओर आत्म-वर्द्धन, आत्म-परिपूर्ति, आत्म-विकास जैसा कि वह अपने निगूढ़ स्वरूप और अध्यात्म-सत्तामें संपूर्णतया है और फलतः जैसा वह अपने अभिव्यक्त जीवनमें भी हो जा सकता है, उसकी सृष्टिका उद्देश्य है। यही आशा विश्वकी घटनाओंके वीच पृथ्वीपर मनुष्यके जीवनको सार्थक करती है। वाह्य प्रतीयमान मानवको, जो अपने भौतिक शरीरके अनुवंधोंके अधीन है और परिसीमित मानसतामें वंदी है, आंतरिक सच्चा मानव वन जाना है, अपना और अपने परिवेशका स्वामी और अपनी सत्तामें विश्वात्मक हो जाना है। अधिक स्पष्ट और कम दार्शनिक भाषामें कहें तो प्राकृत मानवको अपना विकास करते हुए दिव्य मानव हो जाना है; मृत्यु-पुत्रोंको यह जानना है कि वे 'अमृतस्य पुत्रः' हैं। यही कारण है कि मानव-जन्मको विकासक्रममें वर्तन-विंदु, पार्थिव प्रकृतिमें क्रांतिक पर्व कहा जा सकता है।

इससे यह निष्कर्ष तुरंत निकलता है कि हमें जिस ज्ञानको प्राप्त करना है वह कोई वुद्धिका सत्य नहीं; वह हमारे अपने और जगत्के संवंधमें कोई सही विश्वास, सही अभिमत, सही जानकारी नहीं,—इन्हें तो केवल वहिस्तलीय मन ज्ञान मानता है। ईश्वर, मनुष्य और जगत्के

बारेमें कोई मानसिक धारणा बनाना बुद्धिके लिये अच्छा विषय है, परंतु अध्यात्म-पुरुषके लिये वह पर्याप्त रूपसे विशाल नहीं; इससे हम 'आनंत्य'की सचेतन संतान नहीं हो सकेंगे। प्राचीन भारतीय मनीषाके अनुसार ज्ञान एक ऐसी चेतना था जो उच्चतम सत्यका साक्षात्कार करती और उसे आत्मानुभूतिमें अविकृत रखती है; हम जिस 'सर्वोच्च'को जानते हैं वही बन जाना, वही हो जाना इस बातका चिह्न है कि वह ज्ञान हमें यथार्थतः प्राप्त हो गया है। फिर, यही कारण है कि हमारे व्यावहारिक जीवनको, हमारे कर्मको, हमारी सत्य और ऋतकी बौद्धिक धारणाओं या किसी सफल व्यावहारिक ज्ञानसे यथासंभव संगत रखते हुए गढ़ना,—सदाचारिक अथवा प्राणिक कार्यान्वयन—न तो हमारे जीवनका अंतिम लक्ष्य है और न हो सकता है; हमारा लक्ष्य तो हमारा वह विकास ही होना चाहिये जो हमें हमारी सच्ची सत्ता, हमारी अध्यात्म-सत्ता, परम एवं विश्वव्यापी सच्चिदानंदकी सत्तामें उत्तीर्ण करे।

हमारा सारा अस्तित्व उस परम सत्तापर निर्भर करता है, हममें उसीका क्रमविकास हो रहा है; हम उसी सत्‌की सत्ता, उसी चित्‌की चेतना, उसी चिन्मयी ऊर्जाकी ऊर्जा, उसी 'आनंद'से उत्पन्न सत्ताकी आनंद-एषणा, चेतनाका आनंद, ऊर्जाका आनंद हैं: यही हमारे अस्तित्वका मूल तत्त्व है। परंतु हमारा इनका बाह्य रूपायण ऐसा नहीं, प्रत्युत अज्ञानकी भाषामें उसका गलत अनुवाद है। हमारा "मैं" वह आध्यात्मिक पुरुष नहीं जो दिव्य सत्‌का अवलोकन करता हुआ कह सके, "सोऽहमस्मि'; हमारी मानसता वह आध्यात्मिक चेतना नहीं; हमारी इच्छा चेतनाकी वह शक्ति नहीं; हमारे सुख-दुःख, हमारे उच्चतम हर्ष और उल्लास भी सत्ताका वह आनंद नहीं। बहिस्तलपर अभी भी हम वह अहं ही हैं जिसने आत्माका स्थान ले रखा है, हम वह अज्ञान ही हैं जो ज्ञानमें परिणत हो रहा है, वह इच्छा ही हैं जो शक्तिकी ओर उद्योग कर रही है, वह कामना ही हैं जो अस्तित्वके आनंदकी खोज कर रही है। एक अर्ध-अंध द्रष्टाके अनुप्रेरित वचनोंको प्रतिध्वनित करते हुए, जिन्हें उस आत्मस्वरूपका ज्ञान नहीं था जिसकी वह चर्चा कर रहे थे, हम कह सकते हैं कि अपना अतिक्रमण करके अपना स्वरूप पा लेना वह दुष्कर और संकटपूर्ण अनिवार्यता है, अदृश्य मुकुटकी प्राप्तिके पूर्व आनेवाली वह कृच्छ्र तपस्या है जिसके लिये हम बाध्य हैं, मनुष्यकी सत्ताके सच्चे स्वरूपकी वह पहेली है जो मनुष्यके

सामने, नीचेसे निश्चेतनाकी तमिस्र रहस्यमयी मूर्ति द्वारा और अंतर तथा ऊर्ध्वसे अनंत चेतना एवं शाश्वत प्रज्ञाकी ज्योतिर्मयी अवगुंठित रहस्यमयी मूर्ति द्वारा, एक गूढ़ दिव्य मायाके रूपमें उपस्थित की जाती है। अतएव अहंका अतिक्रमण करना और अपना सच्चा आत्म-स्वरूप हो जाना, अपनी प्रकृत सत्ताके प्रति संविद् होना, उसे अधिकृत करना, सत्ताके सच्चे आनंदको अधिकृत करना हमारे इह जीवनका परम तात्पर्य है; यह हमारे वैयक्तिक और पार्थिव जीवनका निगूढ़ अर्थ है।

बौद्धिक ज्ञान और व्यावहारिक कर्म प्रकृतिके वे साधन हैं जिनके द्वारा हम अपनी सत्ता, चेतना, ऊर्जा और भोग-शक्तिके उतने अंशको व्यक्त कर पाते हैं जिसको हम अपनी प्रतीयमान प्रकृतिमें रूपायित कर सके हैं और जिनके द्वारा हम उस बहुत कुछको, जिसे हमें अभी रूपायित करना बाकी है, अधिक जानने, अधिक व्यक्त और रूपायित करने और उसमें वर्द्धित होनेका प्रयत्न करते हैं। परंतु हमारी बुद्धि, हमारा मानसिक ज्ञान और हमारी कर्मेच्छा ही हमारे एकमात्र साधन नहीं, हमारी चेतना और ऊर्जाके सारे उपकरण नहीं: हमारी प्रकृति,—अपने अंदर सत्ताकी वर्तमान और संभाव्य क्रीड़ा और बलगत शक्तिको ही हम अपनी प्रकृति कहते हैं—अपने चेतना-विन्यासमें संश्लिष्ट है, अपनी शक्तिके साधन-विनियोगमें संश्लिष्ट है। हमारे लिये यह आवश्यक है कि उस संश्लिष्टता-के जिस किसी भी आविष्कृत या आविष्कारशक्य सूत्र और परिस्थितिको हम कार्य-संपादनकी व्यवस्थामें ला सकते हों हम उस हर एकको अपने लिये यथासंभव उच्चतम और श्रेष्ठतम मूल्योंमें कार्यान्वित करें और उसकी विशालतम तथा समृद्धतम शक्तियोंको उस एक लक्ष्यके लिए नियोजित करें। वह लक्ष्य है आत्म-संभूति, वह लक्ष्य है सचेतन होना, अपनी संसिद्ध सत्तामें और आत्म-संवित् तथा विश्व-संवित्में अपनी सत्ताकी भूतार्थ शक्ति और उसके आनंदमें अनवरत वर्द्धित होना, और उस संभूतिको क्रियात्मक रूपमें विश्वपर और अपने-आपपर ऐसी क्रियामें व्यक्त करना जिससे हम और जगत् विश्वत्व और आनंत्यके उच्चतम संभव शिखरकी ओर, विशालतम संभव प्रसारकी ओर, अधिक और सर्वदा अधिकाधिक बढ़ते चलें। मनुष्यका युग-युगका सारा प्रयत्न, उसके कर्म, समाज, कला, नीतिशास्त्र, विज्ञान, धर्म, वे सारे बहुविध कार्यकलाप जिनके द्वारा वह अपनी मानसिक, प्राणिक, शारीरिक और आध्यात्मिक सत्ताको व्यक्त और वर्द्धित करता है, प्रकृतिके इस प्रयासके

विराट् नाटकमें आनेवाले आख्यान हैं और उनके सीमित प्रतीयमान लक्ष्योंके पीछे कोई अन्य सच्ची सार्थकता या भित्ति नही। व्यक्ति दिव्य सार्विकता और परम अनंततातक पहुँच जाय, उसमें निवास करे, उसे अधिकृत करे, अपनी सकल सत्ता, चेतना, ऊर्जा और आत्मानंदमें वही हो जाय, उसे ही जाने, अनुभव करे और व्यक्त करे, प्राचीन वैदिक ऋषियोंका ज्ञानसे यही तात्पर्य था; यही वह अमृतत्व था जिसे उन्होंने मनुष्यके सामने उसके दिव्य परमोत्कर्षके रूपमें रखा था।

परंतु अपनी मानसताकी प्रकृतिके कारण, अपनी ओर अंतर्मुखी दृष्टि और जगत्पर बहिर्मुखी दृष्टिके कारण, दोनों ही में इंद्रिय और शरीरके द्वारा सापेक्ष, सुस्पष्ट और प्रतीयमानमें अपने मूल सीमायनके कारण, मनुष्य इस विशाल क्रमवैकासिकी गतिधारामें एक-एक डग करके चलनेको बाध्य होता है और आरंभमें उसकी यात्रा प्रकाशहीन और ज्ञानहीन होती है। सत्ताको उसकी एकताकी संपूर्णतामें आरंभमें ही देख लेना उसके लिये संभव नही; वह उसके सामने वैचित्र्य द्वारा उपस्थित होती है और उसकी ज्ञानकी खोज तीन प्रधान कोटियोंमें व्यस्त रहती है जो उसके लिये उसके सारे विविध वैचित्र्यका संक्षिप्त रूप होती हैं; ये हैं स्वयं वह,—मनुष्य या व्यष्टि-जीव,—ईश्वर और प्रकृति। इनमें जो प्रथम है, एकमात्र उसीकी अपरोक्ष संवित् उसे अपनी सत्ताकी सामान्य अज्ञानावस्थामें होती है; वह देखता है कि स्वयं वह, व्यक्ति, अपने अस्तित्वमें प्रतीयमान रूपसे पृथक्, फिर भी सर्वदा शेष सत्तासे अपृथक्य है, और वह पर्याप्त होनेका प्रयास करता है, फिर भी अपने-आपमें सदा अपर्याप्त है, कारण, यह कभी भी विदित नहीं हुआ कि वह शेषसे अलग, उनकी सहायताके बिना और विश्वसत्ता तथा विश्वप्रकृतिसे स्वतंत्र रूपमें जीवनमें आया हो या जीवनमें रहता हो या अपने जीवनमें चरम परिणति पाता हो। दूसरे, वह है जिसे वह अपने मन और शारीरिक इंद्रियों और उनपर उसके प्रभावों द्वारा परोक्ष रूपसे ही जानता है, परंतु जिसे अधिकाधिक पूरी तरह जाननेका प्रयास उसे सदा ही करना होगा: कारण, वह सत्ताके शेष भागको भी देखता है जिसके साथ वह इतने निकटसे एकीभूत और फिर भी जिससे वह इतना पृथक् है; वह विश्व, जगत्, प्रकृति और अन्य व्यष्टि-भूतोंको देखता और उन्हें सदा अपने सदृश और फिर भी सदा असदृश पाता है, कारण, उन सबकी प्रकृति, वनस्पति और पशुकी प्रकृति भी, समान है, यद्यपि साथ ही भिन्न भी। प्रत्येक अपनी-अपनी

राह चलता जान पड़ता है, एक एक पृथक् सत्ता जान पड़ता है, किंतु फिर भी प्रत्येक उसी गतिधारासे चालित होता और अपनी-अपनी श्रेणीमें क्रमविकासकी उसी वृहत् चक्ररेखाका अनुसरण करता है जो कि स्वयं मनुष्यकी भी है। अंतमें वह ऐसा और कुछ देखता या वल्कि उसका आभास पाता है जिसे वह सर्वथा परोक्ष रूपसे जाननेके अलावा विल्कुल नहीं जानता; कारण, उसे वह केवल अपने द्वारा और उसके द्वारा जानता है जो उसकी सत्ताका लक्ष्य है, जगत्के द्वारा और उसके द्वारा जानता है जिसकी ओर जगत् निर्देश करता लगता है और जिस तक पहुँचने और जिसे अपनी अपूर्ण आकृतियोंसे व्यक्त करनेका वह तमसाच्छन्न प्रयास करता है या, कमसे कम, उसे न जानता हुआ भी उन्हें उस अदृश्य 'सद्वस्तु' और गुह्य अनंतके साथके उनके निगूढ़ संवंधपर अधिष्ठित करता है।

यह जो तीसरी और अज्ञात वस्तु है, तृतीयं किं स्विद्, इसे वह ईश्वरका नाम देता है; और इस शब्दसे उसका अभिप्राय ऐसे कुछ या ऐसे किसीसे होता है जो परम है, दिव्य है, सर्वकारण है, सर्व है, इनमेंसे कोई एक है या एकसाथ ये सभी है, यहाँ जो कुछ आंशिक या अपूर्ण है उसका पूर्णत्व या समग्रत्व है, इन सारी वहुल सापेक्षताओंका निरपेक्ष है, वह अज्ञात है जिसके वारेमें जाननेसे मनुष्यको ज्ञानका यथार्थ रहस्य अधिकाधिक वोधगम्य हो सकता है। मनुष्यने इन सारी कोटियोंको अस्वीकार करनेकी कोशिश की है,—उसने अपने अस्तित्वकी वास्तवताको अस्वीकार करनेकी कोशिशकी है, उसने विश्वके अस्तित्वकी वास्तवताको अस्वीकार करनेकी कोशिश की है, उसने ईश्वरके अस्तित्वकी वास्तवताको अस्वीकार करनेकी कोशिश की है। परंतु इन सारी अस्वीकृतियोंके पीछे हमें ज्ञानके लिये उसके प्रयत्नकी वही सतत आवश्यकता मिलती है; कारण, वह इन तीनों अभिधाओंकी किसी एकतापर पहुँचनेकी आवश्यकताका अनुभव करता है, भले ही वह ऐसा उनमेंसे किन्हीं दोका दमन करके या जो एक शेप है उसीमें दोनोंका विलय करके ही कर सके। ऐसा करनेके लिये वह अपने-आपको ही कारण-रूपमें प्रतिष्ठित करता और वाकी सव कुछको अपने मनकी रचनाएँ मात्र कहता है, अथवा वह केवल प्रकृतिको प्रतिष्ठित करता और वाकी सव कुछको प्रकृति-ऊर्जाके व्यापार मात्र कहता है, अथवा वह केवल ईश्वरको, निर्विशेपको प्रतिष्ठित करता और वाकी सव कुछको भ्रम मात्र कहता है जिसे 'तत्'

एक अनिर्वचनीय मायासे अपने-आपपर या हमपर आरोपित करता है। इनमेंसे कोई भी अस्वीकृति पूरी तरह संतुष्ट नहीं कर सकती, कोई भी न तो समूची समस्याका समाधान करती है, न निर्विवाद और निश्चयात्मक ही हो सकती है,—विशेषतया वह अस्वीकृति तो नहीं ही, जिसकी ओर उसकी इंद्रियशासित बुद्धि अत्यधिक प्रवण होती है, परंतु जिसमें वह कभी भी लंबे समयतक नहीं टिक सकती; ईश्वरको अस्वीकार करना उसकी सच्ची खोजको और उसके अपने 'परम पद'को अस्वीकार करना है। निरीश्वर प्रकृतिवादके युग सदा अल्पकालीन रहे हैं, क्योंकि वे कभी भी मनुष्यके अंतःस्थ निगूढ़ ज्ञानको तुष्ट नहीं कर सकते: वह सिद्धांत कभी भी अंतिम वेद नहीं हो सकता, कारण, उसका उस अंतःस्थ वेदके साथ सारूप्य नहीं जिसे बाहर प्रकट करनेके लिये सारी मनोमयी विद्या उद्योग कर रही है; और जब सारूप्यका यह अभाव अनुभूत हो जाता है, उस क्षणसे ऐसा कोई भी समाधान; वह चाहे कितना ही दक्ष और तर्कतः संपूर्ण क्यों न हो, मनुष्यके अंतःस्थ शाश्वत 'साक्षी' द्वारा निर्णीत हो चुकता है, उस समाधानका नाश नियत हो जाता है; वह ज्ञानका अंतिम शब्द नहीं हो सकता।

मनुष्य अभी जैसा है, वह स्वतः-पर्याप्त नहीं; वह न तो पृथक् है, न 'शाश्वत' और 'सर्व' ही; अतएव, जबकि उसके मन, प्राण और शरीर इतने स्पष्ट रूपसे विश्वके अत्यणुवत् अंग हैं वह अकेला ही विश्वकी व्याख्या नहीं हो सकता। वह देखता है कि दृश्यविश्व भी न तो स्वतः-पर्याप्त है, न उसकी व्याख्या उसकी अदृष्ट भौतिक शक्तियों द्वारा ही होती है; कारण, वह देखता है कि जगत्में और स्वयं उसमें ऐसा बहुत कुछ है जो उससे और जगत्से परे है और जिसकी केवल एक मुखाकृति, एक बाह्य त्वचा या यहाँ तक कि छद्मवेश ही स्वयं वह और जगत् हैं। न तो उसकी बुद्धिका, न उसके संबोधि-स्फुरणों और न उसकी भावनाका ही काम किसी ऐसे 'एक' अथवा 'एकत्व'के बिना चल सकता है जिसके साथ इन जगत्-शक्तियोंका और स्वयं उसका कोई ऐसा संबंध हो जो उनका अवलंब हो और जिससे उन्हें सार्थक्य मिलता हो। उसे यह अनुभव होता है कि कोई ऐसा 'अनंत' होना ही चाहिये जो इन सांत सत्ताओंको धारण करता हो, इस दृश्यविश्वके अंदर, पीछे और चारों ओर हो, बहुसंख्यक वस्तुओंके सामंजस्य और पारस्परिक संबंध और सारगत एकत्वको आधार देता हो। उसकी विचारधाराको

एक 'निर्विशेष'की आवश्यकता रहती है जिसपर ये असंख्य और सांत सापेक्षताएँ अपने अस्तित्वके लिये निर्भर करती हों, वस्तुओंके एक अंतिम सत्यकी आवश्यकता रहती है, एक सृष्टिकारी वीर्य या शक्ति या ऐसे 'सत्-पुरुष'की आवश्यकता रहती है जो विश्वकी इन सारी असंख्य सत्ताओंका आदिकारक और धारयिता हो। इसे वह नाम तो जो चाहे दे, परंतु वह एक 'परम', एक 'दिव्य सत्', एक 'सर्वकारण', एक 'अनंत' एवं 'नित्य', एक 'शाश्वत', एक 'पूर्णता' तक पहुँचेगा ही जिसकी ओर सबकी प्रवृत्ति और अभीप्सा होती है, या एक ऐसे 'सर्व' तक पहुँचेगा जो कि प्रत्येक वस्तु चिर और अदृश्य रूपसे होती है और जिसके बिना वे वस्तुएँ हो नहीं सकती थीं।

तथापि, इस 'निर्विशेष'को भी वह अकेले ही और अन्य दोनों कोटियोंका वर्जन करके वस्तुतः प्रतिष्ठित नहीं कर सकता; कारण, यदि वह ऐसा करता है तो वह यहाँ जिस समस्याको सुलझानेके लिये है उससे उग्र छलाँग लगाकर दूर ही हट जाता है, और स्वयं वह तथा विश्व एक अव्याख्येय प्रहेलिका अथवा एक निष्प्रयोजन रहस्य रह जाते हैं। उसकी बुद्धिके एक विशिष्ट अंग को और उसकी विश्रामकी चाहको ऐसे समाधानसे शांति मिल जा सकती है जैसे कि जो विश्वसे परे है उसे अस्वीकार कर और भौतिक प्रकृतिको देवासन देकर स्थूल बुद्धि आसानीसे संतुष्ट हो जाती है; परंतु तब उसका हृदय, उसकी इच्छा, उसकी सत्ताके सबलतम और तीव्रतम अंग, अर्थहीन, उद्देश्यहीन या सार्थक्यहीन रह जाते या ऐसी लक्ष्यहीन मूर्खता मात्र बन जाते हैं जो शुद्ध सत्की शाश्वत प्रशांतिके सामने या विश्वकी शाश्वत निश्चेतनाके बीच एक व्यर्थ और अविराम छायाकी तरह आंदोलित होती रहती है। और जहाँतक विश्वकी बात है, उसका 'अनंत'का एक सावधानतासे निर्मित झूठ होने, एक विकट रूपसे आक्रामक और फिर भी यथार्थमें असत् असंगति होने, आद्भुत्य, सौंदर्य और आनंदके मिथ्या प्रदर्शनोंके सहित एक दर्दनाक और दुःखमय विरोधाभास होनेका अनोखा स्वरूप रहता है। या, नहीं तो, वह अंधी संगठित ऊर्जाकी विशाल क्रीड़ा है जिसका कोई सार्थक्य नहीं, और उसकी अपनी सत्ता एक अल्पकालीन लघु असंगति है जो उस अर्थहीन विशालतामें अबोध्य रूपसे घटित हो रही है। जिस चेतना, जिस ऊर्जाने जगत् और मनुष्यमें अपने-आपको अभिव्यक्त किया है उसके लिये इस धारामें कोई संतोषदायी परिपूर्ति नहीं मिलती :

मनको ऐसा कुछ पानेकी आवश्यकता रहती है जो इन सबको साथ संयुक्त करता हो, ऐसा कुछ जिसके द्वारा प्रकृतिकी परिपूर्ति मनुष्यमें और मनुष्यकी परिपूर्ति प्रकृतिमें होती हो और दोनों अपने-आपको ईश्वरमें पाते हों, क्योंकि अंततोगत्वा भगवान् ही मनुष्य तथा प्रकृतिमें स्वतः अभिव्यक्त होते हैं।

इन तीनों कोटियोंके एकत्वकी स्वीकृति और अनुभूति 'ज्ञान' के लिये परमावश्यक है; उनके एकत्व और उनकी समग्रता, दोनोंकी ही ओर व्यक्तिकी वर्द्धमान आत्म-चेतना उन्मीलित होती है और उनतक उसे पहुँचना भी होगा यदि उसे अपने-आपके प्रति संतुष्ट होना हो और संपूर्ण भी। कारण, एकत्वकी अनुभूतिके विना इन तीनोंमेंसे किसीका भी ज्ञान संपूर्ण नहीं हो सकता; इनका एकत्व प्रत्येकके लिये उसकी अपनी समग्रताकी परिस्थिति है। फिर, प्रत्येकको उसके संपूर्ण रूपमें जाननेसे ही ये तीनों कोटियाँ हमारी चेतनामें मिलती और एक हो जाती हैं; सारा जानना समग्र ज्ञानमें ही एक और अविभाज्य होता है। नहीं तो, उनमें से किन्हीं दोका तीसरीसे विच्छेद करके और उनका वर्जन करके ही हम किसी प्रकारके एकत्वतक पहुँच सकेंगे। सुतरां, मनुष्यको अपने आत्म-ज्ञान, अपने जगत्-ज्ञान और अपने ईश्वर-ज्ञानको वर्द्धित करते जाना होगा जिससे कि वह उनके समग्रत्वमें उनके पारस्परिक अंतर्निवास और एकत्वका बोध प्राप्त कर ले। कारण, जबतक वह उन्हें केवल आंशिक रूपमें ही जानता है एक अधूरापन रहेगा जिसका परिणाम विभाजन होगा, और जबतक वह उन्हें एक समन्वयकारी एकत्वमें उपलब्ध नहीं कर लेता उसे उनके समग्र सत्यकी या अस्तित्वके मूलभूत अर्थोंकी प्राप्ति नहीं होती।

कहनेका अभिप्राय यह नहीं है कि 'परम' स्वयंभू और स्वयंपूर्ण नहीं। ईश्वरका अस्तित्व स्वयं उसीमें है, न कि विश्व या मनुष्यका आश्रय लेकर, जबकि मनुष्य और विश्वका अस्तित्व स्वयं उनमें नहीं, ईश्वरपर आश्रित है,—उनकी सत्ता ईश्वरकी सत्ताके साथ एक है, वहीं तक उनका अस्तित्व स्वयं उनमें है। परंतु, तो भी, वे ईश्वरकी शक्तिकी ही अभिव्यक्ति हैं और ईश्वरके शाश्वत अस्तित्वमें भी उनका आध्यात्मिक तत्त्व किसी न किसी रूपमें वर्तमान या अंतःस्थ होगा, क्योंकि नहीं तो उनकी अभिव्यक्तिकी कोई संभावना नहीं होती, या यदि वे अभिव्यक्त होते भी, तो उनकी कोई सार्थकता नहीं रहती।

यहाँ जो मनुष्यके रूपमें प्रकट होता है वह भगवान्‌की व्यष्टि-सत्ता है; वहुकतामें प्रसारित भगवान् ही सकल व्यष्टि-भूतोंका आत्मा हैं।[1] इसके अतिरिक्त, आत्म-ज्ञान और जगत्-ज्ञानसे ही मनुष्य ईश्वर-ज्ञानतक पहुँच सकता है, उसे वह अन्य प्रकारसे प्राप्त नहीं कर सकता। ईश्वरकी अभिव्यक्तिका परित्याग करके नहीं, वरन् उसके संवंधमें अपने अज्ञानका और अपने अज्ञानके परिणामोंका परित्याग करके ही वह अपनी समूची सत्ता, चेतना, ऊर्जा तथा आत्मानंदको 'दिव्य सत्ता' में उत्तम रूपसे उन्नीत और अर्पित कर सकता है। ऐसा वह अपने-आपके द्वारा कर सकता है, क्योंकि वह स्वयं एक अभिव्यक्ति है, या ऐसा वह विश्वके द्वारा कर सकता है जो कि अन्य अभिव्यक्ति है। केवल अपने-आपके द्वारा पहुँचनेमें वह अनिर्देश्यमें एक वैयक्तिक विलय या लीनतामें डूब जा सकता और विश्वको खो दे सकता है। केवल विश्व द्वारा पहुँचनेमें वह अपनी वैयक्तिकताको या तो विश्व-सत्ताकी निर्व्यक्तिकतामें या वैश्व चिन्मयी शक्तिके सक्रिय स्वरूपमें निमज्जित कर दे सकता है; वह विश्वात्मामें विलीन हो जाता या विश्व-ऊर्जाकी निर्व्यक्तिक सरणि हो जाता है। परंतु, दोनोंकी समान समग्रता द्वारा पहुँचता हुआ और उनके द्वारा और उनसे परे भगवान्‌के सकल रूपोंको पकड़ता हुआ, वह दोनोंका अतिक्रमण करता और उस अतिक्रमणमें उन दोनोंको परिपूरित करता है: वह भगवान्‌को अपनी सत्तामें वैसे ही अधिकृत रखता है, जैसे स्वयं वह भागवत सत्ता, चेतना, ज्योति, शक्ति, आनंद एवं ज्ञानसे आच्छादित, अनुप्रविष्ट, व्याप्त, अधिकृत रहता है; वह ईश्वरको अपने अंदर प्राप्त करता है और विश्वमें भी। 'सर्वज्ञान'से उसे यह ज्ञात होता है कि 'सर्वज्ञान'की स्वयं मनुष्यकी सृष्टि कैसे सार्थक है और 'सर्वज्ञान' की अपने वनाये जगत्‌की सृष्टि मनुष्यकी पूर्णत्व-प्राप्तिसे कैसे सार्थक होती है। अतिमानसिक और परमा पराप्रकृतिमें आरोहण और अभिव्यक्तिमें उसकी शक्तियोंके अवतरणसे ही यह सव संपूर्ण रूपसे वास्तव और प्रभावी होता है; परंतु जवतक वह पूर्ण सिद्धि कठिन और सुदूर रहती है, उस अवधिमें भी मन-प्राण-देहमयी प्रकृतिमें आध्यात्मिक प्रतिविम्वन या ग्रहणसे उसे अन्तश्चेतनामें वास्तव वनाया जा सकता है।

---

1. एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा। (कठोपनिषद् II. 2. 12)

परंतु उसकी सत्ताके इस आध्यात्मिक सत्य और लक्ष्यको उसकी यात्रामें देरीसे ही प्रकट होने दिया जाता है; कारण, प्रकृतिके क्रम-वैकासिक ढगोंमें मनुष्यका आरंभिक तैयारीका कार्य है स्व-वैयक्तिकताको प्रतिष्ठित करना, उसे सुस्पष्ट और समृद्ध करना, उसे दृढ़, सबल और संपूर्ण रूपसे अधिकृत करना। परिणामस्वरूप, आरंभ में उसे अपने ही अहंसे प्रमुखतया व्यस्त रहना होता है। उसके विकासक्रमके इस अहमात्मक पर्वमें उसके लिये अपने-आपकी अपेक्षा जगत् और दूसरोंका महत्व कम होता है, वास्तवमें वे उसके आत्म-प्रतिष्ठापनके लिये सहायक और सुयोगके रूपमें ही होते हैं। इस पर्वमें उसके लिये ईश्वर भी स्वयं उसकी अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण होता है; अतएव, प्रारंभिक निरूपणोंमें, धार्मिक विकासके निम्नतर स्तरोंपर, ईश्वर और देवगणोंसे इस भाँति व्यवहार किया जाता है मानों उनका अस्तित्व मनुष्यके लिये हो, मानों वे उसकी कामनाओंकी तुष्टिके परम उपकरण हों, वह जिस जगत्में रह रहा है वह जगत् उसकी आवश्यकताओं, माँगों और आकांक्षाओंको तुष्ट करे इसके लिये उसके प्रयत्नमें सहायक हों। इस आरंभिक अह-मात्मक विकासको, जिसके इतने सारे दोष, अत्याचार और उजड्डपन साथ रहते हैं, फिर भी यदि उसके सही स्थानमें देखें तो उसे किसी भी तरह अशुभ या प्रकृतिकी भ्रांति नही कहा जा सकता; वह आवश्यक है मनुष्यके प्रथम कार्यके लिये, उसके अपने वैयक्तिकत्वको पाने और उसे उस निम्नतर अवचेतनमेंसे पूर्णतः वियुक्त करनेके लिये जिसमें व्यक्ति जगत्की समूह-चेतनासे अभिभूत और प्रकृतिकी यांत्रिक क्रियाओंके पूरा अधीन रहता है। मानव-व्यक्तिको अपना व्यक्तित्व प्रकृतिके विरोधमें प्रतिष्ठित करना, विविक्त करना होता है, अपने निजत्वको दृढ़तासे बनाये रखना होता है, शक्ति, ज्ञान तथा संभोगकी अपनी सारी मानवीय समर्थताओंको विकसित करना होता है जिससे वह उन्हें प्रकृति और जगत्पर अधिकाधिक प्रभुता और शक्तिसे मोड़ सके; उसका अपने-आपको विविक्त करनेवाला अहंभाव उसे इस प्राथमिक कार्यके एक साधन-रूपमें दिया गया है। वह जब तक अपनी वैयक्तिकता, अपना व्यक्तित्व, अपना पृथक् सामर्थ्य इस तरह नहीं विकसित कर लेता, तबतक वह अपने सामने पड़े महत्तर कार्यके योग्य नहीं हो सकता, अपनी क्षमताओंको उच्चतर, विशालतर और दिव्यतर उद्देश्योंकी ओर सफलतापूर्वक नियोजित नही कर सकता। वह अपने-आपको ज्ञानमें

पूर्ण कर सके, इसके पहले उसे अपने-आपको अज्ञानमें प्रतिष्ठित करना होगा।

कारण, निश्चेतनामेंसे क्रमवैकासिक उन्मज्जनका आरंभ दो शक्तियोंके माध्यमसे कार्यान्वित होता है, एक तो निगूढ़ विश्वचेतना और दूसरी बाह्य तलपर अभिव्यक्त व्यष्टि-चेतना। निगूढ़ विश्वचेतना बहिस्तलके व्यक्तिके लिये गुप्त और अवगूढ़ रहती है; बहिस्तलपर अपने-आपको वह पृथक् पदार्थों और सत्ताओंकी सृष्टि द्वारा संगठित करती है। परंतु जब वह पृथक् पदार्थको और व्यष्टि-सत्ताके शरीर और मनको संगठित करती है तब वह चेतनाकी सामूहिक शक्तियोंकी भी सृष्टि करती है जो विश्वप्रकृतिकी विशाल अंतर्व्यक्त रचनाएँ हैं; परंतु उनके लिये वह संगठित मन और शरीर नहीं देती, उन्हें वह व्यक्तियोंकी गोष्ठीपर आश्रित करती है, उनके लिये एक गोष्ठी-मन, एक परिवर्तित होता किंतु साथ ही अविच्छिन्न रहता गोष्ठी-शरीर विकसित करती है। इससे यह परिणाम निकलता है कि जैसे-जैसे व्यक्ति अधिकाधिक चेतन होते जायेंगे गोष्ठी-पुरुष भी अधिकाधिक चेतन होता जायगा; सामूहिक सत्ताकी बाह्य शक्ति और विस्तरणसे भिन्न उसके आंतरिक वर्द्धनके लिये व्यक्तिका वर्द्धन अनिवार्य साधन है। वास्तवमें यह व्यक्तिका द्विविध महत्त्व है कि विश्वात्मा उसीके द्वारा अपनी सामूहिक इकाइयोंका संगठन करता और उन्हें स्वाभिव्यंजक और प्रगतिशील बनाता और उसीके द्वारा प्रकृतिको निश्चेतनामेंसे अतिचेतनाकी ओर उठाता और विश्वातीतसे मिलनेके लिये उन्नीत करता है। जनगणमें सामूहिक चेतना निश्चेतनाके समीप होती है, उसकी एक अवचेतन, एक तमोवृत और मूक गति होती है जिसे व्यक्त करने, प्रकाशमें लाने, संगठित करने और प्रभावी बनानेके लिये व्यक्तिकी आवश्यकता होती है। जन-चेतना, स्वयमेव, एक अस्पष्ट, अर्ध-गठित अथवा अगठित अवगूढ़ और सामान्यतया अवचेतन संवेग द्वारा चालित होती है जो बहिस्तलकी ओर उठता है; वह सामान्य गतिधारामें व्यक्तिका दमन करनेवाले एक अंधे या अर्ध-दृष्टिशाली मतैक्यकी ओर प्रवण रहती है। वह चेतना यदि सोचती भी है तो किसी आदर्श वाक्य, किसी नारे, किसी दल-सिद्धांत, किसी सामान्य अपरिमार्जित या गठित भाव, किसी पारंपरिक, स्वीकृत रीतिगत भावनाके सहारे ही। वह कार्य करती है सहजप्रवृत्ति या आवेगके सहारे, या फिर दल-विधान, यूथ-मनोवृत्ति, जाति-धर्मके सहारे। इस जन-चेतना, प्राण और क्रियाको

यदि कोई एक ऐसा व्यक्ति अथवा कुछ ऐसे सशक्त व्यक्ति मिल जायँ जो उसे मूर्त, व्यक्त, निर्देशित और संगठित करें तो वह असाधारण रूपसे प्रभावी हो जा सकती है; उसकी आकस्मिक भीड़-गतियाँ कभी-कभी हिमधावकी चाल या तूफानके प्रवेगकी तरह अदम्य हो जा सकती हैं। व्यक्तिको जन-चेतनामें दमित अथवा संपूर्ण रूपसे उसके अधीन कर देनेसे राष्ट्र या समुदायको बड़ी व्यावहारिक दक्षता प्राप्त हो जा सकती है बशर्ते अवगूढ़ सामूहिक सत्ता कोई अनुल्लंघ्य परंपरा बना सके या ऐसा दल, ऐसा वर्ग, ऐसा नेता पा सके जो उसके अंतर्भाव और निर्देशनका वाहन हो; बली सैनिक राष्ट्रोंकी शक्तिके पीछे, अपने व्यक्तियोंपर तनाव और कठोर जीवनकी संस्कृतिको कठोरतासे आरोपित करनेवाले समुदायोंकी शक्तिके पीछे, महान् विश्व-विजेताओंकी सफलताके पीछे प्रकृतिका यही रहस्य था। परंतु यह दक्षता बाह्य जीवनकी होती है, और वह जीवन न तो हमारी सत्ताका उच्चतम प्रांत है, न अंतिम ही। हमारे अंदर एक मन है, एक अंतरात्मा और अध्यात्म-सत्ता है, और हमारे जीवनका कोई सच्चा मूल्य नहीं होगा यदि उसमें कोई वर्द्धमान चेतना न हो, विकासमान् मन न हो, और यदि प्राण तथा मन अंतरात्माकी, अंतःस्थ अध्यात्म-पुरुषकी अभिव्यक्ति न हों, उसका उपकरण न हों, उसकी मुक्ति और परिपूर्तिका साधन न हों।

परंतु मनकी प्रगति, अंतरात्माका विकास, समुदायके मन और अंतरात्माकी प्रगति और विकास भी, व्यक्तिपर, उसकी पर्याप्त स्वतंत्रता और स्वच्छंदतापर, जन-समूहमें जो अभीतक अचेतनासे आगे विकसित नहीं हुआ है या जिसे अंदरसे बाहर नही लाया गया है या अतिचेतनासे नीचे नहीं उतार लाया गया है, उसे अस्तित्वमें लाने और व्यक्त करनेपर निर्भर करते हैं। समुदाय है एक पिंड, रूपायणका एक क्षेत्र, व्यक्ति है सत्य-द्रष्टा, रूपकार, स्रष्टा। भीड़में व्यक्ति अपना आंतरिक निर्देशन खो देता और सामूहिक इच्छा या भाव या जन-संवेगसे चालित जन-शरीरका एक कोषाणु हो जाता है। उसे अलग खड़ा होना होता है, अपनी पृथक् वास्तवताको समग्रमें प्रतिष्ठित करना होता है, उसका अपना मन सार्वजनिक मानसतामेंसे उद्गत होता है, उसका अपना प्राण सार्वजनिक प्राण-एकरूपताके बीच विविक्त हो उठता है, वैसे ही जैसेकि उसके शरीरने ऐसा कुछ विकसित कर लिया है जो सार्वजनिक शरीरत्वके बीच अद्वितीय और पहचानमें आनेवाला कुछ है। यहाँतक कि उसे

अपने-आपको पानेके लिये अंतमें अपने-आपके अंदर उपरत होना पड़ता है, और वह अपने-आपको पा लेने पर ही आध्यात्मिक रूपसे सबके साथ एक हो सकता है; यदि वह उस एकत्वको मनमें, प्राणमें, शरीरमें प्राप्त करना चाहता है और उसे पर्याप्त रूपसे सबल वैयक्तिकता प्राप्त नही हुई हो, तो वह जन-चेतनासे अभिभूत हो जा सकता, अपने अंत-रात्माकी परिपूर्ति, अपने मनकी परिपूर्ति गँवा दे सकता, जन-शरीरका एक कोषाणु मात्र हो जा सकता है। तब सामूहिक सत्ता सबल और आधिपत्यशाली हो जा सकती है, परंतु यह संभावना होती है कि वह अपनी नमनीयता, अपनी क्रमवैकासिकी गतिधाराको गँवा बैठे: मानव-जातिके महान् क्रमवैकासिक युग उन समाजोंमें आये हैं जिनमें व्यक्ति सक्रिय हो गया था, मनतः, प्राणतः या अध्यात्मतः जीवंत हो गया था। प्रकृतिने अहंका आविष्कार इसीलिये किया कि व्यक्ति अपने-आपको जन-निश्चेतना या जन-अवचेतनासे मुक्त कर सके और एक स्वतंत्र जीवंत मन, प्राण-शक्ति, अंतरात्मा, अध्यात्म-सत्ता बन जाय, अपने चारों ओरके जगत्‌के साथ अपने-आपको सहयोजित करे परंतु उसमें डूब नहीं जाय, और पृथक् अस्तित्व और प्रभावसे रहित न हो जाय। कारण, व्यक्ति अवश्य ही विश्व-सत्ताका एक अंग है, परंतु वह इससे अधिक भी है, वह विश्वातीत सत्तामेंसे अवतीर्ण अंतरात्मा भी है। अपने इस स्वरूपको वह तुरंत अभिव्यक्त नही कर सकता, क्योंकि वह विश्व-निश्चेतनाके अति समीप है और मूल अतिचेतनाके पर्याप्त समीप नहीं; अपने-आपको अंतरात्मा या अध्यात्म-सत्ताके रूपमें पानेके पहले उसे अपने-आपको मनोमय और प्राणमय अहंके रूपमें पाना होगा।

तथापि, उसका अपने अहमात्मक व्यक्तित्वको पाना अपने-आपको जान लेना नहीं है; सच्चा आध्यात्मिक व्यक्ति मनोमय अहं, प्राणमय अहं, शरीरमय अहं नहीं: यह पहली गतिधारा, बहुत प्रधान रूपसे, इच्छाका, शक्तिका, अहमात्मक आत्म-संपादनका कार्य है, ज्ञानका तो गौण रूपसे ही है। अतएव, एक समय अवश्य आयगा जब मनुष्यको अपनी अहमात्मिका सत्ताके तमिस्र बहिस्तलके नीचे देखना और अपने-आपको जाननेका प्रयत्न करना होगा; उसे सच्चे मनुष्यकी खोजके लिये निकलना होगा: उसके बिना वह प्रकृतिकी आरंभिक शिक्षापर ही रुक जायगा और उसकी गभीरतर तथा विशालतर शिक्षाओंतक कभी आगे नहीं बढ़ेगा; उसका व्यावहारिक ज्ञान और कौशल चाहे कितना

ही क्यों न बढ़ जाय, वह पशुओंसे थोड़ा ही ऊँचा होगा। प्रथम उसे अपनी दृष्टि अपने मनस्तत्त्वपर डालनी होगी और उसके प्राकृत तत्त्वों,—अहं, मन और उसके उपकरणों, प्राण, शरीर,—को पहचानना होगा जिससे वह यह आविष्कार कर ले कि उसकी समूची सत्ताको एक ऐसी व्याख्याकी आवश्यकता है जो प्राकृतिक तत्त्वोंकी क्रियाविधिसे भिन्न होगी और उसके क्रियाकलापके लिए एक ऐसे लक्ष्यकी आवश्यकता है जो अहमात्मक स्व-प्रतिष्ठापन और तुष्टिसे भिन्न होगा। इसकी खोज वह प्रकृति और मानवजातिमें कर सकता है और इस तरह अपने जगत्के शेष भागके साथ अपने एकत्वके अन्वेषणकी यात्राका आरंभ कर सकता है: इसकी खोज वह पराप्रकृतिमें, ईश्वरमें कर सकता है, और इस तरह भगवान्के साथ अपने एकत्वके अन्वेषणकी यात्राका आरंभ कर सकता है। व्यवहारतया वह दोनों मार्गोंका प्रयत्न करता है, और निरंतर डाँवाडोल होता हुआ, निरंतर अपने-आपको उन क्रमसे आनेवाले समाधानोंमें स्थिर करना चाहता है जो उसकी खोज और प्राप्तिके इस द्विपथपर प्राप्त आंशिक आविष्कारोंके अधिकतम अनुकूल होते हों।

परंतु इस पर्वमें, इन सबके बीच, उसकी दृढ़ एषणा फिर भी अपने-आपको ही ढूंढ़ने, जानने और परिपूरित करनेकी होती है; उसका प्रकृति-ज्ञान और उसका ईश्वर-ज्ञान उसके आत्म-ज्ञानकी ओर, उसकी सत्ताकी पूर्णताकी ओर, उसकी वैयक्तिक आत्म-सत्ताके परम लक्ष्यकी प्राप्तिकी ओर सहायता मात्र हैं। प्रकृति और विश्वकी ओर अभिमुख उसका प्रयास मानसिक और प्राणिक अर्थके आत्म-ज्ञानका, आत्म-प्रभुताका, और जिस जगत्में हम रहते हैं उसपर प्रभुताका रूप धारण कर सकता है: ईश्वरकी ओर अभिमुख किये जानेपर भी वह यह रूप ले सकता है, परंतु तब वह जगत् और आत्माके उच्चतर आध्यात्मिक अर्थमें होता है; या वह वह अन्य रूप ले सकता है जो धार्मिक मनके लिये इतना परिचित और निश्चयात्मक होता है,—वैयक्तिक मोक्षकी चाह, वह मोक्ष चाहे परलोकके स्वर्गमें मिले या किसी परम आत्मा या परम अनात्मामें पृथक् विलय द्वारा; आनंद या निर्वाणकी चाह। तथापि, सर्वत्र, व्यक्ति ही वैयक्तिक आत्म-ज्ञानकी और अपने पृथक् अस्तित्वके लक्ष्यकी खोज कर रहा है; बाकी सब कुछ, परोपकार, मानव-प्रेम, मानव-सेवा, आत्म-विलोपन या आत्म-विसर्जन भी,—चाहे कितने ही सूक्ष्म छद्मवेशोंमें क्यों न हो—उसके संसिद्ध व्यक्तित्वके उस एक महान्

सर्वोपरि व्यवसायके लिए सहायता तथा साधनके रूपमें डाला गया होता है। ऐसा दिखायी दे सकता है कि यह केवल एक विस्तृत अहंभाव ही है, और तब पृथक्कारी अहं मनुष्यकी सत्ताका सत्य हो जायगा जो उसमें अंततक या तबतक टिका रहता है जबतक कि मनुष्य अनंतकी अलक्षण सनातनतामें अपना आत्म-निर्वापण करके अहंसे मुक्त न हो जाय। परन्तु इसके पीछे एक गभीरतर रहस्य है जो उसकी वैयक्तिकताको और उसकी वैयक्तिकताकी मांगको सार्थक करता है; वह रहस्य है 'पुरुष'का, आध्यात्मिक और शाश्वत व्यक्तिका।

व्यक्तिमें भगवान् आध्यात्मिक पुरुषके रूपमें अंतःस्थ हैं, अतः पूर्णता या मुक्तिको,–जिसे पश्चिममें Salvation कहा जाता है—वैयक्तिक होना होता है, न कि सामूहिक; कारण, जो कोई भी सामूहिक पूर्णता अभीष्ट हो, वह उस समूहके घटक व्यक्तियोंकी पूर्णता द्वारा ही हो सकती है। चूंकि व्यक्ति 'तत्' है, इसीलिये अपने-आपको प्राप्त करना उसकी महती आवश्यकता है। 'परम'के प्रति अपने संपूर्ण समर्पण और आत्म-दानमें तो व्यक्ति ही पूर्ण आत्म-अर्पणमें अपनी पूर्ण आत्म-प्राप्ति पाता है। मानसिक, प्राणिक और शारीरिक अहंके विनाशमें, आध्यात्मिक अहंके विनाशमें भी, अरूप और असीम 'व्यक्ति'को ही अपने स्व-आनंत्यमें अपने पलायनकी शांति और आनंदकी प्राप्ति होती है। उसकी इस अनुभूतिमें कि वह कुछ नहीं और कोई नहीं, या वह हर कुछ और हर कोई है, या वह वह 'अद्वय' है जो सकल वस्तुओंसे परे और निर्विशेष है, व्यक्तिमें स्थित ब्रह्म ही अपनी शाश्वत सत्ताके विशाल सर्वाविधारक या परम सर्वातीत एकत्वके साथ अपनी शाश्वत व्यष्टि-सत्ताका यह महाविलय या यह चमत्कारिक योग संपन्न करता है। अहंसे परे चले जाना तो अनिवार्य ही है, परंतु आत्मासे परे नहीं जाया जा सकता—आत्मासे परे तो आत्माको परमभावमें, विश्वभावमें प्राप्त करके ही जाया जा सकता है। कारण, आत्मा अहं नहीं; वह उस 'सर्व' और उस 'अद्वय' के साथ एक है और आत्माकी प्राप्तिमें हम उस 'सर्व' और उस 'अद्वय' को ही अपने आत्मामें पाते हैं: विरोध विलुप्त हो जाता है, पार्थक्य विलुप्त हो जाता है, परंतु उस मुक्तिदायी विलोपके परिणामस्वरूप उस 'अद्वय' एवं 'सर्व'के साथ युक्त हुआ आत्मा रह जाता है, आध्यात्मिक सद्वस्तु रह जाती है।

अतएव, जैसे ही मनुष्य अपनी वहिश्चर सत्ता, अपने सबसे अधिक

प्रतीयमान आत्माके साथके प्रकृति और ईश्वरके संबंधोंमें अति व्यस्त रहनेकी अवस्थासे ऊपर उठ जाता है, उच्चतर आत्मज्ञानका आरंभ हो जाता है। एक डग है मनुष्यका यह जानना कि यह जीवन ही सब कुछ नहीं है, उसका अपनी कालिक नित्यताकी धारणातक पहुँचना, जिस आंतरिक स्थायित्वको अंतरात्माका अमरत्व कहा जाता है उसकी अनुभूति, उसका ठोस बोध प्राप्त करना। जब मनुष्य यह जान लेता है कि भौतिकसे परेकी स्थितियाँ भी हैं, उसके पहले और बादके जीवन भी हैं, कमसे कम, उसका एक पूर्वास्तित्व और एक परवर्ती अस्तित्व तो है, तो वह अपनी स्व-नित्यताकी प्राप्तिकी ओर अपने-आपको कालके वर्तमान क्षणोंसे परे वर्द्धित करके अपने कालिक अज्ञानसे छुटकारा पानेके मार्गपर है। आगेकी ओर दूसरा डग है यह जान लेना कि उसकी सतही जागृत अवस्था उसकी सत्ताका एक छोटासा अंग ही है, और निश्चेतनकी खाई और अवचेतन तथा अवगूढ़की गहराइयोंमें अवगाहन और अतिचेतनकी ऊँचाइयोंपर आरोहण आरंभ करना; इस भाँति वह अपने मनोगत आत्म-अज्ञानको हटाना आरंभ करता है। एक तीसरा डग है यह देखना कि उसमें उसके उपकरणात्मक मन, प्राण तथा शरीरके अतिरिक्त और कुछ भी है, उसकी प्रकृतिका धारयिता एक अमर नित्य-विकासमान् व्यष्टि-अंतरात्मा ही नहीं, वरन् एक नित्य अक्षर आत्मा और अध्यात्म-पुरुष है, और यह ज्ञात करना कि उसकी आध्यात्मिक सत्ताकी श्रेणियाँ क्या हैं, और इस ज्ञानमें बढ़ते हुए यह आविष्कार कर लेना कि उसके अंदर जो कुछ है वह सब अध्यात्म-तत्त्वकी ही अभिव्यक्ति है, और अपनी निम्नतर और अपनी उच्चतर सत्ताके बीचकी कड़ीको पहचान लेना; इस भाँति वह अपने आधारगत या सांस्थानिक अज्ञानको हटाना आरंभ करता है। आत्मा और अध्यात्म-सत्ताका आविष्कार करता हुआ वह ईश्वरका आविष्कार करता है; उसे यह पता चलता है कि कालिकसे परे एक 'आत्मा' है: उसे विश्वचेतनामें उस 'आत्मा' का दर्शन विश्व-प्रकृति और इस जीव-जगत्के पीछे स्थित दिव्य 'सद्वस्तु' के रूपमें होता है; आत्मा, व्यक्ति और विश्व जिस 'निर्विशेष' के इतने सारे मुखड़े हैं उसके विचार या अनुभवकी ओर उसका मन खुलने लगता है; उसपरसे वैश्व, अहमात्मक, मूल अज्ञानके अधिकारकी कड़ाई छूटने लगती है। इस वर्द्धित होते आत्मज्ञानके साँचेमें अपने जीवनको ढालनेके उसके प्रयासमें उसका सारा जीवन-दर्शन और उद्देश्य, उसके विचार

और कर्म प्रगतिशील रूपसे संशोधित और रूपांतरित होते हैं; उसका अपने विषयमें, अपनी प्रकृति और अपने जीवन-लक्ष्यके विषयमें व्यावहारिक अज्ञान क्षीण होता है: उसने अब उस पथपर पग रख दिया है जो सीमित तथा खंडित सत्ताके मिथ्यात्व और कष्टमेंसे सच्ची तथा अखंड सत्ताकी पूर्ण उपलब्धि और मुक्तिकी ओर ले जाता है।

इस प्रगतिके दौरानमें वह एक-एक डग करके अपने यात्रारंभकी तीनों श्रेणियोंके एकत्वका संधान पा लेता है। कारण, प्रथम वह यह देखता है कि अपनी अभिव्यक्त सत्तामें वह विश्व एवं प्रकृतिके साथ एक है; मन, प्राण तथा शरीर, कालानुक्रमगत जीव, चेतन, अवचेतन और अतिचेतन,—अपने विभिन्न संबंधोंमें स्वयं ये, और इनके संबंधोंका परिणाम, ये ही विश्व हैं और प्रकृति हैं। परंतु वह यह भी देखता है कि जो कुछ उनके पीछे स्थित है या जिसपर वे आधारित हैं, उस सबमें वह ईश्वरके साथ एक है; कारण, ईश्वरसे हमारा अभिप्राय निर्विशेष, अध्यात्मसत्ता, देशातीत एवं कालातीत आत्मा, विश्वमें अभिव्यक्त आत्मा और प्रकृतिके प्रभु, इसी सबसे होता है, और मनुष्यकी अपनी सत्ता इस सबमें ही ईश्वरतक वापस जाती और वहींसे निःसृत है; वह विश्वमें अपने-आपके बहुत्वमें आत्म-प्रक्षिप्त और प्रकृतिमें अवगुंठित निर्विशेष, अध्यात्म-सत्ता, आत्मा है। इन दोनों ही उपलब्धियोंमें वह अन्य सकल अंतरात्माओं तथा सत्ताओंके साथ अपने एकत्वको पाता है, प्रकृतिमें तो सापेक्ष रूपसे, क्योंकि वह मन, प्राण, जड़ और अंतरात्मामें, प्रत्येक वैश्व तत्व और परिणाममें उनके साथ एक है, भले ही ऊर्जा और ऊर्जा-क्रियामें, तत्त्वके विन्यास और परिणामके विन्यासमें उनकी कितनी भी भिन्नता क्यों न हो, परंतु ईश्वरमें निरपेक्ष रूपसे, क्योंकि वह अद्वय 'निर्विशेष', वह अद्वय 'आत्मा', वह अद्वय 'अध्यात्म-पुरुष' ही सबका शाश्वत आत्मा और उनके बहुल वैचित्र्योंका उत्स, अधिपति और भोक्ता है। ईश्वर और प्रकृतिका एकत्व उसके सामने प्रकट होकर ही रहेगा: कारण, वह अंतमें यह देखता है कि वह 'निर्विशेष' ही ये सारी सापेक्षताएँ है: वह यह देखता है कि अन्य प्रत्येक तत्त्व अध्यात्म-पुरुषकी ही अभिव्यक्ति है; वह यह आविष्कार करता है कि आत्मा ही ये सारी संभूतियां हो गया है; वह यह अनुभव करता है कि सकल सत्ताओंके प्रभुकी सत्ता और चेतनाकी शक्ति ही प्रकृति है और विश्वमें कार्य कर रही है। इस भांति अपने आत्म-ज्ञानकी प्रगतिमें हम उस

तक जा पहुँचते हैं जिसके ज्ञात होनेसे सब कुछ हमारे आत्माके साथ एकीभूत ज्ञात होता है और जिसकी प्राप्तिसे हमें सवकुछ और सवकुछका भोग अपनी आत्म-सत्तामें प्राप्त हो जाता है।

समान रूपसे, इस एकत्वके कारण, मानवका विश्वज्ञान भी उसके मानसको उसी विशाल ज्ञानोद्भासकी ओर अवश्य ले जायगा। कारण, वह प्रकृतिको जड़, शक्ति और प्राणके रूपमें तव तक नही जान सकता जवतक कि वह इन तत्वोंके साथ मनश्चेतनाके संबंधकी संवीक्षा करनेको प्रवृत्त नहीं हो जाय, और एकवार जब वह मनके सच्चे स्वरूपको जान लेता है तो अवश्यमेव सारे वाह्य रूपोंसे आगे चला जाता है। जो इच्छा और वुद्धि शक्तिकी क्रियाओंमें गुप्त रूपसे है, भौतिक और प्राणिक व्यापारोंमें सक्रिय है, उसका उसे संधान मिलेगा; जागृत चेतना, अव-चेतना और अतिचेतनामें वह एक ही है, यह उसे अवश्य दिखायी देगा: उसे भौतिक विश्वके शरीरमें आत्मा अवश्य ही मिलेगा। इन कोटियोंमें वह विश्वके वाकी भागके साथ अपने एकत्वको पहचान लेता है और उनके द्वारा प्रकृतिका अनुसरण करके सकल दृश्यमानके पीछे एक परा-प्रकृतिको पाता है जो कालमें और कालसे परे, देशमें और देशसे परे 'अध्यात्म-पुरुष'की परमाशक्ति है, 'आत्मा'की चिन्मयी शक्ति है जिसके द्वारा 'आत्मा' सारी संभूतियाँ हो जाता है, 'निर्विशेष'की चिन्मयी शक्ति है जिसके द्वारा 'निर्विशेष' सारे विशेषोंको अभिव्यक्त करता है। अन्य शब्दोंमें उसे वह प्रकृतिकी वहुतेरी आकृतियों, भौतिक ऊर्जा, प्राण-शक्ति, मानस-ऊर्जाके रूपमें ही नहीं, वरन् सत्ताके दिव्य प्रभुकी ज्ञानमयी इच्छाकी शक्तिके रूपमें, स्वयम्भू शाश्वत एवं अनंतकी चित्-शक्तिके रूपमें जानता है।

मनुष्य द्वारा ईश्वरकी खोज, जो अंतमें उसकी सारी खोजोंसे अधिक उत्साहपूर्ण और मोहक हो जाती है, प्रकृतिके वारेमें उसके प्रथम अस्पष्ट प्रश्नोंसे और अपने-आप तथा प्रकृति दोनोंमें किसी अदृश्य वस्तुकी भावनासे आरंभ होती है। आधुनिक विज्ञानका यह दावा यदि सच भी हो कि धर्मका आरंभ विश्वमय प्राणकी भावना, भूत-प्रेतकी पूजा, दानव-पूजा और प्राकृतिक शक्तियोंको देव-देवियाँ माननेसे हुआ, तो भी ये प्रथम रूप अवचेतनमें रहनेवाली एक अवगुंठित संबोधिको, प्रच्छन्न प्रभावों और अचित्य शक्तियोंकी एक धूमिल और अज्ञ भावनाको ही, या हमें जो निश्चेतन प्रतीत होता है उसमें सत्ता, इच्छा, वुद्धिके एक अस्पष्ट

बोधको, दृश्यके पीछे अदृश्यके बोधको, ऊर्जाकी प्रत्येक क्रियामें अंतःस्थ गुप्ततया चेतन अध्यात्म-पुरुषमें अपने-आपको वितरित करनेके बोधको ही आदिम आकारोंमें मूर्त करते है। आदिम प्रत्ययोंकी अस्पष्टता और आरंभिक अपर्याप्ततासे मनुष्यके हृदय तथा मनकी इस महान् खोजका मूल्य या सत्य घटता नही, क्योंकि हमारी सारी खोज,—जिसमें भौतिक विज्ञान भी सम्मिलित है,—प्रच्छन्न वास्तवताओंके एक धूमिल और ज्ञानहीन अनुभवसे ही आरंभ करती और 'सत्य'के अधिकाधिक ज्योतिर्मय दर्शनकी ओर अग्रसर होती है जो हमलोगोंको आरंभमें छद्मवेशमें, आवृत होकर, अज्ञानके कुहरेसे आच्छन्न होकर मिलता है। नारायणको नर-रूपमें देखनेवाला सिद्धांत इस सत्यकी मान्यताका रूपक है कि नरका वर्तमान स्वरूप नारायणके स्वरूपके अनुरूप है और वस्तुओंका अंतरात्मा और शरीर एक ही है, मानव अपने असंपूर्ण रूपमें भी यहाँकी अवतककी उपलब्ध अधिकतम संपूर्ण अभिव्यक्ति है और मानवमें जो अपूर्ण है उसकी पूर्णता ही दिव्यता है। वह अपने-आपको सर्वत्र देखता और उसीकी नारायणवत् उपासना करता है, यह भी सत्य है; परंतु यहाँ भी उसके अज्ञानका टटोलता हाथ अस्पष्ट रूपसे एक सत्यपर ही जा पड़ा है। वह सत्य यह है कि उसकी सत्ता और परम सत्ता एक हैं, यहाँ यह सब 'तत्'का आंशिक प्रतिबिंब ही है, और अपने महत्तर 'आत्मा'को सर्वत्र पाना ईश्वरको पाना और वस्तुओंके सत्यके समीप, सकल अस्तित्वके स्वरूप-सत्यके समीप पहुँचना है।

वैचित्र्य और विसंगतिके पीछे स्थित एकत्व ही मनुष्यके धर्मों और दर्शनशास्त्रोंकी विविधताका रहस्य है; कारण, वे सबके सब उस अद्वय सत्यके किसी प्रतिरूप या किसी गौण निर्देशतक पहुँचते, उस अद्वय सत्यका कोई अंश स्पर्श करते या उसके बहुसंख्यक रूपोंमेंसे किसी एकको देखते है। वे चाहे धुंधलेपनसे यह देखते हों कि भौतिक जगत् भगवान्‌की काया है, या प्राण दिव्य सत्‌के श्वासका एक महान् स्पंदन, या सकल वस्तुएँ विश्वमनके विचार, चाहे वे यह अनुभव करते हों कि एक 'अध्यात्म-पुरुष' है जो इन वस्तुओंसे महत्तर है, इनका सूक्ष्मतर और फिर भी अधिक अद्भुत उत्स और स्रष्टा है,—ईश्वरको उन्होंने चाहे केवल निश्चेतनमें पाया हो या निश्चेतन वस्तुओंमें एकमात्र चेतनके रूपमें या एक अनिर्वचनीय अतिचेतन सत्‌के रूपमें जिसतक पहुँचनेके लिये हमें अपनी ऐहिक सत्ताको पीछे छोड़ देना और मन, प्राण तथा शरीरका

विसर्जन कर देना ही होगा, चाहे वे विभाजनका अतिक्रमण करते हुए यह देखते हों कि ईश्वर ही ये सब एक साथ है, और इस दर्शनके विशाल परिणामोंको निर्भयतासे स्वीकार करते हों,—वे उसकी उपासना विश्वभावसे विश्वपुरुषके रूपमें करते हों, चाहे प्रत्यक्षवादीकी भांति, ईश्वरको और अपने-आपको मानवजातिकी सीमामें ही संकुचित रखते हों, या इसके विपरीत, कालातीत और देशातीत अक्षरके दर्शनसे अभिभूत होकर ईश्वरको प्रकृति और विश्वमें अस्वीकार करते हों,—वे ईश्वरकी उपासना मानव-अहंके विभिन्न विचित्र या सुंदर या परिवर्तित रूपोंमें करते हों या इस रूपमें कि मनुष्य जिन गुणोंकी अभीप्सा करता है वे गुण ईश्वरमें हों, मनुष्यके देवेश्वर उनके सामने परम शक्ति, प्रेम, सौंदर्य, सत्य, ऋत, प्रज्ञाके रूपमें प्रकट हुए हों,—ईश्वरको वे प्रकृतिके स्वामी, जगत्के पिता तथा स्रष्टाके रूपमें देखते हों, चाहे स्वयं प्रकृति और जगज्जननीके रूपमें, वे ईश्वरको परम प्रेमी और जीवोंका मोहन पाकर उसके पीछे चलते हों या उसे सकल कर्मोंका प्रभु मानकर उसकी सेवा करते हों, अद्वय भगवान्के सामने नत होते हों या बहुरूपी इष्टदेवके सामने, किन्हीं एक दिव्य मानवके सामने नत होते हों या सकल मानवमें रहनेवाले भगवान्के सामने, या विशालतर रूपसे, उस 'एक'को जान लेते हों जिसकी विद्यमानता हमें चेतना या कर्म या जीवनमें सकल सत्ताओंके साथ एकीबद्ध हो जानेमें, काल और देशमें सारी वस्तुओंके साथ एकीबद्ध हो जानेमें, प्रकृति, उसके प्रभावों और उसकी निष्प्राण शक्तियों तकके साथ भी एकीबद्ध हो जानेमें समर्थ करती है,—पीछे रहनेवाला सत्य नित्य वहीका वही होगा, कारण, सब कुछ वह एक दिव्य अनंत ही है जिसे सब खोज रहे हैं। चूंकि प्रत्येक वस्तु वह 'एक' ही है, मनुष्यके उसे प्राप्त करनेके मार्गोंमें यह असीम विविधता होनी ही चाहिये; मनुष्य ईश्वरको संपूर्णतया जान सके, इसके लिये उसका उसे इस प्रकार विविध रूपसे पाना आवश्यक था। परंतु जब ज्ञान अपने उच्चतम रूपों तक पहुँचता है तभी उसके महत्तम एकत्वतक पहुँचना संभव होता है। ऊर्ध्वतम और विशालतम दृष्टि ही अधिकतम बुद्धिमती होती है; कारण, तब सारे ज्ञान उसके एक ही सर्वग्राही तात्पर्यमें एकीबद्ध होते हैं। तब यह दिखायी देता है कि सारे धर्म एक ही सत्यकी ओर जानेवाले मार्ग हैं, सारे दर्शनशास्त्र एक ही 'सद्वस्तु'के विभिन्न पार्श्वोंको देखनेवाले भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं, सारे विज्ञानोंका

एक परम विज्ञानमें मिलन होता है। कारण, जिसे हमारा सारा मानस-ज्ञान, इंद्रिय-ज्ञान और अतींद्रिय दर्शन खोज रहा है वह, सबसे अधिक समग्र रूपमें, ईश्वर, मनुष्य, प्रकृति और प्रकृतिमें जो कुछ है इन सबके एकत्वमें प्राप्त होता है।

ब्रह्म, परम तत्त्व, अध्यात्म-पुरुष है, कालातीत आत्मा है, कालाधिपति आत्मा है, प्रकृतिका स्वामी है, विश्वका स्रष्टा और आधार है, सकल भूतोंमें अनुस्यूत है और वह परमात्मा है जिससे सकल आत्मा उद्भूत हुए हैं और जिसकी ओर वे आकर्षित होते हैं,—यही मनुष्यकी ईश्वर-विषयक उच्चतम धारणाके दर्शनमें 'सत्-पुरुष'का, परम सत्ताका सत्य है। वह निर्विशेष ब्रह्म सारी सापेक्षताओंमें प्रकट हुआ है, वही वह अध्यात्म-पुरुष है जो विश्वमन, विश्वप्राण और विश्वजड़में शरीर धारण करता है और प्रकृति जिसका शक्ति-स्वरूप है, अतएव प्रकृति जो कुछ भी सृष्ट करती लगती है, वह आत्मा और 'अध्यात्म-पुरुष' ही है जो अपनी ही सत्तामें, अपनी ही चिन्मयी शक्तिके सामने अपनी बहुविध-सत्ताके आनंदके लिए बहुविधतासे अभिव्यक्त हुआ है,—यही सत्ताका वह सत्य है जिसकी ओर मनुष्यका प्रकृति-ज्ञान और विषय-ज्ञान उसे ले जा रहा है और जिस तक वह तब पहुँच जायगा जब उसके प्रकृति-ज्ञानके साथ उसका ईश्वर-ज्ञान युक्त हो जायगा। परमतत्त्वका यह सत्य जगत्‌के युग-चक्रोंका सार्थक्य है; यह उनका वर्जन नहीं करता। परम आत्म-सत्ता ही ये सारी संभूतियां हो गयी है; आत्मा ही इन सकल भूतोंका शाश्वत एकत्व है,—सोऽहम्। विश्व-ऊर्जा उस स्वयम्भूकी चिन्मयी शक्तिसे भिन्न नहीं: वह स्वयम्भू उस ऊर्जाके द्वारा विश्व-प्रकृतिके माध्यमसे अपने ही असंख्य रूप लेता है; अपनी दिव्य प्रकृतिके द्वारा, विश्वका आलिंगन करता हुआ परंतु साथ ही उससे अतीत भी रहकर, वह उन रूपोंमें अपनी संपूर्ण सत्ताको व्यष्टिरूपमें तब धारण कर सकता है जब एकमें, सबमें और सबके साथ एकके संबंधोंमें उसकी विद्यमानता और शक्तिका अनुभव होता है;—यही सत्ताका वह सत्य है जिसकी ओर मनुष्यका ईश्वरमें और प्रकृतिमें अपने-आपका संपूर्ण आत्म-ज्ञान उठता और विस्तृत होता है। संपूर्ण ईश्वर-ज्ञान, संपूर्ण आत्म-ज्ञान, संपूर्ण प्रकृति-ज्ञान,—इनका त्रिवेणी-संगम ही उसे उसका उच्च लक्ष्य देता है; इससे मानव-जातिके श्रम और प्रयासको एक बृहत् और परिपूर्ण अर्थ प्राप्त होता है। मनुष्यकी अपनी चेतनामें ईश्वर, आत्मा और प्रकृति,

तीनोंकी चेतन एकता ही उसकी पूर्णता और सारे सामंजस्योंकी सिद्धिकी सुनिश्चित भित्ति है : यह उसकी उच्चतम और विशालतम स्थिति होगी, उसकी दिव्य चेतना और दिव्य जीवनकी स्थिति होगी और इसका आरंभ उसके आत्म-ज्ञान, जगत्-ज्ञान एवं ईश्वर-ज्ञानके संपूर्ण क्रमविकासके पथका आरंभबिंदु होगा।

अध्याय अठारह

क्रमविकास-प्रक्रिया—आरोहण और समाकलन

यत् सानोः सानुमारुहत्,....
तदिन्द्रो अर्थं चेतति ॥

वह जैसे-जैसे शिखरपर शिखर पार करता जाता है....इन्द्र उसे उस लक्ष्यके प्रति चेतन करते हैं।

—ऋग्वेद
I.10.2

द्विमाता होता विदथेषु सम्राळन्वग्रं चरति क्षेति बुध्नः ॥

दो माताओंका पुत्र, वह अपने ज्ञानाविष्कारोंमें राजत्व प्राप्त करता है, वह शिखरपर विचरण करता है, वह अपने ऊर्ध्व मूलमें निवास करता है।

—ऋग्वेद
III.55.7

पृथिव्याऽहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥

मैं पृथ्वीसे अंतरिक्षमें उठ गया हूँ, मैं अंतरिक्षसे द्युलोकमें उठ गया हूँ, द्युलोकके व्योमसे मैं सूर्यलोकमें, ज्योतिमें[1] गया हूँ।

—यजुर्वेद
17.67

पार्थिव प्रकृतिमें क्रमवैकासिकी अभिव्यक्तिका तात्पर्य क्या है और वह कौन-सा अंतिम मोड़ ले रही है या उसका लेना नियत है, इस विषयमें

1. जड़, प्राण, शुद्ध मन और अतिमानसके चार लोक।

हमारी धारणा काफी स्पष्ट हो गयी है, अतः अब यह संभव और आवश्यक है कि जिस प्रक्रियाके द्वारा वह अपने वर्तमान स्तरपर पहुँची है और जिसके द्वारा, अनुमानतया, चाहे जिस किसी भी हेरफेरके साथ क्यों न हो, उसका अंतिम विकास, उसका हमारे अबतक प्रधान रहते मानसिक अज्ञानसे अतिमानसिक चेतना और समग्र ज्ञानकी ओरका संक्रमण शासित और कार्यान्वित होगा, उसके तत्त्वोंका अवलोकन अधिक समझके साथ करें। कारण, हम देखते हैं कि प्रकृतिकी क्रियाका सामान्य विधान एक समान रहता है, क्योंकि वह वस्तुओंके ऐसे सत्यपर निर्भर करता है जो प्रयोगके ब्योरोंमें प्रचुर रूपसे परिवर्तनीय रहकर भी तत्त्वतः अपरिवर्तनीय है। आरंभमें ही हम आसानीसे देख सकते हैं कि चूँकि यह भौतिक निश्चेतनासे आध्यात्मिक चेतनाकी ओर क्रमविकास है, जड़-तत्त्वके आधारपर अध्यात्म-तत्त्वका क्रमवैकासिक आत्म-निर्माण है, इस प्रक्रियामें एक त्रिविध विकास अवश्य होगा। जड़तत्त्वके ऐसे रूपोंका विकास जो अधिकाधिक सूक्ष्म और जटिल रूपसे संगठित हों, ताकि चेतनाके एक वर्द्धमान, अधिकाधिक संश्लिष्ट, सूक्ष्म और समर्थ संगठनकी क्रियाको प्रवेश मिले, अनिवार्य स्थूल आधार है। स्वयं चेतनाकी अधिकाधिक ऊँची श्रेणियोंको पार करती जाती एक ऊर्ध्वमुखी क्रमविकासशीला प्रगति, एक आरोहण, वह स्पष्ट सर्पिल रेखा या प्रकट होती चक्र-रेखा है जिसे, इस आधारपर, विकासक्रमको चलकर पूरा करना होगा। प्रत्येक उच्चतर श्रेणीमें पहुँचकर, जो कुछ विकसित हो चुका है उसका उस श्रेणीमें उत्थापन और एक न्यूनाधिक संपूर्ण रूपांतर, जिससे कि समूची सत्ता और प्रकृतिकी समग्र परिवर्तित क्रियाका प्रवेश हो, एक समाकलन,—इसे भी क्रमविकासके सार्थक होनेके लिये उसकी प्रक्रियाका अंग होना ही चाहिए।

अवश्य ही इस त्रिविध प्रक्रियाका परिणाम होगा अज्ञानकी क्रियाका ज्ञानकी क्रियामें, हमारे निश्चेतनामय आधारका संपूर्ण चेतनामय आधारमें आमूल परिवर्तन,—एक ऐसी संपूर्णता जो वर्तमानमें केवल उसमें रहती है जो हमारे लिये अतिचेतना है। प्रत्येक आरोहण अपने साथ पुरानी प्रकृतिमें आंशिक परिवर्तन और संशोधन लायगा, वह प्रकृति ऊपर उठायी जायगी और एक नये मूलभूत तत्त्वके अधीन की जायगी; निश्चेतना एक आंशिक चेतनामें, अधिकाधिक ज्ञान और प्रभुताकी खोज करनेवाले अज्ञानमें बदल दी जायगी: परंतु किसी बिंदुपर एक ऐसा भी आरोहण

अवश्य होगा जो निश्चेतना तथा अज्ञानके स्थानपर ज्ञानका, एक मूलभूत सच्ची चेतनाका, आत्माकी चेतनाका तत्त्व ला बिठायगा। निश्चेतनामें क्रमविकास आरंभ है और अज्ञानमें क्रमविकास मध्य, परंतु अंत है अध्यात्म-सत्ताकी सच्ची चेतनामें प्रमुक्ति और ज्ञानमें क्रमविकास। अबतक क्रमविकासिनी प्रकृतिने जिस प्रक्रियाका अनुसरण किया है उसका नियम और उसकी पद्धति हम वस्तुतः यही पाते हैं और सारे चिह्नोंके अनुसार यही संभावना है कि अपनी भावी क्रियामें भी वह इसीका अनुसरण करेगी। एक प्रथम संवरणात्मक आधार जिसमें उस सबका उद्‌भव होता है जिसे विकसित होना है, संवृत शक्तियोंका उस आधारमें या उसपर एक आरोहणकारी क्रममें उन्मज्जन और क्रियाव्यापार, और एक परमाभिव्यक्तिके अभिकर्त्ता रूपमें सर्वोच्च शक्तिका चरम परिणतिकारी उन्मेष,—ये क्रमविकासिनी प्रकृतिकी यात्राकी आवश्यक मंजिलें हैं।

जिस समस्याका समाधान करना है उसका स्वरूप ही ऐसा है कि क्रमविकासकी प्रक्रिया, सत्ता या उपादानके एक प्रथम स्थापित आधाररूप तत्त्वमें, किसी ऐसी वस्तुका विकास होगी जिसे वह आधाररूप तत्त्व अपने अंदर संवृत रखता हो अथवा जिसे वह अपनेसे बाहरसे प्रवेश करने देता हो और प्रवेश देकर उसे कुछ परिवर्तित कर देता हो; कारण, जो कुछ उसमें प्रवेश करता है और उसके अपने स्वभावका अंग नहीं हो गया है उसे वह अपने स्वधर्म द्वारा अवश्य ही कुछ परिवर्तित करता है। ऐसा तब भी होगा यदि वह क्रमविकास इस अर्थमें सृजनात्मक भी हो कि वह सदा सत्ताकी अभिनव शक्तियोंको अभिव्यक्त करता है जो प्रथम भित्तिमें जन्मजात नहीं, प्रत्युत उसमें प्रविष्ट की गयी हैं, एक आद्य उपादानके अंदर स्वीकृत की गयी हैं। इसके विपरीत, यदि सत्ताका वह नया तत्त्व अथवा उसकी वह नयी शक्ति जिसे विकसित होना है, संवृतिमें विद्यमान ही हो,—प्रथम भित्तिमें विद्यमान परंतु अभीतक अभिव्यक्त नहीं या अभी तक संगठित नहीं,—तो प्रकट होनेपर, उसे फिर भी आधाररूप उपादानके स्वभाव और धर्मके हाथों कुछ परिवर्तित होना स्वीकार करना होगा: परंतु साथ ही, वह अभिनव तत्त्व या शक्ति भी उस उपादानको अपने स्ववीर्यसे, अपने स्वधर्मसे कुछ परिवर्तित करेगी। इसके अतिरिक्त, यदि उस अभिनव शक्तिका स्वतत्त्व क्रमविकासके क्षेत्रके ऊपर अपनी परिपूर्ण स्वशक्तिके साथ स्थापित हो चुका हो और उस क्षेत्रको अधिकृत करनेके लिये उसमें उतर आनेके

लिये दबाव डाल रहा हो, तो उसके अवरोहणकी सहायता पाकर वह नयी शक्ति अपने-आपको प्रमुख तत्त्वके रूपमें भी स्थापित कर ले सकती और जिस जगत्में वह उन्मज्जित या प्रविष्ट हो रही है उसकी चेतना और क्रियाको बहुत कुछ या मूलतया परिवर्तित भी कर दे सकती है। परंतु जिस मूल उपादानको क्रमविकासके गर्भाशयके रूपमें चुना गया था उसके धर्म और क्रियामें संशोधन या परिवर्तन या क्रांति लानेकी उसकी शक्ति उस नये तत्त्वकी अपनी मूलभूत शक्तिपर निर्भर करेगी। वह यदि स्वयं ही 'सत्'का मूल 'तत्त्व' नहीं हो, वह यदि गौणमात्र हो, एक उपकरणात्मिका शक्ति हो, न कि प्रथमा शक्ति, तो ऐसी संभावना नहीं कि वह संपूर्ण रूपांतर घटित कर सके।

यहाँ क्रमविकास एक भौतिक विश्वमें घटित होता है; यहाँ जड़-तत्त्व ही भित्ति है, मूल उपादान है, वस्तुओंकी प्रथम स्थापित सर्व-नियामिका स्थिति है। मन और प्राण जड़में विकसित हुए हैं, परंतु उनकी क्रियाशक्ति इस कारण सीमित और मंद हो गयी है कि वे जड़-धातुको अपने उपकरणके रूपमें व्यवहृत करनेको बाध्य हैं और भौतिक प्रकृतिके विधानके अधीन हैं, भले ही वे जिसके अधीन है और जिसे व्यवहृत करते हैं उसे परिवर्तित भी क्यों न करते हों। कारण, मन और प्राण जड़की धातुको रूपांतरित करते ही हैं, पहले जीवंत धातुमें, फिर चेतन धातुमें। वे उसकी तामसिकता, निश्चलता और अचेतनाको चेतना, संवेदना और प्राणकी गतिमें परिवर्तित करनेमें सफल होते हैं परंतु वे उसे सर्वथा रूपांतरित करनेमें सफल नहीं होते, उसे सर्वथा जीवंत या सर्वथा चेतन नहीं बना पाते; विकसित होती प्राण-प्रकृति मृत्युसे बद्ध है; विकसित होता मन जड़धर्मी और प्राणधर्मी हो जाता है; वह अपने-आपको जड़ निश्चेतनामें मूलबद्ध और अज्ञानसे सीमित पाता है; वह अवशीभूत प्राण-शक्तियोंसे चालित होता है, वे ही उसे हाँकती और व्यवहृत करती हैं; अपनी स्वाभिव्यक्तिके लिये उसे स्थूल शक्तियोंपर निर्भर करना पड़ता है और वे शक्तियाँ उसे यांत्रिक कर देती हैं। यह इस बातका चिह्न है कि न तो मन, न प्राण ही आद्या सृष्टिशक्ति है; जड़की तरह वे भी मध्यवर्ती हैं, क्रमविकास-प्रक्रियाके धारावाहिक और आनुक्रमिक उपकरण हैं। यदि भौतिक ऊर्जा वह आद्या शक्ति नहीं, तो उसकी खोज हमें मन या प्राणसे ऊपरकी किसी वस्तुमें करनी होगी; ऐसी कोई गभीरतर गुह्य 'सद्वस्तु'

अवश्य ही होगी जिसे प्रकृतिमें अपने-आपका उन्मीलन करना अभी भी बाकी है।

कोई आद्या सृष्टिकारिका या क्रमविकासिनी शक्ति होनी ही चाहिये : परंतु, जड़ यद्यपि प्रथम उपादान है, निश्चेतन भौतिक ऊर्जा आद्या और अंतिम शक्ति तो नहीं; कारण, यदि ऐसा होता तो प्राण और चेतना अनुपस्थित होते, क्योंकि न तो निश्चेतना चेतनाका उन्मेष कर सकती है, न निर्जीव शक्ति ही प्राणका उन्मेष। सुतरां, चूंकि मन और प्राण भी वह आद्या शक्ति नहीं, एक गूढ़ चेतना होनी ही चाहिये जो प्राणचेतना या मनश्चेतनासे महत्तर हो, एक ऐसी ऊर्जा होनी ही चाहिये जो भौतिक ऊर्जासे अधिक मूलस्थ हो। चूंकि वह मनसे महत्तर है, उसे अतिमानसिक चित्-शक्ति ही होना चाहिये; चूंकि वह जड़तत्त्वसे भिन्न किसी मूलस्थ उपादानकी शक्ति है, उसे उस तत्त्वकी ही शक्ति होना चाहिये जो सकल वस्तुओंका परम सार और उपादान है, उसे 'अध्यात्म-पुरुष'की ही शक्ति होना चाहिये। मनकी एक सर्जनात्मिका ऊर्जा है, और एक सर्जनात्मिका प्राण-शक्ति है, परंतु वे उपकरणरूपी और आंशिक हैं, मौलिक और निर्णायिक नहीं : मन और प्राण जिस भौतिक उपादानमें निवास करते हैं उस उपादानसे और उसकी ऊर्जाओंसे निर्धारित होते हुए भी वे वस्तुतः उन्हें आपरिवर्त्तित करते हैं, परंतु इस भौतिक आपरिवर्त्तन और निर्धारणके विस्तार और विधिका नियमन अधिवासी और सर्वाधार 'अध्यात्म-पुरुष' ही, अतिमानसकी एक गूढ़ अंतर्वासिनी ज्योति और शक्ति द्वारा, एक गुह्य विज्ञान द्वारा,—एक अदृश्य आत्मज्ञान एवं सर्वज्ञान द्वारा—करता है। यदि संपूर्ण रूपांतर होना है, तो यह 'अध्यात्म' के धर्मके परिपूर्ण उन्मज्जन द्वारा ही हो सकता है; उसकी अतिमानस या विज्ञानकी शक्ति जड़में प्रविष्ट हुई ही होगी और जड़में भी अवश्य उन्मिषित होगी। वह शक्ति, अवश्य ही, मनोमयी सत्ताको अतिमानसिक सत्तामें बदलेगी, हमारे अंदरके निश्चेतनको सचेतन करेगी, हमारी भौतिक धातुको अध्यात्ममयी करेगी, हमारी समूची क्रमविकासिनी सत्ता और प्रकृतिमें अपना विज्ञान-चेतनाका धर्म प्रतिष्ठित करेगी। इसे ही चरम परिणतिकारी उन्मज्जन अथवा, कमसे कम, उन्मज्जनमें वह भूमिका होना चाहिये जो कि क्रमविकासकी अज्ञानक्रिया और उसके निश्चेतना-आधारको रूपांतरित करके उसकी प्रकृतिको निश्चायक रूपमें पहली वार परिवर्तित करती है।

क्रमविकासकी, भौतिक विश्वमें अध्यात्म-सत्ताकी प्रगतिशील स्वाभि-व्यक्तिकी इस गतिधाराको प्रत्येक डगपर इस तथ्यसे हिसाव करना होता है कि भौतिक धातुके रूप और क्रियामें चेतना और शक्ति संवृत है। कारण, इस अभिव्यक्तिकी प्रगति संवृत चेतना तथा शक्तिके जागरण और निगूढ़ अध्यात्म-सत्ताके एक तत्त्वसे दूसरे तत्त्वकी ओर, उसकी एक श्रेणीसे दूसरी श्रेणीकी ओर, उसकी एक शक्तिको पारकर अन्य शक्तिकी ओर आरोहणसे होती है, परंतु उच्चतर भूमिकाकी ओर यह स्थानांतर निर्बंध नहीं होता। प्रत्येक श्रेणी या शक्तिके उन्मज्जनमें उसके क्रिया-विधान, उसकी क्रिया-शक्तिका निर्धारण उसके अपने स्वतंत्र, परिपूर्ण और शुद्ध स्वधर्म या ऊर्जा-संवेगसे नहीं, प्रत्युत अंशतः उसके लिये दिये गये भौतिक संगठनसे और अंशतः उसके अपने पद, अपने उपलब्ध क्रमसे, जड़पर वह चेतनाकी जिस निष्पन्न वास्तविकताको आरोपित कर सकी है उससे होता है। उसकी प्रभावकारिता, किसी तरहसे, एक ओर तो इस क्रमवैकासिक उन्मज्जनका वास्तविक विस्तार, और दूसरे पलड़ेमें वह परिमाण जिसमें उन्मज्जनमान् शक्ति निश्चेतनाके आधिपत्य और अप्रतिहत पकड़से तब भी आच्छादित, अंतर्वेष्टित, ह्रसित रहती है, इनके संतुलनसे बनी होती है। मनको हम जैसा पाते हैं वह शुद्ध और स्वतंत्र नहीं, अपितु एक आच्छादक निर्ज्ञानसे मेघित और ह्रसित मन है, उस निर्ज्ञानमेंसे ज्ञानका उद्धार करनेका श्रम और उद्यम करता मन है। सब कुछ चेतनाकी न्यूनाधिक संवृत अथवा न्यूनाधिक उन्मिषित अवस्था-पर निर्भर करता है,—वह चेतना निश्चेतन जड़-तत्त्वमें सर्वथा संवृत रहती है, जड़में प्राणके प्राथमिक या अ-पशु रूपोंमें संवरण और चेतन विकासके बीचके तटपर हिचकिचाती है; सजीव शरीरमें बसाये गये मनमें चेतन रूपसे विकसित होती है, किंतु बहुत सीमित और बाधाग्रस्त रहती है; शरीरधारी मनोमय पुरुष और प्रकृतिमें अतिमानसके जागरणसे संपूर्णतया विकसित हो जाना उसकी नियति है।

विकसित होती चेतना इस धाराक्रममें जो-जो श्रेणी प्राप्त करती है उस-उसके उपयुक्त सत्ताओंका एक-एक वर्ग होता है,—एक-एक करके भौतिक रूप और शक्तियाँ, वनस्पति-जीवन, पशु और अर्ध-पशु मानव, विकसित मानव-जीव, अपूर्णतया विकसित या अधिक विकसित आध्या-त्मिक जीव प्रकट होते हैं: परन्तु क्रमविकास-प्रक्रियाकी अविच्छिन्नताके कारण उनके बीच कोई कठोर विच्छेद नहीं होता; प्रत्येक नई प्रगति

या रचना जो पहले था उसे ऊपर उठाती है। सजीव और निर्जीव जडको पशु अपने अंदर ऊपर उठा लेता है; मनुष्य उन दोनोंको पशु-सत्ताके साथ-साथ उठा लेता है। संक्रमण-प्रक्रियाकी छोड़ी हुई लीकें मिलती हैं या पृथक्कारी भेद-चिह्न मिलते हैं जिन्हें प्रकृतिके बँधे अभ्यासने पक्का कर दिया है: परंतु ये चिह्न एक पर्वका अन्य पर्वसे भेद ही सूचित करते हैं, उनकी शायद यह उपयोगिता है कि जो कुछ विकसित हो चुका है उसका पुनःपतन होना रोकते हैं, परंतु वे क्रमविकासकी अविच्छिन्नताको काटते नहीं, उसे रद्द नहीं करते। क्रमविकासमान् चेतनाका एक श्रेणीसे अन्य श्रेणीकी ओर या एक पदक्रमसे दूसरे पद-क्रमकी ओर संक्रमण या तो किसी दिखायी न पड़नेवाली प्रक्रियासे या कोई छलांग लगाकर या कोई संकट पार करके, या शायद, ऊपरके किसी हस्तक्षेप, प्रकृतिके उच्चतर लोकोंसे आगत किसी अवरोहण या आत्मानुप्रवेश या प्रभावसे होता है। परंतु जड़के अंतरमें निगूढ़ रूपसे रहनेवाली चेतना, गुह्य अधिवासिनी सत्ता, जिस किसी भी साधनसे क्यों न हो, इस तरह निम्नतरसे उच्चतर श्रेणियोंकी ओर ऊपर चढ़नेका मार्ग बना ले पाती है; वह जो कुछ थी उसे वह, जो कुछ वह है, उसमे ऊपर उठा लेती है, और इन दोनोंको, जो कुछ वह हो जायगी, उसमें ऊपर उठानेकी तैयारी करती है। इस तरह पहले तो भौतिक सत्ताका, जड़ रूपों, जड़ शक्तियों, जड़ भूतोंका आधार बनाकर, जिनमें वह निश्चेतन पड़ी प्रतीत होती है, यद्यपि वास्तवमें, जैसा हमें अब ज्ञात हो चुका है वह सर्वदा अवचेतन रूपसे सक्रिय रहती है, वह एक भौतिक विश्वमें प्राण और सजीव सत्ताओंको अभिव्यक्त करनेमें समर्थ है, मन और मनोमय प्राणियोंको अभिव्यक्त करनेमें समर्थ है, अतएव, उसे वहाँ अतिमानस और अतिमानसिक जीवोंको भी अभिव्यक्त करनेमें समर्थ होना ही चाहिये। क्रमविकासकी वर्तमान स्थिति इसी तरह आयी है, और मनुष्य अभी उसकी प्रतीयमान पराकाष्ठा है परन्तु वस्तुतः उसका अंतिम शिखर नहीं; कारण, वह स्वयं एक संक्रामी सत्ता है और सारी गतिधाराके वर्तन-बिन्दुपर खड़ा है। क्रमविकास जब इस भाँति एक अविच्छिन्न धारा है, किसी भी क्षण उसे देखा जाय तो उसका एक अतीत होगा जिसके मूलभूत परिणाम फिर भी दृष्टिगोचर रह रहे होंगे, उसका एक वर्तमान होगा जिसमें वह जिन परिणामोंकी प्राप्तिके लिये उद्योग कर रहा है वे सिद्ध होनेके मार्गमें होंगे, एक भविष्य होगा

जिसमें सत्ताके अबतकके अविकसित बल और रूप प्रकट होते जायेंगे, अंतमें समग्र तथा पूर्ण अभिव्यक्ति होगी। अतीत एक ऐसी मंद और कठिन अवचेतन क्रियाका इतिहास रहा है जिसके प्रभाव बहिस्तरपर पड़े हैं, यह अचेतन क्रमविकास रहा है; वर्तमान एक मध्य भूमिका है, एक अनिश्चित सर्पिल सोपान है जिसमें सत्ताकी निगूढ़ क्रमविकास-शक्ति मानव-बुद्धिका उपयोग करती है और मानव-बुद्धि उसकी क्रियामें भाग भी लेती है परंतु वह उसका पूरा विश्वासपात्र नहीं होती,—यह अपने-आपके प्रति धीमे-धीमे चेतन होता हुआ क्रमविकास है; भविष्य अवश्य ही अध्यात्ममयी सत्ताका अधिकाधिक सचेतन क्रमविकास होगा जिसके अंतमें, उन्मिषंत विज्ञान-तत्त्वसे, आत्म-संविन्मय क्रियामें, उसकी पूरी उन्मुक्ति होगी।

इस उन्मज्जनमें जो प्रथम आधार है,—जडके रूपोंकी सृष्टि, पहले निश्चेतन और निष्प्राण, फिर सजीव और विचारशील जड़की सृष्टि, चेतनाके महत्तर बलको व्यक्त करनेके लिये अनुकूलीकृत अधिकाधिक संगठित शरीरोंका प्राकट्य,—इसका अध्ययन, भौतिक दिशामें, रूप-निर्माणके क्षेत्रमें, भौतिक विज्ञानने किया है; परंतु आंतरिक क्षेत्रपर, चेतनाकी दिशामें बहुत अल्प प्रकाश डाला गया है, और जिस थोड़ेसेका अवलोकन किया गया है वह चेतनाके अपने स्वरूपकी प्रगतिशील क्रियाओं-का न होकर, बल्कि उसके स्थूल आधार तथा साधन-विनियोगका हुआ है। क्रमविकासमें, अबतक जैसा देखा गया है, एक अविच्छिन्नता तो है,—कारण, प्राण जड़को ऊपर उठाता है, मन अवमानसिक प्राणको और बुद्धिमय मन प्राणमय तथा संवेदनमय मनको,—किंतु धाराक्रममें चेतनाकी एक श्रेणीसे दूसरी श्रेणीकी ओर छलांग हमारी आंखोंको अत्यधिक लम्बी लगती है; चाहे सेतुके द्वारा हो चाहे छलांग लगाकर, उन दोनोंके बीचकी खाड़ीको पार करना असंभव लगता है; यह कार्य भूतकालमें हुआ ही था या किस रीतिसे हुआ था, हमें इसका कोई ठोस और संतोषजनक प्रमाण नहीं मिलता। बाह्य क्रमविकासमें भी, स्थूल रूपोंके विकासमें भी, जिसमें कि सुस्पष्ट तथ्य-सामग्रीका साक्ष्य मिलता है, कुछ कड़ियाँ नहीं मिलतीं और वे सदा खोयी ही रहती हैं; परंतु चेतनाके क्रमविकासकी यात्राका विवरण पाना और भी अधिक कठिन होता है, क्योंकि उसका रूप यात्राकी अपेक्षा रूपांतरका अधिक होता है। तथापि, हो सकता है कि अव-चेतनके अंदर पैठने, अवमानसिकको जानने या अपनी मानसतासे भिन्न

निम्नतर मानसताको पर्याप्त रूपसे समझनेमें अपने असामर्थ्यके कारण हम धाराक्रमकी प्रत्येक कोटिकी ही नही, अपितु श्रेणी और श्रेणीके बीचके तट-प्रदेशोंकी सूक्ष्म श्रेणियोंको देखनेमें अक्षम रहते हैं। वैज्ञानिक स्थूल तथ्योंका सूक्ष्म प्रेक्षण अवश्य ही करता है, वह भी अंतरालों और खोयी कड़ियोंके बावजूद विकासक्रमकी अविच्छिन्नताको माननेको बाध्य हुआ है; हम यदि आंतरिक क्रमविकासका उसी प्रकार प्रेक्षण कर सकें तो इन विकट संक्रमणोंकी संभावना और रीतिका आविष्कार निस्संदेह कर सकेंगे। परंतु फिर भी, श्रेणी और श्रेणीके बीच एक यथार्थ, एक आमूल अंतर है, यहाँ तक कि एकसे दूसरीकी ओरका संक्रमण एक नयी सृष्टि, एक चमत्कारिक रूपांतर जान पड़ता है, न कि कोई स्वाभाविक पूर्वकथनीय विकास, न कि कोई सत्ताकी एक स्थितिसे अन्य स्थितिमें शांत संक्रमण जिसके सुनिर्दिष्ट डग सरल परिणाम-क्रममें आयोजित हों।

हम प्रकृतिके सोपानमें ज्यों-ज्यों ऊँचे चढ़ते हैं ये अंतराल अधिक गहरे, किंतु कम चौड़े मिलते हैं। जैसा कि हालमे प्रतिपादित किया गया है, यदि धातुमें प्राण-प्रतिक्रियाके आरंभिक तत्त्व विद्यमान हों, तो हो सकता है कि मूलतः वह वनस्पतिगत प्राण-प्रतिक्रियासे अभिन्न हो, परंतु जिसे प्राणिक-स्थूल अंतर कहा जा सकता है वह इतना अधिक है कि इनमेंसे एक तो हमें निष्प्राण लगती है और दूसरी प्रत्यक्ष रूपसे चेतन नही होनेपर भी प्राणवान् जीव कही जा सकती है। वनस्पति-जीवनकी उच्चतम कोटि और पशुकी निम्नतम कोटिके बीच खाई अधिक गहरी प्रकट होती है, कारण, वह मनकी उपस्थिति और मनकी किसी भी प्रतीयमान या आरंभिक गति तकके भी संपूर्ण अभावका अंतर है: वनस्पतिमें यद्यपि एक प्राणिक प्रतिक्रियाओंका जीवन है, एक अवदमित या अवचेतन या शायद अवमानसिक ही रहनेवाला ऐंद्रिय स्पंदन भी है जो तीव्र रूपसे सक्रिय लगता है, फिर भी उसमें मनश्चेतनाकी धातु नही जगी है; पशुमें यद्यपि जीवन आरंभमें जीनेकी अवचेतन रीतिमें कम स्वचल और निरापद रहता है और प्रकट चेतनाकी अपनी नयी रीतिमें अपूर्ण रूपसे निर्धारित होता है, फिर भी उसमें मन जाग गया है,—वहाँ एक सचेतन जीवन है, एक गभीर संक्रमण घटित हो गया है। परंतु उनके संगठनमें चाहे कितनी भी भिन्नता क्यों न हो, वनस्पति और पशुके जीवन-व्यापारका साम्य खाईको संकड़ी कर देता है, यद्यपि उसकी गहराई तो नहीं भरती। पशुकी उच्चतम कोटि और मनुष्यकी निम्नतम कोटिके

बीच एक और भी गहरी किंतु कम चौड़ी खाई पार करनी होती है; यह खाई इन्द्रिय-मानस और बुद्धिके बीचकी है: कारण, वन्य मनुष्यकी असभ्य प्रकृतिपर हम कितना ही बल क्यों न दें, हम इस तथ्यको नहीं बदल सकते कि आदिमसे आदिम मानव-प्राणीको इंद्रिय-मानस, भावुक प्राणिकता और आरंभिक व्यावहारिक बुद्धि तो प्राप्त है हीं जो कि पशुको भी प्राप्त हैं, परंतु इनके अतिरिक्त और इनसे आगे उसमें एक मानवीय बुद्धि भी रही है और उसमें,—चाहे जिस किसी भी सीमामें क्यों न हो,—चिंतनकी, भावोंकी, सचेतन आविष्कारकी,—धार्मिक और नैतिक विचार और भावनाकी, मानव-जातिके लिये जो कुछ मूलभूत रूपसे साध्य है उस हरेककी समर्थता रही है; उसकी बुद्धिका प्रकार वही रहा है, अंतर केवल उसकी अतीतकी शिक्षा-दीक्षा और उसकी विकसित क्षमता, तीव्रता और क्रियाशीलताकी मात्रामें रहा है। फिर भी, इन विभाजिका लीकोंके बावजूद भी, हम अब यह अनुमान नहीं कर सकते कि ईश्वर या किसी विश्वस्रष्टाने प्रत्येक वर्ग और जाति-प्रकारको शरीर और चेतनामें बने-बनाये रूपोंमें निर्मित कर दिया है और उसपर दृष्टिपात कर और उसे अच्छा मानकर बात वहींकी वहीं छोड़ दी है। यह स्पष्ट हो गया है कि सृष्टिकी या तो एक निगूढ़ रूपसे चेतन या एक निश्चेतन ऊर्जाने संक्रमणको तेज या धीमी गतिसे, हर किसी भी साधन, उपाय और जैविक, शारीरिक या मनोमय यंत्रसे संपादित किया है,—शायद इसे कर चुकनेपर उसने उन वस्तुओंको विविक्त रूपोंमें संरक्षित रखना आवश्यक नहीं समझा जिन्होंने केवल सोपानका काम किया था और क्रमविकासिका प्रकृतिमें न तो जिनका अब और कोई कार्य रह गया था, न जिनसे कोई प्रयोजन ही सिद्ध हो रहा था। परंतु रिक्त अंशोंकी यह व्याख्या एक प्राक्कल्पनासे शायद ही अधिक कुछ है, उसे हम अब तक पर्याप्त रूपसे प्रमाणित नहीं कर सकते है। जो कुछ भी हो, यह संभव है कि इन आमूल भिन्नताओंका कारण क्रम-वैकासिक संक्रमणकी बाह्य प्रक्रियामें नहीं, अपितु आंतरिक शक्तिकी क्रियामें मिलेगा; यदि हम उसका अवलोकन उस आंतरिक दिशासे अधिक गहराईसे करें तो समझनेकी कठिनाई समाप्त हो जाती है और ये संक्रमण बोधगम्य और वस्तुतः क्रमविकास-प्रक्रिया और उसके तात्त्विक विधानके स्वरूपमात्रके कारण अनिवार्य हो जाते है।

कारण, हम यदि इस विषयके वैज्ञानिक या स्थूल पहलुओंको नहीं,

वरन् आंतरिक पहलूको देखें और यह जानना चाहें कि भेद ठीक क्या है, तो देखेंगे कि वह चेतनाका सत्ताके अन्य तत्त्वमें उत्थान है। धातु जड़के निश्चेतन और निष्प्राण तत्त्वमें निर्धारित है; हम यदि यह मान भी लें कि उसकी कुछ ऐसी प्रतिक्रियाएँ हैं जो यह संकेत करती हैं कि उसके अदर प्राण है या, कमसे कम, वे आरंभिक स्पन्दन हैं जिनका वनस्पतिमे प्राणरूपमें विकास हो गया, तो भी प्रकृत्या वह प्राणका रूप नही; प्रकृत्या वह जड़का ही एक रूप है। वनस्पति प्राण-तत्त्वकी एक अवचेतन क्रियामें निर्धारित है,—यह नहीं कि वह जड़-तत्त्वके अधीन नहीं या कि वह उन प्रतिक्रियाओंसे रहित है जिनका पूरा अर्थ केवल मनमें प्राप्त होता है, कारण, उसमें ऐसी अवमानसिक प्रतिक्रियाएँ जान पड़ती हैं जो हमारे अंदर सुख और कष्ट या आकर्षण और विकर्षणकी नींव होती हैं; परंतु वनस्पति फिर भी प्राणका एक रूप है, केवल जड़का नहीं, और वह, जहाँतक हम जानते हैं, 'मनश्चेतन' सत्ता भी बिलकुल ही नहीं। मनुष्य और पशु दोनों मानसिक रूपसे सचेतन सत्ताएँ हैं: परंतु पशु प्राणिक मन और मानस-इन्द्रियतामें बद्ध है और उसकी सीमाओंको पार नहीं कर सकता, जबकि मनुष्यने अपने इन्द्रिय-मानसमें एक अन्य तत्त्वका, बुद्धिका प्रकाश प्राप्त किया है, जो वास्तवमें अतिमानसका प्रतिबिंब और अपभ्रंश साथ-साथ है और 'विज्ञान' की एक ऐसी किरण है जिसे ऐन्द्रिय मानसताने पकड़ लिया है और जिसे उसके मूलसे भिन्न वस्तुमें परिवर्तित कर दिया है: कारण, जिस इन्द्रियमानसमें और जिस इन्द्रियमानसके लिये बुद्धि कार्य करती है उसकी तरह वह भी अविज्ञानी होती है, विज्ञानी नही; वह ज्ञानको प्राप्त करना चाहती है, क्योंकि ज्ञान उसे अविकृत नही रहता, अतिमानसकी तरह ज्ञान उसके स्वाभाविक प्राधिकारके रूपमें उसके अंदर प्रतिष्ठ नहीं रहता। अन्य शब्दोंमें अस्तित्वके इन रूपोंमेंसे प्रत्येकमें विश्व-सत्ताने अपनी चेतनाकी क्रियाको भिन्न-भिन्न तत्त्वोंमें स्थापित किया है, या जैसा कि मनुष्य और पशुके बीच हुआ है, उच्चतर तत्त्वके द्वारा निम्नतर तत्त्वके परिवर्त्तनमें स्थापित किया है, यद्यपि वह उच्चतर तत्त्व फिर भी उच्चतम श्रेणीका तत्त्व नही रहा है। सत्ताके एक तत्त्वसे सत्ताके एक अन्य और सर्वथा भिन्न तत्त्वकी ओर यह गमन ही संक्रमणोंकी, लीकोंकी, दूरीके स्पष्ट व्यवधानोंकी रचना करता है, और इसीसे सत्ता सत्ताकी प्रकृतियोंके बीचका समूचा अंतर तो नहीं, परंतु फिर भी एक आमूल विशिष्ट अंतर घटित होता है।

परंतु यह देख रखना है कि जैसे निम्नतर श्रेणियोंमें विश्वजीवनकी स्थितिका अर्थ उच्चतर तत्त्वोंका पूरा अभाव नहीं होता वैसे ही इस आरोहणका, अधिकाधिक ऊँचे तत्त्वोंमें इस आनुक्रमिक स्थापनाका अर्थ निम्नतर श्रेणियोंका त्याग नही होता। विभेदकी इन तीक्ष्ण रेखाओंके कारण क्रमविकासके मतके विरुद्ध उठायी जाती आपत्तिका उपचार इससे हो जाता है; कारण, यदि उच्चतरके आरंभिक तत्त्व निम्नतरमें वर्तमान हों और निम्नतर गुण-धर्म उच्चतर विकसित सत्तामें ऊपर उठा लिये जाते हों, तो यही चीज एक असंशयास्पद क्रमवैकासिक प्रक्रिया हो जाती है। आवश्यकता ऐसी क्रियाकी होती है जो सत्ताकी निम्नतर श्रेणीको ऐसे बिन्दुपर ले आय कि उच्चतर उसमें अभिव्यक्त हो सके; उस बिन्दुपर किसी ऐसे उच्चतर स्तरसे आता हुआ दबाव, जहाँ वह नूतन शक्ति प्रधान हो, एक न्यूनाधिक द्रुत और निर्णायक संक्रमणकी ओर ले जानमें सहायक हो सकता है, वह संक्रमण चाहे एक छलाँगमें हो, चाहे बहुतसी छलाँगोंके क्रममें,—धीमी, रेंगती, दिखायी न देनेवाली क्रिया या गुह्य क्रियाके बाद भी एक दौड़ लगती है और सीमांत-प्रदेशपर क्रमविकासकी छलाँग भरी जाती है। चेतनाकी निम्नतरसे उच्चतर श्रेणियोंकी ओर संक्रमण प्रकृतिमें कुछ इसी प्रकार हुआ लगता है।

वास्तवमें प्राण, मन और अतिमानस परमाणुमें भी विद्यमान हैं, वहाँ सक्रिय हैं, परंतु अदृश्य हैं, गुह्य हैं, 'ऊर्जा'की अवचेतन या प्रतीयमानतया अचेतन क्रियामें निभृत हैं; वहाँ एक अनुप्राणनकारी 'अध्यात्म-पुरुष' तो है, परंतु सत्ताकी बाह्य शक्ति और आकृति, जिसे हम अंतःस्यूत या निगूढ़ शासिका चेतनासे विभेदित करते हुए आकारिक या रूपात्मक अस्तित्व कह सकते हैं, स्थूल क्रियामें खो जाती है, उसमें इतनी निमग्न हो जाती है कि वह क्या है और क्या कर रही है इसकी चेतनासे रहित एक रूढ़िगत आत्म-विस्मृतिमें बद्ध हो जाती है। इस दृष्टिके अनुसार परमाणु और विद्युदणु सनातन निद्राचर हैं; प्रत्येक जड़ पदार्थमें एक बाह्य चेतना या रूप-चेतना रहती है,—संवृत, रूपके अंदर निमग्न, निद्रित, जो एक अज्ञात और अननुभूत आंतरिक 'सत्' द्वारा, उपनिषदोंके "प्रत्येक सुषुप्तके अंदर नित्य जाग्रत्, सर्वभूताधिवासी पुरुष" द्वारा चालित एक अचेतना जान पड़ती है,—एक बाह्य निमग्न रूप-चेतना रहती है जो मानव-निद्राचरकी चेतनासे भिन्नतया, न तो कभी जागी है, और न जाग उठनेको सदा या कभी भी प्रस्तुत ही रहती है।

वनस्पतिमें यह बाह्य रूप-चेतना तब भी निद्राकी अवस्थामें ही है, परंतु वह निद्रा स्नायविक स्वप्नोंसे भरी होती है; यह सदैव जाग जानेकी अवस्थामें होती है, परंतु कभी भी जागती नहीं। प्राण प्रकट हो गया है; अन्य शब्दोंमें, प्रच्छन्न सचेतन सत्ताकी शक्ति इतनी तीव्र कर दी गई है, वह वीर्यकी इतनी ऊँचाईतक उठ गई है कि वह क्रियाके उस नये तत्त्वका विकास कर सकती या उसके लिये समर्थ हो सकती है जिसे हम प्राण-शक्ति, जीवनी-शक्तिके रूपमें देखते हैं। वह मनसा-चेतन तो नही हुई है किंतु अस्तित्वको प्राणके प्रत्युत्तर देने लगी है और किसी भी शुद्ध जड़ क्रियाकी अपेक्षा सूक्ष्मतर और उच्चतर मूल्य रखनेवाले क्रियाकलापोंकी एक नयी श्रेणीको व्यक्त करती है। साथ ही, उसमें यह सामर्थ्य होता है कि वह अपने रूपोंसे भिन्न रूपों और विश्व-प्रकृतिसे आते प्राण-संपर्कों और स्थूल संपर्कोंको ग्रहण करे और इन नये प्राण-मूल्योंमें, प्राणिकताके स्पंदनकी गतियों और व्यापारोंमें परिणत करे। यह ऐसा कुछ है जिसे केवल जड़के रूप नहीं कर सकते; वे संपर्कोंको प्राण-मूल्यों या किसी भी प्रकारके मूल्योंमें परिणत नहीं कर सकते, इसका कारण अंशतः यह होता है कि उनकी ग्रहण-शक्ति,—जो कि, यदि गुह्य साक्ष्यपर विश्वास किया जाय, रहती तो है,—मूक रूपसे ग्रहण और अदृश्य रूपसे प्रतिक्रिया करनेके अतिरिक्त कुछ और करनेको पर्याप्त रूपसे जागृत नही हुई रहती, और अंशतः यह होता है कि उन संपर्कों द्वारा सचारित ऊर्जाएँ इतनी अधिक सूक्ष्म होती हैं कि जड़ विग्रहका स्थूल और निष्प्राण घनत्व उनका उपयोग नही कर सकता। वृक्षमें प्राण अपनी जड़ देह द्वारा निर्दिष्ट होता है, परंतु वह जड़ सत्ताको ऊपर उठाता और उसे एक नया मूल्य या मूल्योंका नया तंत्र—प्राण-मूल्य—प्रदान करता है।

पशु-प्राणीमें मन और इन्द्रियका प्राकट्य होता है जिसे हम चेतन जीवन कहते हैं; इसकी ओर संक्रमण उसी रीतिसे संपादित होता है। सत्ताकी शक्ति इतनी तीव्र कर दी जाती है, वह इतनी ऊँचाईतक उठ जाती है कि वह जीवनके एक नये तत्त्वको प्रवेश दे सकती या विकसित कर सकती है,—यह तत्त्व, कमसेकम जड़ जगत्में तो प्रतीयमान रूपसे नया होता है,—यह है मानसता। पशु-प्राणीको अस्तित्वकी, अपने और दूसरोंके अस्तित्वकी मानसिक संवित् होती है, वह क्रियाकलापकी एक उच्चतर और सूक्ष्मतर श्रेणीको व्यक्त करता है, अपने रूपसे भिन्न अन्य

रूपोंके मानसिक, प्राणिक और दैहिक संपर्कोंको एक विशालतर प्रांतसे पाता है, अन्नमयी और प्राणमयी सत्ताको ऊपर उठाता और उनसे जो कुछ पा सकता है उसे ऐंद्रिय मूल्यों और प्राणिक मनके मूल्योंमें परिणत करता है। उसे शरीरका बोध होता है, उसे प्राणका बोध होता है, पर उसे मनका भी बोध होता है; कारण, उसकी केवल अंधी स्नायविक प्रतिक्रियाएँ नहीं होतीं, वरन् उसमें चेतन संवेदन, स्मृतियाँ, अंतर्वेग, इच्छा-प्रवृत्तियाँ, भावावेग, मानसिक संस्कार रहते हैं, उसमें भावना, विचार और इच्छाका उपादान रहता है। उसमें एक व्यावहारिक बुद्धि भी होती है जो स्मृति, संस्कार, उद्दीपक आवश्यकता और प्रेक्षणपर और तदबीरकी क्षमतापर आधारित होती है; उसमें चतुराई, दाँवपेंच और योजनाका सामर्थ्य रहता है; वह आविष्कार कर सकता है, कुछ दूरीतक अपने आविष्कारोंको परिवर्त्तित कर सकता है, किसी किसी ब्योरेमें नयी परिस्थितियोंकी माँग पूरी कर सकता है। उसमें सब कुछ अर्ध-चेतन सहजप्रवृत्ति ही नहीं है; पशु मानवीय बुद्धिकी तैयारी है।

परंतु जब हम मनुष्यपर आते हैं तो सारी चीजको चेतन बनती पाते हैं; वह जिस जगत्का संक्षिप्त संस्करण है, वह उसके सामने अपना स्वरूप प्रगट करने लगता है। निम्नतम कोटिके पशु अभी भी प्रधानतया या लगभग निद्राचर है, परंतु उच्चतर पशु निद्राचर नहीं; किंतु उसमें मन तो सीमित रूपसे ही जागता है, उसकी प्राणिक सत्ताके लिये जो आवश्यक है वह केवल उसीके लिये समर्थ है: मनुष्यमें सचेतन मानसता अपनी सजगताको विस्तृत करती है, और यद्यपि वह आरंभमें पूरी आत्म-चेतन नहीं होती, यद्यपि वह तब भी बाह्य तलपर ही चेतन होती है, तथापि वह मनुष्यकी आंतरिक तथा समग्र सत्ताकी ओर अधिकाधिक उन्मीलित हो सकती है। जैसा कि नीचेके दो आरोहणोंमें हुआ था, यहाँ भी चेतन अस्तित्वकी शक्तिका एक नये वीर्य और सूक्ष्म क्रियाओंके एक नये प्रसारकी ओर उत्थान होता है; प्राणिक मनसे विचारशील और मननशील मनकी ओर संक्रमण होता है, प्रक्रिया और परिणामके प्रति चेतन रहकर प्रेक्षण और नये आविष्कारकी, दत्त सामग्रीको हाथमें लेने और संबद्ध करनेकी उच्चतर क्षमताका विकास होता है, कल्पना और सौन्दर्यबोधी सृजनकी शक्ति होती है, एक उच्चतर अधिक नमनीय संवेदनशीलता होती है, सहयोजनकारी और व्याख्याकारी बुद्धि होती है, मात्र प्रतिवर्त्ती या प्रतिक्रियात्मक बुद्धिके बदले अधिकार प्राप्त करती;

समझती, अपने-आपको पृथक् करती बुद्धिके मूल्य आते हैं। जैसे नीचेके आरोहणोंमें हुआ था, वैसे ही यहाँ चेतनाके परासका विस्तरण भी होता है; मनुष्य जगत्का और अपने-आपका अधिक अंश ग्रहण करने और साथ ही इस ज्ञानको चेतन अनुभवके उच्चतर और संपूर्णतर आकार देनेमें भी सक्षम होता है। इसी भाँति, यहाँ आरोहणका तीसरा नियत तत्त्व भी है; मन निम्नतर श्रेणियोंको ऊपर उठाता और उनकी क्रिया तथा प्रतिक्रियाको बौद्धिक मूल्य प्रदान करता है। मनुष्यमें पशुकी तरह केवल अपने शरीर और प्राणका बोध ही नहीं, प्राणके संबंधमें बुद्धिदीप्त बोध और भाव भी है और शरीरको वह सचेतन रूपसे और प्रेक्षक होकर देखता है। मनुष्य पशुके स्थूल और शारीरिक जीवनके साथ साथ उसके मानसिक जीवनको भी ऊपर उठाता है, इस प्रक्रियामें यद्यपि कुछ खो जाता है, तथापि जिसे वह संरक्षित रखता है उसे वह एक उच्चतर मूल्य देता है; उसमें अपने संवेदनों, भावावेगों, इच्छा-प्रवृत्तियों, अंतर्वेगों, मानसिक संस्कारोंका बुद्धिदीप्त बोध और भाव होता है; जो विचार, भावना और इच्छाका स्थूल उपादान था, केवल स्थूल निर्देश-नाओंके लिये समर्थ था, उसे वह इन चीजोंकी निष्पन्नता और कलाकारिता-के रूपोंमें परिणत करता है। कारण, पशु भी विचार तो करता है, परंतु स्वयंक्रिय रूपसे ही, स्मृतियों और मानसिक संस्कारोंकी यांत्रिक धारापर आधारित रहता हुआ, प्रकृतिके सुझावोंको शीघ्रता या धीमेसे स्वीकार करता हुआ ही करता है और अधिक चेतन व्यक्तिगत क्रियाके लिये केवल तब जागता है जब निकट प्रेक्षणकी और तदबीर निकालनेकी आवश्यकता होती है; उसमें व्यावहारिक बुद्धिका कोई आरंभिक स्थूल उपादान रहता है, परंतु गठित विचारशील और मननशील क्षमता नहीं होती। पशुमें जागती चेतना मनका अनिपुण प्रारंभिक कारीगर है, मनुष्यमें वह निपुण शिल्पी है और वह केवल कलावंत ही नहीं, वरन् दक्ष और सिद्धहस्त भी हो जा सकती है,—परंतु इसके लिये मनुष्य यथेष्ट प्रयत्न नहीं करता।

परंतु यह मानव-विकास वर्तमानमें उच्चतम विकास है और इसकी दो विशेषताओंको हमें यहाँ देख लेना चाहिये जिनसे हम विषयके मर्मपर पहुँचते हैं। पहली यह है कि जीवनके निम्नतर अंगोंका यह ऊपर उठाया जाना इस भाँति प्रकट होता है कि व्यक्तिमें विकसित होता गुप्त आत्मा या विश्वपुरुष जिस ऊँचाई पर पहुँच चुका है, वहाँसे वह अपनी

प्रभुतामयी दृष्टिको—और वह दृष्टि पुरुषकी चित्शक्तिकी द्वैध या युग्म-शक्तिकी, इच्छाशक्ति और ज्ञान-शक्तिकी दृष्टि होती है,—उस सबपर डालता है जो अब उसके नीचे रह रहा है, जिससे वह निम्नतर जीवन और उसकी संभावनाओंको चेतना, अनुभूति और प्रकृतिके इस नये, भिन्न और विशालतर प्रदेशसे समझे और उसे भी एक उच्चतर स्तरपर उठा ले जाय, उसे उच्चतर मूल्य देवे, उसमेंसे उच्चतर शक्यताओंको बाहर निकाल लाय। और ऐसा वह इसलिये करता है कि स्पष्ट ही उसका अभिप्राय उसे मार डालने या नष्ट करनेका नहीं होता, वरन् चूँकि अस्तित्वका आनंद उसका नित्य व्यवसाय है और विविध सुरोंकी संगति, न कि कोई मधुर परंतु एकाकी रागिनी, उसकी संगीत-पद्धति, अतः वह निम्नतर सुरोंको भी सम्मिलित करना चाहता है और अधिक अमार्जित रूपायणमें जिस आनंदको पाना संभव था, उससे अधिक आनंद वह उनमें एक गभीरतर और सूक्ष्मतर तात्पर्यको भरकर उनसे पाना चाहता है। फिर भी, वह अपनी स्वीकृति कायम रखे, इसके लिये अंतमें वह उनपर यह शर्त लगाता है कि वे उच्चतर मूल्योंको माननेको सहमत हों, और जबतक वे सहमत नही हो जाते, वह यदि पूर्णताके लिये तुला हो और वे विद्रोही रह रहे हों तो उनके साथ पर्याप्त कड़ाईसे व्यवहार कर सकता, यहाँतक कि उन्हें पैरों तले रौंद दे सकता है। और वस्तुतः यही शीलाचार, आत्म-निग्रह और एकाग्र संयमका सच्चा अंतरतम तात्पर्य और लक्ष्य है; यह है प्राणिक, दैहिक और निम्नतर मानसिक जीवनको शिक्षित और वशीभूत करना, उन्हें विकलांग और नष्ट कर देना नहीं, वरन् उपयुक्त उपकरण होनेके लिये शुद्ध और तैयार करना जिससे वे उच्चतर मानसिक और अंततया अतिमानसिक सामंजस्यके सुरोंमें रूपांतरित हो जायँ। आरोहण प्रथम आवश्यकता है, परंतु साथ ही साथ समाकलन भी प्रकृति-स्थ पुरुषका अभिप्राय है।

ज्ञान और इच्छाका यह नीचेकी ओर देखना, जिससे एक सर्वतोमुखी उच्चता, गभीरता और सूक्ष्मतर, सुंदरतर तथा समृद्धतर तीव्रता संपादित हो, आरंभसे ही अंतर्गूढ़ 'अध्यात्म-पुरुष'की रीति है। उद्भिद्-आत्माकी, हम ऐसा कह सकते हैं, अपनी सारी स्थूल सत्ताके प्रति एक स्नायविक-भौतिक दृष्टि होती है जिससे वह उसमेंसे यथासंभव सारी प्राणिक-शारीरिक तीव्रताका आस्वादन कर सके; कारण, ऐसा लगता है कि उसके अंदर एक मूक प्राण-स्पंदनकी कुछ तीव्र उत्तेजनाएँ होती हैं,—

और, यद्यपि हमारे लिये यह कल्पना करना कठिन है, शायद यह तीव्रता उसके निम्नतर आरंभिक स्तरको देखते हुए, पशुका मन और शरीर अपने ऊर्ध्वतर और सबलतर स्तरमें जितनी तीव्रता सहन कर सकते हैं उससे सापेक्षतया अधिक होती है। पशु-प्राणी अपनी प्राणिक और दैहिक सत्ताके प्रति मनोवासित इन्द्रिय-दृष्टि रखता है जिससे वह यथासंभव सारा ऐन्द्रिय मूल्य पाता है, मनुष्यके संवेदनों या ऐन्द्रिय भावावेगोंको या उसकी प्राणिक कामना और सुखकी तृप्तिको देखा जाय तो पशुकी यह प्राप्ति अनेक दिशाओंमें मनुष्यकी अपेक्षा तीक्ष्णतर होती है। इच्छा और बुद्धिकी भूमिसे नीचेकी ओर देखता मनुष्य इन निम्नतर तीव्रताओंका परित्याग करता है, परंतु ऐसा वह मन, प्राण तथा इन्द्रियसे अन्य मूल्योंकी एक उच्चतर तीव्रताकी प्राप्तिके लिये करता है जिन्हें वह बौद्धिक, सौन्दर्यरसिक, नैतिक, आध्यात्मिक, मनसा क्रियाशील या व्यावहारिक कहता है; इन उच्चतर तत्त्वों द्वारा वह जीवन-मूल्योंके उपयोगको विस्तृत, सूक्ष्म और उन्नीत करता है। पशु-प्रतिक्रियाओं और पशु-भोगोंको वह त्याग नहीं देता, वरन् उन्हें अधिक स्वच्छ, परिष्कृत और संवेदनशील रूपसे मनोधर्मी कर देता है। ऐसा वह अपने सामान्य और अपने निम्नतर स्तरोंपर भी करता है, परंतु, जैसे-जैसे वह विकसित होता है, वह अपनी निम्नतर सत्ताको अधिक कड़े मानदंडके नीचे लाता है, उससे रूपांतर-जैसी किसी चीजकी मांग यह कहते हुए करता है कि नहीं तो वह उसका त्याग कर देगा: जो आध्यात्मिक जीवन फिर भी उससे आगे है उसकी तैयारीके लिये मनकी यही रीति है।

परंतु मनुष्य जब अपने उच्चतर स्तरपर पहुँचता है तो अपनी दृष्टिको केवल नीचेकी ओर और अपने चारों ओर ही नहीं, ऊपरकी दिशामें उसकी ओर भी घुमाता है जो उससे ऊपर है और अंदरकी दिशामें उसकी ओर भी जो उसके अंतरमें गुह्य है। मनुष्यमें क्रमविकास-गत विश्वपुरुषकी केवल नीचेकी ओरकी दृष्टि ही सचेतन नहीं हुई है, उसकी चेतन ऊर्ध्वमुखी और अंतर्मुखी दृष्टि भी विकसित होती है। पशु इस तरह रहता है मानों प्रकृतिने उसके लिये जो कुछ किया है उससे वह संतुष्ट हो; यदि उसकी पशु-सत्तामें गुह्य अध्यात्म-पुरुषकी कोई ऊर्ध्वमुखी दृष्टि हो भी तो उसका उससे कोई सचेतन संबंध नहीं होता, वह तब भी प्रकृतिका ही धंधा है: यह तो मनुष्य ही प्रथम होता है जो इस ऊर्ध्वमुखी दृष्टिको सचेतन रूपसे अपना धंधा बना लेता है।

कारण, मनुष्यको बुद्धिदीप्त इच्छा प्राप्त रहनेके कारण, जो विज्ञानकी विकृत किरण ही क्यों न हो, वह सच्चिदानंदके युगल-स्वभावको धारण करना आरंभ कर देता है; वह, पशुकी भाँति, संपूर्णतया प्रकृति द्वारा चालित अविकसित चेतन सत्ता नहीं रह जाता, कार्यकारिणी शक्तिका दास, प्रकृतिकी यांत्रिक ऊर्जाओंका खिलौना नहीं रह जाता, वरन् वह एक विकसनशील चेतन जीव या पुरुष होने लग गया है जो, जो कभी प्रकृतिका स्वैर व्यवसाय था उसमें हस्तक्षेप करता है, उसमें अपनी बात भी रखनी चाहता और अंततः उसका स्वामी होना चाहता है। ऐसा वह अभी तक कर नहीं पाता, वह उसके जालोंमें अत्यधिक फँसा है, उसके स्थापित यंत्रशासनमें अत्यधिक अंतर्ग्रस्त है: परंतु वह अनुभव करता है,—यद्यपि अभी भी अत्यधिक अस्पष्टता तथा अनिश्चितिके साथ ही,—कि उसके अंदरकी अध्यात्म-सत्ता उसका और भी ऊँचे शिखरोंपर उठना चाहती है, अपने प्रदेशोंका विस्तार चाहती है; उसके अंदर ऐसा कुछ है, ऐसा गुह्य कुछ है जो जानता है कि उसकी वर्तमान निचाई और सीमाओंसे तुष्ट रहना गभीरतर चेतन पुरुष-प्रकृतिका अभिप्राय नहीं। मनुष्य जब पृथ्वीके भौतिक और प्राणमय जगत्में अपने लिये स्थान बना लेता है और उसे अपनी आगेकी संभावनाओंपर विचार करनेका थोड़ा अवकाश मिल जाता है, त्योंही उसका स्वाभाविक अंतर्वेग सदैव होता है उच्चतर शिखरोंकी ओर आरोहणके लिये, अधिक विस्तृत प्रसारके लिये, अपनी निम्नतर प्रकृतिके रूपांतरके लिये। अवश्य ही यह इस कारण नहीं होता कि उसमें कोई मिथ्या और दयनीय कल्पनात्मक भ्रम रहता हो, वरन् प्रथमतः इसलिये कि वह अपूर्ण मनोमय जीव है जो अभी भी विकसित हो रहा है और उसे अधिक विकासके लिये, पूर्णताके लिये प्रयास करना होगा, और इससे भी अधिक, इसलिये कि अन्य पार्थिव जीवोंसे भिन्नतया उसमें यह सामर्थ्य है कि वह, जो मनसे गभीरतर है उसके प्रति संविद् हो, अपने अंतरके आत्माके प्रति, जो मनके ऊपर है उसके प्रति, अतिमानसके प्रति, अध्यात्म-सत्ताके प्रति संविद् हो, उसकी ओर उन्मीलित हो, उसे प्रवेश दे, उसकी ओर उठे, उसे हस्तगत करे। यह उसकी मानव-प्रकृतिमें है, सारी मानव-प्रकृतिमें ही है कि वह चेतन विकास द्वारा अपने-आपका अतिक्रमण करे, वह जो कुछ है उससे आगे बढ़ जाय। केवल व्यक्तियोंके लिये ही नहीं, समय पाकर यदि जातिमें पर्याप्त इच्छाका विकास हो जाय तो जातिके लिये,—उसके सकल

व्यक्तियोंके लिये नहीं भी सही तो जातीय सत्ता और जीवनकी सामान्य धाराके लिये ही,—यह आशा की जा सकती है कि वह हमारी वर्त्तमान बहुत ही अदिव्य प्रकृतिकी अपूर्णताओंसे ऊपर उठ जाय और, कमसे कम, एक श्रेष्ठतर मानवतामें आरोहण कर जाय, यदि दिव्य मानवता या अतिमानवतातक पूर्णतया नहीं भी पहुँच सके तो उसके समीपतर तो उत्थित हो ही जाय। जो कुछ भी हो, उसके अंदर क्रमविकासिनी प्रकृति उसे बाध्य करती है कि वह अपना ऊर्ध्वमुख विकास करे, आदर्शका निर्माण करे, प्रयास करे।

परंतु स्वातिक्रमणके द्वारा क्रमविकसनशील सत्ताकी आत्म-संभूतिके संपादनकी सीमा कहाँ पर है? स्वयं मनमें इस धाराक्रमकी श्रेणियाँ होती हैं, और फिर प्रत्येक श्रेणी अपने-आपमें एक एक धाराक्रम होती है; एकके बाद एक उच्चतर भूमियाँ आती हैं जिन्हें हम सुविधासे मनश्चेतना और मनोमयी सत्ताके स्तर और उपस्तर कह सकते हैं। हमारी मनोमयी सत्ताका विकास प्रधानतया इसी सोपानपर चढ़ना है, हम उनमेंसे किसीपर भी खड़े हो सकते और साथ ही नीचेकी भूमिकाओं-पर एक निर्भरता भी बनायी रख सकते और यह सामर्थ्य भी रख सकते हैं कि यदाकदा उच्चतर स्तरोंपर आरोहण कर जायँ या अपनी सत्ताके श्रेष्ठतर स्तरोंसे आते प्रभावोंके प्रति उन्मीलित हों। वर्तमानमें हम अभी भी अपना प्रथम सुरक्षित आसन सामान्यतया बुद्धिके सबसे नीचेके उपस्तरपर लगाते हैं जिसे हम स्थूल-मनोमय कह सकते हैं, कारण, उस भूमिकी बुद्धि अपने तथ्य-प्रमाण और वास्तवता-बोधके लिये स्थूल मस्तिष्क, स्थूल इन्द्रियमानस और स्थूल इन्द्रियोंपर निर्भर करती है; वहाँ हम वह अन्नमय मानव है जो बहिर्व्यक्त वस्तुओंको और अपने बाह्य जीवनको अधिकतम महत्त्व देता है, जिसमें आत्मनिष्ठ या आंतरिक सत्ताकी तीव्रता स्वल्प होती है और जो कुछ होती भी है उसे वह बाह्य वास्तवताके महत्तर दावोंके नीचे गौण कर देता है। अन्नमय मनुष्यका एक प्राणमय भाग होता है, किंतु वह प्रधानतया अवचेतनासे उन्मज्जित होती प्राण-चेतनाकी क्षुद्रता, सहज प्रवृत्तियों और आवेगोंसे जनित रचनाओंसे बना होता है, साथमें उन संवेदनों, कामनाओं, आशाओं, अनुभवों और तुष्टियोंका गतानुगतिक समूह या चक्कर होता है जो बाह्य वस्तुओं और बाह्य संपर्कोंपर निर्भर करते है और जो व्यावहारिक है, सद्यःसाध्य और संभव है, अभ्यासगत है, मामूली और औसत है, उसीसे संबंध रखते हैं। उसका

एक मनोमय भाग भी होता है, परंतु वह भी गतानुगतिक, पारंपरिक, व्यावहारिक, वहिर्मुख होता है, और जो कुछ मनके प्रदेशका है उसका सम्मान अधिकांशतया वह अपनी दैहिक और संवेदनात्मक सत्ताके आश्रय, आराम, उपयोग, तुष्टि और विनोदके लिये उपयोगी होनेके रूपमें ही करता है। कारण, स्थूल मन जड़ और जड़-जगत्को, शरीर और शारीरिक जीवनको, इन्द्रियानुभव और एक प्राकृत व्यावहारिक मानसता और उसके अनुभवको भित्ति वनाकर खड़ा होता है। जो कुछ इस श्रेणीका नहीं, उसे स्थूल मन वाह्य ऐन्द्रिय मानसतापर निर्भरशील एक सीमित अधिरचनाकी तरह निर्मित करता है। इतना होनेपर भी, वह जीवनकी इन उच्चतर अंतर्वस्तुओंको कल्पनाओं, भावनाओं और विचार-अमूर्तताओंके या तो सहायक अनुषंगियों या निरर्थक परंतु सुखद विलासके रूपमें देखता है, न कि आंतरिक वास्तवताओंके रूपमें; या, यदि वह उन्हें वास्तवताओंकी नाईं लेता भी है तो उन्हें उनकी अपनी स्वरूप-धातुमें ठोस और वस्तुरूपमें नहीं देखता, क्योंकि उनकी स्वरूप-धातु स्थूल धातु और उसके स्थूल ठोसत्वकी अपेक्षा सूक्ष्मतर होती है—उन्हें वह स्थूल वास्तवताओंमेंसे एक विषयिपरक, कम सारवान् विस्तरणके रूपमें लेता है। यह अनिवार्य है कि मानव-जीव जड़तत्त्वको ही इस भाँति अपना प्रथम आधार बनाय और वाह्य तथ्य तथा वाह्य सत्ताको उसका उचित महत्त्व देवे; कारण, हमारे जीवनके लिये यह प्रकृतिकी प्रथम व्यवस्था है जिसके लिये उसका बहुत आग्रह होता है: प्रकृति हमारे अंदर अन्नमय मानवपर जो इतना वल देती है और जगत्में उसकी प्रचुर संख्या-वृद्धि करती है, वह इसलिये कि जब वह अपने उच्चतर मानवीय विकासोंका प्रयत्न करती है उस समय अन्नमय मानव उस सुरक्षित, भले ही कुछ निश्चेष्ट, भौतिक आधारके संरक्षणके लिये एक शक्ति होता है जिसपर वह टिकी रह सके: परंतु इस मानसिक रूपायणमें प्रगतिके लिये शक्ति नहीं होती या केवल भौतिक प्रगतिके लिये होती है। यह हमारे मनकी प्रथम भूमि है, परंतु मनोमय पुरुष मानव-विकासक्रमके सोपानकी इस सबसे नीचेकी सीढ़ीपर सदा नहीं पड़ा रह सकता।

स्थूल मनसे ऊपर और स्थूल संवेदनकी अपेक्षा अधिक गहरे अंतरमें वह है जिसे हम प्राणात्मक मनकी वुद्धि कह सकते हैं, जो क्रियात्मक, प्राणिक, स्नायविक है और चैत्यकी ओर, यद्यपि फिर भी धूमिल रूपसे ही, अधिक-

उन्मीलित है, एक प्राथमिक आंतरात्मिक रूपायणके लिये, यद्यपि अपेक्षाकृत अधिक तमोवृत प्राण-पुरुषके ही रूपायणके लिये, समर्थ है,—यह रूपायण चैत्य पुरुषका नहीं, अपितु प्राण-पुरुषके एक सामनेके भागका होता है। इस प्राण-पुरुषको प्राण-जगत्की वस्तुओंका बोध और संपर्क ठोस रूपमें होता है और वह उन्हें यहाँ सिद्ध करनेका प्रयत्न करता है; वह प्राण-सत्ता, प्राण-शक्ति, प्राण-प्रकृतिकी तुष्टि और परिपूर्तिको विपुल महत्व देता है: भौतिक जीवनको वह प्राणके अंतर्वेगोंकी आत्म-परिपूर्तिके लिये, आकांक्षा, शक्ति, सबल चरित्र, प्रेम, आवेश, साहसिकताकी क्रीड़ाके लिये, व्यक्तिगत, समाजगत, मानवजातिगत तलाश, साहस और दुस्साहसके लिये, सब प्रकारके जीवन-परीक्षण और नये जीवानुभवके लिये, क्षेत्रके रूपमें देखता है, और इस रक्षक तत्त्वके बिना, इस श्रेष्ठतर शक्ति, अभिरुचि और सार्थक्यके बिना, भौतिक जीवनका उसके लिये कोई मूल्य नहीं रह जाता। इस प्राणमय मनको हमारे प्रच्छन्न अवगूढ़ प्राण-पुरुषका अवलंब मिलता और प्राण-जगत्के साथ उसका अवगुंठित संपर्क रहता है, उस जगत्की ओर वह आसानीसे उन्मीलित हो सकता है और इस भाँति वह भौतिक विश्वके पीछे अदृश्य सक्रिय शक्तियों और वास्तवताओंका अनुभव कर सकता है। एक आंतरिक प्राणात्मक मन होता है जिसे अपने अनुभवोंके लिये स्थूल इन्द्रियोंकी आवश्यकता नहीं होती, वह उन इन्द्रियोंके द्वारा सीमित नहीं होता; कारण, इस स्तरपर, हमारा अपना आंतरिक प्राण और जगत्का आंतरिक प्राण हमारे लिये शरीरसे और स्थूल जगत्के प्रतीकोंसे स्वतंत्र रूपमें वास्तव हो जाते हैं, जबकि केवल शरीरको और स्थूल जगत्के प्रतीकोंको प्राकृतिक व्यापार कहा जाता है मानों प्रकृतिमें स्थूल जड़-तत्त्वके व्यापारों और वास्तवताओंकी अपेक्षा कोई श्रेष्ठतर व्यापार और श्रेष्ठतर वास्तविकताएँ नहीं होतीं। प्राणात्मक मनुष्य, इन प्रभावोंसे सचेतन या अचेतन रूपसे गढ़ा जाकर, कामना और संवेदनमय मनुष्य, शक्ति और कर्ममय मनुष्य, आवेग और भावोच्छ्वासमय मनुष्य, राजसिक व्यक्ति होता है: भौतिक सत्तापर वह बहुत बल दे सकता है और देता भी है, परंतु उसकी वर्तमान वास्तविकताओंके साथ अत्यंत संलग्न रहकर भी, उसे वह प्राणानुभवके लिये, सिद्धिकारिणी शक्तिके लिये, प्राण-विस्तारके लिये, प्राण-बलके लिये, प्राण-प्रतिष्ठापन और प्राण-वर्द्धनके लिये धक्का लगता है जो सत्ताके वर्द्धनकी ओर प्रकृतिका प्रथम प्रेरण है; इस प्राणिक प्रेरणकी उच्चतम तीव्रताकी अवस्थामें वह

सीमाओंको तोड़नेवाला, नये क्षितिजोंका खोजी, भविष्यके प्रयोजनके लिये भूत और वर्तमानमें खलल डालनेवाला हो जाता है। उसका एक मनोजीवन होता है जो प्रायः प्राणिक शक्ति और उसकी कामनाओं तथा आवेशोंका दास हो जाता है, और वह उन्हें ही मन द्वारा तुष्ट करना चाहता है: परंतु जब वह मानसिक वस्तुओंमें सबल रुचि लेने लगता है तब वह मानसिक अभियानी हो जा सकता है, नयी मानसिक रचनाओं-का मार्ग खोलनेवाला या किसी विचारके लिये लड़नेवाला हो जा सकता है, संवेदनशील प्रकारका कलाकार, जीवनका प्राणवंत कवि या किसी व्रतका पैगम्बर या हिमायती हो जा सकता है। प्राणमय मन क्रिया-मुख होता है, अतएव वह क्रमवैकासिकी प्रकृतिकी क्रियामें एक बड़ी शक्ति है।

प्राणमय मनके इस स्तरसे ऊपर और फिर भी अधिक अंतरमें विस्तृत एक मनोमयी भूमि शुद्ध विचार और बुद्धिकी है; उसके लिये मनाजगत्की वस्तुएँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण वास्तवताएँ हैं। हैं। जो उसके प्रभावमें हैं,—दार्शनिक, विचारक, वैज्ञानिक, बौद्धिक स्रष्टा, भाव-विशारद, वाणी-विशारद, आदर्शवादी और स्वप्नद्रष्टा,—वे वर्तमानमें मनोमय जीवकी प्राप्त उच्चतम चोटी हैं। इस मनोमय मनुष्यका अपना प्राणिक अंग होता है, उसका आवेश, कामना, आकांक्षा और सब प्रकारकी जीवन-आशाओंका प्राणिक जीवन है, और उसका निम्नतर संवेदनात्मक तथा दैहिक जीवन भी होता है, और यह निम्नतर अंग प्रायः उसके उच्चतर मनोमय तत्त्वके जितना या उससे अधिक भारी हो जाता है; फलस्वरूप, वह मन उसका उच्चतम अंश होकर भी उसकी सारी प्रकृतिका प्रधान और रूपकार नहीं हो पाता: परंतु उसके महत्तम विकासकी अवस्थाका यह प्रकार नहीं होता, कारण, उसमें प्राणमयी और अन्नमयी सत्तापर विचारशीला इच्छा एवं बुद्धिका नियंत्रण और अधिकार होता है। मनोमय मनुष्य अपनी प्रकृतिको रूपांतरित तो नहीं, परंतु नियंत्रित कर सकता है, उसमें सामंजस्य स्थापित कर सकता है, उसपर एक मानसिक आदर्शका विधान लागू कर सकता है, एक संतुलन या एक उन्नयनकारी और परिमार्जनकारी प्रभाव डाल सकता है, और हमारी विभक्त तथा अर्ध-निर्मित सत्ताकी बहुव्यक्तिक उलझन और संघर्ष या सरसरी जोड़-जाड़की व्यवस्थामें एक उच्च संगति ले आ सकता है। वह अपने मन और अपने प्राणका प्रेक्षक और नियंता हो सकता है, अचेतन रूपसे

उनका विकास कर सकता है और उस दूरीतक आत्म-स्रष्टा हो जा सकता है।

इस शुद्ध बुद्धिसे युक्त मनके पीछे हमारा आंतरिक या अवगूढ़ मन रहता है जिसे मनोभूमिकी सारी वस्तुओंका साक्षात् बोध होता है; वह मनोशक्तियोंके जगत्की क्रियाकी ओर खुला रहता है, भावमूलक तथा अन्य ऐसे अति सूक्ष्म प्रभावोंका अनुभव कर सकता है जो भौतिक जगत् और प्राण-भूमिपर क्रिया करते हैं परंतु वर्तमानमें जिनका हम अनुमान ही कर सकते हैं, साक्षात् अनुभव नहीं: ये अस्पृश्य और अति सूक्ष्म प्रभाव मनोमय मानवके लिये वास्तव और सुस्पष्ट होते हैं और उन्हें वह ऐसे सत्योंके रूपमें देखता है जो हमारी या पृथ्वीकी प्रकृतिमें मूर्त होनेकी मांग करते हैं। आंतरिक भूमिपर मन और मनःआत्मा शरीरसे स्वतंत्र रहकर हमारे लिये संपूर्ण वास्तवता बन जा सकते हैं और हम उनमें उतने सचेतन रूपसे निवास कर सकते हैं जैसे शरीरमें। अस्तु, मन और मनकी वस्तुओंमें निवास करना, प्राणरूप और शरीररूप होनेकी उपेक्षा बुद्धिरूप होना, प्रकृतिके सोपानमें, आध्यात्मिकतासे नीचे हमारी उच्चतम स्थिति है। मनोमय मनुष्य, आत्म-प्रभु और आत्म-स्रष्टा मन तथा इच्छासे संपन्न मनुष्य, किसी आदर्शके प्रति सचेतन और उसकी सिद्धिकी ओर अभिमुख मनुष्य, उच्च बुद्धिशाली मानव, विचारक, मुनि, कर्म तथा क्षिप्र बाह्य जीवन-परिपूर्तिके प्राणिक मनुष्यकी अपेक्षा कम क्रियाशील और तत्काल कम प्रभावकारी, परंतु जातिके लिये नये प्रदेश खोलनेमें समान रूपसे, और अंततया अधिक सशक्त भी,—यही मानव-स्तरपर प्रकृतिकी क्रमवैकासिकी रचनाकी सामान्य चोटी है। मानसताकी ये तीन श्रेणियाँ, जो अपने-आपमें स्पष्ट हैं, परंतु हमारे संघटनमें बहुत प्रायः मिश्रित रहती हैं, हमारी सामान्य बुद्धिके लिये केवल मानसिक प्ररूप हैं जिनका विकास बस घटित हो गया है, और हमें उनमें कोई अन्य अर्थ नहीं दिखाई देता; परंतु वास्तवमें, उनमें अर्थ भरा पड़ा है, कारण वे वे पैड़ियाँ होती है जिनके द्वारा प्रकृति क्रम-विकासमें मनोमयी सत्ताको उसके स्वातिक्रमणकी ओर ले जाती है, और जैसे वर्तमानमें विचारशील मन उसके लिये गम्य पैड़ियोंमें सबसे ऊँची है, पूर्णसिद्ध मनोमय मनुष्य उसके सामान्य मानव-जीवोंमें विरलतम और उच्चतम है। इससे आगे जानेके लिये प्रकृतिको आध्यात्मिक तत्त्वको मनके अंदर ले आना और मन, प्राण तथा शरीरमें सक्रिय कर देना होगा।

कारण, ये सब प्रकृतिकी क्रमवैकासिक आकृतियाँ हैं जिनका निर्माण वहिस्तलकी मानसतामें किया गया है। इससे अधिक करनेके लिये उसे हमारे वहिस्तलके नीचे छिपी हुई अदृश्य सामग्रीका अधिक प्रचुर उपयोग करना होगा, अंतरमें अवगाहन करना और निगूढ़ अंतरात्माको, चैत्य-पुरुषको वाहर लाना होगा, या आरोहण करके अपने प्राकृत मनोस्तरसे ऊपर संबोधिचेतनाके लोकोंमें जाना होगा जो आध्यात्मिक विज्ञानसे निर्गत ज्योतिसे घनीभूत हैं, शुद्ध आध्यात्मिक मनके ऊर्ध्वक्रमिक लोकोंमें जाना होगा जिनमें हमारा अनंतसे सीधा संपर्क, सवके आत्मा और सबके उच्चतम तत्त्व सच्चिदानंदसे संस्पर्श होता है। स्वयं हमारे अंदर, हमारी वाह्य प्राकृत सत्ताके पीछे एक अंतरात्मा है, एक आंतरिक मन है, एक आंतरिक प्राणमय अंग है जो हमारे अंदरकी गुह्य अध्यात्म-सत्ता और इन ऊँचाइयों, दोनोंकी ओर खुल सकता है, और यह द्विदलीय उन्मीलन एक नये क्रमविकासका रहस्य है; आच्छादनों, दीवारों और सीमाओंको इस भाँति तोड़कर चेतना एक महत्तर आरोहण और एक व्यापकतर समाकलनकी ओर ऊपर उठती है; यह आरोहण और समाकलन, जैसे मनके विकासक्रमने हमारी प्रकृतिकी सारी शक्तियोंको मनोमयी कर दिया है, इस नये क्रमविकास द्वारा उन्हें अध्यात्ममयी कर देगा। कारण, यद्यपि सामान्यतया मनोमय मनुष्य अपने स्वभावमें उन लोगोंकी अपेक्षा अधिक पूरी तरह विकसित हुआ है जो अपने-आपको उससे नीचे निष्पन्न करके रह गये हैं या जिन्होंने उससे ऊपरकी अभीप्सा की है, तथापि वह प्रकृतिका अंतिम प्रयत्न या उसकी यात्राकी चोटी नहीं रहा है; प्रकृतिने मनुष्यको एक और भी उच्चतर तथा अधिक कठिन स्तरकी ओर इंगित किया है, उसे एक आध्यात्मिक जीवनके आदर्शसे प्रेरित किया है, उसमें एक आध्यात्मिक सत्ताके क्रमविकासका आरंभ किया है। आध्यात्मिक मनुष्य ही मानव-सृष्टिमें प्रकृतिका सर्वोच्च अविसामान्य प्रयत्न है; कारण, मनोमय स्रष्टा, विचारक और मुनिका, आदर्शके पैगंवरका, आत्म-नियंत्रित, आत्मानुशासित और समंजस्यपूर्ण मनोमय जीवका विकास कर चुकनेपर प्रकृतिने अधिक ऊपरकी ओर और अंदरकी अधिक गहराईमें जाने और अंतरात्मा, आंतरिक मन तथा हृदयको पुरोभागमें आनेके लिये आह्वान करने, ऊपरसे आध्यात्मिक मन, उच्चतर मन और अधिमानसकी शक्तियोंके अवतरणके लिये आह्वान करने और उनके प्रकाशमें और उनके प्रभावसे आध्यात्मिक मुनि, द्रष्टा, पैगंवर, ईश्वर-

प्रेमी, योगी, विज्ञानी, सूफी और रहस्यवेत्ताका सर्जन करनेका प्रयत्न किया है।

यही मनुष्यके लिये सच्चे स्वातिक्रमणका एकमात्र मार्ग है: कारण, हम जबतक बाह्य सत्तामें रहते अथवा सम्पूर्णतया जड़पर अधिष्ठित होते है, तब तक अधिक ऊँचे जाना असंभव है और यह आशा करना व्यर्थ है कि हमारी क्रमविकसनशील सत्तामें कोई आमूल प्रकारका नया संक्रमण हो सकता है। प्राणमय मानवका, मनोमय मानवका पार्थिव जीवनपर अतिशय प्रभाव रहा है; वे मानवजातिको निरे मानव-पशुकी अवस्थासे आगे उसकी वर्तमान अवस्थामें ले आये हैं। परंतु मानव-सत्ताका जो क्रमवैकासिक सूत्र स्थापित हो चुका है उसकी सीमाओंके भीतर ही वे क्रिया कर सकते हैं; वे मानव-वृत्तको विस्तृत तो कर सकते हैं, परंतु चेतनाके तत्त्व या उसकी विशिष्ट क्रियाको परिवर्तित या रूपांतरित नहीं कर सकते। मनोमय मनुष्यको अत्यधिक ऊँचा करने या प्राणमय मनुष्यकी अत्यधिक वृद्धि करनेका—उदाहरणके लिये नीत्शेके अतिमानवत्वका—प्रयत्न मानव-जीवको अतिकाय ही कर सकता है, उसे रूपांतरित नहीं कर सकता, दिव्य नहीं बना सकता। हम यदि अंदर, आंतरिक सत्तामें निवास कर सकें और उसे जीवनका प्रत्यक्ष शासक बना सकें या सत्ताके आध्यात्मिक और संवोधिमूलक स्तरोंपर अधिष्ठित हो सकें और वहांसे और उनकी शक्तिसे अपनी प्रकृतिका रूपांतर कर सकें तो एक भिन्न संभावना खुल जाती है।

आध्यात्मिक मानव इस अभिनव क्रमविकासका, प्रकृतिके इस अभिनव और उच्चतर प्रयासका चिह्न है। परंतु यह क्रमविकास क्रमविकासिनी ऊर्जाकी भूतकालीन प्रक्रियासे दो दिशाओंमें भिन्न होता है: यह मानव-मनके सचेतन प्रयास द्वारा संचालित होता है, और यह सतही प्रकृतिकी ही सचेतन प्रगतितक सीमित नहीं रहता, वरन् अज्ञानकी दीवारोंको तोड़ने, और अंदरकी अपनी वर्त्तमान सत्ताके निगूढ़ तत्त्वमें और बाहरकी ओर विश्व-सत्तामें और ऊपरकी ओर एक उच्चतर तत्त्वकी दिशामें हमारा अपना विस्तार करनेका प्रयत्न साथ-साथ होता है। अबतक प्रकृतिने जो कुछ संपादित किया था वह हमारे सतही ज्ञान-अज्ञानकी सीमाओंका विस्तार करना था; आध्यात्मिक प्रयासमें उसने जो करना चाहा, वह है अज्ञानको विनष्ट करना, अंतरकी ओर जाना, अंतरात्माका आविष्कार करना और ईश्वर एवं सकल सत्ताके साथ चेतनामें युक्त हो जाना। मनुष्यमें

क्रमविकासिनी प्रकृतिके मनोमय पर्वका अंतिम लक्ष्य यही है; यह अज्ञानके ज्ञानमें आमूल रूपांतरणकी सिद्धिके लिये आरंभिक डग है। आध्यात्मिक परिवर्तनका आरंभ आंतरिक पुरुप और उच्चतर आध्यात्मिक मनके प्रभावसे होता है जो सतहपर अनुभूत होती और स्वीकार की जाती क्रिया होता है; परंतु अकेले इससे किसी प्रदीप्त मानसिक भाववादतक ही पहुँचा जा सकता है या एक धार्मिक मन, धार्मिक प्रकृति, हृदयमें भक्तिभाव और आचरणमें धर्मपरायणताकी वृद्धि हो सकती है; यह अध्यात्मकी ओर मनका प्रथम गमन-मार्ग होता है, परंतु इससे कोई आमूल परिवर्तन नहीं हो सकता: इससे अधिक कुछ भी करना होगा, हमें अंतरकी अधिक गहराईमें रहना होगा, हमें अपनी वर्तमान चेतनाका अतिक्रमण करना होगा और अपने वर्तमान प्रकृतिपदको पार कर जाना होगा।

यह स्पष्ट है कि यदि हम इस भाँति अंतरकी अधिक गहराईमें रह सकें और आंतरिक शक्तियोंका बाह्य उपकरणोंमें स्थिरतासे संचार कर सकें, या हम ही इतना ऊपर उठ सकें कि उच्चतर तथा विशालतर स्तरोंपर निवास कर सकें और केवल उनसे उतरते प्रभावोंको ग्रहण करनेके बदले, जो कि हमारी वर्तमान क्षमता है, उनकी शक्तियोंके प्रवाहको भौतिक जीवनपर संक्रामित कर सकें, तो हमारी सचेतन सत्ताकी शक्तिका एक उन्नयन आरंभ हो सकता है जिससे चेतनाके एक नये तत्त्वकी, क्रियाकलापके एक नये प्रदेशकी, सारी वस्तुओंके लिये एक नयी मूल्यावलिकी रचना हो सके, हमारी चेतना और जीवन विशालतर हो सकें, हमारी सत्ताकी निम्नतर श्रेणियोंको ऊपर उठाया और रूपांतरित किया जा सके,—संक्षेपमें, वह सारी क्रमविकास-प्रक्रिया घटित हो सके जिसके द्वारा प्रकृति-स्थ पुरुप सत्ताके उच्चतर प्रकारकी सृष्टि करता है। तब, लक्ष्यसे चाहे कितनी ही दूरी क्यों न हो, प्रत्येक डग एक पदक्षेप या निकट आगमनके रूपमें सार्थक हो सकेगा जो विशालतर और दिव्यतर सत्ताकी ओर, विशालतर और दिव्यतर शक्ति तथा चेतना, ज्ञान तथा इच्छा, जीवन-अर्थ तथा जीवन-आनंदकी ओर ले जायगा; दिव्य जीवनकी ओर आरंभिक उन्मेप हो सकेगा। सारे धर्म, सारा गुह्यज्ञान, मनका सारा (अपसामान्य नहीं) अधिसामान्य अनुभव, सारे योग, सारे चैत्य अनुभव और अनुशासन आत्मोन्मेपी निगूढ़ अध्यात्म तत्त्वकी प्रगतिके उस मार्गपर हमें इंगित करनेवाले निर्देश-स्तंभ और दिशा-सूचनाएँ हैं।

परंतु मानवजाति अभी भी स्थूलकी ओर कुछ गुरुत्वाकर्पणके भारसे दवी है, मानवजाति अभी भी हमारे अवतक अविजित रहते 'पार्थिवं रजः'के खिचावके पीछे चलती है; उसपर मस्तिष्क-मनका, स्थूल वुद्धिका आधिपत्य है: इस तरह वहुतसे वंधनोंसे पीछेकी ओर खिची रहकर वह आध्यात्मिक प्रयत्नके संकेतके सामने हिचकिचा जाती या उसकी अत्यत आतत मांगके सामने पीछे हट जाती है। फिर, उसे जव अभ्यास-के साँचोंमेंसे निकलनेकी पुकार लगायी जाती है तो उसमें संशयवादिनी मूर्खताके लिये वड़ी क्षमता, अतिशय तामसिकता, विपुल मात्रामें वौद्धिक और आध्यात्मिक भीरुता और रूढ़ि-प्रीति वर्तमान मिलती है: उसे जीवनसे, भौतिक विज्ञान जैसी सर्वथा निम्नतर शक्तिके चमत्कारोंसे भी, यह प्रमाण निरंतर मिलता है कि उसे जहां विजय प्राप्त करनेकी चाह होती है वहाँ विजय मिलती है; परंतु इस प्रमाणसे भी उसका संशय करना नही रुकता, वह नयी पुकारको ठुकराती और उसे उत्तर देनेका कार्य थोड़ेसे व्यक्तियोंके लिये छोड़ देती है। परंतु यदि मानव-जातिको यह आगेका डग लेना है तो इतना भर पर्याप्त नहीं, क्योंकि यदि जाति आगे वढ़ेगी तभी जातिके लिये अध्यात्म-सत्ताकी विजयें सुरक्षित हो सकेंगी। कारण, तव यदि प्रकृतिकी कोई च्युति भी हुई हो, उसके प्रयत्नमें शिथिलता भी आयी हो, तो भी अंतरका 'अध्यात्म-पुरुप' एक प्रच्छन्न स्मृतिका उपयोग करके,—यह स्मृति कभी कभी निम्नतर भूमिकामें, अवोमुख गुरुत्वाकर्पणकी भूमिकामें, जातिमें एक पूर्वजप्रवृत्तिक शक्तिके रूपमें प्रदर्शित होती है, परंतु वस्तुतः प्रकृतिमें एक स्थायी स्मृतिकी शक्ति है जो हमें या तो ऊपर या नीचेकी ओर खींच सकती है,—प्रकृतिको फिर ऊपरकी ओर पुकारेगा और अगला आरोहण अतीतके प्रयत्नके परिणाम-स्वरूप अधिक आसान होगा और अधिक स्थायी भी; कारण, वह प्रयत्न, उसका संवेग और उसका परिणाम मानवजातिके अवचेतन मनमें संचित रहेंगे ही। कौन कह सकता है कि इस प्रकारकी कितनी विजयें हमारे अतीतके चक्रावर्तनोंमें प्राप्त हुई होंगी और अगला आरोहण कितना निकट हो सकता है? निस्संदेह यह आवश्यक या संभव नही कि सारीकी सारी जाति मनोमय जीवोंसे आध्यात्मिक जीवोंमें रूपांतरित हो जाय, परंतु इस प्रवृत्तिकी धाराको उसकी निश्चित सिद्धितक ले जानेके लिये आदर्शकी एक सार्वजनिक मान्यता, एक व्यापक प्रयास, एक सचेतन एकाग्रता आवश्यक हैं। अन्यथा, अंतमें, इतना ही निष्पन्न

होगा कि कुछ थोड़ेसे लोग जीवोंकी एक नयी कोटिका सूत्रपात करेंगे जब कि मानवजाति अपने अयोग्य होनेका निर्णय घोषित कर बैठी होगी और उसका विकासक्रमकी अवनति या स्थावर अचलतामें पीछे गिर जाना संभव होगा; कारण, सतत ऊर्ध्वमुख प्रयत्नने ही मानवजातिको सजीव रखा है और उसके लिये सृष्टिके अग्रभागमें उसका स्थान बनाये रखा है।

क्रमविकासकी प्रक्रियाका तात्त्विक विधान है एक भित्ति-स्थापन, उस भित्तिपरसे आरोहण, उस आरोहणमें चेतनाका परावर्तन, प्राप्त महत्तर ऊँचाई और विशालतासे संपूर्ण प्रकृतिके परिवर्तन तथा अभिनव समाकलनकी क्रिया। प्रथम भित्ति जड़तत्त्व है; आरोहण प्रकृतिका है; समाकलन आरंभमें प्रकृतिके द्वारा प्रकृतिका एक अचेतन अथवा अर्धचेतन स्वयंक्रिय परिवर्तन है। परंतु ज्योंही प्रकृतिकी इन क्रियाओंमें पुरुषका अधिक पूरी तरहसे सचेतन भाग लेना आरंभ होता है, प्रक्रियाके काम करनेमें परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। जड़की स्थूल भित्ति फिर भी रहती है, परंतु तब जड़तत्त्व चेतनाकी भित्ति नहीं रह जा सकता; तब स्वयं चेतना अपने उद्गममें न तो निश्चेतनामेंसे उत्सरण रहेगी, न विश्वके संपर्कोंके चापके नीचे किसी गुह्य आंतरिक अवगूढ़ शक्तिमेंसे प्रच्छन्न प्रवाह ही। विकसित होते जीवनकी भित्ति होगी ऊपरकी नयी आध्यात्मिक स्थिति या हमारे अंदरकी अनावृत आत्मा-स्थिति; ऊपरसे ज्योति, ज्ञान तथा इच्छाका प्रवाह और अंतरमेंसे उनका ग्रहण, यही विश्वानुभवके प्रति पुरुषकी प्रतिक्रियाका निर्धारण करेगा। पुरुषका संपूर्ण संकेंद्रण नीचेसे हटकर ऊर्ध्वकी ओर, बाहरसे हटकर अंदरकी ओर हो जायगा; हमारे लिये अभी अज्ञात रहनेवाली हमारी उच्चतर तथा आंतरिक सत्ता हमारी अपनी सत्ता हो उठेगी, और बाह्य या सतही सत्ता, जिसे हम अभी अपनी सत्ता माना करते है, केवल एक खुला पुरोभाग या उपभवन होगी जिससे होकर सच्ची सत्ता विश्वसे भेंट करती है। स्वयं बाह्य जगत् आध्यात्मिक संवित्के लिये आंतरिक हो जायगा, उसका एक अपना अंग हो जायगा, एकत्व एवं तादात्म्यके ज्ञान तथा अनुभवमें अंतरंग रूपसे आलिंगित मनकी एक संबोधिमूलक दृष्टिसे अनुविद्ध होगा, उसे चेतनाके साथ चेतनाके सीधे संपर्क द्वारा उत्तर प्राप्त होगा, वह एक संसिद्ध सर्वांग-संपूर्णताके अंतर्गत कर लिया गया होगा। स्वयं पुरानी निश्चेतन भित्ति ऊपरकी ज्योति तथा संवित्के अंतःप्रवाहसे

सचेतन हुई होगी और उसकी अगाध गहराइयां अध्यात्म-सत्ताके शिखरोंके साथ जुड़ जायँगी। एक अखंड-समग्र चेतना प्रकृति और पुरुषके समग्र रूपांतर, एकीकरण, समाकलनके द्वारा जीवनके संपूर्ण सामंजस्यीकरणका आधार हो जायगी।

अध्याय उन्नीस

सप्तधा अज्ञानमेंसे सप्तधा ज्ञानकी ओर

अज्ञानभूः सप्तपदा ज्ञभूः सप्तपदैव हि॥

अज्ञानकी भूमि सप्तपदा है, ज्ञानकी भूमि भी सप्तपदा है।

—महोपनिषद्
V.I.

इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत्।
तुरीयं स्विज्जनयद्विश्वजन्यः ... ...॥
ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त॥
... ...अश्मन्मयानि नहना व्यस्यन्।
बृहस्पतिरभिकनिक्रदद् गाः ... ...॥
अवो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ।
बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः॥
विभिद्या पुरं शयथेमपाचीं निस्त्रीणि साकमुदधेरकृन्तत्।
बृहस्पतिरुषसं सूर्यं गाम् अर्कं विवेद स्तनयन्निव द्यौः॥

उसने ऋतसे प्रजात सप्तशीर्ष बृहत् 'धी'को पाया, उसने एक तुरीय लोककी सृष्टि की और वह विश्वमय हो गया....द्युलोक के पुत्रोंने, सर्वशक्तिमान्के वीर सेनानियोंने, ऋजु विचारका चिंतन करते हुए, सत्यको वाङ्मय करते हुए, दीप्तिके लोकको प्रतिष्ठित किया और यज्ञके प्रथम धामकी रचना की।....बृहस्पतिने बाधा-शिलाएँ गिरा डाली, और ज्योतिर्मय गोयूथोंका आह्वान किया....उन गोयूथोंका जो नीचेके दो लोकों और ऊपरके एक लोकके मध्य अनृतपर छाये सेतुपर गोपनमें खड़े हैं। अंधकारमें प्रकाशकी इच्छा करते हुए, वह किरण-यूथको ऊपर ले आये और उन्होंने तीनों लोकोंको अनावृत कर दिया; उन्होंने

आड़में छिपी पुरी विदीर्ण कर दी, उदधिमेंसे तीनोंको काट निकाला, और उषा तथा सूर्यका, ज्योति तथा ज्योति-जगत्का आविष्कार किया।

—ऋग्वेद
X.67.1-5

वृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत् तमांसि॥

वृहस्पति,—बहुतेरे जिनके जन्म हैं, सात जिनके वाक्-मुख हैं, सात जिनकी रश्मियाँ हैं,—महाज्योतिके परम व्योममें अपने प्रथम जन्ममें अपने निनादसे तमको छिन्न भिन्न कर देते हैं।

—ऋग्वेद
IV.50.4

अभिव्यक्त सत्तामें चेतनाकी शक्तिका उन्नयन ताकि उसे, जो कुछ अभी तक अव्यक्त है, उसकी महत्तर तीव्रतामें उठा ले जाया जा सके, जड़से प्राणमें, प्राणसे मनमें, मनसे अध्यात्ममें,—सारा क्रमविकास अपने सारमें यही है। मनोमयी अभिव्यक्तिसे आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक अभिव्यक्तिकी ओर, हमारी अभी भी अर्ध-पशु रहती मानवतासे दिव्य सत्ता तथा दिव्य जीवन-यापनकी ओर हमारे वर्द्धनकी पद्धति भी यही होनी चाहिये। हमारी चेतनाकी, उसकी धातु, उसकी शक्ति और उसकी संवेदनशीलताकी एक नयी आध्यात्मिक ऊँचाई, विस्तृति, गहराई, सूक्ष्मता, तीव्रता प्राप्त करनी ही होगी, हमारी सत्ताका एक उन्नयन, विस्तरण, नमनीयत्व, सर्वांगीण सामर्थ्य प्राप्त करना ही होगा, और मनको और जो कुछ मनसे नीचे है उस सबको उस विशालतर अस्तित्वमें धारण करना होगा। भावी रूपांतरमें क्रमविकासका स्वरूप, क्रमविकास-प्रक्रियाका तत्त्व-विधान कुछ परिवर्तित तो होगा, परंतु उसमें आमूल परिवर्तन नहीं होगा और वह एक वृहत्तर पैमानेपर और विमुक्त गतिमें शाही रूपसे चलता रहेगा। उच्चतर चेतना या सत्ताकी उच्चतर स्थितिमें परिवर्तित होना धर्मका, सारी उच्चतर तपश्चर्याका, योगका समूचा लक्ष्य और प्रक्रिया ही नहीं, स्वयं हमारे जीवनकी प्रवृत्ति, उसके श्रम-समुच्चयमें मिलनेवाला गुप्त उद्देश्य भी है। हमारे अंदर जीवन-तत्त्वको अपने प्राप्त मन, प्राण और शरीरकी भूमियोंपर अपने-आपको स्थापित करने और अपना पूर्णत्व प्राप्त करनेकी सतत चाह तो है, परंतु वह इनसे आगे जाने और इन प्राप्तियोंको प्रकृतिमें चिन्मय पुरुषके उन्मेषके साधन-

रूपमें परिवर्तित करनेकी ओर भी स्वतः चालित होता है। यदि हमारा कोई अंग ही, बुद्धि, हृदय या प्राणिक कामना-पुरुष ही, अपने-आपकी अपूर्णता और जगत्‌से असंतुष्ट होकर उसमेंसे जीवनकी एक श्रेष्ठतर ऊँचाईकी ओर निकल जानेका प्रयत्न करे, प्रकृतिके शेष भागको छोड़ देनेमें संतोष माने, फिर वह भाग चाहे अपनी देखभाल रखे चाहे विनाशको प्राप्त हो जाय, तो समग्र रूपांतरका ऐसा परिणाम चरितार्थ नहीं होगा,—अंततः, यहाँ तो नहीं होगा। परंतु यह हमारे जीवनकी सर्वांगीण प्रवृत्ति नहीं,—हमारे अंदर प्रकृतिका एक यह श्रम है कि उसने यहाँ अबतक सत्ताका जो तत्त्व विकसित किया है उसकी अपेक्षा किसी उच्चतर तत्त्वमें वह हमारी सारी सत्ताको साथ लेकर ऊपर उठ जाय, परंतु इस आरोहणमें उसकी समग्र इच्छा यह नहीं है कि वह निजका विनाश कर दे ताकि प्रकृतिके वर्जन और विलोपनसे उस उच्चतर तत्त्वका ऐकांतिक रूपसे प्रतिष्ठापन हो सके। चेतनाकी शक्तिको इतना उन्नीत करना कि वह मानसिक, प्राणिक और शारीरिक साधन-विनियोगसे उठकर अध्यात्मके सार और शक्तिमें चली जाय वस्तुतः अपरिहार्य है, परंतु यह न तो एकमात्र उद्देश्य है, न सम्पूर्ण कर्तव्य ही।

हमारा आह्वान अवश्य ही हमारी समूची सत्तामें एक नयी ऊँचाईपर रहनेके लिये होगा: किंतु उस ऊँचाईतक पहुँचनेके लिये हमें अपने क्रियाशील अंगोंको प्रकृतिके अनिर्दिष्ट उपादानमें वापस नहीं गिरा डालना है, इस मुक्तिदायी विसर्जनके परिणामस्वरूप 'अध्यात्म-तत्त्व'की आनंदमयी निष्क्रियतामें निवास नही करना है; ऐसा तो सदा ही किया जा सकता है और इससे एक महान् विश्रांति और मुक्ति भी मिलती है, परंतु प्रकृति तो हमसे यह आशा रखती है कि हम जो कुछ भी हों हम समग्र रूपसे आध्यात्मिक चेतनामें उठ जायँ और आत्माकी अभिव्यक्ति तथा बहुविध शक्ति बन जायँ। प्रकृति-स्थ पुरुषका सर्वांगीण लक्ष्य सर्वांगीण रूपांतर है; प्रकृतिकी स्वातिक्रमणकी विश्वव्यापिनी प्रेरणाका अंतर्निहित अर्थ यही है। यही कारण है कि प्रकृतिकी प्रक्रिया अपने-आपको एक अभिनव तत्त्वमें उन्नीत करनेतक सीमित नहीं है; नयी ऊँचाई कोई संकीर्ण और तीक्ष्ण गिरिकूट मात्र नहीं, वह तो अपने साथ एक प्रसारण लाती और जीवनका एक विशालतर क्षेत्र स्थापित करती है जिसमें नये तत्त्वका वीर्य अपने उन्मज्जनके लिये पर्याप्त स्थान पा सके और पर्याप्त क्रीड़ा कर सके। उन्नयन और विस्तरणकी यह क्रिया अभिनव तत्त्वकी

ही स्वरूप-क्रीड़ाकी संभवातिसंभव विशालतातक सीमित नहीं होती; जो निम्नतर है उसको उच्चतर मूल्योंमें ऊपर उठाना भी उसमें सम्मिलित है: दिव्य या आध्यात्मिक जीवन मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय जीवन-को रूपांतरित और अध्यात्ममय करके अपने अंदर केवल धारण ही नहीं करेगा, वरन् वे अपने निजी स्तरपर जव तक रहते तव तक जो संभावना होती, उससे अधिक विशाल और परिपूर्ण क्रीड़ाकी संभावना वह उन्हें प्रदान करेगा। हमें अपने स्वातिक्रमणसे अपनी मनोमयी, प्राणमयी और अन्नमयी सत्ताको विनष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं, अध्यात्मीकरणसे वे खर्व और क्षीण भी नहीं होतीं; वे वहुत समृद्धतर, महत्तर, सवलतर और पूर्णतर हो जा सकतीं और होती भी हैं: उनके दिव्य परिवर्तनसे ऐसी संभावनाएँ खुल पड़ती हैं जो उनकी अध्यात्मीकरणसे पहलेकी अवस्थामें न तो साध्य हो सकतीं थीं, न कल्पनीय ही।

यह क्रमविकास, उन्नयन, प्रसारण और समाकलनकी यह प्रक्रिया, अपने स्वरूपमें, सप्तधा अज्ञानमेंसे सप्तधा ज्ञानकी ओर विकास और आरोहण है। उस अज्ञानका मर्म है आधारगत या सांस्थानिक अज्ञान; वह परिणत होता है अपनी संभूतिके सच्चे स्वरूपके वारेमें हमारे वहुविध अज्ञानमें, हमारी अपने समग्र स्वरूपकी अनभिज्ञतामें, जिसका मूल हमारा अपने निवास-लोक द्वारा और अपनी प्रकृतिके वर्तमान प्रवल तत्त्व द्वारा सीमित होना है। हम जिस लोकमें निवास करते हैं वह जड़-तत्त्वका लोक है; हमारी प्रकृतिमें वर्तमान प्रवल तत्त्व मनोवुद्धि है जिसका आश्रय और पादपीठ ऐंद्रिय मन है और वह मन जड़तत्त्वपर निर्भर करता है। परिणामतः भौतिक जीवन मनोवुद्धिको जैसा दिखायी देता है, प्राण और जड़के वीच समझौतेमें जीवन जैसा रूपायित होता है, इन्हीमें मनोवुद्धि और उसकी क्षमताओंका तन्मय होना सांस्थानिक अज्ञानकी विशेष छाप है। यह प्राकृतिक जड़वाद या जड़वासित प्राण-वाद, हमारा अपने आरंभोंके साथ यह जड़े जाना, एक प्रकारका आत्म-सीमायन है जो हमारी सत्ताके प्रदेशको संकीर्ण करता है और मानव-जीवपर उसका आग्रह वहुत है। यह मनुष्यकी शारीरिक सत्ताकी पहली आवश्यकता भी है, परंतु वादमें एक आदिम अज्ञान उसे एक वेड़ी वना डालता है जो उसके प्रत्येक ऊर्ध्वगामी डगमें वाधा देती है: जड़वासित मनोवुद्धि द्वारा अध्यात्म-सत्ताकी सपूर्णता, शक्ति और सत्यके इस परि-सीमन और भौतिक प्रकृतिके नीचे जीवकी इस अधीनतामेंसे निकलकर

विकसित होनेका प्रयत्न हमारी मानवजातिकी यथार्थ प्रगतिकी ओर पहला डग है। कारण, हमारा अज्ञान संपूर्ण अज्ञान नहीं; वह चेतनाका एक परिसीमन है,— वह वह संपूर्ण निर्ज्ञान नही जो अविमिश्र जड़तत्त्वकी सत्ताओंमें, उन सत्ताओंमें जिनका केवल लोक ही नहीं, प्रधान-तत्त्व भी जड़-तत्त्व है, उसी अज्ञानकी छाप होता है। यह एक आंशिक सीमाकारी, विभाजनकारी और, बहुत बड़े पैमानेपर, मिथ्यारूप देनेवाला ज्ञान होता है, उस परिसीमन तथा मिथ्यारोपमेंसे निकलकर हमें अपनी आध्यात्मिक सत्ताके सत्यमें विकसित होना है।

प्राण और जड़को यह सर्वोपरि व्यवसाय बना लेना आरंभमें ठीक और आवश्यक है, कारण, मनुष्यको जो पहला डग लेना होता है वह है इस जड़-जगत्को, जहाँ तक वह अपने इंद्रिय-मानससे प्राप्य उसके अनुभवपर अपने विचार और बुद्धिका प्रयोग करता हुआ ऐसा कर सके, अच्छीसे अच्छी तरह जानना और अधिकृत करना, परंतु यह एक आरंभिक डग ही है और हम यदि वहीं रुक गये तो हमने कोई यथार्थ प्रगति नहीं की है: हम जहाँ थे वहीं रह जाते है और हमने बस हाथ-पाँव चलानेके लिये अधिक भौतिक स्थान पाया है, अपने मनके लिये एक सापेक्ष ज्ञान और एक अपर्याप्त तथा अस्थिर अधिकारकी अधिक क्षमता पायी है, स्थूल शक्तियों और सत्ताओंकी भीड़के बीच ठेला-ठेली और धक्कामुक्की करनेको अपनी प्राण-कामनाके लिये अधिक बल पाया है। स्थूल बाह्य वैषयिक ज्ञान अत्यंत विस्तृत हो जानेपर भी, दूरतम सौर मंडलों और पृथ्वी तथा सागरकी गहरीसे गहरी परतों और जड़ उपादान तथा ऊर्जाकी सूक्ष्मसे सूक्ष्म शक्तियोंको अपने प्रसारमें ले लेनेपर भी, हमारे लिये मूलभूत प्राप्ति नहीं, वह अद्वितीय वस्तु नहीं जिसे प्राप्त करना हमारे लिये सबसे आवश्यक है। यही कारण है कि जड़वादका वेदवाक्य, भौतिक विज्ञानकी चकाचौंध करनेवाली विजयोंके बावजूद भी, अंतमें एक व्यर्थ और निःसहाय सिद्धांत प्रमाणित होता है, और यही इसका भी कारण है कि स्वयं भौतिक विज्ञान, अपनी सारी उपलब्धियोंके बावजूद भी, यद्यपि मानव-जातिके लिये आराम तो ला सकता है, परंतु उसके लिये सुख और सत्ताकी परिपूर्णता कभी भी उपलब्ध नहीं कर सकता। हमारा सच्चा सुख हमारी संपूर्ण सत्ताके सच्चे वर्द्धनमें, हमारे जीवनके समूचे क्षेत्रमें सर्वत्र विजय प्राप्त करनेमें, प्रकट और प्रच्छन्न प्रकृति दोनोंपर, बाह्य और आंतरिक दोनोंपर, बल्कि बाह्यकी अपेक्षा आंतरिकपर अधिकार करनेमें अधिक है; हमारी सच्ची

संपूर्णता, हमने जिस लोकसे आरंभ किया है उसमें अधिक बड़े वृत्तोंका चक्कर लगानेसे नही, अतिक्रमणसे आती है। यही कारण है कि प्राण और जड़में पहली आवश्यक भित्तिके स्थापनके बाद हमें अपनी चेतनाकी शक्तिको उन्नीत करना होगा, उसे गहरी, विस्तृत और सूक्ष्म करना होगा; हमें पहले अपनी मनोमयी सत्ताको मुक्त करना और अपने मनोमय जीवनको अधिक स्वतंत्र, अधिक सूक्ष्म और अधिक उदात्त क्रीड़ामें प्रवेश करना होगा: कारण, हमारा सच्चा जीवन हमारे अन्नमय जीवनकी अपेक्षा बहुत अधिक हमारा मनोमय जीवन ही होता है, क्योंकि हम अपनी उपकरणात्मिका या अभिव्यंजिका प्रकृतिमें भी अति प्रधान रूपसे मनस्वरूप हैं, अन्नमय प्राणी होनेकी अपेक्षा बल्कि मनोमय बहुत अधिक हैं। परिपूर्ण मनोमय पुरुष होनेकी ओर वह विकास मानवीय पूर्णता तथा स्वतंत्रताकी ओर प्रथम संक्रमणकारी गतिक्रम होता है, इससे वस्तुतः पूर्णता नहीं आती, अंतरात्माकी मुक्ति नहीं होती, परंतु इससे हम अपनी भौतिक और प्राणिक निमग्नतामेंसे एक डग ऊपर उठते हैं और अज्ञानके अधिकारके ढीले किये जानेकी तैयारी होती है।

अधिक पूर्ण मनोमय जीव बननेमें हमें यह लाभ है कि हमारे लिये एक सूक्ष्मतर, उच्चतर और विशालतर जीवन, चेतना, शक्ति, सुख और सत्ताके आनंदकी संभावना हो जाती है, मनके सोपानमें हम ज्यों-ज्यों ऊपर उठते हैं उसी अनुपातमें इन चीजोंकी महत्तर शक्ति हममें आती है: हमारी मनश्चेतना साथ ही साथ अपने लिये अधिक दृष्टि तथा बल, अधिक सूक्ष्मता तथा नमनीयता प्राप्त कर लेती है, और हम प्राणिक तथा भौतिक सत्ताके भी अधिक भागका आलिंगन कर सकते, उसे अधिक अच्छी तरह जान सकते, उसका अधिक अच्छा उपयोग कर सकते, उसे उच्चतर मूल्य, विशालतर प्रसार, अधिक उन्नीत क्रिया, विस्तृत पैमाना, उच्चतर परिणाम दे सकते है। अपनी प्रकृतिकी विशिष्ट शक्तिमें मनुष्य मनोमय जीव है, परंतु अपने उन्मज्जनके प्रथम डगोंमें वह मनो-वासित पशु ही अधिक होता है, पशुकी तरह उसका शारीरिक जीवन उसका सर्वोपरि व्यवसाय होता है; वह मनको प्राण तथा शरीरके उपयोगों, हितों और कामनाओंके लिये व्यवहृत करता है, परंतु उनके भृत्य और सचिवकी तरह ही, तबतक उनके स्वामी और राजाकी तरह नही। ज्यों-ज्यों उसका मनमें वर्द्धन होता है और मन जिस अनुपातमें

प्राण तथा जड़के अत्याचारके विरोधमें अपने आत्मतत्त्व और स्वातंत्र्यका दावा करता है, मनुष्य अपनी उतनी ही वृद्धि पाता है। एक ओर तो मन अपने उद्धारसे प्राण और अन्नमयी सत्ताको संयत और आलोकित करता है, दूसरी ओर शुद्ध मानसिक लक्ष्य, धंधे, ज्ञानानुसंधानके व्यापार महत्व पाना आरंभ करते हैं। निम्नतर नियंत्रण और अभिनिवेशसे मुक्त मन जीवनमें एक शासन, उन्नयन, परिमार्जन, श्रेष्ठतर संतुलन और सामंजस्य लाता है; प्राणिक और शारीरिक गतिविधियाँ निर्देशित और व्यवस्थित की जाती हैं, मनके कर्तृत्व द्वारा जहाँ तक संभव है, रूपांतरित भी की जाती हैं; उन्हें सिखाया जाता है कि वे बुद्धिके उपकरण बनें, एक प्रबुद्ध इच्छा, एक नैतिक दर्शन और एक सौंदर्य-बोधिनी बुद्धिके अनुगत हों: यह जितना अधिक निष्पादित किया जा सके जाति उतनी ही अधिक सत्यतः मानवीय, उतनी ही अधिक मनोमय जीवोंकी जाति बनती है।

इसी जीवन-दर्शनको यूनानके मनीषियोंने सामने रखा था, और इस आदर्शके सूर्य-प्रकाशमें जीवंत पुष्पणसे ही यूनानी जीवन एवं संस्कृतिको इतना महत् आकर्षण मिला है। परवर्ती कालमें यह बोध खो गया, और बादमें जब वापस आया, तो बहुत ह्रसित होकर, अधिक आविल तत्त्वोंसे मिश्रित होकर: एक आध्यात्मिक आदर्श था जिसे बुद्धि निर्दोष रूपसे समझ नहीं सकी, और वह व्यावहारिक जीवनमें चरितार्थ हुआ ही नहीं, परंतु अपने अनुकूल और प्रतिकूल मानसिक और नैतिक प्रभावोंके साथ वर्तमान रहा, और इसके विरोधमें अपनी अबाध आत्म-तुष्ट गतिको न पा सकनेवाली एक प्रबल, एक अमित प्राणिक प्रवृत्तिका चाप पड़ता रहा, यह विक्षोभ मनके प्रभुत्व और जीवनके सामंजस्यकी राह में, उसके सौंदर्य तथा संतुलनकी उपलब्धिकी राहमें बाधा बनकर खड़ा हो गया। उच्चतर आदर्शोंकी ओर उन्मीलन, जीवनका महत्तर प्रसार, यह प्राप्ति तो हुई, परंतु एक नये आदर्शवादके तत्त्व उसकी क्रियामें एक प्रभावके रूपमें ही डाले गये, वे उसपर अधिकार नहीं कर सके, उसका रूपांतर नहीं कर सके, और अंतमें, इस प्रकार ठीकसे नहीं समझे गये और अचरितार्थ रहते आध्यात्मिक प्रयासको फेंक हटाया गया: उसके नैतिक प्रभाव रह गये, परंतु वे भी अपने पोषक आध्यात्मिक तत्त्वसे वंचित होकर क्षीण होते हुए प्रभावहीन हो गये; प्राणिक प्रवृत्ति, स्थूल बुद्धिके अतिशय विकाससे सहायता पाकर, जातिका सर्वोपरि व्यवसाय बन गयी।

एक विशेष प्रकारके ज्ञान और निपुणताका एक शानदार वर्द्धन प्रथम परिणाम हुआ; सबसे हालका परिणाम एक संकटमयी आध्यात्मिक अस्वस्थता और एक वृहत् अव्यवस्था हुई है।

कारण, केवल मन पर्याप्त नहीं; उसकी बुद्धिकी विशालतम क्रीड़ा भी एक सापेक्ष अर्ध-प्रकाशकी ही रचना करती है। भौतिक विश्वका सतही मानसिक ज्ञान एक और भी अधिक अपूर्ण पथ-प्रदर्शक है; वह विचारशील पशुके लिये तो पर्याप्त हो सकता है, परंतु आध्यात्मिक विकासकी ओर उन्मुख मनोमय जीवोंकी जातिके लिये नहीं। केवल भौतिक विज्ञान और बाह्य ज्ञानसे तो भौतिक वस्तुओंका ही सत्य पूरा नहीं जाना जा सकता, हमारे भौतिक जीवनके सही उपयोगका भी पता नहीं चल सकता, न ही केवल स्थूल और यांत्रिक प्रक्रियाओंपर अधिकार पा लेनेसे यह संभव हो सकता है। सही ज्ञान और सही उपयोगके लिये हमें स्थूल दृश्य तथा प्रक्रियाके सत्यसे आगे जाना होगा, जो उसके अंदर और पीछे है उसे हमें जानना होगा। कारण, हम केवल शरीरधारी मन नहीं हैं; एक आध्यात्मिक सत्ता है, एक आध्यात्मिक तत्त्व है, प्रकृतिका एक आध्यात्मिक लोक है। अपनी चेतनाकी शक्तिको उन्नीत कर हमें उसीमें ले जाना है, उसीके द्वारा अपनी सत्ताके प्रसार और अपने कार्य-क्षेत्रको विशालतर रूपसे, यहाँ तक कि विश्वव्यापी और अनंत रूपसे भी, विस्तीर्ण करना है, उसीके द्वारा अपने निम्नतर जीवनको ऊपर उठाना और महत्तर उद्देश्योंके लिये और एक विशालतर योजनामें, जीवनको आध्यात्मिक सत्यके प्रकाशमें उपयोगमें लाना है। हमारे मनका श्रम और हमारे प्राणका संघर्ष तबतक कोई समाधान नहीं पा सकते जब तक हम निम्नतर प्रकृतिके दुराग्रही नेतृत्वसे परे नहीं चले जाते, अपनी प्राकृत सत्ताको 'अध्यात्म-पुरुष'की सत्ता और चेतनामें एकत्वमें ग्रथित नहीं कर देते, अपने प्राकृत उपकरणोंको 'अध्यात्म-पुरुष'के आनंदके लिये और उसकी शक्तिके द्वारा व्यवहृत करना नहीं सीख लेते। केवल तभी सांस्थानिक अज्ञान, अपनी सत्ताके असली निर्माणके संबंधमें जिस अज्ञानको हम भोग रहे हैं वह अज्ञान, हमारी सत्ता तथा हमारी संभूतिके सच्चे और प्रभावी ज्ञानमें परिवर्तित हो सकता है। कारण, हम अध्यात्म-पुरुष ही हैं जो वर्तमानमें मनको अति प्रधान रूपसे, प्राण और शरीरको गौण रूपसे, जड़को हमारे अनुभवके एकमात्र तो नहीं परंतु आदि क्षेत्रके रूपमें व्यवहृत कर रहा है। परंतु ऐसा अभी वर्तमानमें ही है, हमारा

अपूर्ण मनोमय साधन-विनियोग हमारी संभावनाओंका अंतिम शब्द नहीं; कारण, हमारे अंदर अन्य सुप्त या अदृश्य और अपूर्ण रूपसे सक्रिय तत्त्व हैं जो मनसे परे और आध्यात्मिक प्रकृतिके अधिक समीप हैं, अधिक प्रत्यक्ष कार्यकारिणी शक्तियाँ और ज्योतिर्मय उपकरण हैं, एक उच्चतर स्थिति है, हमारी वर्तमान शारीरिक, प्राणिक और मानसिक सत्ताकी संचल क्रियाके क्षेत्रसे महत्तर सचल क्रियाके क्षेत्र हैं। ये सब हमारी अपनी स्थिति, हमारी सत्ताका अंग, हमारी अपनी परिवर्द्धित प्रकृतिके तत्त्व, बल और उपकरण बन जा सकते हैं। परंतु इसके लिये अध्यात्म-सत्तामें कोई अस्पष्ट अथवा आनंदोल्लसित आरोहण करके या उसके आनंत्योंके स्पर्शसे आकारप्रकारहीन उन्नयन प्राप्त करके तुष्ट हो जाना पर्याप्त नहीं; वरन् उनके तत्त्वका उन्मेष वैसे ही होना होगा, जैसे मनका उन्मेष हुआ है, जैसे प्राणका उन्मेष हुआ है, और उसे अपने निजी उपकरण संगठित करने होंगे, अपनी निजी तुष्टि पानी होगी। तभी हमें अपनी सत्ताका सच्चा संघटन उपलब्ध होगा और हमने अज्ञानको जीता होगा।

परंतु हमने यदि अपने मनोगत अज्ञानको नहीं जीता हो तो अपने सांस्थानिक अज्ञानपर हमारी विजय संपूर्ण नहीं हो सकती, सर्वांगतया सक्रिय नहीं बन सकती; कारण, दोनों सहबद्ध है। हमारी चेतन जागृत सत्ता हमारी सत्ताकी एक छोटी सी लहर या बाहरी स्रोत है, हमारे आत्म-ज्ञानका उसी तक सीमित होना हमारा मनोगत अज्ञान है। हमारी सत्ताका यह भाग रूपहीन अथवा मात्र अर्ध-रूपायित गतियोंका एक मूल प्रवाह है जो अपने-आप निरंतर चलता रहता है, उसके कालके क्षणानु-क्षण बहावमें एक सक्रिय बहिस्तलीय स्मृति और निष्क्रिय अंतःस्थ चेतना उसे आश्रय देती और साथ-साथ जोड़े रखती है, हमारी युक्ति-बुद्धि और हमारी साक्षिणी तथा सहभागिनी बुद्धि उसे संगठित और उसकी व्याख्या करती है। उसके पीछे हमारे गुप्त पुरुषकी गुह्य सत्ता और ऊर्जा है जिसके बिना बाह्य चेतना और क्रियाशीलताका अस्तित्व नहीं हो सकता था, उसकी क्रिया नहीं हो सकती थी। जड़में केवल एक क्रियाशीलता अभिव्यक्त है,— वस्तुओंके बाह्य भागमें, एकमात्र जिसे ही हम जानते है, वह निश्चेतन है; कारण, जड़में अंतर्निवासिनी चेतना गोपन है, अवगूढ़ रहती है, निश्चेतन रूप और संवृत ऊर्जामें अभिव्यक्त नहीं है, परंतु हममें चेतना अंशतः व्यक्त हो गयी है, अंशतः जाग गयी है। किंतु यह चेतना आवेष्टित और अपूर्ण है; यह

अपने अभ्यस्त आत्मपरिसीमनसे आवद्ध है और एक नियंत्रित वृत्तमें विचरण करती है,—केवल कभी-कभी अंदरके गहनसे चमकें आती हैं, संकेत या उच्छ्वास आते हैं जो इस रचनाकी सीमाओंको तोड़ देते या उनसे आगे वह निकलते या वृत्तको विशालतर कर देते हैं। परंतु ये अवसरिक आगमन हमारी वर्तमान क्षमताओंसे आगे बहुत दूर तक हमारा परिवर्द्धन नहीं कर सकते, हमारी स्थितिमें क्रांति लानेको पर्याप्त नहीं होते। यह तो केवल तब संपादित हो सकता है यदि हम अपनी सत्तामें शक्यावस्थामें रहनेवाली उच्चतर अविकसित ज्योतियों और शक्तियोंको अपनी वर्तमान स्थितिके अंदर ले आ सकें और उनको सचेतन और सहज भावसे सक्रिय कर सकें; इसके लिये हममें यह क्षमता आनी ही चाहिये कि हम अपनी सत्ताके उन प्रक्षेत्रोंसे स्वच्छंद रूपमें आहरण कर सकें जो उनके स्वधाम हैं परंतु वर्तमानमें हमारे लिये अवचेतन या बल्कि गुप्ततया अंतश्चेतन और परिचेतन या नहीं तो अतिचेतन हैं। या,—इससे भी आगे, जो संभव भी है,—हमें अपने इन आंतरिक और उच्चतर भागोंमें एक अंतर्मुख निमज्जन या अनुशासित अनुप्रवेश द्वारा पैठना चाहिए और उनके रहस्योंको अपने साथ सतहपर वापस लाना चाहिए। या, अपनी चेतनाका और भी आमूल परिवर्तन संपादित करते हुए, हमें बहिस्तलपर रहना छोड़कर अंतरमें रहना सीखना ही चाहिए, और हमारा अस्तित्व और कर्तृत्व अंतरके गभीर तलोंसे और प्रकृतिके स्वामी बन गये अंतरात्मामेंसे ही होना चाहिए।

हम अपने जिस भागको सही अर्थमें अवचेतन इस लिये कह सकते हैं कि वह मन और चेतन जीवनके स्तरसे नीचे है, अवर और तमोवृत है, उसमें हमारी शारीरिक सत्ताकी गठनके अविमिश्र अन्नमय और प्राणमय तत्व आते हैं जो अभी मनोमय नहीं हुए हैं, मनके अवलोकनमें नहीं आते, अपनी क्रियामें मनसे शासित नहीं होते। उसमें वह मूक गुह्य चेतना भी सम्मिलित मानी जा सकती है जो क्रियाशील तो है परंतु हमारे इंद्रियानुभवके लिये अगोचर है, और हमारे शरीर-कोषों, नाड़ियों और सारी शारीरिक धातुमें क्रिया करती और उनकी प्राण-प्रक्रिया तथा स्वयंवह अनुक्रियाओंको समंजित करती है। निमज्जित इंद्रिय-मानसकी नीचेसे नीचेकी वे क्रियाएँ भी जो पशु और वनस्पति-जीवनमें अधिक क्रियाशील रहती हैं उसके अंतर्गत होती हैं; हम अपने क्रमविकासमें इस तत्वकी किसी बड़ी संगठित क्रियाकी आवश्यकताको

पार कर चुके हैं, परंतु यह हमारी चेतन प्रकृतिके नीचे निमज्जित रहता और धूमिल रूपसे कार्य करता रहता है। यह धूमिल क्रियाशीलता मनके एक प्रच्छन्न और अवगुंठित अधःस्तरतक जाती है; पुराने संस्कार और जो कुछ सतही मन द्वारा परित्यक्त है, वे इस अधःस्तरमें धँस जाते और सोये रहते हैं और, निद्रामें या मनके अभावकी किसी भी अवस्थामें, स्वप्नोंके रूप, यांत्रिक मनोक्रिया या संकेतके रूप, स्वयंवह् प्राणिक प्रतिक्रिया या संवेगके रूप, शारीरिक अपप्रकृतत्व या स्नायविक विक्षोभके रूप, अस्वस्थता, रोग, असंतुलनके रूप लेकर ऊपर उमड़ आ सकते हैं। साधारणतः हम अवचेतनमेंसे उतनेको ही सतहपर लाते हैं जिसकी आवश्यकता हमारे जागृत इंद्रियमानस और बुद्धिको अपने प्रयोजनके लिये रहती है; उन्हें इस तरह ऊपर लानेमें हमें उनके स्वरूप, मूल और क्रियाका बोध नहीं रहता और हम उन्हें उनके सच्चे मूल्योंमें नहीं, अपितु अपने जागृत मानवीय अनुभव और बुद्धिके मूल्योंमें अनूदित करके ही जानते हैं, परंतु अवचेतनके उभार, मन और शरीरपर उसके प्रभाव, अधिकांशतया स्वतः उत्सारित, अनिमंत्रित और अनैच्छिक होते हैं; कारण, हमें अवचेतनका ज्ञान नहीं है और फलतः उसपर अधिकार भी नहीं होता। हमें कभी, बहुत आम तौरपर रोगमें या किसी संतुलन-भंगकी अवस्थामें, जब कोई असामान्य अनुभव होता है, केवल तभी हमें अपनी शारीरिक सत्ता और प्राण-सत्ताके मूक,—मूक, परंतु बहुत ही सक्रिय—जगत्की किसी चीजका प्रत्यक्ष परिचय या हमारे बहिस्तलके नीचे रहते यांत्रिक अवमानवीय स्थूल और प्राणिक मनकी प्रच्छन्न गतिविधिका बोध हो पाता है। यह चेतना है हमारी ही, परंतु हमारी प्रतीत नहीं होती, क्योंकि यह हमारी ज्ञात मानसताका अंग नहीं। यह और इसके अलावा भी बहुत कुछ अवचेतनामें प्रच्छन्न रहता है।

अवचेतनमें उतर पड़नेसे हमें इस प्रदेशके अन्वेषणमें सहायता नहीं मिल सकती, क्योंकि इससे तो हम असंबद्धता या निद्रा या जड़ समाधि या अचेत निस्पंदतामें जा पड़ेंगे। मनकी संवीक्षा या अंतर्दृष्टि हमें इन प्रच्छन्न क्रियाओंका कोई परोक्ष और निर्मित बोध ही दे सकती है; परंतु हमें अपनी अवचेतन, अन्नमयी, प्राणमयी और मनोमयी प्रकृतिके रहस्योंकी अपरोक्ष और समग्र संवित् केवल तभी हो सकती है और उसके रहस्योंपर केवल तभी अधिकार हो सकता है जबकि हम अवगूढ़में पीछे हट जायें या अतिचेतनमें आरोहण कर जायें और वहाँसे नीचेकी

ओर इन तमिस्र गहराइयोंमें दृष्टिपात करें या उन तलोंमें अपने-आपको विस्तृत करें। यह संवित् और अविकार अत्यंत महत्त्वशाली हैं। कारण, सचेतन होनेके पथपर चलता निश्चेतन ही अवचेतन है; अवचेतन हमारी सत्ताके अवर अंगों और उनकी गतिविधिका एक आश्रय है और उनकी एक जड़ भी। हमारे अंदर जो कुछ सबसे अधिक चिपके रहनेवाला होता है और परिवर्तित होना अस्वीकार करता है, हमारे बुद्धि-दीप्तिसे हीन विचारके यांत्रिक आवर्तन, हमारे अनुभव, संवेदन, अंतर्वेग और प्रवणताके दृढ़ दुराग्रह, हमारे चरित्रकी अनायत्त दृढ़बद्धताएँ,—अवचेतन इन सबका आश्रयदाता और पुष्टिदाता है। हमारे अंदर जो कुछ पाशव है,—या नारकीय भी,—उसकी माँद अवचेतनाके घने वनमें ही रहती है। वहाँ घुस जाना, प्रकाश ले आना और एक प्रशासन स्थापित करना, किसी भी उच्चतर जीवनकी संपूर्णताके लिये, प्रकृतिके किसी भी सर्वांगीण रूपांतरके लिये अपरिहार्य है।

हमने अपने जिस भागको अंतश्चेतन और परिचेतन कहा है वह हमारी सत्ताकी गठनमें और भी अधिक सबल और बहुत अधिक मूल्यवान् तत्त्व है। उसमें एक आंतरिक बुद्धि और आंतरिक इंद्रिय-मानसकी, एक आंतरिक प्राणकी, एक आंतरिक सूक्ष्मदैहिक सत्ताकी भी प्रचुर क्रिया सम्मिलित है जो हमारी जाग्रत् चेतनाकी धारयित्री है और उसका आलिंगन करती है, पुरोभागमें नही लायी गयी है और आधुनिक शब्दावलीमें अवगूढ (Subliminal) है। परंतु जब हम अपनी इस अंतर्गूढ़ सत्तामें प्रवेश और उसका अन्वेषण कर पाते हैं तो देखते हैं कि अधिकांशतः, हम जो कुछ गुप्ततः हैं अथवा हो सकते हैं उसमेंसे एक निर्वाचित अंश ही हमारे जागृत अनुभव और बुद्धि है, वे हमारी प्रकृत, हमारी प्रच्छन्न सत्ताका एक बाह्य रूपायित और बहुत विकलांग तथा हेय संस्करण हैं या उसकी गहराइयोंसे किये गये उत्क्षेप हैं। हमारी बाह्य सत्ता पृथ्वीपर हमारे वर्तमान मनोमय जीवन और अन्नमय जीवनकी उपयोगिताके लिये निश्चेतनमेंसे क्रमविकास द्वारा इस अवगूढ़ सहायतासे रची गयी है; यह जो पीछे है यह एक ओर तो निश्चेतन और दूसरी ओर प्राण तथा मनके उन विशालतर स्तरोंके बीच मध्यस्थ रचना है जिनकी सृष्टि संवरणाभिमुख अवरोहणसे हुई है और जिनके चापने जड़में मन तथा प्राणका क्रमविकास घटित करनेमें सहायता की है। भौतिक जीवनके प्रति हमारी सतही अनुक्रियाओंके पीछे इन अवगुंठित अंगोंमें होनेवाली

एक क्रियाशीलताका अवलंब रहता है, प्रायः वे उन्हीं अंगोंसे आनेवाली अनुक्रियाएँ होती हैं जो सतही मानसिक अनुवादमें परिवर्त्तित हो गयी हैं। परंतु हमारी मनोसत्ता तथा प्राणसत्ताका वह बड़ा भाग भी, जो बाह्य जगत्के प्रति कोई अनुक्रिया नहीं होता, अपितु अपने ही लिये जीता या भौतिक जगत्को अपने उपयोग और अधिकारमें लानेके लिये उसपर प्रक्षिप्त होता है, वह, हमारा व्यक्तित्व, इस सबल अंतश्चेतन रहस्य-गहनसे उद्‌गत होती शक्तियों, प्रभावों और उद्देश्योंका परिणाम, उनका संमिश्र रूपायण है।

फिर, अवगूढ़ पुरुष अपना विस्तार एक आच्छादिका चेतना में करता है जिसके द्वारा वह हमपर विश्वमनसे, विश्वप्राणसे, जड़की सूक्ष्मतर विश्वशक्तियोंसे प्रवाहित होकर आती तरंगों और लहर-परिपथोंका आघात पाता है। वे सतहपर अगोचर हैं, परंतु हमारा अवगूढ़ पुरुष उन्हें देख लेता और प्रवेश देता है और उनकी ऐसी रचनाओंमें परिणति हो जाती है जो हमारे जीवनपर हमारे जाने बिना सबल प्रभाव डाल सकती हैं। इस आंतर सत्ताको बहिरात्मासे पृथक् करनेवाली दीवारका यदि भेदन हो जाय तो हम अपनी वर्तमान मानस-ऊर्जाओं और प्राण-क्रियाके उद्‌गम-स्थलोंको जान सकेंगे, उनसे व्यवहार कर सकेंगे और उनके परिणामोंको सहनेवाले होनेके बदले उनके नियंता हो सकेंगे। परंतु यद्यपि उसके बड़े भागोंको इस भाँति अंतःप्रवेशन और अंतरावलोकन या स्वतंत्रतर विनिमयके द्वारा जाना जा सकता है, संपूर्ण आत्म-संवित् तो हमें केवल तब हो सकती है यदि हम बहिस्तलीय मनके पर्देके पीछे अंदरकी ओर जायँ और अंतरमें, आंतरिक मनमें, आंतरिक प्राणमें, अपनी सत्ताके अंतरतम आत्मामें निवास करें,—और इसके अलावा, हमारी जागृत चेतना मनके जिस स्तरपर निवास करती है उससे ऊँचेके लोकमें उठ जायँ। ऐसे आंतरिक जीवनके परिणाम-स्वरूप हमारी वर्तमान क्रम-वैकासिक स्थिति, जो अभी भी इतनी बाधाग्रस्त और खंडित है, अपनी वृद्धि और संपूर्ति पायगी: परंतु उससे आगेका क्रमविकास केवल तब हो सकता है जबकि हम उसके प्रति सचेतन हो जायँ जो हमारे लिये अभी अतिचेतन है, जबकि हम 'अध्यात्म-सत्ता'के स्वधाम सुमेरुपर आरोहण कर जायँ।

हमारी वर्तमान संवित्-भूमिसे परेकी अतिचेतनामें मनोमयी सत्ताके ऊर्ध्वतर लोक सम्मिलित हैं और अतिमानसिक एवं शुद्ध आध्यात्मिक

सत्ताके स्वधाम-शिखर भी। ऊर्ध्वमुख क्रमविकासमें पहला अनिवार्य डग होगा अपनी चेतनाकी शक्तिको मनके उन उच्चतर भागोंमें उत्थित करना जहाँसे हमें अभी भी, उद्गम-स्थलको जाने विना, अपनी विशालतर मनोमयी गतियोंमेंसे वहुतोंकी, विशेषतः उनकी प्राप्ति हुआ करती है जो श्रेष्ठतर शक्ति और ज्योतिको साथ लिये आती हैं, सत्योद्भासक, प्रेरणामूलक और संवोधिमूलक होती हैं। मनके इन शिखरोंपर, इन विपुलताओंमे, यदि चेतना वहाँ तक पहुँचने अथवा वहाँ टिकी रहने और संकेंद्रित होनेमें सफल हो जाय, 'अध्यात्म'की साक्षात् विद्यमानता और शक्तिका कुछ अंश, अतिमानसका भी कुछ अंश—वह चाहे गौण या परोक्ष ही क्यों न हो—एक प्रथम प्राकट्य पा सकता है, अपने-आपकी आरंभिक अभिव्यक्ति कर सकता है, हमारी निम्नतर सत्ताके शासनमें हस्तक्षेप कर सकता और उसकी पुनर्गठनमें सहायता दे सकता है। वादमें, उस पुनर्गठित चेतनाकी शक्तिसे, हमारे विकासक्रमकी यात्रा भव्यतर आरोहण करती हुई ऊपर उठ सकेगी और मनोमयी प्रकृतिसे परे अतिमानसिक तथा परा आध्यात्मिक प्रकृतिमें प्रवेश कर सकेगी। मनके जो ये स्तर वर्तमानमें हमारे लिये अतिचेतन हैं, उनमें वस्तुतः आरोहण किये विना, या उनमें निरंतर अथवा चिर निवास किये विना, उनकी ओर यदि हमारा उन्मीलन हो जाय, उनके ज्ञान और प्रभावोंको हम ग्रहण करने लगें, तो भी अपने सांस्थानिक और मनोगत अज्ञानसे कुछ दूरीतक छुटकारा पाना हमारे लिये संभव है, यह संभव है कि हमें यह संवित् हो कि हम आध्यात्मिक पुरुष हैं और हम अपने प्राकृत मानवीय जीवन तथा चेतनाको, चाहे कितने ही अपूर्ण रूपसे क्यों न हो, अध्यात्मधर्मी करें। इस महत्तर और अधिक ज्योतिर्मयी मानसतासे हमें सचेतन संदेश और पथप्रदर्शन मिल सकता है, इसकी प्रकाशदायिनी और रूपांतरकारिणी शक्तियोंको ग्रहण किया जा सकता है। यह प्रचुर रूपसे विकसित या आध्यात्मिक रूपसे जागृत मानव-जीवकी पहुँचमें तो है, परंतु एक आरंभिक भूमिकासे अधिक नहीं। पूर्ण आत्म-ज्ञानतक, सत्ताकी संपूर्ण शक्ति और चेतनातक पहुँचनेके लिये, अपने सामान्य मनके लोकसे ऊपर आरोहण कर जाना आवश्यक है। ऐसा आरोहण, वर्तमानमें, एक आत्म-मग्न अतिचेतनामें संभव होता है, परंतु ऐसा करके तो हम निश्चल या आनंदविभोर समाधिकी अवस्थामें ही उच्चतर लोकोंमें प्रवेश करेंगे। यदि हमें उस उच्चतम आध्यात्मिक पुरुषके प्रशासनको अपने

जागृत जीवनमें ले आना है तो नयी सत्ता, नयी चेतना, नयी क्रिया-संभावनाओंके अति विशाल प्रदेशोंमें अपना सचेतन उन्नयन और विस्तार करना होगा, अपनी वर्तमान सत्ता, चेतना और क्रियाकलापको—यथा-संभव सर्वांगतया—ऊपर उठाना होगा, और उनका दिव्य मूल्योंमें रूपांतरण करना होगा, जिससे हमारे मानव-जीवनका रूपांतर संपादित होगा। कारण, जहाँ कही भी आमूल संक्रमण करना होता है, वहाँ प्रकृतिकी स्वातिक्रमणकी पद्धतिमें सर्वदा यह त्रिधा गति होती है,—आरोहण, क्षेत्र तथा आधारका विस्तरण, समाकलन।

ऐसे किसी भी क्रमवैकासिक परिवर्तनमें हमारे वर्तमान संकीर्णकारी कालावच्छिन्न अज्ञानका परिहार अवश्यमेव साथ जुड़ा रहेगा। कारण, हम अभी कालमें क्षण-क्षण करके तो जीते ही हैं, हमारी सारी दृष्टि एक ही जन्म और मृत्युके बीच हमारे वर्तमान शरीरगत जीवनतक ही सीमित भी रहती है। जैसे हमारी दृष्टि अतीतमें इससे पीछे नहीं जाती, वैसे ही भविष्यमें इससे आगे विस्तृत नहीं होती; इस तरह हम एक अस्थायी शारीरिक रचनागत वर्तमान जीवनकी स्थूल स्मृति और अभि-ज्ञतासे सीमित रहते हैं। परंतु हमारी कालिक चेतनाका यह परिसीमन, हमारा मन वर्तमानमें जिस भौतिक लोक और जीवनमें क्रिया कर रहा है उस लोक और जीवनमें उस मनके अभिनिवेशपर अंतरंग रूपसे निर्भर करता है; यह परिसीमन अध्यात्म-सत्ताका विधान नहीं, अपितु हमारी व्यक्त प्रकृतिकी एक प्रथम अभिप्रेत क्रियाके लिये अस्थायी साधन मात्र है। यदि यह अभिनिवेश शिथिल पड़ जाय या हटा दिया जाय, मनका एक विस्तरण संपादित हो जाय, मनका अवगूढ़ तथा अतिचेतन, आंतरिक तथा ऊर्ध्वतर सत्तामें एक उन्मीलन हो जाय, तो हमारा कालमें अपनी स्थायी सत्ता और उससे परे अपनी शाश्वत सत्ता, दोनोंको अनुभूत कर लेना संभव है। यदि हमें अपने आत्म-ज्ञानको सही केंद्र-बिंदुमें ले आना है तो यह अत्यावश्यक भी है; कारण, वर्तमानमें हमारी सारी चेतना और क्रिया भ्रांत आध्यात्मिक परिदृष्टिसे दूषित है जो हमें हमारी सत्ताके स्वरूप, उद्देश्य और अवस्थाओंको सही अनुपात और संबंधमें नहीं देखने देती। अमरत्वके विश्वासको अधिकांश धर्मोंमें इतना अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान मिलनेका कारण यह है कि हमारे देहात्म-बोधसे और शरीरकी भौतिक स्तरके प्रति अत्यधिक आसक्तिसे ऊपर उठनेके लिये यह विश्वास एक स्वतःसिद्ध आवश्यकता है। परंतु परि-

दृष्टिकी इस भूलमें आमूल परिवर्तन करनेके लिये केवल विश्वास पर्याप्त नहीं : अपनी कालगत सत्ताका सच्चा आत्मज्ञान हमें अपने अमरत्वकी चेतनामें निवास करनेमे ही मिल सकता है; हमें कालप्रवाहके मध्य अपनी चिरस्थायी सत्ता और अपने कालातीत अस्तित्व दोनोंके ठोस अनुभवके प्रति जागना है।

कारण, अमरत्वको यदि उसके मूलभूत भावमें लें तो उसका अर्थ शारीरिक मृत्युके बाद व्यक्तिकी किसी प्रकारकी उत्तरजीविता मात्र नहीं है। हम अपनी अनादि एवं अनंत आत्म-सत्ताकी नित्यताके नाते अमर है, हमारी वह आत्मसत्ता हम शरीरोंके जन्म-मरणकी जिस लड़ीमेंसे गुजरते हैं उस समूची लड़ीसे परे है, अपने इस लोक और अन्य लोकोंमें अपने बारी बारीसे आनेवाले जीवनोंसे परे हैं : अध्यात्म-सत्ताका कालातीत अस्तित्व ही सच्चा अमरत्व है। निस्संदेह, अमरत्व शब्दका एक गौण अर्थ भी है, उस अर्थका भी एक सत्य है; कारण, इस सच्चे अमरत्वके आनुषंगिक रूपमें, भौतिक शरीरके विलयके उपरांत भी जन्म-जन्मांतरमे, लोक-लोकांतरमें, हमारे कालिक जीवन तथा अनुभवकी एक चिर अविच्छिन्नता रहती है : परंतु यह हमारी कालातीतताका एक स्वाभाविक परिणाम ही है, वह कालातीतता ही शाश्वत कालमें चिरंतनताके रूपमें प्रकट होती है। हमें अ-जन्म और अ-संभूतिगत आत्माके ज्ञान और अपने अंदरकी अव्यय अध्यात्म-सत्ताके ज्ञानकी प्राप्तिसे कालातीत अमरत्वकी अनुभूति होती है : जन्म और संभूतिगत आत्माके ज्ञानकी प्राप्तिसे काल-अमरत्वकी अनुभूति होती है और वह मन, प्राण तथा शरीरके सारे परिवर्तनोंके बीच अंतरात्माके सदा एक-रूप रहनेके प्रत्ययमें अनूदित होती है; यह भी कोई उत्तरजीवितामात्र नहीं, यह है कालाभिव्यक्तिमें अनूदित कालातीतता। पहली उपलब्धिसे हमें जन्म और मृत्युकी शृंखलाकी तमोवृतकारिणी अधीनतासे मुक्ति मिलती है जो इतनी सारी भारतीय साधना-पद्धतियोंका परम लक्ष्य है; पहली उपलब्धिके साथ जब दूसरी जुड़ जाती है तब हम, अध्यात्म-सत्ताको काल-नित्यतामें अपनी क्रम-धाराओंमें जो अनुभव होते है, उन्हें सम्यक् ज्ञानके साथ, अज्ञानके बिना, अपने कर्मोंकी शृंखलाके बंधनके बिना, स्वतंत्रतासे अधिकृत कर सकते है। यह संभव है कि शाश्वत कालमें रहनेवाले अविच्छेद आत्माके उस सत्यका अनुभव कालातीत अस्तित्वकी विशुद्ध उपलब्धिमें समाविष्ट न हो; मृत्युके बाद भी उत्तरजीवन है अकेली इस अनुभूतिमें

इसका अवकाश फिर भी रहता है कि हमारे जीवनका एक आरंभ या अंत हो। परंतु, इन दोनों अनुभूतियोंमेंसे प्रत्येकको यदि सचमुच एक ही सत्यके इस पहलू और उस पहलूके रूपमें देखें तो काल और क्षणानुक्रमके बंधनमें न रहकर शाश्वततामें सचेतन रूपसे रहना ही इस परिवर्तनका सार है: इस तरह रहना दिव्य चेतना एवं दिव्य जीवनकी पहली शर्त है। सत्ताकी उस आंतरिक शाश्वततामें रहकर संभूतिकी धारा और प्रक्रियाको अविकृत और शासित करना दूसरी क्रियावंत शर्त है; और इसका व्यावहारिक परिणाम आध्यात्मिक स्वाधिकार और स्वराज्य है। ये परिवर्तन केवल तब संभव हैं यदि हम अपने निमग्नकारी भौतिक अभिनिवेशसे प्रत्याहृत हो जायँ—यद्यपि इसके लिये शारीरिक जीवनकी वर्जना या उपेक्षा आवश्यक नहीं—और मन तथा अध्यात्मके आंतरिक तथा उच्चतर लोकोंमें निरंतर निवास करें। कारण, हमारी चेतनाका अपने आध्यात्मिक तत्त्वमें उन्नयन तब संपादित होता है जब हम आरोहण और अंतर्मुख प्रत्याहार, इन दोनों अपरिहार्य साधनों द्वारा अपने क्षण-क्षणांतरके अस्थिर जीवनमेंसे अपनी अमृत-चेतनामें चले जाते हैं; परंतु इसके साथ-साथ हमारी कालगत चेतना तथा क्रियाक्षेत्रका प्रसार भी विशालतर हो जाता है और हमारे मानसिक, हमारे प्राणिक, हमारे शारीरिक जीवनको ऊपर उठाया जाता और उसका उच्चतर उपयोग किया जाता है। हममें अपनी सत्ताके विषयमें एक ऐसे ज्ञानका उदय होता है जिसके अनुसार वह शरीरपर आश्रित चेतना नहीं रह जाती, वरन् एक शाश्वत अध्यात्म-सत्ता होती है जो सारे लोकों और सारे जीवनोंका उपयोग विविध स्वानुभवके निमित्त करती है; वह हमें एक आध्यात्मिक सत्ताके रूपमें दिखायी देती है जिसे एक अविच्छिन्न आंतरात्मिक जीवन प्राप्त रहता है और जो एकके बाद एक शारीरिक जीवनोंसे होकर अपने क्रियाकलापका विकास चिरकाल करती है; वह अपनी स्व-संभूतिका निर्धारण करती सत्ताके रूपमें दिखायी देती है। उस ज्ञानमें, जब वह ज्ञान केवल भावगत न होकर हमारे मर्ममें अनुभूत होता है, यह संभव हो जाता है कि हम अंधी कर्मप्रवृत्तिके दास न रहकर, केवल अपने अंतःस्थ भगवानके अनुगत रहते हुए, अपनी सत्ता तथा प्रकृतिके स्वामी होकर जीवन व्यतीत करें।

साथ ही हमें अहं-कृत अज्ञानसे भी छुटकारा मिल जाता है, क्योंकि जब तक हम किसी भी स्थलपर उससे बंधे रहते हैं, दिव्य जीवन या

तो अप्राप्य होगा या उसकी स्वाभिव्यक्ति अपूर्ण होगी। कारण, इस प्राण, इस मन, इस शरीरके साथ अपनी वैयक्तिकताके सीमाकारी तादात्म्यके कारण अहं हमारी सच्ची वैयक्तिकताका मिथ्यारूप होता है। यह अन्य जीवोंसे विच्छेद होता है जो हमें अपने ही वैयक्तिक अनुभवमें बंद कर देता और वैश्व व्यक्ति होकर नहीं रहने देता: यह सकल भूतोंके अद्वय आत्मा और हमारे अंदरके दिव्य अधिवासी ईश्वर, हमारे सर्वोच्च आत्मासे विच्छेद होता है। हमारी चेतना ज्यों-ज्यों अध्यात्म-सत्ताकी ऊँचाई, गहराई और विस्तृतिमें परिवर्तित होती है, अहं फिर जीवित नहीं रह सकता: वह इतना तुच्छ और दुर्बल है कि वह उस बृहत्तामें टिक नहीं सकता और उसमें विलीन हो जाता है; कारण, उसका अस्तित्व उसकी सीमाओंके सहारे है और उसकी सीमाएँ चली गयीं तो उसका भी अंत हो जाता है। पुरुष अपनी पृथग्भूत वैयक्तिकताके बंदीत्वसे छूट निकलता है, विश्वात्मक हो जाता है, एक विश्वचेतना को धारण कर लेता है जिसमें वह सकल सत्ताओंके आत्मा, प्राण, मन और शरीरके साथ एकात्म हो जाता है। या, वह ऊपरकी ओर छूट उठता है और अपनी विश्व-सत्ता या अपनी वैयक्तिक सत्तासे स्वतंत्र स्वयम्भू सत्ताके एक चरम शिखर और आनंत्य तथा चिरंतनतामें जा पहुँचता है। अपनी विच्छेद-दीवारको खो करके अहं विश्वत्वकी अमेयतामें विध्वस्त हो जाता या आध्यात्मिक व्योमकी ऊँचाइयोंपर श्वास न ले सकनेसे शून्य हो जाता है। यदि उसकी क्रियाओंका कोई अंश प्रकृतिके अभ्यासवश रह भी जाता है तो वे क्रियाएँ भी छूट जाती हैं और उनके स्थानपर एक नयी निर्व्यक्तिक-सव्यक्तिक दृष्टि, अनुभूति, क्रिया आती है। अहंके इस विलोपसे हमारी सच्ची वैयक्तिकता, हमारी आध्यात्मिक सत्ताका विनाश नहीं होता, कारण, वह तो सदा ही वैश्व थी और विश्वातीतके साथ एक थी; वरन् एक रूपांतर होता है जो पृथगात्मक अहंके स्थानपर पुरुषको, उस पुरुषको प्रतिष्ठित करता है जो विश्व-सत्ताका एक चेतन रूप और आकृति, विश्वप्रकृतिमें विश्वातीत भगवान्‌का स्वरूप और उनकी शक्ति होता है।

इसी गति-धारामें, अध्यात्म-सत्तामें उद्‌बुद्ध होनेके कारण ही, वैश्व अज्ञानका विघटन हो जाता है; क्योंकि तब हम अपने-आपको अपने कालातीत अक्षर आत्मा-रूपमें जानते हैं जो विश्वमें और विश्वके परे स्व-प्रतिष्ठ है: यही ज्ञान कालमें दिव्य लीलाका आधार हो जाता, एक और

वह, शाश्वतएकत्व और शाश्वत बहुत्वको समन्वित करता, जीवको ईश्वरके साथ पुनर्युक्त करता और विश्वमें भगवान्‌को ढूंढ़ लेता है। इसी उपलब्धिसे हम 'परम तत्त्व'को समस्त परिस्थितियों और संबंधोंके मूलाधार-रूपमें देख सकते, जगत्‌को अपने अंदर एक परम विशालतामें और उसके मूलाधारपर सचेतन निर्भरतामें अधिकृत रख सकते, उसे इस तरह हस्तगत करके ऊपर उठा सकते और उसके द्वारा उन परम मूल्योंको संसिद्ध कर सकते है जिनका अभिसरण 'परम तत्त्व'में होता है। यदि हमारे आत्मज्ञानको इस तरह उसके सारे सार-तत्त्वोंमें संपूर्ण कर दिया जाता है तो हमारा व्यावहारिक अज्ञान, जो अपने चरम रूपमें दुष्ट-कर्म, कष्ट, मिथ्यात्व और मूल-भ्रान्तिके रूपमें प्रकट होता और जीवनकी सारी परिभ्रांतियों तथा विसंगतियोंका कारण होता है, आत्म-ज्ञानकी सम्यक् इच्छाके लिये अपना स्थान खाली कर देगा और उसके मिथ्या या अपूर्ण मूल्य सच्ची चित्-शक्ति तथा आनंदके सामने पीछे हट जायँगे। हमारे तुच्छ नैतिक आचारोंके अपूर्ण मानवीय अर्थमें नहीं, वरन् एक दिव्य जीवनकी विशाल और ज्योतिर्मयी गतिधारामें ऋत-चेतना, ऋत-कर्म, ऋत-सत्ताकी शर्तें हैं भगवान्‌से ऐक्य, सकल सत्ताओंसे एकत्व, ऐसा जीवन जो अंदरसे शासित और अंदरसे बहिर्गठित होगा और जिसमें समस्त विचार, इच्छा और कर्मका उत्स होगा 'अध्यात्म' जो कि सत्य एवं दिव्य विधानके द्वारा कार्य करता है और वह सत्य तथा दिव्य विधान अज्ञानात्मक मन द्वारा रचित और निर्मित नहीं, वरन् स्वयम्भू होते हैं और उनकी आत्म-परिपूर्ति स्वतःस्फूर्त होती है और उसका रूप उतना विधानका नहीं होता जितना कि ऐसे सत्यका जो अपनी स्वचेतनामें और अपने ज्ञानकी एक स्वतंत्र, ज्योतिर्मयी, नमनीय तथा स्वयंक्रिय प्रक्रियामें कार्य कर रहा है।

सचेतन आध्यात्मिक क्रमविकासकी रीति और परिणाम यही जान पड़ते हैं: अज्ञानके जीवनका ऋत-चिन्मय पुरुषके दिव्य जीवनमें रूपांतर, मनोमय जीवन-छंदका आध्यात्मिक और अतिमानसिक जीवन-छंदमें परिवर्तन, सप्तधा अज्ञानमेंसे सप्तधा ज्ञानमें आत्म-विस्तरण। यह रूपांतर प्रकृतिकी उस ऊर्ध्वमुखी प्रक्रियाका स्वाभाविक संपूरण होगा जिसमें वह चेतनाकी शक्तियोंको अधिकाधिक उच्च तत्त्वोंके बीच उन्नीत करती चलती है ताकि अंतमें उच्चतम तत्त्व, आध्यात्मिक तत्त्व, उसमें प्रकट और प्रधान हो जाय, निम्नतर स्तरोंकी विश्व-सत्ता और व्यष्टि-सत्ताको

अध्याय बीस

पुनर्जन्म-तत्त्व

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः।....
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।.......

शरीरी (शरीरधारी आत्मा) नित्य है, किंतु उसके ये शरीर अन्तवान् हैं; वह न तो जन्म लेता है, न मरता है, और न ऐसा ही है कि एक बार हो गया तो फिर नहीं होगा। वह अज, पुराण, नित्य, शाश्वत है; शरीरके हत हो जानेपर भी वह हत नहीं होता। जैसे मनुष्य अपने जीर्ण वस्त्रोंको उतार फेंकता और अन्य नये वस्त्रोंको धारण करता है, वैसे ही देही अपने शरीरोंको परित्यक्त करता और अभिनव शरीरोंसे संयुक्त होता है। जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु ध्रुव है, जिसकी मृत्यु हुई है उसका जन्म ध्रुव है।...

—गीता
II. 18, 20, 22, 27

...आत्मविवृद्धिजन्म।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते॥
स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।...

आत्माका जन्म होता है, उसकी वृद्धि होती है। देही अपने कर्मोंके अनुसार नाना स्थानोंमें अनुक्रमसे रूप धारण करता है; अपने स्वभाव-गुणके वश वह स्थूल और सूक्ष्म बहुत सारे रूप धारण करता है।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्
V. 11, 12

भौतिक विश्वका प्रथम आध्यात्मिक रहस्य है जन्म, द्वितीय है मृत्यु जो जन्मकी उलझनको दुगुनी कर देती है; कारण, जीवन भी, जो अन्यथा अस्तित्वका एक स्वतःसिद्ध तथ्य होता, इन दोनोंके कारण एक रहस्य बन जाता है। जन्म और मरण जीवनका आरंभ और अंत जान पडते हैं और फिर भी वे सैकड़ों तरहसे दिखाते हैं कि वे न तो जीवनका आरंभ हैं, न अंत ही, बल्कि जीवनकी गुह्य प्रक्रियामें मध्यवर्ती भूमिकाएँ है। प्रथम दृष्टिमें ऐसा लग सकता है कि मृत्यु सर्वसामान्य है, जन्म उसमें प्राणका सतत उच्छ्वास है, जड़की निष्प्राणता विश्व-व्यापिनी है, जन्म उसमें एक स्थायी परिस्थिति है। निकटतर निरीक्षणसे यह अधिक संभव लगने लगता है कि प्राण जड़में संवृत वस्तु है, यहाँ तक कि वह जड़की सृष्टि करनेवाली 'ऊर्जा'की अंतर्निहित शक्ति ही है, परंतु वह प्रकट केवल तब हो पाता है जब उसे अपने विशिष्ट व्यापारके प्रतिष्ठापन और उपयुक्त आत्म-संगठनके लिये आवश्यक अवस्थाएँ प्राप्त हो जाती हैं। परंतु प्राणके जन्ममें ऐसा और कुछ भी है जो उन्मज्जनमें भाग लेता है,—एक ऐसा तत्त्व जो भौतिक नहीं रह जाता, प्रत्युत आत्माकी किसी लौका सबल उभार, अध्यात्म-सत्ताका प्रथम स्पष्ट स्पंदन होता है।

जन्मकी सारी ज्ञात परिस्थितियों और परिणामोंमें यह ध्वनित है कि कोई अज्ञात अतीत या पूर्व रहा है, और एक विश्वव्याप्तिका संकेत मिलता है, जीवनको अनवरत टिकाये रखनेकी इच्छा मिलती है, मृत्युमें अन्त होता नहीं दिखायी देता, ये सब यह इंगित करते लगते हैं कि एक अज्ञात भविष्य या पश्चात् भी है। हम जन्मके पहले क्या थे और मृत्युके बाद क्या है, इन प्रश्नोंमें एकका उत्तर दूसरेके उत्तरपर निर्भर करता है और मनुष्यकी बुद्धिने इन प्रश्नोंको अपने सामने आरंभसे ही रखा है, परंतु अभी भी वह किसी अंतिम समाधानतक नहीं पहुँची है। वास्तवमें, बुद्धि इनका अंतिम उत्तर शायद ही दे सकती है: कारण, वह उत्तर स्वरूपतया स्थूल चेतना और स्मृतिकी प्राप्त सामग्रीसे परे रहेगा, वह चेतना और स्मृति चाहे जातिकी हो चाहे व्यक्तिकी; फिर भी यही वह एकमात्र सामग्री है जिसकी सम्मतिको विश्वस्तता-जैसे किसी भावके साथ लेनेका अभ्यास बुद्धिको रहता है। सामग्रीके इस दारिद्र्यमें और इस अनिश्चितिमें वह एक प्राक्कल्पनासे अन्य प्राक्कल्पनाकी ओर चक्कर लगाती है और प्रत्येकको उसकी बारीमें अपना निर्णय कहती

है। इसके अतिरिक्त, समाधान निर्भर करता है विश्व-गतिधाराकी प्रकृति, उत्स और उद्देश्यपर, और जो निर्णय हम इनके वारेमें करेंगे, वैसा ही निर्णय हमें जन्म, जीवन और मृत्युके वारेमें, जीवन-पूर्व और जीवन-पश्चात्के वारेमें करना होगा।

पहला प्रश्न यह है, क्या यह पूर्व और पश्चात् केवल भौतिक और प्राणिक हैं, या कि किसी भाँति, और अधिक प्रवलतया, मानसिक और आध्यात्मिक? यदि जड़ ही विश्वका तत्त्व हो जैसा कि जड़वादी कहते हैं, यदि विश्वका सत्य उस प्रथम सूत्रमें हो जिसे वरुण-पुत्र भृगुने शाश्वत ब्रह्मपर ध्यान करके प्राप्त किया था, "अन्न ही ब्रह्म है, क्योंकि अन्नसे ही सकल भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और अन्नके सहारे ही सकल भूतोंका अस्तित्व है और अंतमें सकल भूत अन्नकी ओर ही प्रयाण करते और उसमें वापस चले जाते हैं," तो आगे कोई प्रश्न संभव नहीं होगा। तव वीज और भोजनके साधनसे और शायद गुह्य परंतु सर्वदा भौतिक ही रहती ऊर्जाओंके प्रभावमें विविध अन्नमय तत्त्वोंमेंसे उनके उपादानोंका एकत्रकरण, यह हमारे शरीरोंका पूर्व-इतिहास होगा, और विश्वव्यापी जड़में वंशानुक्रम द्वारा अथवा किसी अन्य जड़ाश्रयी प्राणिक या जड़ाश्रयी मानसिक क्रिया द्वारा तैयारी, जिसमें उसकी क्रिया विशेपित होती है और व्यक्तिका निर्माण उसके माता-पिताके शरीरों द्वारा, वीज और 'जीन' और 'क्रोमोसोम' द्वारा होता है,—यह हमारी चेतन सत्ताका पूर्व-इतिहास होगी। भौतिक तत्त्वोंमें विघटित हो जाना शरीरका भविष्य होगा, और मानव-जातिके सामान्य मन और जीवनमें उसकी क्रियाशीलताके कुछ प्रभावोंके वचे रहनेके अतिरिक्त उसका जड़तत्त्वके अंदर पुनरावर्तन हो जाना चेतन सत्ताका भविष्य होगा: यह अंतिम सर्वथा भ्रामक उत्तरजीविता ही हमारे लिये अमरत्वकी एकमात्र संभावना होगी। परंतु चूंकि अव यह नहीं माना जा सकता कि जड़की विश्वव्याप्तिसे मनके अस्तित्वकी कोई पर्याप्त व्याख्या मिलती हो—और वास्तवमें स्वयं 'जड़'की व्याख्या अकेले जड़तत्त्वके द्वारा अव और नहीं हो सकती, कारण, वह स्वयम्भू नहीं दिखायी देता,—अतः हम इस आसान और प्रत्यक्ष समाधानको छोड़कर अन्य प्राक्कल्पनाओंकी ओर वापस जानेको विवश होते हैं।

इनमेंसे एक प्राक्कल्पना प्राचीन धार्मिक पुराण-कथाओंमें चला आता और रूढ़िपर आश्रित यह रहस्याख्यान है कि एक ईश्वर है जो

निरंतर अमर जीवोंकी सृष्टि अपनी सत्तामेंसे करता है या, नहीं तो, अपने "निःश्वास" या प्राण-शक्ति द्वारा करता है जो जड़ प्रकृतिमें, या वल्कि उस प्रकृतिमें ईश्वरद्वारा सृष्ट शरीरोंमें प्रवेश करती और उन्हें अंतरमें एक आध्यात्मिक तत्त्वसे अनुप्राणित करती है। श्रद्धाके रहस्या-ख्यानके रूपमें यह मान्यता टिकी रह सकती है और इसकी जाँचकी आवश्यकता नही, कारण, श्रद्धापर आश्रित रहस्याख्यान अवश्य ही, प्रश्न तथा संवीक्षासे परे रखे जानेके लिये अभिप्रेत हैं; परंतु बुद्धि और दर्शनशास्त्रके लिये इसमें विश्वासोत्पादकताकी कमी है और यह वस्तुओंके ज्ञात क्रममें ठीक नहीं वैठती। कारण, इसमें ऐसे दो विरोधाभास हैं जिनपर कुछ भी विचार करनेके पहले उनका अधिक औचित्य खोजनेकी आवश्यकता होती है; पहला है हर घड़ी ऐसे जीवोंका सृजन जिनका कालमें आरंभ तो है, किंतु कालमें अंत नहीं, और इसके अलावा, जिनका शरीरके जन्मके साथ जन्म तो होता है परंतु शरीरके अंतके साथ अंत नहीं; दूसरा यह है कि वे ऐसे सम्मिश्रित लक्षणों, गुण-दोषों, सामर्थ्य-असामर्थ्यों, स्वभावगत तथा अन्य सुविधा-असुविधाओंके एक वने वनाये समूहको धारण करते हैं जो प्रस्फुटन-क्रममें विलकुल ही उनके द्वारा नहीं वनाये गये होते, प्रत्युत उनके लिये, यदि वंशानुक्रमके विधान द्वारा नहीं, तो एक स्वेच्छाचारिणी आज्ञा द्वारा ही वनाये गये होते हैं; फिर भी उनका स्रष्टा उन्हें ही इनके लिये और इनके पूर्ण उपयोगके लिये उत्तरदायी ठहराता है।

हम कुछ वातोंको, कमसे कम, सामयिक रूपसे—दार्शनिक युक्तिके वैध अभ्युपगम मान ले सकते और उन्हें अप्रमाणित करनेका भार उन्हें न माननेवालों पर ही न्यायतः डाल दे सकते हैं। इन अभ्युपगमोंमें एक यह सिद्धांत है कि जिसका अंत नहीं है उसका अवश्य ही कोई आदि भी नहीं होगा; जिस किसीका आदि है या जो कोई भी सृष्ट है उसका अंत तव पहुँच जाता है जव उसकी सृष्टि और संरक्षण करनेवाली प्रक्रियाका अवसान हो जाता या जिन उपादानोंके मिश्रणसे वह वना है उनका विघटन हो जाता या जिस कार्यके लिये वह अस्तित्वमें आया था उसका अंत हो जाता है। इस विधानका यदि कोई अपवाद है तो उसे जड़के अंदर अध्यात्म-सत्ताके अवतरणसे ही होना चाहिये जिससे अध्यात्म-सत्ता जड़को अपनी दिव्यतासे अनुप्राणित करेगी या जड़को अपना स्व-अमरत्व प्रदान करेगी; परंतु स्वयं वह अध्यात्म-सत्ता जो इस तरह

अवतरित होती है अमर है, निर्मित या सृष्ट नहीं। यदि आत्माकी सृष्टि शरीरको अनुप्राणित करनेके लिये हुई हो, यदि अस्तित्वमें आनेके लिये वह शरीरपर निर्भर करता हो, तो शरीरके विलोपके उपरांत उसके अस्तित्वका कोई कारण या आधार नहीं हो सकता। स्वभावतः यह मानना होगा कि शरीरको अनुप्राणित करनेके लिये दत्त निःश्वास या शक्ति अपने अंतिम विघटनमें अपने निर्माताके पास वापस चली जायगी। इसके विपरीत, वह यदि फिर भी एक अमर देहीके रूपमें टिका रहता है तो एक सूक्ष्म या चैत्य शरीर होना ही चाहिए जिसमें वह टिका रहे, और यह बहुत कुछ निश्चित है कि वह चैत्य शरीर और उसका निवासी जड़ वाहनसे पहले भी अस्तित्वमें रहे ही होंगे: यह मानना अयौक्तिक होगा कि उनकी सृष्टि मूलतः उस क्षणस्थायी नश्वर रूपके अंदर निवास करनेके लिये की गयी थी; सृष्टिमें ऐसी क्षणभंगुर घटनाका परिणाम कोई अमर सत्ता नहीं हो सकती। यदि ऐसा है कि आत्मा टिका तो रहता है किंतु विदेह अवस्थामें ही, तो उसे अपने अस्तित्वके लिये किसी देहपर मूलतः निर्भर नहीं करना हो सकता; जैसे वह मृत्युके उपरांत अपनी विदेह आध्यात्मिक सत्तामें टिका रहता है, जन्मके पूर्व भी वह विदेह आत्मावत् रहा ही होगा।

फिर, हम यह मान सकते है कि कालमें हम जहाँ विकासका कोई पर्व देखते हैं, वहाँ उस पर्वका अवश्य कोई अतीत रहा होगा। अतएव, यदि जीव इस जीवनमें व्यक्तित्वका कोई विकास लेकर प्रवेश करता है, तो उसने उसकी तैयारी यहाँ या अन्यत्र अन्य पूर्वगामी जीवनोंमें अवश्य की होगी। या यदि वह एक बना-बनाया जीवन और व्यक्तित्व ही धारण करता हो जिसे स्वयं उसने तैयार नहीं किया है, प्रत्युत शायद एक अन्नमय, प्राणमय और मनोमय वंशानुक्रम द्वारा तैयार किया गया है, तो स्वयं उसे उस जीवन तथा व्यक्तित्वसे एक सर्वथा स्वतंत्र वस्तु, एक ऐसी वस्तु होना ही चाहिये जिसका मन और प्राणसे केवल आकस्मिक संबंध है और फलतः जिसपर, इस मनोमय तथा शारीरिक जीवनमें जो कुछ किया जाता या विकसित होता है, उसका यथार्थमें कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। जीव यदि कोई निर्मित सत्ता या सत्ताकी निर्मित आकृति नहीं, वरन् सत्य और अमर है, तो उसे शाश्वत भी होना ही चाहिए, जैसे भविष्यमें अंतहीन वैसे ही अतीतमें अनादि होना चाहिये; परंतु वह यदि शाश्वत है तो वह या तो जीवन और उसके

सूत्रोंसे प्रभावित नहीं होनेवाला परिवर्तनहीन आत्मा होगा या एक कालातीत पुरुष, एक शाश्वत और आध्यात्मिक पुरुष होगा जो परिवर्तनशील व्यक्तित्वकी धाराको कालमें अभिव्यक्त या प्रवर्तित कर रहा है। वह यदि ऐसा पुरुष है तो व्यक्तित्वकी इस धाराको वह जन्म और मृत्युके जगत्में एकके बाद एक शरीर धारण करके ही,—संक्षेपमें, प्रकृतिके रूपोंमें निरंतर या बार-बार पुनर्जन्म लेकर ही,—अभिव्यक्त कर सकता है।

परंतु हम यदि उस सिद्धांतको माननेसे इनकार भी करें जो सब कुछकी व्याख्या शाश्वत जड़से करता है तो भी जीवकी नित्यता या अमरता तुरंत प्रतिष्ठित नहीं हो जाती। कारण, हमें यह प्राक्कल्पना भी मिलती है कि एक आद्य 'एकत्व' है जिससे सकल वस्तुओंका आरंभ हुआ, जिससे उनका जीवन है और जिसके अन्दर उनका अवसान होता है, और उसी 'एकत्व'की किसी शक्तिसे अस्थायी या प्रतीयमान जीवकी सृष्टि हुई है। एक ओर हम कुछ आधुनिक विचारों या आविष्कारोंके आधारपर यह मत बना सकते हैं कि एक वैश्व निश्चेतन है जो अस्थायी जीवकी, एक ऐसी चेतनाकी सृष्टि करता है जो एक अल्प क्रीड़ाके बाद बुझ जाती और निश्चेतनमें वापस चली जाती है। या, एक शाश्वत संभूति हो सकती है जो अपने-आपको वैश्व प्राण-शक्तिमें अभिव्यक्त करती है, इस अभिव्यक्तिमें जड़ प्रकट होता है उसकी क्रियाओंके एक प्रान्त, बहिर्व्यक्त प्रान्तके रूपमें और मन उसके दूसरे, अंतर्व्यक्त प्रान्तके रूपमें, प्राण-शक्तिके इन द्विविध व्यापारोंकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियासे हमारे मानव-जीवनकी रचना होती है। दूसरी ओर, हमें यह प्राचीन सिद्धांत मिलता है कि एक एकमात्र–अस्तित्ववान् 'अतिचेतन' है, एक शाश्वत अविकार्य शुद्ध सन्मात्र है जो 'व्यावहारिक' मन और जड़के इस जगत्में व्यष्टि-जीवके जीवनके भ्रमको माया द्वारा प्रवेश देता या रचता है, दोनों ही अंततः असत्य हैं,—भले ही उनकी सामयिक और 'व्यावहारिक' वास्तवता हो या उसे वे धारण कर लें,—कारण, एक शाश्वत अविकार्य आत्मा या अध्यात्म-सत्ता ही एकमात्र सद्वस्तु है। अथवा, हमें यह बौद्ध सिद्धांत मिलता है कि एक सर्वशून्य या निर्वाण है, उसपर किसी भाँति क्रमानुगत संभूतिकी शाश्वत क्रिया या ऊर्जाका, जिसे कर्म कहा जाता है, आरोपण हो गया है, संस्कारों, विचारों, स्मृतियों, संवेदनों, कल्पनाओंकी सतत अविच्छिन्नता द्वारा एक स्थायी आत्मा या पुरुषका भ्रम उत्पन्न होता है।

जहाँतक जीवन-समस्यापर उनके परिणामकी बात है ये तीनों व्याख्याएँ व्यवहारतः एक हैं; कारण, वैश्व क्रियाके प्रयोजनोंके लिये अतिचेतन भी निश्चेतनके तुल्य ही है; उसे केवल अपनी अविकार्य स्वयम्भू सत्ताकी संवित् हो सकती है: माया द्वारा व्यष्टि-जीवोंके जगत्की सृष्टि इस स्वयम्भू सत्तापर एक अध्यारोप ही हो सकती है, यह शायद सुषुप्तिमें[1] चेतनाकी एक प्रकारकी आत्म-निमग्न निद्रामें ही घटित हो सकती है जिसमेंसे, फिर भी, सारी सक्रिय चेतना और प्रापंचिक संभूतिके सकल विपरिणाम निर्गत होते हैं; यह ठीक वैसे ही है जैसे कि आधुनिक सिद्धांतके अनुसार हमारी चेतना निश्चेतनामेंसे एक अस्थायी विकास है। तीनों सिद्धांतोंके अनुसार जीवका प्रतीयमान आत्मा या आध्यात्मिक व्यक्तित्व नित्यताके अर्थमें अमर नहीं है, अपितु कालमें उसका एक आरंभ है और अंत भी, वह निश्चेतन या अतिचेतनमेंसे माया द्वारा या प्रकृति-शक्ति द्वारा या विश्व-क्रिया द्वारा की गयी सृष्टि है; और फलतः उसका अस्तित्व अचिर है। इन तीनोंमें पुनर्जन्म या तो अनावश्यक है या भ्रमात्मक; वह या तो भ्रमकी पुनरावृत्तिके द्वारा जीवनका दीर्घतर किया जाना है या संभूतिके जटिल यंत्र-विन्यासके इतने सारे चक्रोंके बीच एक और घूमता चक्र है; या पुनर्जन्मको यह कहकर बहिष्कृत कर दिया जाता है कि जो सचेतन सत्ता एक निश्चेतन सृष्टिके अंगके रूपमें अकस्मात् प्रादुर्भूत हो गयी है वह केवल एक जन्मसे अधिककी मांग नहीं कर सकती।

इन दृष्टियोंके अनुसार, हम उस एक शाश्वत सत्ताको चाहे प्राणिक संभूति मानें चाहे एक अक्षर एवं अविकार्य आध्यात्मिक सत् या एक नामहीन रूपहीन असत्, जिसे हम अन्तरात्मा या जीव कहते हैं वह चेतनाके प्रपंचोंका परिवर्तनशील पिंड या प्रवाहमात्र हो सकता है जो संभूतिके सागरमें ही अस्तित्वमें आया है, वह संभूति चाहे सत्य हो चाहे भ्रमात्मिका, और वहीं उसके अस्तित्वका अवसान होगा,—अथवा, हो सकता है कि वह एक अस्थायी आध्यात्मिक अधःस्तर हो, अतिचेतन शाश्वतका एक सचेतन प्रतिबिम्ब हो जो अपने अधिवाससे प्रपंचके पिंडको आधार देता है। वह शाश्वत नहीं; संभूतिमें अधिक या कम

---

1. माण्डूक्योपनिषद्का प्राज्ञ; गभीर सुषुप्तिमें अवस्थित आत्मा ही सर्वेश्वर और सर्वस्रष्टा है।

अविच्छिन्नता ही उसका एकमात्र अमरत्व है। वह कोई ऐसा वास्तव और सदा-विद्यमान 'पुरुष' नहीं जो प्रपंचके प्रवाह या पिंडको बनाए रखता और अनुभूत करता हो। जो उनका धारयिता है, जो यथार्थमें और सर्वदा अस्तित्ववान् है, वह या तो अद्वय शाश्वत 'संभूति' है या अद्वय शाश्वत तथा निर्व्यक्तिक 'सत्', या परम ऊर्जाका अपनी क्रियाओंमें प्रवाह ही। इस प्रकारके सिद्धांतके लिये यह अपरिहार्य नहीं कि सर्वदा एक समान रहनेवाला कोई चैत्य पुरुष हो जो अस्तित्वमें बना रहे और एकके बाद दूसरा शरीर, एकके बाद दूसरा रूप तबतक धारण करता चले जबतक कि अन्तमें, इस चक्रकी सृजनकारिणी आद्य प्रेरणाको सर्वथा विनष्ट करनेवाली किसी प्रक्रियासे वह विघटित न हो जाय। यह बिलकुल संभव है कि जैसे-जैसे एक-एक रूप विकसित होता है उस प्रत्येक रूपके अनुरूप एक-एक चेतनाका विकास होता है, और जब रूप विघटित होता है उसकी अनुरूपिणी चेतना भी उसके साथ विघटित हो जाती है; केवल वह 'एक', जो सबका रूपकार है, नित्य रहता है। या, जैसे शरीर जड़के सामान्य उपादान-तत्त्वोंसे एकत्र किया जाता है और उसके जीवनका जन्मके साथ प्रारंभ और मृत्युके साथ अंत हो जाता है, वैसे ही चेतना भी मनके सामान्य उपादान-तत्त्वोंमेंसे विकसित की जा सकती है और समान रूपसे उसका जन्मके साथ आरंभ और मृत्युके साथ अंत हो सकता है। यहाँ भी, वह 'एक' ही, जो कि माया या किसी अन्य साधनसे वह शक्ति देता है जो उपादान-तत्त्वोंकी सृष्टि करती है, एकमात्र नित्य सद्वस्तु है। जीवनके इन सिद्धांतोंमें किसीके भी लिये पुनर्जन्म न तो कोई नितांत आवश्यकता है, न उसका अनिवार्य परिणाम ही।[2]

तथापि, वास्तवमें, हम एक बड़ा अंतर पाते हैं; कारण, जबकि प्राचीन सिद्धांत पुनर्जन्मको विश्व-प्रक्रियाके अंगके रूपमें प्रतिष्ठित करते

---

2. बौद्ध मतमें पुनर्जन्म अवश्यम्भावी रहता है, कारण वह कर्मका अपरिहार्य परिणाम है; वहाँ प्रतीयमान रूपसे अविच्छिन्न रहती चेतनाकी कड़ी अंतरात्मा नही, अपितु कर्म है,—कारण, चेतना क्षण-क्षण परिवर्तित होती रहती है : चेतनाकी यह प्रतीयमान अविच्छिन्नता तो है, परंतु यथार्थमें कोई अमर जीव या अंतरात्मा नहीं जो जन्म लेता हो और शरीरकी मृत्युमेंसे गुजरता हुआ अन्य शरीरमें पुनर्जन्म लेता हो।

हैं, आधुनिक मत उसे अस्वीकार करता है। आधुनिक विचारधारा स्थूल शरीरको हमारे अस्तित्वका आधार मानकर चलती है और इस भौतिक विश्वके अतिरिक्त किसी अन्य जगत्को वास्तविक नहीं मानती। यहाँ उसे दिखायी देती है शरीरके जीवनके साथ संयुक्त एक मनोमयी चेतना, जिसके जन्ममें किसी पूर्ववर्ती वैयक्तिक सत्ताका चिह्न नहीं मिलता और जिसके अंतमें उत्तरवर्ती वैयक्तिक सत्ताका कोई चिह्न नहीं छूटता। जन्मके पूर्व जो कुछ था वह जड़ ऊर्जा ही है जिसके साथ उसका प्राण-बीज रहता है, या अधिकसे अधिक, एक प्राण-शक्तिकी ऊर्जा है, जो माता-पिताके द्वारा संचारित बीजमें टिकी रहती है और, उस अति तुच्छ वाहनमें अतीतके विकासका रहस्यमय अन्तःसंचार करती हुई, इस अद्भुत रीतिसे सृष्ट अभिनव मन और शरीरको एक विशेष मानसिक और शारीरिक छाप देती है। मृत्युके उपरांत जो चीज बची रहती है वह वही जड़ ऊर्जा या प्राण-शक्ति है जो संतानमें संचारित बीजमें टिकी रहती और उसके साथ चलनेवाले मानसिक तथा शारीरिक जीवनके आगेके विकासके लिये सक्रिय रहती है। हममेंसे कुछ भी नहीं बचा रह जाता, सिवाय उसके जिसे हम दूसरोंमें संचारित कर देते हैं या जिसे व्यक्तिको अपनी पूर्ववर्ती और पर्यावरिक क्रिया द्वारा, जन्म द्वारा और पर्यावरण द्वारा गठित करनेवाली महा ऊर्जा उसके जीवन तथा कर्मके परिणामके रूपमें अपनी उत्तरवर्ती क्रियाके भीतर लेती हो; अन्य व्यक्तियोंके मनोमय और प्राणमय उपादान तथा पर्यावरणको निर्मित करनेमें जो कुछ भी संयोगवश या भौतिक विधानके अनुसार सहायता दे सकता हो, केवल वही मृत्युके बाद बचा रह सकता है। मनोमय और अन्नमय, दोनों व्यापारोंके पीछे शायद एक वैश्व प्राण है जिसकी हम व्यष्टिरूपित, क्रमवैकासिक और दृश्य संभूतियाँ हैं। यह वैश्व प्राण एक वास्तव जगत् और वास्तव सत्ताओंकी सृष्टि करता है, परंतु इन सत्ताओंमें जो सचेतन व्यक्तित्व है वह किसी शाश्वत पुरुषकी चेतनाका, किसी स्थायी अन्तरात्माका अथवा अतिभौतिक पुरुषकी चेतनाका भी चिह्न या आकार नहीं, या कमसे कम उसका ऐसा होना आवश्यक नहीं: अस्तित्वके इस सिद्धान्तमें ऐसा कुछ भी नहीं जो हमें शरीरकी मृत्युके बाद भी उत्तरजीविनी रहनेवाली चैत्य सत्तामें विश्वास करनेको बाध्य करे। पुनर्जन्मको विश्व-योजनाका अंग माननेके लिये न तो इसमें कारण मिलता है, न पूरा अवकाश ही।

परंतु हमारे ज्ञानकी वृद्धि होनेपर यदि इस बातका पता लगे, जिसका पूर्वाभास कुछ अनुसंधान और आविष्कार देते लगते हैं, कि यद्यपि केवल स्थूल सत्ता और स्थूल विश्वके तथ्योंके अध्ययनसे हमारा प्रथम स्वाभाविक निष्कर्ष यह होता है कि हमारे अंदरका मनोमय पुरुष या चैत्य सत्ता संपूर्णतया शरीरपर आश्रित है किंतु वह निर्भरता उतनी संपूर्ण है नहीं, तो क्या होगा? यदि यह पता चले कि मानव-व्यक्तित्व शरीरकी मृत्युके उपरांत भी बचा रहता और इस भौतिक विश्व तथा अन्य लोकोंके बीच विचरण करता है, तो क्या होगा? तब सचेतन जीवनको अल्पकालीन माननेवाली प्रचलित आधुनिक विचारधाराको अधिक विस्तृत होना होगा और एक ऐसे प्राणको स्वीकार करना होगा जिसका प्रसार स्थूल विश्वसे विशालतर है और एक ऐसी व्यक्तिगत वैयक्तिकताको भी स्वीकार करना होगा जो भौतिक शरीरपर आश्रित नहीं। उसे व्यवहारतः इस प्राचीन विचारको पुनः अंगीकार करना हो सकता है कि एक सूक्ष्म विग्रह या शरीर है जिसमें चैत्य पुरुष निवास करता है। तब, या तो मनश्चेतनाको साथ लेकर एक चैत्य या आंतरात्मिक सत्ता, या यदि ऐसा कोई आद्य अंतरात्मा न हो तो विकसित तथा स्थायी मनोमय व्यक्ति, मृत्युके उपरांत इस सूक्ष्म स्थायी देहमें टिका रहेगा, जिसकी सृष्टि उसके लिये या तो इस जन्मके पूर्व या जन्मके ही द्वारा या जीवनके दौरानमें की गई होगी। कारण, या तो यह है कि चैत्य सत्ता अन्य लोकोंमें सूक्ष्म देहमें पहलेसे विद्यमान रहती है और अपने अल्प पार्थिव प्रवासके लिये वहाँसे उसके साथ आती है, या यह है कि अन्तरात्मा यहाँ भौतिक जगत्में ही विकसित होता है, और प्रकृतिके दौरानमें उसके साथ एक चैत्य शरीर विकसित होता है और मृत्युके बाद अन्य लोकोंमें, या यहाँ पुनर्जन्म लेकर, अस्तित्व बनाए रखता है। ये दो संभव विकल्प होंगे।

जिस वर्द्धमान व्यक्तित्वने अब स्वयं हमारा रूप ले लिया है, हो सकता है कि मानव-शरीरमें प्रविष्ट होनेसे पहले ही एक क्रम-विकसनशील वैश्व प्राणने उसे पृथ्वीपर विकसित कर दिया हो; हमारा अंतरात्मा मनुष्यकी सृष्टि होनेसे पहले निम्नतर प्राण-रूपोंमें विकसित हुआ हो सकता है। यदि ऐसा हो तो हमारे व्यक्तित्वने पहले पशु-रूपोंमें निवास किया है, और सूक्ष्म शरीर एक नमनीय रूपायण होगा जिसे जन्म-जन्मांतरमें ले जाया जाता होगा परंतु जो, जिस किसी भी स्थूल रूपके

भीतर अंतरात्मा निवास करता होगा, अपने-आपको उसके अनुकूल कर लेता होगा। या, विकासशील 'प्राण' उत्तरजीविताके लिये समर्थ व्यक्तित्व निर्मित करनेमें सक्षम हो सकता है, परंतु यह मनुष्यका सृजन हो जाने पर, मानव-विग्रहमें ही हो सकता है। यह मनश्चेतनाके एक आकस्मिक वर्द्धनकी शक्तिसे घटित होगा, और साथ ही, एक सूक्ष्म मनोधातुके कोषका विकास हो जा सकता है जो इस मनश्चेतनाके व्यष्टिरूपणमें सहायक हो और तब वह एक आंतरिक शरीरकी तरह कार्य करेगा, यह बात वैसी ही होगी जैसे स्थूल शारीरिक विग्रह अपने संगठनसे पशुके मन तथा प्राणको एक साथ ही व्यष्टि-रूप देता और उसका आवास भी बन जाता है। पहली मान्यताको लें तो हमें मानना होगा कि पशु भी शरीरके विघटनके बाद बचा रहता है और उसमें किसी प्रकारका अंतरात्मा-रूपायण है जो मृत्युके बाद पृथ्वीपर अन्य पशु-रूपोंमें और अंतमें मानव-शरीरमें निवास करता है। कारण, यह संभावना अल्प ही है कि पशुका आत्मा पृथ्वीसे परे जाता, स्थूल लोकसे भिन्न प्राणके अन्य लोकोंमें प्रवेश करता और यहाँ तबतक निरंतर वापस आता रहता है जबतक कि वह मानव-जन्मके लिये तैयार न हो जाय; पशुका सचेतन व्यष्टिरूपण इतना पर्याप्त नहीं लगता कि वह इस स्थानांतरणको सह सके या अपने-आपको किसी अन्य लोकके जीवनके अनुकूल कर सके। यदि दूसरी मान्यताको लें तो स्थूल शरीरकी मृत्युके बाद अस्तित्वकी अन्य अवस्थाओंमें इस तरह बचे रहनेकी क्षमता क्रम-विकासमें मानव-भूमिकाके आनेके साथ ही आयगी। वास्तवमें, यदि जीव या अंतरात्मा 'प्राण' द्वारा विकसित कोई ऐसा निर्मित व्यक्तित्व नहीं, अपितु एक अविकसनशील स्थायी तत्त्व है, पार्थिव जीवन और शरीर जिसका आवश्यक क्षेत्र हो, तो पुनर्जन्मके सिद्धांतको पाइथागोरसके देहांतरणके अर्थमें मानना होगा। परंतु वह यदि एक विकसनशील स्थायी सत्ता हो जिसमें पार्थिव भूमिकासे आगे जानेकी क्षमता है तो अन्य लोकोंमें चले जाने और पार्थिव जन्ममें वापस आनेका भारतीय विचार संभव और बहुत संभावित हो जाता है। परंतु यह बात अनिवार्य तो नहीं होगी, कारण, यह कल्पना की जा सकती है कि मानव-व्यक्तित्व एक बार जब अन्य लोकोंमें जानेको सक्षम हो गया तो उसे वहाँसे लौटनेकी आवश्यकता नहीं: कोई गुरुतर बाध्यकारी कारण न हो तो वह अपना जीवन-यापन स्वभावतया उस उच्चतर लोकमें

करेगा जिसमें वह चढ़ गया है; उसने पार्थिव जीवनका क्रमविकास समाप्त कर दिया होगा। यदि हमारे सामने इसका वास्तविक प्रमाण उपस्थित हो कि वह पृथ्वीपर वापस आता है, तभी कोई विशालतर मान्यता अवश्यम्भावी होगी और यह मानना अनिवार्य हो जायगा कि मानव-रूपोंमें बारबार पुनर्जन्म होता है।

परंतु इतना होनेपर भी यह आवश्यक नहीं होता कि वर्द्धमान प्राणवादी सिद्धांत अध्यात्मभाव धारण करे, यह स्वीकार करे कि अंतरात्माका अस्तित्व सच्चा है या कि अंतरात्मा अमर या शाश्वत है। यह सिद्धांत व्यक्तित्वको अभी भी इस रूपमें देख सकता है मानों वह वैश्व प्राणकी प्रापंचिक सृष्टि है जो प्राण-चेतना और स्थूल रूप तथा शक्तिकी पारस्परिक क्रिया द्वारा हुई है, परंतु इसमें दोनोंकी एक दूसरेपर विशालतर, अधिक परिवर्त्तनशील और सूक्ष्मतर क्रिया रही है और एक अन्य इतिहास रहा है जो उसकी आरंभमें देखी गयी संभावनासे भिन्न है। यह सिद्धांत एक प्रकारके प्राणवादी बौद्ध सिद्धांत तक भी पहुँच सकता है जो कर्मको स्वीकार तो करता है, परंतु केवल एक विश्व-व्यापी प्राण-शक्तिकी क्रियाके रूपमें; यह इसके कई परिणामोंमेंसे एकके रूपमें यह तो स्वीकार करेगा कि व्यक्तित्वका प्रवाह मानसिक संस्कार-संयोग द्वारा पुनर्जन्ममें अविच्छिन्न चलता है, परन्तु व्यक्तिका कोई वास्तविक आत्मा है या कि इस सदा-सक्रिय प्राणिक संभूतिके अतिरिक्त कोई शाश्वत सत्ता भी है, इसे यह अस्वीकार कर सकता है। दूसरी ओर, विचारधाराके अन्य मोड़का अनुसरण करके, जिसे अब कुछ बल मिल रहा है, यह यह स्वीकार कर सकता है कि एक विश्वात्मा अथवा विश्वव्यापी अध्यात्म-सत्ता ही आद्य सद्वस्तु है और प्राण उसकी शक्ति या उसका अभिकर्त्ता, और इस भाँति यह एक अध्यात्म-भावापन्न प्राणाद्वैतवाद पर पहुँच जा सकता है। इस सिद्धांतके अनुसार भी पुनर्जन्मका सिद्धांत सम्भव होगा किंतु अनिवार्य नहीं; वह एक 'व्यावहारिक' तथ्य हो सकता है, जीवनका विद्यमान विधान हो सकता है, परंतु वह सत्ताके सिद्धांतका तर्कसंगत निष्कर्ष और उसका अनिवार्य परिणाम नहीं होगा।

मायावादके अद्वैतने, बौद्ध सिद्धांतकी तरह, इस स्वीकृत हो चुकी मान्यतासे आरंभ किया था, जो एक बहुत प्राचीन ज्ञानके भंडारका अंग थी, कि अतिभौतिक स्तर और लोक हैं और उनके और हमारे स्तर तथा लोकके बीच संसर्ग होता है जिससे मानव-व्यक्तित्वका पृथ्वीसे

पारगमन और, यद्यपि यह आविष्कार कम प्राचीन मालूम होता है, उसका पृथ्वीपर वापस आना निर्धारित होता है। जो कुछ भी हो, उनके विचारके पीछे यह प्राचीन प्रत्यय था और अनुभव भी, या कमसे कम, एक युग-पुरातन परंपरा थी, कि व्यक्तित्वका एक अतीत और भविष्य है जो स्थूल विश्वके अनुभव तक ही सीमित नहीं; कारण, उन्होंने अपने और जगत्के बारेमें ऐसी दृष्टिको आधार बनाया था जो पहलेसे ही अतिभौतिक चेतनाको प्रधान व्यापार और भौतिक सत्ताको केवल गौण और उपाश्रित व्यापारके रूपमें देख रही थी। शाश्वत 'सद्वस्तु'के स्वरूप और प्रापंचिक संभूतिके मूलका निर्धारण उन्हें इन्हीं तथ्योंके आधारपर करना था। अतः उन्होंने यह मान लिया कि व्यक्तित्व इस लोकसे परलोकोंमें जाता और पुनः पृथ्वीपर जीवनके अंदर आता है; परंतु इस प्रकार माना गया पुनर्जन्म, बौद्ध दृष्टिके अनुसार, भौतिक जीवनके रूपोंके अंदर किसी वास्तविक आध्यात्मिक पुरुषका वास्तविक पुनर्जन्म नहीं था। परवर्ती अद्वैत दृष्टिमें आध्यात्मिक सद्वस्तु तो मान्य थी, परंतु उसकी प्रतीयमान वैयक्तिकता और अतः उसका जन्म तथा पुनर्जन्म विश्वभ्रमका अंग थे, विश्वमायाकी छलनामयी परंतु परिणाम-प्रभाविणी रचना थे।

बौद्ध चिंतनमें आत्माका अस्तित्व नहीं माना गया था और पुनर्जन्मका अर्थ केवल भावों, संवेदनों और कर्मोंकी अविच्छिन्नता हो सकता था जिससे विभिन्न लोकोंके बीच,—ऐसा कहें, भाव और संवेदनकी भिन्नतया संगठित भूमियोंके बीच—विचरण करते एक कल्पित व्यक्तिका निर्माण होता है; कारण, वस्तुतः, प्रवाहकी चेतन अविच्छिन्नतासे ही आत्माके प्रतिभास और व्यक्तित्वके प्रतिभासकी सृष्टि होती है। अद्वैत मायावादमें वैयक्तिक जीवात्माको और व्यक्तिके एक वास्तविक आत्मा तकको भी स्वीकार किया गया था;[3] परंतु हमारी सामान्य भाषा और विचारोंको दी गई यह रिआयत अंतमें ऊपरी ही निकलती है। कारण,

---

3. इस दृष्टिके अनुसार आत्मा एक है, वह बहु नहीं हो सकता, अपने-आपकी गुणन-वृद्धि नहीं कर सकता; अतएव कोई सच्चा व्यक्ति नहीं हो सकता, अधिकसे अधिक केवल एक अद्वय आत्मा हो सकता है जो सर्वत्र विद्यमान हो और प्रत्येक मन तथा शरीरको "मैं" भावसे अनुप्राणित करता हो।

अंतमें यह पाया जाता है कि कोई वास्तविक और शाश्वत व्यक्ति नहीं, कोई "मैं" या "तुम" नहीं, अतः व्यक्तिका सत्यतः कोई वास्तविक आत्मा नही हो सकता, सत्यतः कोई विश्वात्मा भी नहीं हो सकता, अपितु विश्वसे अलग 'आत्मा' ही हो सकता है जो कभी जन्म नहीं लेता, सदा निर्विकार है, प्रपंचके परिवर्त्तनों से सदा अछूता है। जन्म, जीवन, मृत्यु, वैयक्तिक तथा वैश्व अनुभवका सारा पुंज, अंतमें एक भ्रम या एक अचिर प्रपंचसे अधिक और कुछ नहीं रह जाते; तब बंधन और मोक्ष भी एक वैसा ही भ्रम, कालिक प्रपंचका एक अंग हो सकते हैं : ये सब, जो अहं स्वयं ही महामायाकी रचना है, उसीके भ्रामक अनुभवोंकी सचेतन अविच्छिन्नता, और उस अविच्छिन्नता तथा चेतनाका 'तत्'की अतिचेतनामें अवसान प्राप्त करना ही होते हैं; एकमात्र 'तत्' ही था, है और नित्य रहेगा, या बल्कि, उसे कालसे कुछ नहीं करना, वह तो नित्य अज, कालातीत और अनिर्वचनीय है।

इस प्रकार, जबकि प्राणवादी दृष्टिके अनुसार एक वास्तव विश्व है और वैयक्तिक जीवनकी अल्पकालीन और क्षणस्थायी परंतु तो भी वास्तव संभूति होती है जिससे, कोई चिर-स्थायी पुरुष न रहने पर भी, हमारे वैयक्तिक अनुभव और कर्मोंको बहुत महत्त्व मिल जाता है,—कारण, वे वास्तव संभूतियोंमें ही सत्यतः प्रभावी हो सकते हैं,—परंतु मायावादके सिद्धांतमें उनका कोई यथार्थ महत्त्व या सच्चा प्रभाव नहीं, अपितु केवल स्वप्न-फल जैसा कुछ ही होता है। कारण, मोक्ष भी विश्वकी भ्रामकताको सत्य मानने और व्यष्टिरूपित मन तथा शरीरका अवसान करनेसे और वैश्व स्वप्न या विभ्रममें ही घटित होता है; यथार्थमें न कोई बद्ध है, न कोई मुक्त, कारण, जो एकमात्र अस्तित्ववान् 'आत्मा' है वह अहंके इन भ्रमोंसे अस्पृष्ट है। इसके तर्कसंगत निष्कर्षके रूपमें जो सर्वनाशी वंध्यत्व आयगा उससे बचनेके लिये हमें इस स्वप्न-फलकी एक व्यावहारिक सत्यता माननी होगी, वह सत्यता अंतमें चाहे कितनी ही मिथ्या क्यों न हो, और अपने बंधन तथा वैयक्तिक मुक्तिको अत्यंत महत्त्व देना होगा, भले ही व्यक्तिका जीवन प्रातिभासिक मात्र क्यों न हो और उस एकमात्र सत् आत्माके लिये वह बंधन और वह मुक्ति दोनों ही असत् क्यों न हों और असत् होनेके अतिरिक्त कुछ हो भी न सकते हों; मायाके अत्याचारी मिथ्यात्वको विवश होकर दी गयी इस रिआयतके अनुसार, जीवन और अनुभवका एकमात्र सच्चा महत्त्व इसमें

होगा कि वे जीवनको मिटा देनेके लिये, व्यक्तिके आत्म-विलोपनके लिये, विश्वमायाके अंतके लिये हमें किस परिमाणमें तैयार करते हैं।

तथापि यह अद्वैतवादी धारणाकी एक चरम कोटि और परिणाम है, उपनिषदोंसे आरंभ होनेवाला प्राचीनतर अद्वैत वेदांत इतनी दूर नहीं जाता। वह 'शाश्वत'की वास्तविक तथा कालिक संभूतिको, अतः विश्वकी सत्यताको स्वीकार करता है, उसके अनुसार व्यक्ति भी पर्याप्त वास्तवता धारण करता है, कारण, प्रत्येक व्यक्ति अपने-आपमें वह 'शाश्वत' ही है जो नाम-रूप धारण करता और उसके द्वारा सृष्टिमें चिर आवर्तित भव-चक्रपर आरूढ़ होकर जीवनके अनुभवोंका भर्ता होता है। इस चक्रको व्यक्तिकी कामना चलता रखती है जो पुनर्जन्मका कार्यकर कारण हो जाती है। मन शाश्वत आत्माके ज्ञानसे विमुख होकर कालगत संभूतिके धंधोंमें अभिनिविष्ट हो जाता है, यह इस चक्रके चलते रहनेका दूसरा कारण है। जब इस कामना और इस अज्ञानका अवसान होता है तब व्यक्तिमें अधिष्ठित 'शाश्वत' वैयक्तिक व्यक्तित्व और अनुभवकी क्षरताओंसे प्रत्याहृत होकर अपनी कालातीत, निर्व्यक्तिक तथा अक्षर सत्तामें चला जाता है।

परंतु व्यक्तिकी यह वास्तवता सर्वथा कालिक है; उसकी कोई स्थायी नींव नहीं, यहाँ तक कि उसका कालमें चिर पुनरावर्तन भी नहीं। विश्वके इस विवरणमें पुनर्जन्म एक बहुत महत्त्वपूर्ण वास्तविकता होकर भी अभिव्यक्तिके प्रयोजन और वैयक्तिकताके बीचके संबंधका अनिवार्य परिणाम नहीं होता। कारण, अभिव्यक्तिका प्रयोजन 'शाश्वत'की विश्व-सृष्टिकी इच्छाके अतिरिक्त और कुछ नहीं मालूम होता और अभिव्यक्तिका अंत उस इच्छाके पीछे हट जानेसे ही हो सकता है : उस वैश्व इच्छाको कार्यान्वित होनेके लिये न तो पुनर्जन्मके यंत्रकी आवश्यकता थी, न पुनर्जन्मको कायम रखनेवाली वैयक्तिक कामनाकी; कारण, उसकी कामना यंत्रका एक स्प्रिंग ही हो सकती है, विश्व-जीवनका कारण या उसकी आवश्यक शर्त नहीं, क्योंकि इस दृष्टिके अनुसार, स्वयं व्यक्ति सृष्टिका एक परिणाम है और 'संभूति'से पूर्व अस्तित्वमें नहीं रहा है। तब सृष्टि-इच्छा प्रत्येक नाम और रूपमें अल्प कालके लिये वैयक्तिकताके धारण द्वारा, बहुत सारे अचिर व्यक्तियोंके एक ही जीवन द्वारा संपादित हो जा सकती थी। उस एक चेतनाका प्रत्येक सृष्ट सत्ताके प्रकारके अनुरूप एक आत्म-रूपायण तो होता परंतु

यह भी बहुत भली भाँति हो सकता था कि उसका आरंभ वैयक्तिक देहमें स्थूल विग्रहके प्राकट्यसे हो और उस विग्रहके अवसानके साथ-साथ उसकी भी समाप्ति हो जाय। तब व्यक्तिपर व्यक्ति, यह क्रम वैसे ही चलता जैसे एक तरंगपर दूसरी तरंग चलती है, जबकि समुद्र सदा वहीका वही रहे;[4] सचेतन सत्ताका प्रत्येक रूपायण विश्वसत्तामेंसे उच्छ्वसित होता, अपने नियत समयतक प्रवाहित होता चलता और इसके बाद 'नीरवता'में वापस निमज्जित हो जाता। इस प्रयोजनके लिये न तो ऐसी व्यष्टिरूपित चेतनाकी आवश्यकता प्रत्यक्ष है जो स्थायी रूपसे अविच्छिन्न हो, एकके बाद दूसरा नाम, एकके बाद दूसरा रूप धारण करती हो और विभिन्न लोकोंमें पीछे और आगेकी ओर विचरण करती हो, और न ऐसा होना, संभावनाके रूपमें भी, सबल रूपसे स्थापित होता है; ऐसी क्रमवैकासिकी प्रगतिके लिये तो और भी कम अवकाश है जिसका अनुसरण एकके बाद एक उच्चतर रूपोंमेंसे निकलते हुए किया जाता हो जैसा कि पुनर्जन्मका वह सिद्धांत मानेगा ही जो जड़में अध्यात्म-सत्ताकी संवृति और क्रमविकासको हमारे पार्थिव जीवनके अर्थपूर्ण सूत्रके रूपमें प्रतिष्ठित करता है।

यह कल्पनीय है कि 'शाश्वत'ने वस्तुतः इसी भाँति शरीरमें अभिव्यक्त होना, बल्कि छिप जाना चुना होगा; 'शाश्वत'ने ऐसा व्यक्ति हो

---

4. भारतीय विचारधारापर अपनी पुस्तकमें डा० श्वायटजर यह प्रतिपादित करते हैं कि उपनिषदोंकी शिक्षाका सच्चा तात्पर्य यही था और पुनर्जन्म बादका आविष्कार था। परंतु लगभग सभी उपनिषदोंमें ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण श्लोक हैं जो पुनर्जन्मका निश्चयात्मक मान्यतासे उल्लेख करते हैं, और जो कुछ भी हो, उपनिषदें यह तो मानती हैं कि व्यक्तित्व मृत्युके बाद भी उत्तरजीवी है और उसका अन्य लोकोंमें गमन होता है; उनकी इस बातसे डा० श्वायटजरकी टीकाकी संगति नहीं है। यदि यहांके शरीरी जीवोंका अस्तित्व मृत्युके बाद अन्य लोकोंमें टिका रहता है और यदि उनकी अंतिम नियति ब्रह्मके अंदर मुक्ति लाभ करना है तो पुनर्जन्म प्रतिष्ठित हो जाता है और यह माननेका कारण नहीं रह जाता कि वह बादका सिद्धान्त था। स्पष्ट है कि लेखकने पाश्चात्य दर्शनके संस्कारोंके प्रभावमें प्राचीन वेदांतके अधिक सूक्ष्म तथा संश्लिष्ट चिन्तनमें केवल सर्वेश्वरवादके भावको देखा।

जाने या ऐसा व्यक्ति प्रतिभासित होनेकी इच्छा की होगी जो स्थायी और पुनरावर्ती मानवीय तथा पशु-जीवनके चक्रमें जन्मसे मृत्यु और मृत्युसे नये जन्मकी ओर चलता जा रहा होगा। तब वह 'अद्वय सत्' ही पुरुपविध होकर संभूतिके विविध रूपोंके बीचसे या तो अपनी इच्छाकी मौजमें या कर्मके परिणामोंके किसी नियमके अनुसार गुजर रहा होगा और इस यात्राका अंत ज्ञानोद्दीप्तिसे, उस 'एकत्व'में वापस लौटनेसे, उस व्यष्टिरूपण विशेपसे उन 'अद्वय' और 'अभिन्न'के उपरत हो जानेसे होगा। परंतु ऐसे चक्रमें उसे सार्थक बनानेवाला कोई मूल या अंतिम निर्णायक सत्य नहीं होगा। ऐसा कुछ नहीं है जिसके लिये यह चक्र आवश्यक हो; यह निरी लीला होगा। परंतु एक बार यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि अध्यात्म-सत्ता ही निश्चेतनामें संवृत हो गयी है और वैयक्तिक सत्तामें एक क्रमवैकासिक वर्गीकरणसे अभिव्यक्त हो रही है तो सारी प्रक्रिया सार्थक और संगत हो जाती है; व्यक्तिका प्रगतिशील आरोहण इस वैश्व सार्थकताका एक प्रधान स्वर हो जाता है, और शरीरमें अंतरात्माका पुनर्जन्म संभूतिके सत्य और उसके अंतर्निहित विधानका एक स्वाभाविक और अपरिहार्य परिणाम हो जाता है। आध्यात्मिक क्रमविकासकी क्रियान्वितिके लिये पुनर्जन्म एक अपरिहार्य साधन है; भौतिक विश्वमें ऐसी अभिव्यक्तिके लिये एकमात्र संभव कार्यकर परिस्थिति, उसकी स्पष्ट क्रियाशील पद्धति पुनर्जन्म है।

जड़में होते क्रमविकासके बारेमें हमारी व्याख्या यह है कि विश्व एक परम 'सद्वस्तु'की एक स्वयं-स्रष्ट्री प्रक्रिया है, उस 'सद्वस्तु'की विद्यमानताके नाते अध्यात्म-सत्ता सकल वस्तुओंका मूल उपादान होती है,—सकल वस्तुएँ अध्यात्म-सत्ताकी अभिव्यक्तिकी शक्तियाँ, साधन तथा रूप ही हैं। विश्वके प्रतिभासोंके पीछे एक अनंत सत्, एक अनंत चेतना, एक अनंत शक्ति और इच्छा, सत्ताका एक अनंत आनंद ही गूढ़ 'सद्वस्तु' है; उसके दिव्य अतिमानस या विज्ञानने विश्वके छंदको व्यवस्थित किया है, परंतु यह व्यवस्था उसने परोक्ष रूपसे, हम यहाँ जिन तीन गौण और सीमाकारी तत्त्वोंसे मन, प्राण और जड़के रूपमें परिचित हैं उनके द्वारा की है। भौतिक विश्व अभिव्यक्तिकी अधोमुखी डुबकीकी सबसे नीचेकी भूमिका है, इस निक 'सद्वस्तु' की अभिव्यक्त सत्ताका अपने-आपकी एक प्रतीयमान निर्ज्ञानतामें,—जिसे हम अभी निश्चेतन कहते हैं,—संवरण है; परंतु अभिव्यक्त सत्ताका इस

निर्ज्ञानतामेंसे उन्मिषित होकर पुनःप्राप्त आत्म-संवित्‌में चले जाना आरंभसे ही अवश्यम्भावी था। यह अवश्यम्भावी था, क्योंकि जो कुछ संवृत है उसका अवश्य ही उन्मेष होगा; कारण वह वहाँ अपने प्रतीयमान विरोधी तत्त्वमें प्रच्छन्न अस्तित्व या शक्तिके रूपमें ही नहीं है,—और ऐसी प्रत्येक शक्ति, अपने-आपको प्राप्त करनेके लिये, अपने-आपको उपलब्ध करनेके लिये, लीलामें निर्मुक्त होनेके लिये अपने अंतरतम स्वभावसे प्रवृत्त होगी,—वरन् वह, उसे जिसने संवृत कर रखा है, उसका सत्य है, वह वह आत्मा है जिसे 'अचित्ति'ने खो दिया है और फलतः जिसे खोजना और पुनः प्राप्त करना ही उसकी क्रियाधाराका सारा अर्थ, सतत प्रवाह होगा। यह पुनःप्राप्ति सचेतन जीव द्वारा ही संभव है; विकसित होती चेतना सचेतन जीवमें ही संगठित होती और अपने 'सत्-तत्त्व'की ओर उद्‌बुद्ध होनेमें सक्षम होती है। व्यष्टि-जीवका महत्त्व विपुल है, वह ज्यों-ज्यों क्रममें चढ़ता जाता है यह महत्त्व भी बढ़ता जाता है; यह महत्त्व एक अभेद 'अचित्ति'में आरंभ होनेवाले चेतनाहीन और वैयक्तिकताहीन विश्वका सबसे अधिक दृष्टव्य और अर्थपूर्ण तथ्य है। इस महत्त्वका औचित्य केवल तब सिद्ध किया जा सकता है यदि 'आत्मा' जितना विश्वपुरुष या विश्वव्यापी अध्यात्मसत्ताके रूपमें सत्य है उससे कम सत्य वह व्यष्टि-आत्माके रूपमें नहीं हो और दोनों ही शाश्वतकी शक्तियाँ हों। विश्वात्मा एवं विश्वचेतना तथा परम सद्‌वस्तुकी उपलब्धिकी आवश्यक अवस्थाके रूपमें व्यक्तिके विकासकी और व्यक्तिकी अपने-आपकी उपलब्धिकी आवश्यकताकी व्याख्या इसी तरह हो सकती है। यदि हम इस समाधानको स्वीकार करते हैं तो स्थायी व्यक्तिकी सत्यता प्रथम परिणाम बनकर आती है; परंतु इस प्रथम परिणामसे वह दूसरा परिणाम निकलता है कि किसी प्रकारका पुनर्जन्म कोई ऐसा संभव साधन मात्र नहीं रह जाता जिसे स्वीकार किया भी जा सकता है और नहीं भी, वरन् वह हमारी सत्ताकी मूल प्रकृतिकी आवश्यकता, उसका अनिवार्य परिणाम हो जाता है।

कारण, अब ऐसे भ्रमात्मक अथवा अस्थायी व्यक्तिको मानना पर्याप्त नही रह जाता जो प्रत्येक रूपके अंदर चेतनाकी क्रीड़ा द्वारा सृष्ट होता हो; वैयक्तिकताके विषयमें यह धारणा अब और नहीं की जा सकती कि वह शरीरके आकारमें होती चेतनाकी क्रीड़ाकी संगिनी है, जो शरीर-रूपके विनाशके बाद टिकी रह भी सकती है और नहीं

भी, आत्म-स्वरूपकी मिथ्या अविच्छिन्नताको रूप-रूपांतरमें, जन्म-जन्मांतरमें बनाये रख भी सकती है और नहीं भी, परंतु यह निश्चित है कि उसका ऐसा करना आवश्यक नहीं। इस जगत्‌में हमें प्रथमतः यही दिखायी देता लगता है कि एक व्यक्तिका स्थान दूसरा व्यक्ति लेता है, इससे कोई अविच्छिन्नता नहीं होती; शरीर-रूप विघटित होता है, उसके साथ-साथ मिथ्या या अस्थायी वैयक्तिकता विघटित होती है, जबकि केवल विश्वशक्ति या कोई विश्वसत्ता ही नित्य रहती है; यह बात विश्वाभिव्यक्तिका समूचा सिद्धांत बहुत भली भाँति हो सकती है। परंतु व्यक्ति यदि स्थायी तत्त्व है, 'शाश्वत'का एक शाश्वत अंश या शक्ति है, यदि उसकी चेतनाका विकास वह साधन है जिससे वस्तुओंमें अंतःस्थ 'अध्यात्म-पुरुष' अपनी सत्ताको प्रकट करता है, तो विश्व इस रूपमें प्रकट होता है कि वह सच्चिदानंदकी सत्तामें शाश्वत 'बहु'के साथ शाश्वत 'एक'की लीलाकी एक सापेक्ष अभिव्यक्ति है। तब, हमारे व्यक्तित्वके सारे परिवर्तनोंके पीछे सुरक्षित कोई सच्चा आध्यात्मिक व्यक्ति, कोई सच्चा पुरुष होना ही चाहिये जो उसके परिवर्तनोंके प्रवाहका भर्ता हो। विश्वत्वमें संप्रसारित 'एक' घट-घटमें अस्तित्ववान् है और अपने-आपको अपने इस व्यष्टित्वमें प्रतिष्ठित करता है। व्यष्टिमें अपनी समग्र सत्ताको वह विश्वत्वमें सबके साथ एकत्वके द्वारा प्रकट करता है। व्यष्टिमें वह अपनी विश्वातीतताको भी उस 'शाश्वत'के रूपमें प्रकट करता है जिसमें सारी विश्वव्यापी एकता अधिष्ठित है। स्वामि-व्यक्तिकी यह त्रिवेणी, बहुरूपी 'अभिन्न'की यह विराट् लीला, मायाका यह इन्द्रजाल अथवा अनंतकी सत्ताके सचेतन सत्यका यह परिवर्तनशील चमत्कार वह ज्योतिर्मय उद्भास है जो एक मंथर क्रमविकास द्वारा आद्या निश्चेतनामेंसे उन्मज्जित होता है।

यदि आत्म-प्राप्तिकी कोई आवश्यकता नहीं होती अपितु केवल सच्चिदानंदकी सत्ताकी इस लीलाका शाश्वत रसभोग होता,—और ऐसा शाश्वत रसभोग चिन्मयी सत्ताकी कुछ परम कोटियोंका स्वभाव भी है,—तो क्रमविकास तथा पुनर्जन्मकी क्रिया आवश्यक नहीं होती। परंतु इस एकत्वका विभाजक मनके अंदर संवरण हो गया है, आत्म-विस्मृतिमें निमज्जन हो गया है जिसके कारण संपूर्ण एकत्वका नित्य-वर्तमान बोध खो गया है, और पृथक्कारी भेदकी क्रीड़ा प्रधान सत्यता बनकर सामनेके भागमें आ जाती है,—किंतु यह भेदक्रीड़ा दृश्य सत्ताकी

ही है, क्योंकि भेदके अंदर रहनेवाला सच्चा एकत्व पूराका पूरा, पीछे विद्यमान रहता है। भेदकी इस क्रीड़ाने विभाजनके बोधकी चरम सीमा प्राप्त की है शरीर-रूपके अंदर विभाजक मनके अवक्षिप्त होने-से जिसमें वह अपने-आपके प्रति एक अहंके रूपमें सचेतन होता है। एक 'व्यावहारिक' अचित्तिमें सच्चिदानंदकी सक्रिय आत्म-चेतनाकी संवृतिके द्वारा जड़के पृथक्कारी रूपोंके जगत्‌में विभाजनकी इस क्रीड़ाके लिये एक घनी और ठोस नींव डाली गयी है। 'अचित्ति' का यह भित्तिमूल ही विभाजनको सुरक्षित कर देता है, कारण, वह एकत्व-चेतनाकी ओर वापस जानेका अनिवार्य रूपसे विरोध करता है; परंतु तो भी, यद्यपि उसका विघ्न कार्यकर होता है, वह 'व्यावहारिक' और अंतवान् है, कारण, उसके अंदर, उसके ऊपर, उसे आधार देनेवाला सर्व-वित् आत्मा ही है और प्रतीयमान 'अचित्ति'का यह रूप सिद्ध होता है कि वह जड़-तत्त्वकी रचनात्मिका और सृजनात्मिका प्रक्रियाकी निमग्नतामें अगाध डुबकी लगाकर आत्म-विस्मृतिमें समाधिस्थ चेतनाका एक संकेन्द्रण, उसकी एक ऐकांतिक क्रिया ही है। इस प्रकारसे सृष्ट दृश्य-विश्वमें पृथगात्मक रूप उसकी सारी प्राण-क्रियाका भित्तिमूल और आरंभ-बिंदु हो जाता है; अतएव उस 'एकमेव'के साथ अपने वैश्व संबंधोंको कार्यान्वित करनेमें वैयक्तिक पुरुषको इस स्थूल जगत्‌में रूपका आधार लेना, शरीर धारण करना ही होता है; स्थूल जगत्‌में प्राण, मन और अध्यात्म-सत्ताका विकास करनेके लिये उसे शरीरको ही अपना भित्तिमूल और आरंभ-बिंदु बनाना होगा। इस शरीरधारणको हम जन्म कहते हैं, और यहाँ आत्माका विकास और व्यक्ति और विश्व तथा अन्य सारे व्यक्तियोंके बीच संबंधोंकी क्रीड़ा शरीरमें ही हो सकती है; ईश्वरके साथ एकत्व और ईश्वरके अंदर सबके साथ एकत्वकी परम पुनःप्राप्तिकी ओर हमारी सचेतन सत्ताके वर्द्धमान विकाससे होनेवाली प्रगति शरीरमें ही हो सकती है: स्थूल जगत्‌में हम जिसे जीवन कहते हैं उसका सारा कुलयोग अंतरात्माकी प्रगति है और शरीरमें जन्म लेकर ही वह आगे बढ़ता है, शरीर ही उसका आलंब, उसकी क्रियाकी आवश्यक परिस्थिति और क्रमवैकासिक स्थायिताकी आवश्यक परिस्थिति होता है।

अतएव, स्थूल लोकमें पुरुषकी अभिव्यक्तिके लिये जन्म एक आव-श्यकता है; परंतु उसका जन्म चाहे मानव-शरीरमें हो चाहे अन्य किसीमें, वह इस जगत्-व्यवस्थामें कोई एकाकी घटना अथवा स्थूल

सत्तामें, शरीरमें अंतरात्माकी कोई ऐसी आकस्मिक सैर नहीं हो सकता जिसे तैयार करनेवाला कोई अतीत न रहा हो या यहांके बाद जिसका कोई परिपूर्तिकारी भविष्य न हो। संवृत्ति और क्रमविकासके जगत्में, केवल स्थूल रूपके विकासके ही नहीं, वरन् प्राण और मनसे होते हुए अध्यात्म-सत्ताकी ओर चेतन सत्ताके क्रमविकासके जगत्में, मानव-शरीरके जीवनका कोई ऐसा एकाकी धारण व्यष्टि-अंतरात्माके जीवनका विधान नही हो सकता था; यदि ऐसा हो तो यह एक बिलकुल अर्थहीन और परिणामहीन आयोजन होगा, एक सनक होगा जिसके लिये यहाँ जगत्की प्रकृति और व्यवस्थामें कोई स्थान नहीं, एक विपरीत उग्रता होगा जो 'अध्यात्म-पुरुष'की स्वाभिव्यक्तिके छंदको भंग करेगी। क्रमवैकासिक आध्यात्मिक प्रगतिमें व्यक्तिके आंतरात्मिक जीवनके ऐसे नियमको प्रविष्ट कर डालनेसे वह एक निष्कारण प्रभाव और एक निष्प्रभाव कारण बन जायगा; वह एक खंडित वर्तमान हो जायगा जिसका कोई अतीत नहीं, भविष्य नहीं। व्यक्तिके जीवनमें भी सार्थकताका वही छंद, प्रगतिका वही विधान रहना चाहिये जो वैश्व जीवनका है; उस छंदमें उसका स्थान किसी छुट-फुट निष्प्रयोजन हस्तक्षेपका नहीं हो सकता, उसे विश्व-प्रयोजनका एक स्थायी साधन होना ही चाहिये। और, ऐसी जगत्-व्यवस्थामें, यदि अंतरात्माका मानव-शरीरमें एकाकी आविर्भाव, एकमात्र जन्म उसका उस प्रकारका प्रथम और अंतिम अनुभव हो, तो हम उसकी व्याख्या यह कह कर भी नहीं कर सकते कि अन्य लोकोंमें उसका एक पूर्व अस्तित्व था और अनुभवके और भी अन्य क्षेत्रोंमें एक भविष्य उसके सामने है। कारण, यहाँ पृथ्वीपर जो जीवन है, स्थूल विश्वमें जो जीवन है, वह न तो लोक-लोकांतरमें भ्रमणके लिये अंतरात्माका कोई अनियत पड़ाव है और न ऐसा हो सकता है; वह तो एक महान् और धीमी प्रगति है, जिसके क्रमविकासके लिये, जैसा अब हम जानते हैं, कालके अमेय अंतरालोंकी आवश्यकता होती है। मानव-जीवन भी एक श्रेणीकृत क्रममें आनेवाली एक कोटि है जिसके द्वारा विश्वमें निगूढ़ 'अध्यात्म-पुरुष' अपने प्रयोजनको क्रमशः विकसित करता और अंततः व्यक्तिकी शरीरमें परिवर्द्धित होती और आरोहण करती आंतरात्मिक चेतना द्वारा कार्यान्वित करता है। यह आरोहण ऊर्ध्व-क्रममें होनेवाले पुनर्जन्मद्वारा ही हो सकता है; केवल एक बार इसमें आ जाना और किसी अन्य दिशामें अन्यत्र प्रगति करना इस क्रमविकसनशील जीवनके तंत्रमें नहीं जँचता।

फिर, मानव-आत्मा, मानव-व्यक्ति कोई स्वच्छंद भ्रमणकर्त्ता भी नहीं जो, अपने निर्बंध वरणके अनुसार, या अपने स्वतंत्र और स्वतःस्फूर्ततया परिवर्तनशील कर्म और कर्म-फलके अनुसार, क्षेत्र-क्षेत्रांतरमें स्वेच्छाचारी या लघु भावसे जल्दी-जल्दी चलता रहता हो। यह कल्पना आध्यात्मिक स्वतंत्रताके बारेमें एक दीप्तिमान विचार ही है जिसका परेके लोकोंमें या एक अंतिम मुक्तिमें अपना सत्य हो सकता है, परंतु जो आरंभमें पृथ्वी-जीवनके लिये, जड़ विश्वके जीवनके लिये सत्य नहीं। इस जगत्‌में होनेवाले मानव-जन्मके आध्यात्मिक पहलूमें दो तत्त्वोंका मिश्रण है; ये हैं आध्यात्मिक पुरुष और व्यक्तित्वधारी अंतरात्मा, इनमें पहला मनुष्यकी शाश्वत सत्ता है, दूसरा उसकी वैश्व और क्षर सत्ता। आध्यात्मिक और निर्व्यक्तिक पुरुषके रूपमें वह अपनी प्रकृति और सत्तामें सच्चिदानंदकी स्वतंत्रताके साथ एक है, उस सच्चिदानंदने ही आंतरात्मिक अनुभवके एक विशेष चक्रके लिये, जो कि अन्यथा असम्भव रहता, उसके अचित्तिमें संवृत हो जानेकी स्वीकृति दी या इच्छा की, और वही उसके क्रमविकासकी अध्यक्षता गुप्त रूपसे कर रहा है। व्यक्तित्वधारी अंतरात्माके रूपमें वह स्वयं ही प्रकृतिके रूपोंके अंदर अंतरात्माके अनुभवके उस लंबे विकासका अंग है; उसके अपने क्रमविकासको वैश्व क्रमविकासके नियमों और रेखाओंका अनुसरण करना ही चाहिये। अध्यात्म-पुरुषके रूपमें वह उस विश्वातीतके साथ एक है जो विश्वगत और विश्वव्याप्त भी है; अंतरात्माके रूपमें वह जगत्‌में स्वाभिव्यक्त सच्चिदानन्दके विश्वत्वके साथ युगपत् एक है और उसका अंश भी : उसकी स्वाभिव्यक्तिको वैश्व अभिव्यक्तिकी भूमिकाओंमेंसे गुजरना ही होगा, उसके आंतरात्मिक अनुभवको विश्वमें चलते ब्रह्म-चक्रके आवर्तनोंका अनुसरण करना ही होगा।

सकल वस्तुओंमें स्थित 'अध्यात्म-पुरुष' जड़ विश्वकी अचित्तिमें अंतर्लीन होकर अपने प्रकृति-स्वरूपको जड़, प्राण, मन तथा अध्यात्म-सत्ताके ऊर्ध्वग सोपानमें स्थूल रूपोंकी क्रमधारामें विकसित करता है। पहले वह जड़ रूपोंमें निगूढ़ अंतरात्मावत् उन्मज्जित होता है जो सतहपर सर्वथा अचित्तिके अधीन है; वह ऐसे अंतरात्माके रूपमें विकसित होता है जो तब भी निगूढ़ है, परन्तु जिसका उन प्राणिक रूपोंमें उन्मज्जन सन्निकट है जो एक ओर अचित्ति और दूसरी ओर चेतनाका आंशिक प्रकाश, जो हमारा अज्ञान है, इनके बीच सीमांतोंपर अवस्थित हैं; वह

पशु-मनमें प्रारंभिक चेतना रखनेवाले अंतरात्माके रूपमें और आगे विकसित होता है, और अंतमें, मनुष्यमें अधिक बाह्यतया चेतन, किंतु तब तक सपूर्णतः चेतन न हुए अंतरात्माके रूपमें विकसित होता है: चेतना हमारी सत्ताके गुह्य अंगोंमें सर्वत्र होती है, विकास अभिव्यक्ति-कारिणी प्रकृतिमें होता है। इस क्रमवैकासिक वर्द्धनका एक वैयक्तिक रूप होता है और एक विश्वरूप भी: विश्वपुरुष अपनी सत्ताकी श्रेणियोंको और अपने-आपके विश्वत्वकी व्यवस्थित परिवर्तनशीलताको अपनी सत्ताके उन्मिषित रूपोंके धारा-क्रममें विकसित करता है; वैयक्तिक पुरुप इस वैश्व धाराक्रमकी रेखाका अनुसरण करता और अध्यात्म-पुरुषके विश्वत्वमें जो कुछ तैयार हो गया है उसे अभिव्यक्त करता है। विश्व-मानव, मानव-जातिके अंदरका विश्व-पुरुष, मानव-जातिमें उस शक्तिको विकसित कर रहा है जो मानवतामें उसके नीचेसे प्रस्फुटित होकर आयी है और अभी और भी प्रस्फुटित होकर अतिमानस और अध्यात्म-सत्ताको प्राप्त करेगी और मनुष्यमें वह 'देव' हो जायगी जिसे अपने सच्चे और समग्र स्वरूपकी संवित् और अपनी प्रकृतिके दिव्य विश्वत्वकी संवित् रहती है। व्यक्तिने विकासकी इस रेखाका अनुसरण अवश्य किया होगा; उसने मानव-विकासको अपनाया उसके पहले उसने जीवनके निम्नतर रूपोंमें अंतरात्माके अनुभवकी अध्यक्षता अवश्य की होगी: जैसे वह 'एक' वनस्पति और पशुके इन निम्नतर रूपोंको अपने विश्वभावमें धारण करनेमें समर्थ था, वैसे ही व्यक्ति भी, जो अब मानव हो गया है, अपनी सत्ताकी पूर्व भूमिकाओंमें उन्हें धारण करनेमें अवश्य समर्थ रहा होगा। अभी वह मानव-आत्माके रूपमें प्रकट हो रहा है, उसमें अध्यात्म-पुरुषने मानवताके आंतरिक और बाह्य रूपको अपनाया है, परंतु जैसे वह अपने पूर्वकालमें धारित वनस्पति या पशु-रूपोंसे सीमित नहीं रहा था, वैसे ही वह अपने वर्तमान रूपसे भी सीमित नहीं; वह प्रकृतिके एक ऊर्ध्वतर क्रममें महत्तर स्वाभिव्यक्तिके लिये इससे आगे चला जा सकता है।

इससे भिन्न कुछ माननेसे यह मानना होगा कि जो अध्यात्म-पुरुष मानवीय आंतरात्मिक अनुभवकी अध्यक्षता कर रहा है वह मूलतः मानव-मन और मानव-शरीर द्वारा रचित है, उसीके सहारे अस्तित्वमें रहता है और उससे अलग होकर अस्तित्वमें नहीं रह सकता, कभी भी उससे नीचे या ऊपर नहीं जा सकता। वस्तुतः तब यह मानान

युक्तिसंगत होगा कि वह अमर नहीं है, अपितु क्रमविकासमें मानवीय मन तथा शरीरके प्राकट्यके साथ अस्तित्वमें आया है और यदि वह मन तथा शरीर विलुप्त हो जायँगे तो वह भी विलुप्त हो जायगा। परंतु शरीर और मन अध्यात्म-पुरुषके स्रष्टा नहीं, अध्यात्म-पुरुष ही मन और शरीरका स्रष्टा है; वही इन तत्त्वोंको अपनी सत्तामेंसे विकसित करता है, न कि वह उनमेंसे विकसित होकर अस्तित्वमें आता हो, उनके उपादानोंका मिश्रण या उनके सम्मिलनका परिणाम हो। वह यदि मन तथा शरीरमेंसे विकसित होता जान पड़ता है तो इसका कारण यह है कि वह अपने-आपको उनमें क्रमशः अभिव्यक्त करता है, यह नही कि वह उनके द्वारा सृष्ट हुआ हो या उसका अस्तित्व उनपर आश्रित हो; वह जैसे-जैसे अभिव्यक्त होता है, वे उसकी सत्ताकी गौण अभिधाओंके रूपमें प्रकट होते हैं और उन्हें अंततः उनकी वर्तमान अपूर्णतामेसे निकालकर ऊपर उठाना और अध्यात्म-पुरुषके दृश्य रूपों तथा उपकरणोंमें रूपांतरित करना होगा। अध्यात्म-पुरुष हमारी धारणाके अनुसार ऐसा कुछ है जो नाम और रूपसे नहीं बना है, अपितु अपनी आंतरात्मिक सत्ताकी विविध अभिव्यक्तियोंके अनुरूप शरीर और मनके विविध रूपोंको धारण करता है। यह कार्य वह यहाँ एक आनुक्रमिक विकास द्वारा करता है; वह धारा-क्रममें रूपपर रूप, चेतनाके स्तरपर स्तर विकसित करता है : कारण, उसके लिये ऐसा कोई बंधन नहीं कि वह सर्वदा एक ही रूप धारण करे, अन्य कोई रूप नही, या एक ही प्रकारकी मानसतापर अधिकार रखे जो उसकी एकमात्र संभव आंतरिक अभिव्यक्ति हो। अंतरात्मा मनोमयी मानवताके सूत्रसे आबद्ध नहीं; अंतरात्माका न तो वहाँसे आरंभ हुआ है, न उसके साथ उसका अंत होगा; उसका अतीत प्राक्-मानवीय है, उसका भविष्य अतिमानवीय।

प्रकृति तथा मानव-प्रकृतिको हम जितना भी देखते हैं उससे इस दृष्टिका समर्थन होता है कि व्यष्टि-जीव एक-एक करके नाना रूपोंमें तबतक जन्म लेता चलता है जबतक कि वह अभिव्यक्त चेतनाके मानव-स्तरपर न पहुँच जाय जो और भी उच्चतर स्तरोंतक उठ जानेके लिये उसका उपकरण है। हम देखते हैं कि प्रकृति एक-एक भूमिका तै करती हुई विकसित होती है और प्रत्येक भूमिकामें वह अपने अतीतको ऊपर उठाती और अपने नये विकासके उपादानमें रूपांतरित करती है।

हम यह भी देखते हैं कि मानव-प्रकृतिका निर्माण भी वैसा ही है; पृथ्वीका सारा अतीत उसके अंदर है। उसमें एक तत्त्व जड़का है जिसे प्राणने ऊपर उठाया है, एक तत्त्व प्राणका है जिसे मनने ऊपर उठाया है, एक तत्त्व मनका है जिसे अध्यात्म-सत्ता ऊपर उठा रही है। उसकी मानवतामें अभी पशु विद्यमान है; मानव-जीवकी प्रकृति ही ऐसी है कि यह ध्वनित होता है कि उसके पहले एक जड़ और प्राणिक भूमिका तैयारीकी है और एक पशु-अतीत रहा है जिसने उसकी संश्लिष्ट मानवताका आरंभिक तत्त्व गढ़ा है। और हम यह न कहें कि इसका कारण यह है कि जड़ प्रकृतिने ही क्रमविकास द्वारा मनुष्यके प्राण, उसके शरीर और उसके पशु-मनको प्रस्फुटित किया है, और बादमें ही कोई अंतरात्मा इस प्रकार सृष्ट विग्रहके अंदर उतर आया : इस भावके पीछे कुछ सत्य तो है, परंतु वह सत्य नहीं जिसका संकेत यह सूत्र करेगा। कारण, इसके अनुसार यह मानना होता है कि अंतरात्मा और शरीर के बीच, अंतरात्मा और प्राणके बीच, अंतरात्मा और मनके बीच एक खाई है जबकि वह है नहीं; वस्तुतः कोई भी शरीर अंतरात्माके बिना नहीं, कोई भी शरीर ऐसा नहीं जो स्वयं ही अंतरात्माका कोई रूप न हो : स्वयं जड़ अध्यात्म-पुरुषकी वस्तु और शक्ति है, और वह यदि और कुछ होता तो उसका अस्तित्व ही नहीं रह सकता था, कारण, जो कुछ ब्रह्मकी वस्तु और शक्ति नहीं उसका अस्तित्व ही नहीं हो सकता; और यदि जड़तत्त्व ऐसा है तो प्राण तथा मन तो और भी स्पष्ट और सुनिश्चित रूपसे ऐसे ही होने चाहिये और अध्यात्म-पुरुषकी विद्यमानतासे उनमें आत्मानुप्रवेश हुआ होना ही चाहिये। यदि जड़ और प्राणमें पहलेसे ही आत्मानुप्रवेश न हुआ होता तो मनुष्यका प्राकट्य हो नहीं सकता था, या वह केवल एक हस्तक्षेप या आकस्मिक घटनाकी तरह उद्भूत हो सकता था, क्रमविकासकी व्यवस्थाके अंगकी नाईं नहीं।

तब हमारा इस निष्कर्षपर पहुँचना अवश्यम्भावी हो जाता है कि मानव-जन्म एक ऐसी भूमिका है जहाँ जीव पुनर्जन्मोंके लम्बे अनुक्रमके बाद अवश्य पहुँचेगा और इस अनुक्रममें उसने पृथ्वीपर निम्नतर प्राण- रूपोंको पहलेकी और तैयारीकी भूमिकाओंकी तरह धारण किया था; अन्न-तत्त्वके आधारपर, शरीरके आधारपर, स्थूल विश्वमें प्राणने जो शृंखला गूँथी है, उस सारी शृंखलामेंसे वह जीव गुजर चुका है। तब आगेका यह प्रश्न उठता है, एक बार जब मानव-योनि प्राप्त हो गयी तब भी क्या पुन-

जन्मोंका यह ताँता चलता रहता है? और यदि चलता है तो कैसे, किस क्रमसे या किन प्रत्यावर्तनोंसे? और हमारा पहला प्रश्न यह होगा कि जीव जब एक बार मानव-जन्ममें पहुँच जाता है तब वह पशु-प्राण और पशु-शरीरमें वापस जा सकता है या नहीं, जबकि यह पीछेकी ओर जाना देहांतरणके प्राचीन लोकप्रिय सिद्धांतोंमें एक साधारण व्यापार माना गया है। यह तो असंभव लगता है कि वह किसी संपूर्ण रूपसे इस भाँति पीछे चला जाय, और इसका कारण यह है कि पशु-जीवनसे मानव-जीवनमें होनेवाले संक्रमणका अर्थ चेतनाका एक निर्णायक परिवर्तन होता है, वह परिवर्तन बिलकुल उतना निर्णायक होता है जितना कि वनस्पतिकी प्राण-चेतनाका पशुकी मनश्चेतनामें परिवर्तन। यह निश्चय ही असंभव है कि प्रकृति द्वारा किये गये इतने निर्णायक परिवर्तनको जीव उलट दे और प्रकृतिमें अंतःस्थ पुरुषका निर्णय मानों शून्य हो जाय। यह केवल ऐसे मानव-जीवोंके लिये संभव हो सकता है,—यदि यह मान लिया जाय कि ऐसे जीव होते भी हैं,—जिनमें वह परिवर्तन निर्णायक नहीं हुआ हो, जो इतनी दूर तो विकसित हो गये हों कि मानव-शरीर बना सकें, उसमें रह सकें या उसे धारण कर सकें, किन्तु इतने पर्याप्त रूपमें नहीं कि इस धारणकी सुरक्षा पक्की कर सकें, इसकी प्राप्तिको निरापद रख सकें और चेतनाके मानवीय प्रकारके प्रति निष्ठावान् रह सकें। या अधिकसे अधिक, ऐसा हो सकता है कि यदि यह माना जाय कि कुछ पशु-प्रवृत्तियाँ इतनी उग्र थीं कि वे बिलकुल अपने ही प्रकारकी पृथक् तुष्टिकी मांग कर रही हों, तो एक प्रकारका आंशिक पुनर्जन्म, उस मानव-अंतरात्माके द्वारा किसी पशु-रूपका एक शिथिल धारण हो सकता है, परंतु अपनी स्वाभाविक प्रगतिकी ओर उसका परवर्ती प्रत्यावर्तन भी तुरंत होता है। प्रकृति-धारा सर्वदा हमारे लिये इतनी जटिल रहती है कि हम ऐसी संभावनाका वर्जन किसी सिद्धांत-हठपर नहीं कर सकते, और यदि यह संभावना वास्तविक हो तो इस अतिरंजित लोकप्रिय विश्वासके पीछे जो कि मनुष्यमें एक बार निवास कर चुके अंतरात्माके पशु-रूपमें पुनर्जन्मको भी उतना ही प्राकृत और संभव मानता है जितना कि मानव-रूपमें पुनर्जन्मको, यह सत्यांश हो सकता है। परंतु जो जीव एक बार मानव-योनिके लिये समर्थ हो चुका है उसका पशु-योनियोंमें पीछे जाना संभव हो या नहीं, उसके लिये सामान्य विधान तो अभिनव मानव-रूपोंमें ही जन्मकी पुनरावृत्ति होगी।

परंतु मानव-जन्मोंका तांता क्यों? एक ही क्यों नहीं? इसका भी कारण वही है जिससे स्वयं मानव-जन्म अतीतके अनुक्रमका, पूर्ववर्ती ऊर्ध्वमुखी धाराका परमोत्कर्ष बिंदु बना है,—आध्यात्मिक क्रमविकासकी आवश्यकताके कारण यह तांता चलना ही चाहिये। क्योंकि अंतरात्माको जो करना है उसकी समाप्ति उसने मानवतामें ही विकसित होकर नहीं कर दी है; उस मानवताको उसे अभी भी उसकी उच्चतर संभावनाओंमें प्रस्फुटित करना बाकी है। स्पष्ट है कि कैरिबी* या असभ्य अशिक्षित आदिवासी या पेरिसके गुंडे या अमेरिकाके आततायीमें रहनेवाले अंतरात्माने अभीतक मानव-जन्मकी आवश्यकता समाप्त नहीं की है, उसकी सारी संभावनाओं या मानवताके समूचे अर्थका विकास नहीं किया है, विश्व-मानवमें सच्चिदानंदका संपूर्ण अभिप्राय कार्यान्वित नहीं किया है; उत्पादन-कर्म और प्राणिक सुखमें व्यस्त प्राणकेन्द्रिक यूरोपीयमें रहनेवाले अंतरात्मा या घरेलू और आर्थिक जीवनके अज्ञानमय चक्रमें निमग्न एशियाई कृषकमें रहनेवाले अंतरात्माने भी यह सब नहीं किया है। हमारा यह संदेह करना न्याय्य होगा कि क्या प्लेटो या शंकर सरीखे व्यक्ति भी मनुष्यकी अंतःस्थ अध्यात्म-सत्ताके सिरमौर और फलतः उसके प्रस्फुटनका अंत हैं? हममें यह माननेकी प्रवणता रहती है कि ये व्यक्ति उसकी सीमा हो सकते हैं, कारण ये और इनके सदृश अन्य व्यक्ति हमें मानवीय मन तथा अंतरात्मा द्वारा प्राप्य उच्चतम बिंदु प्रतीत होते हैं, परंतु यह हमारी वर्तमान संभावनाका भ्रम हो सकता है। एक उच्चतर या, कमसे कम, कोई विशालतर संभावना हो सकती है जिसे भगवान् अभी भी मनुष्यमें संसिद्ध करना चाहते हों, और यदि ऐसा है, तो वहाँ तक राह बनाने और द्वार खोलनेके लिये इन उच्चतम अंतरात्माओंद्वारा निर्मित पैड़ियोंकी आवश्यकता थी ही। जो कुछ भी हो, व्यक्तिके लिए मानव-जीवनके पुनरावर्तन पर इति लिख सकनेके पूर्व कमसे कम इस वर्त्तमान उच्चतम बिंदुतक पहुँचना ही होगा। अपने मन और शरीरमें मनुष्य एक तुच्छ जीवन और अज्ञान है, वह वहाँसे प्रस्थान कर उस ज्ञान और उस दिव्य जीवन तक जानेके लिये अभिप्रेत है जिसे वह अध्यात्म-सत्ताके उन्मेषसे आयत्त कर सकता है। मनुष्य निश्चयात्मक रूपसे और सदाके

---

* वेस्ट इंडीजकी एक आदिम (नरभक्षी कही जानेवाली) जातिका नाम। (अनु०)

लिये अन्यत्र चला जा सके, इसके लिये उसे, कमसे कम, अपनी अंतःस्थ अध्यात्म-सत्ताका उन्मेष करना, अपने सच्चे आत्माका ज्ञान प्राप्त करना और आध्यात्मिक जीवन-यापन करना होगा। इस आरंभिक उत्कर्षसे आगे, मानव-जीवनमें अध्यात्म-सत्ताका श्रेष्ठतर पुष्पण भी हो सकता है जिसके अभी तक प्रथम संकेत ही मिले हैं; मनुष्यकी अपूर्णता प्रकृतिका अंतिम शब्द नहीं, किंतु उसकी पूर्णता भी 'अध्यात्म-सत्ता'का अंतिम शिखर नहीं।

यदि बुद्धि, जो अभी मनुष्य द्वारा विकसित मनका वर्तमान प्रमुख तत्त्व है, उसका उच्चतम तत्त्व न हो, तो यह संभावना निश्चयतामें परिणत हो जाती है। यदि मनकी ही अन्य शक्तियाँ हों जिन्हें उच्चतम कोटियोंके मानव-व्यक्ति भी अभी तक अपूर्णतया ही प्राप्त कर सके हैं, तो उन्हें मूर्त करनेके लिये क्रमविकासकी धाराकी लम्बाई और परिणामतया पुनर्जन्मकी आरोहण-धाराकी लम्बाई अनिवार्य है। यदि अतिमानस भी क्रमविकासमें यहाँ छिपी चेतनाकी एक शक्ति है, तो पुनर्जन्मकी धारा भी वहीं नहीं रुक सकती; उसका आरोहण तब तक नहीं बंद हो सकता जब तक कि मानसिक प्रकृतिका स्थान अतिमानसिक प्रकृति नहीं ले ले और अतिमानसिक पुरुष शरीर धारण करके पार्थिव जीवनका नायक नहीं हो जाय।

अतः पुनर्जन्ममें विश्वास करनेके लिये युक्तियुक्त और दार्शनिक आधार यही है; यदि, साथ ही, प्रकृतिमें कोई क्रमवैकासिक तत्त्व है और क्रमवैकासिकी प्रकृतिमें उत्पन्न वैयक्तिक जीवकी कोई सत्यता है तो तर्क-दृष्टिसे पुनर्जन्म एक अनिवार्य निष्कर्ष भी है। यदि जीव या अंतरात्मा नहीं है तो एक यांत्रिक क्रमविकास हो सकता है जिसकी कोई आवश्यकता या सार्थकता न हो, और जन्म केवल इस विस्मयजनक परंतु अर्थहीन यंत्रका अंग होता है। यदि व्यक्ति केवल एक अस्थायी रचना है जिसका आरंभ और अंत शरीरके साथ होता है, तो क्रमविकास सर्वभूतात्मा या विश्वसत्ताका लीलायन हो सकता है जो अधिकाधिक उच्च कोटियोंके प्रगतिक्रमसे इस संभूतिमें अपनी ही चरम संभावनाकी ओर या अपने उच्चतम चिन्मय तत्त्वकी ओर आरोहण करता है; पुनर्जन्म है नहीं, उस क्रमविकासके साधन-रूपमें उसकी आवश्यकता भी नहीं। या, यदि सर्व-सत् अपने-आपको एक स्थायी किंतु मायिक वैयक्तिकतामें व्यक्त करता है, तो पुनर्जन्म या तो एक संभावना या

एक मायिक तथ्य हो जाता है, परंतु उसकी कोई क्रमवैकासिकी आवश्यकता नहीं होती, वह कोई आध्यात्मिक आवश्यकता नहीं होता; वह तो उस मायाको परिपुष्ट करने और उसे उसकी अंतिम काल-सीमातक दीर्घायु करनेका साधन मात्र होता है। यदि कोई वैयक्तिक अंतरात्मा या पुरुष है जो शरीरपर निर्भर नहीं,' वरन् उसमें निवास करता और उसे अपने प्रयोजनके लिये व्यवहृत करता है तो पुनर्जन्म संभव होने लगता है, किंतु यदि प्रकृति-स्थ पुरुषका क्रमविकास नहीं होता है तो पुनर्जन्म आवश्यक नहीं है: वैयक्तिक शरीरमें वैयक्तिक पुरुषका वर्तमान रहना एक क्षणिक व्यापार, एक एकाकी अनुभव हो सकता है जिसका न तो यहाँ कोई अतीत है, न कोई भविष्य; उसका अतीत और उसका भविष्य अन्यत्र हो सकते हैं। परंतु यदि क्रमविकासशील शरीरमें चेतनाका क्रमविकास है और शरीरमें निवास करनेवाला कोई अंतरात्मा है, वास्तव तथा चेतन है, तो यह स्पष्ट है कि उस प्रकृति-स्थ पुरुषका प्रगतिशील अनुभव ही चेतनाके इस क्रमविकासका रूप लेता है : ऐसा हो तो पुनर्जन्म स्वतःसिद्ध रूपमें ऐसे क्रमविकासका आवश्यक अंग, उसका एकमात्र संभव यंत्र है। वह उतना ही आवश्यक है जितना कि स्वयं जन्म, कारण, उसके बिना जन्म एक परिणामहीन आरंभिक डग, एक ऐसा यात्रारंभ रह जायगा जिसमें आगेके डग नहीं, कोई लक्ष्य-प्राप्ति नहीं। शरीरमें खंड सत्ताके जन्मको उसकी अखंडताका आश्वासन और उसकी आध्यात्मिक सार्थकता पुनर्जन्म ही देता है।

अध्याय इक्कीस

लोक-लोकांतरका क्रम

सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा।
गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥

ये सात लोक हैं जिनमें निगूढ़ हृदयरूपी निवास-स्थानमें प्रच्छन्न प्राणशक्तियाँ विचरण करती हैं,—सात सात।

—मुण्डकोपनिषद्
II. 1. 8

पञ्च जना मम होत्रं जुषन्तां गोजाता उत ये यज्ञियासः।
पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात् पात्वस्मान् ॥
तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् ॥
सतो नूनं कवयः सं शिशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ।
विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वमानशुः ॥

पंचविध जन्मवाले (पञ्चजनाः), जो ज्योतिसे उत्पन्न और पूजनीय हैं, मेरी आहुति ग्रहण करें; पार्थिव अशुभसे हमारी रक्षा पृथ्वी करे, दैवी विपदाओंसे हमारी रक्षा अंतरिक्ष करे। अंतरिक्षमें आतत प्रभामय तंतुका अनुसरण करो, विचार (धी) द्वारा निर्मित ज्योतिष्मान् पथोंकी रक्षा करो; निष्कलुष कर्मका ताना-वाना बुनो, मनु हो जाओ, दिव्य जातिकी सृष्टि करो।....तुम सत्यके द्रष्टा हो, चमचमाते भालोंकी धार तेज करो जिनसे तुम अमृततक जानेका मार्ग काट निकालते हो; गुह्य धामोंके ज्ञाता, तुम सृष्टि करो उनकी, उन डगोंकी जिनके द्वारा देवगण अमृतत्वको प्राप्त हो गये।

—ऋग्वेद
X. 53. 5, 6, 10

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्॥

यही वह शाश्वत अश्वत्थ है जिसका मूल ऊर्ध्वमें और जिसकी शाखाएँ नीचेकी ओर हैं; यही ब्रह्म है, यही अमृत है; इसीमें सारे लोक अधिष्ठित हैं और कोई भी इससे आगे नहीं जाता। यह और वह एक हैं।

—कठोपनिषद्
II. 3. 1

यदि यह स्वीकार कर लिया जाता है कि जड़ जगत्‌में चेतनाका आध्यात्मिक क्रमविकास हो रहा है और पार्थिव शरीरमें व्यक्तिका सतत या पुनरावर्तित पुनर्जन्म होता है तो अगला प्रश्न यह उठता है कि क्या यह क्रमवैकासिक गतिधारा कोई पृथक् और अपने-आपमें संपूर्ण वस्तु है या कि एक विशालतर विश्वव्यापी समग्रताका अंग जिसका केवल एक प्रदेश जड़ जगत् है। इस प्रश्नका उत्तर संवृतिके उन सोपानोंमें गर्भित ही है जो क्रमविकाससे पहले आये हैं और उसे संभव बनाते हैं; कारण, यदि उनका पूर्ववर्त्ती होना सच है तो उच्चतर सत्ताके लोक, या कमसे कम, उसके स्तर होने ही चाहिये, और जो क्रमविकास उनके अस्तित्वके कारण संभव हुआ है उसके साथ उनका कुछ संबंध होना ही चाहिये। हो सकता है कि वे हमारे लिये और कुछ नहीं, बस अपनी प्रभाविनी उपस्थितिसे या पृथ्वी-चेतनापर अपने दबावसे प्राण, मन और अध्यात्म-सत्ताके संवृत तत्त्वोंको निर्मुक्त करते हों और उन्हें जड़ प्रकृतिमें अभिव्यक्त होने तथा अपना शासन प्रतिष्ठित करनेमें समर्थ करते हों। परंतु यह अत्यधिक मात्रामें असंभाव्य होगा कि वह संबंध और हस्तक्षेप वहीं समाप्त हो जायँ; संभावना यह है कि भौतिक जीवन और सत्ताके अन्य स्तरोंके जीवनके बीच एक अविच्छेद, भले ही अवगुंठित, संपर्क चलता जाय। अब यह आवश्यक है कि हम इस समस्याको अधिक निकटसे देखें, उसे उसके स्वतंत्र रूपमें देखें और इस संबंध तथा पारस्परिक संपर्कका जहाँ तक भौतिक प्रकृतिमें क्रमविकास और पुनर्जन्मके सिद्धांतपर असर पड़ता हो उसके स्वरूप और सीमाओंका निर्धारण करें।

'जीव'के अज्ञानमें उतर आनेके बारेमें ऐसा सोचा जा सकता है मानों कि शुद्ध आध्यात्मिक पुरुषका अतिचेतन आध्यात्मिक 'सद्वस्तु'मेंसे आद्या निश्चेतनामें और भौतिक प्रकृतिके परवर्ती विकासशील प्रपंचगत जीवनमे आकस्मिक अवक्षेप या अव्यवहित स्खलन हुआ हो। यदि ऐसा होता तो ऊपर निर्विशेष रह सकता था और नीचे निश्चेतन, उसमेंसे जड़ जगत्की सृष्टि हुई हो सकती थी, और भौतिक शरीरी जगत्-सत्तामेंसे विश्वातीत नीरवतामें सदृश आकस्मिक या उतावला संक्रमण ही परिणाम होता, वापसकी यात्रा होता। जड़ और आत्माके अतिरिक्त और कोई मध्यवर्ती शक्तियाँ या तत्त्व नहीं होंगे, जड़के अतिरिक्त कोई स्तर नहीं होंगे, जड़के जगत्के अतिरिक्त कोई जगत् नही होंगे। परंतु यह विचार अति तीक्ष्ण है, इसकी रचनामें अति सारल्य है, यह विश्व-जीवनके जटिल स्वरूपके विशालतर अवलोकनमें नहीं ठहर सकता।

निस्संदेह विश्व-जीवनके जन्मके कई संभव विकल्प हैं जिनके फलस्वरूप ऐसे चरम और अनम्य जगत्-संतुलनकी उत्पत्तिकी कल्पना हो सकती है। हो सकता है कि 'सर्वेच्छा'में ऐसी कोई धारणा रही हो और इसका आदेश हुआ हो, या जीवका कोई भाव, उसकी कोई चेष्टा अज्ञानके अहमात्मक भौतिक जीवनकी ओर हुई हो। यह अनुमान किया जा सकता है कि शाश्वत व्यष्टि-जीवने अपने अंदर उद्भूत होती किसी अव्याख्येय कामनासे प्रेरित होकर अंधकारका अभियान ठान लिया और तब अपनी सहज ज्योतिमेंसे अचित्तिकी गहराइयोंमें गोता लगा लिया जिसमेंसे यह अज्ञान-जगत् उद्भूत हुआ; या जीवोंके किसी समूहमें, 'बहु'में ऐसी प्रेरणा हुई होगी: कारण, विश्व किसी एक व्यष्टि-सत्तासे नही बन सकता; विश्व या तो निर्व्यक्तिक होगा या बहुव्यक्तिक या किसी विश्वव्यापी अथवा अनंत सत्-पुरुषकी सृष्टि या स्वाभिव्यक्ति। हो सकता है कि निश्चेतनके बलपर आधारित जगत्का निर्माण करनेके लिये यह कामना एक 'सर्वात्मा'को अपने साथ नीचे खींच लाई हो। यदि ऐसा न हुआ हो तो यह संभव है कि नित्य सर्वज्ञ 'सर्वात्मा'ने ही अपने आत्मज्ञानको निश्चेतनाके इस अंधकारमें सहसा निमज्जित कर दिया हो, वह अपने अंतःस्थ व्यष्टि-जीवोंको प्राण और चेतनाके आरोहण-क्रम द्वारा होनेवाले उनके ऊर्ध्वमुखी क्रमविकासके आरंभकी ओर ले गया हो। या, यदि व्यष्टि-सत्ता प्राक्तन नहीं है, यदि हम केवल सर्व-चेतनाकी सृष्टि या प्रापंचिक अविद्याकी कल्पना हैं,

तो इन दोनोंमेंसे किसी भी स्रष्टीने एक आद्या अभेदात्मिका प्रकृतिमेंसे नामों और रूपोंके क्रमविकास द्वारा इन सारी असंख्य व्यष्टि-सत्ताओंकी कल्पना की हो सकती है; तब जीव निश्चेतन शक्ति-उपादानके अभेदात्मक द्रव्यका, जो कि भौतिक विश्वमें वस्तुओंका पहला रूप है, एक अस्थायी उत्पादन होगा।

इस मान्यताके अनुसार, या इनमेंसे किसीके भी अनुसार, अस्तित्वके केवल दो लोक हो सकते है: एक ओर है जड़ विश्व जो निश्चेतनामेंसे शक्ति या प्रकृतिकी अंधी अचित्ति द्वारा सृष्ट हुआ है और वह प्रकृति या शक्ति शायद किसी आंतरिक अननुभूत 'आत्मा'के अनुगत रही है जो उसके निद्राचर क्रियाकलापोंकी अध्यक्षता करता है; दूसरी ओर है वह अतिचेतन 'अद्वय' जो निश्चेतना तथा अज्ञानमेंसे हमारी वापसीका लक्ष्य है। या नहीं तो हम यह कल्पना कर सकते हैं कि एक ही लोक है, जड़ सत्ताका लोक; भौतिक विश्वके 'आत्मा' से अलग कोई अति-चेतन नहीं। यदि हम यह देखते हों कि सचेतन सत्ताके अन्य लोक हैं और जड़ विश्वके अतिरिक्त अन्य लोकोंका अस्तित्व पहलेसे है तो इन विचारोंकी पुष्टि कठिन हो जा सकती है; परंतु उस निराकरणसे हम यह कल्पना करके छुटकारा पा सकते हैं कि इन लोकोंकी सृष्टि बादमें ही, निश्चेतनामेंसे अपनी आरोहण-यात्रामें, क्रमविकासशील 'जीव'ने की है या उसके लिये हुई है। इन दृष्टियोंमेंसे किसीके भी अनुसार सारा विश्व निश्चेतनामेंसे एक क्रमविकास होगा जिसमें भौतिक विश्व उसकी एकमात्र और पर्याप्त भूमिका और रंगमंच होगा, या नहीं तो, लोकोंका एक ऊर्ध्वमुख क्रम होगा जिसमें एकमेंसे दूसरा विकसित होता जाता होगा, जिससे हमें मूल 'सद्वस्तु'की ओर वापस जानेमें श्रेणीबद्ध मार्ग पानेमें सहायता मिलती है। हमारा अपना दृष्टिकोण यह रहा है कि विश्व अतिचेतन सच्चिदानंदमेंसे स्वकृत श्रेणियोंमें क्रमविकास है; परंतु पूर्वपक्षीय विचारके अनुसार वह और कुछ नहीं, निश्चेतनाका किसी ऐसे ज्ञानकी ओर क्रमविकास ही होगा जो किसी आरंभिक अज्ञान या किसी प्रवर्तिका कामनाके विनाश द्वारा, कुजात जीवके विलोपन के लिये या भ्रांत जगत्-अभियानमेंसे पलायनके लिये अवसर देनेको पर्याप्त हो।

परंतु ऐसे सिद्धांतोंमें या तो मनके महत्त्व और सृष्टिशीला शक्तिकी प्रमुखता या व्यष्टि-सत्ताके महत्त्वकी प्रमुखता मान्य रहती है। निस्संदेह,

दोनोंका बड़ा स्थान है, परंतु अद्वय शाश्वत 'अध्यात्म-पुरुष' ही आद्या शक्ति एवं आद्या सत्ता है। 'सत्-भाव' नहीं, जो वह 'सत्' है जिसे, जो स्वयं उसके अंतरमें है, उसकी संवित् है और जो उस सत्य-संवित्की शक्तिसे स्वतः स्वयं-स्रष्टा है, वरन् वह भाव जो कल्पनात्मक रूपसे सृजनशील है, मनकी वृत्ति है; कामना मनमें प्राणकी वृत्ति है; सुतरां प्राण और मन प्राक्तन शक्तियाँ होंगे ही और जड़ जगत्की सृष्टिके निर्धारक रहते ही आ रहे होंगे, और ऐसी अवस्थामें वे समान रूपसे अपनी ही अतिभौतिक प्रकृतिके लोकोंकी सृष्टि भी कर सकते हैं। या नहीं तो हमें यह मानना होगा कि यह कार्य किसी व्यक्तिमें या विश्व-मन या विश्व-प्राणमें रहनेवाली किसी कामनाने नहीं, वरन् 'अध्यात्म-पुरुष'की इच्छाने किया;—'सत्'की किसी इच्छाने किया जबकि वह सत् अपने-आपके या अपनी चेतनाके किसी अंशका प्रविस्तार कर रहा था, एक स्रष्टा भावको, या एक आत्मज्ञानको, या अपनी स्वयं-क्रियाशील शक्तिकी एक प्रेरणाको, या अपने अस्तित्वके आनंदके किसी विशेष रूपायणकी ओर एक घुमावको संसिद्ध कर रहा था। परंतु जगत्की सृष्टि यदि अस्तित्वके सार्वभौम आनंदके लिये नहीं, अपितु व्यष्टि-जीवकी कामना के लिये, उसकी अज्ञ अहमात्मक संभोगकी तरंगके लिये की गई है तब विश्वका स्रष्टा और साक्षी एक मनोमय व्यक्तिको होना चाहिये, न कि विश्व-पुरुष या विश्वातीत दिव्य पुरुषको। भूतकालकी मानव-विचारधारामें व्यष्टि-सत्ताकी छाया सदा वस्तुओंकी योजनाके अग्रभागमें और महत्त्वके प्रधान आयामोंमें अति विशाल रूपसे पड़ती रही है; इन अनुपातोंको यदि अभी भी मान्य रखा जा सके तो सृष्टिके ऐसे जन्मकी कल्पना स्वीकार हो सकती है: कारण, व्यष्टि-पुरुषमें अज्ञानके जीवनके लिये कोई इच्छा या कोई अनुमोदन अवश्य ही जड़ प्रकृतिमें 'अध्यात्म-पुरुष'की संवृतिके अवरोहणमें चेतनाकी क्रियाकारिणी गतिधाराका अंग होगा। परंतु जगत् वैयक्तिक मनकी सृष्टि नही हो सकता, उसकी अपनी ही चेतनाकी क्रीड़ाके लिये उसके द्वारा बनाया गया रंगमंच नहीं हो सकता; वह केवल अहंकी क्रीड़ा और तुष्टि या विफलताके लिये भी नही रचा जा सकता था। जब हममें इस बोधका जागरण होता है कि विश्वका महत्त्व प्रधान है और व्यक्ति उसपर निर्भर है तब इस प्रकारका सिद्धांत हमारी बुद्धिके लिये असंभव होता जाता है। जगत् अपनी गतिधारामें इतना अधिक

बृहत् है कि उसकी क्रियाका ऐसा कोई विवरण विश्वसनीय नहीं रह जाता; कोई विश्वशक्ति या विश्वपुरुष ही विश्वका स्रष्टा और धारयिता हो सकता है, और विश्वकी सत्यता, तात्पर्य या लक्ष्यको भी केवल वैयक्तिक नहीं, वैश्व होना ही चाहिये।

अतएव, जगत् अस्तित्वमें आया उसके पूर्व ही इस जगत्-स्रष्टा या जगत्में भाग लेनेवाले 'व्यक्ति'का और अज्ञानके लिये उसकी कामना या अनुमतिका जागरण अवश्य हुआ होगा; उसका अस्तित्व अवश्य ही किसी विश्वातीत अतिचेतनमें एक तत्त्वकी तरह रहा होगा जिसमेंसे वह आता और जिसमें वह अज्ञानके जीवनमेंसे वापस जाता है: हमें 'एक'के अंदर 'बहु'की एक मूल अंतःस्थिति माननी ही होगी। तब यह कल्पनीय हो जाता है कि किसी संसारातीत अनंतमें, बहुमेंसे कईमें एक इच्छा या आवेग या आध्यात्मिक आवश्यकताका विलोड़न हुआ होगा जिसने उन्हें नीचेकी ओर अवक्षिप्त किया और इस अज्ञान-जगत्की सृष्टि अवश्यम्भावी की। परंतु चूँकि 'एक' ही अस्तित्वका प्रधान तथ्य है, चूँकि बहु उस 'एक' पर ही आश्रित हैं, उस 'एक'के ही अनेक आत्मा हैं, उस 'सत्'की ही सत्ताएँ हैं, अतः इसी सत्यको विश्व-सत्ताके मूलभूत सिद्धांतका भी निर्धारक होना चाहिये। तब हम देखते हैं कि विश्व व्यक्तिके पूर्व आता है, उसे उसका क्षेत्र देता है, वह वह है जिसमें व्यक्तिका विश्व-जीवन होता है यद्यपि उसका मूल 'विश्वातीत'में है। व्यष्टि-आत्मा यहाँ 'सर्वात्मा'के सहारे रहता है और उसपर आश्रित है; बहुत स्पष्ट है कि 'सर्वात्मा' न तो व्यक्तिके सहारे है, न उसपर आश्रित ही: 'सर्वात्मा' वैयक्तिक सत्ताओंका योग-फल नहीं है, व्यक्तियोंके सचेतन जीवन द्वारा सृष्ट कोई बहुत्ववादीय समग्रता नहीं है; यदि कोई 'सर्वात्मा' है तो उसे वह अद्वय विश्व-पुरुष ही होना चाहिये जो अपने कार्योंमें उस अद्वय विश्वशक्तिको आधार देता हो, और वह 'एक' पर 'बहु'की निर्भरताके प्राथमिक संबंधको विश्वसत्ताकी अभिधाओंमें परिवर्तित करके उसकी यहाँ पुनरा-वृत्ति करता है। यह धारणागम्य नहीं कि 'बहु'ने उस अद्वय इच्छासे स्वतंत्र रूपमें या उससे विचलनके रूपमें विश्वजीवनकी कामना की हो और अपनी कामनासे सच्चिदानंदको अनिच्छा या सहिष्णु भावसे अचित्तिमें उतर आनेको विवश किया हो; ऐसी कल्पनासे वास्तविक निर्भरता बिल्कुल पलट जायगी। यदि जगत्की सृष्टि सीधे बहुकी

इच्छा या आध्यात्मिक आवेगसे हुई हो,—और ऐसा होना संभव है और एक अर्थमें संभाव्य भी,—तो भी ऐसा होनेकी कोई इच्छा प्रथमतः सच्चिदानंदमें अवश्य हुई होगी; नहीं तो वह आवेग,—उस 'सर्वेच्छा'को यहाँ कामनामें अनूदित करता हुआ, कारण जो चीज अहंमें कामना बनती है वह 'अध्यात्म-पुरुष'में 'इच्छा' है,—कहीं भी उद्भूत नहीं हो सकता था। जड़ विश्वमें 'व्यक्ति' अज्ञानका अवगुंठन धारण कर सके, उसके पहले उस 'एकं', उस 'सर्वात्मा'को, एकमात्र जिससे 'व्यक्ति'की चेतना निर्धारित होती है, निश्चेतन प्रकृतिका अवगुंठन स्वीकार करना होगा।

परंतु एक बार यदि हम परम और वैश्व पुरुषकी इस 'इच्छा'को जड़ विश्वके अस्तित्वकी अनिवार्य शर्तके रूपमें मान लेते हैं तो कामनाको स्रष्टा तत्त्वके रूपमें स्वीकार करना संभव नहीं रह जाता; कारण, परम पुरुष या 'सर्व-सत्ता'में कामनाके लिये कोई स्थान नहीं। ऐसा कुछ भी नहीं हो सकता जिसकी उसे कामना हो; कामना परिणाम है असंपूर्णताका; अपर्याप्तताका; वह किसी ऐसी वस्तुके लिये होती है जो अधिकृत नही या जिसका भोग प्राप्त नहीं और जिसपर अधिकारकी या जिसके भोगकी चाह जीवमें होती है। परम और विश्वव्यापी 'सत्-पुरुष'को अपनी सर्व-सत्ताका आनंद तो हो सकता है, परंतु उस आनंदके लिये कामना अवश्य ही विजातीय होगी,—कामना अधूरे क्रमवैकासिक अहंका ही गुण हो सकती है जो कि विश्वक्रियाकी उत्पत्ति है। इसके अतिरिक्त, यदि 'अध्यात्म-पुरुष'की सर्व-चेतनाने जड़की निश्चेतनामें गोता लगानेकी इच्छा की है तो इसका कारण अवश्य ही यह होगा कि ऐसा करना उसकी आत्म-सृष्टि या अभिव्यक्तिकी एक संभावना था। परंतु केवल जड़ विश्व और वहाँ निश्चेतनामेंसे आध्यात्मिक चेतनाकी ओर क्रमविकास उस 'सर्व-सत्'की अभिव्यक्तिकी एकमात्र, एकाकी और सीमित संभावना नहीं हो सकता। ऐसा केवल तब हो सकता था जब कि जड़तत्त्व ही अभिव्यक्त सत्ताकी मूल शक्ति और रूप होता और जबकि अध्यात्म-पुरुषके सामने और कोई चुनाव नहीं होता और वह जड़को आधार बनाकर निश्चेतना द्वारा जड़में अभिव्यक्त होनेसे भिन्न और कुछ नहीं कर पाता। इसके परिणाममें हम एक जड़वादी क्रमवैकासिक सर्वेश्वरवादपर पहुँच जायँगे; तब हमें विश्वमें रहनेवाले समस्त भूतोंको 'अद्वय'के अनेक आत्माओंके रूपमें, ऐसे आत्माओंके रूपमें देखना होगा जिनका

जन्म यहाँ उस 'अद्वय'में हुआ है और जिनका ऊर्ध्वमुख क्रमविकास निर्जीव, सजीव और मनसा विकसित रूपोंमेंसे होता हुआ चल रहा है जबतक कि अतिचेतन सर्वेश्वरमें उनके संपूर्ण तथा अविभक्त जीवनकी पुनःप्राप्ति न हो जाय और उसका विश्वव्यापी 'एकत्व' उनके क्रमविकासके लक्ष्य और अंतके रूपमें आयगा। ऐसी दशामें प्रत्येक वस्तु यहीं विकसित हुई है; प्राण, मन और अंतरात्माका उद्भव जड़ विश्वमें स्थित उस 'अद्वय'मेंसे उसकी प्रच्छन्न सत्ताके वीर्यसे हुआ है, और प्रत्येक वस्तुकी परिपूर्ति यहीं जड़ विश्वमें होगी। अतः अतिचेतनाकी कोई पृथक् भूमि नहीं है, क्योंकि अतिचेतन यहीं है, अन्यत्र कहीं नहीं; कोई अतिभौतिक लोक नहीं हैं; जड़-तत्त्वसे बाहरके किन्हीं अतिभौतिक तत्त्वोंकी कोई क्रिया नहीं है, जड़ भूमिपर किसी पहलेसे वर्तमान मन और प्राणका कोई चाप नहीं है।

अब यह प्रश्न उठता है कि मन और प्राण क्या हैं, और यह उत्तर दिया जा सकता है कि वे जड़तत्त्वकी या जड़में रहनेवाली ऊर्जाकी उत्पत्तियाँ हैं। या नहीं तो वे चेतनाके ऐसे रूप हैं जिनका उद्भव निश्चेतनामेंसे अतिचेतनाकी ओर क्रमविकासके परिणामस्वरूप हुआ है: चेतना भी एक संक्रमण-सेतु है; यह तो अध्यात्मपुरुष ही है जो अपनी ज्योतिर्मयी अतिचेतनाकी स्वाभाविक समाधिमें निमज्जित होनेके पूर्व अपने-आपके प्रति अंशतः संविद् हो रहा है। यदि विशालतर प्राण और मनके लोक प्रमाणित भी हो जायँ तो भी वे उस आध्यात्मिक चरमोत्कर्षके मार्गपर इस मध्यवर्ती चेतनाके विपर्यगत निर्माण ही होंगे। परंतु यहाँ यह कठिनाई है कि मन और प्राण जड़से इतने भिन्न हैं कि वे जड़की उत्पत्तियाँ नहीं हो सकते; जड़तत्त्व भी ऊर्जाकी उत्पत्ति है और मन तथा प्राणको उसी ऊर्जाकी श्रेष्ठतर उत्पत्तियाँ ही मानना होगा। हम यदि एक विश्वव्यापी 'अध्यात्मसत्ता'को मानते हैं तो यह ऊर्जा भी आध्यात्मिक होगी; प्राण और मन एक आध्यात्मिक ऊर्जाकी स्वतंत्र उत्पत्तियाँ होंगे और स्वयं भी 'अध्यात्म-सत्ता'की अभिव्यक्तिकी शक्तियाँ ही होंगे। तब यह मानना अयौक्तिक हो जाता है कि केवल 'अध्यात्म-सत्ता' और जड़का ही अस्तित्व है या वे ही दो आमने-सामने खड़ी सत्ताएँ हैं या जड़ ही अध्यात्म-सत्ताकी अभिव्यक्तिका एकमात्र संभव आधार है; तब एकमात्र जड़ जगत्के होनेका विचार तत्काल अमान्य हो जाता है। 'अध्यात्म-सत्ता'में यह क्षमता होनी ही चाहिये कि वह अपनी अभिव्यक्तिको मानस-तत्त्व या प्राण-तत्त्वपर

आधारित करे, न कि केवल जड़-तत्त्वपर; इस दशामें मनके लोक और प्राणके लोक हो सकते हैं और, तर्क-दृष्टिसे, होने भी चाहिये; यहाँतक कि जड़के एक सूक्ष्मतर और अधिक नमनीय, अधिक सचेतन तत्त्वपर आधारित लोक भी हो सकते हैं।

अब तीन प्रश्न उठते हैं और तीनों परस्पर-संबंधित या अन्योन्याश्रयी हैं। पहला, क्या ऐसे अन्य लोकोंके अस्तित्वका कोई प्रमाण या सच्चा संकेत है? दूसरा, यदि उनका अस्तित्व है तो क्या उनका स्वरूप वैसा ही है जैसा हमने वर्णन किया है, क्या उनका जड़ और अध्यात्म-सत्ताके बीच एक सोपान-परंपराकी शृंखला और यौक्तिक व्यवस्थाके अंतर्गत आरोहण या अवरोहणका क्रम है? तीसरा, यदि यही उनकी सत्ताका क्रम है तो क्या वे अन्यथा बिल्कुल स्वतंत्र और असंबद्ध हैं या जड़ जगत्पर उच्चतर लोकोंकी अन्योन्य क्रिया होती है? यह एक तथ्य है कि मानव-जातिने लगभग अपने अस्तित्वके आरंभसे ही, या अतीतमें जहाँतक इतिहास या परंपरा जा सकती है तबसे, अस्तित्वके अन्य लोकों और उनकी शक्तियों तथा सत्ताओं और मानव-जातिके बीच संसर्गकी संभावनामें विश्वास किया है। मानव-विचारके जिस पिछले तर्कबुद्धिपरक युगमेंसे हम अभी बाहर आ रहे हैं, उसमें इस विश्वासको युग-प्राचीन अंधविश्वास कहकर अलग हटा दिया गया है; इसकी सत्यताके सारे प्रमाणों या संकेतोंको ठीकसे विचार किये बिना ही यह कहकर वर्जित कर दिया गया है कि वे मूलतया मिथ्या हैं और अन्वेषणके योग्य नहीं, क्योंकि वे इस स्वयंसिद्ध सत्यतासे असंगत हैं कि केवल जड़ और जड़-जगत् और उसके अनुभव सत्य हैं; सत्य होनेका आभास रखनेवाला सारा अन्य अनुभव या तो विभ्रम होगा या प्रतारणा या अंधश्रद्धालु विश्वासशीलता और कल्पनाका विपथिगत परिणाम, या नहीं तो वह यदि सत्य ही है तो वह जैसा आभासित हो रहा था उससे भिन्न होगा और किसी भौतिक कारण द्वारा व्याख्येय होगा: ऐसे तथ्यका कोई भी प्रमाण तबतक स्वीकार नहीं किया जा सकता जबतक कि वह बहिर्व्यक्त न हो और उसका स्वरूप स्थूल न हो; वह तथ्य यदि बहुत ही प्रत्यक्ष रूपसे अतिभौतिक हो तो भी उसे इस रूपमें तबतक स्वीकार नहीं किया जा सकता जबतक कि वह किसी भी अन्य कल्पनीय अभ्युपगम या धारणागम्य अनुमानके सहारे संपूर्णतया अव्याख्येय नहीं रह जाय।

यह सुस्पष्ट होना चाहिये कि अतिभौतिक तथ्यके लिये भौतिक प्रकारके मान्य प्रमाणकी यह मांग अयौक्तिक और अतार्किक है; यह उस स्थूल मनकी असंगत अभिवृत्ति है जो यह मान लेता है कि जो कुछ वाह्य-रूपायित और स्थूल है वही मूलतया सत्य है और अन्य सव कुछको निरा विषयिगत कहकर अलग हटा देता है। अतिभौतिक वास्तवता स्थूल जगत्पर आघात कर सकती और स्थूल परिणाम उत्पन्न कर सकती है; वह हमारी स्थूल इन्द्रियोंपर प्रभाव भी डाल सकती और उनके सम्मुख अभिव्यक्त हो सकती है, परंतु यह सव उसकी निरपवाद क्रिया और सर्वथा स्वाभाविक गुणधर्म या प्रक्रिया नहीं हो सकता। सामान्यतया हमारे मन और हमारी प्राण-सत्तापर अतिभौतिक वास्तविकताका सीधा प्रभाव या उसकी गोचर छाप पड़नी ही चाहिये, क्योंकि वे हमारे वे अंग हैं जो स्वयं उसीकी श्रेणीके हैं, और अतिभौतिक वास्तविकता यदि भौतिक जगत् और भौतिक जीवनको प्रभावित कर भी सकती है, तो उन्हींके द्वारा और परोक्ष रूपमें ही। वह यदि गोचरीभूत होती भी है तो हमारे अंदरकी सूक्ष्मतर इंद्रियके लिये ही होनी चाहिए, वाह्य स्थूल इंद्रियके लिये उसकी गोचरता गौण रूपसे ही होगी। यह गौण गोचरता निश्चय ही संभव है; यदि सूक्ष्म शरीर और उसके इंद्रिय-संगठनकी क्रियाका भौतिक शरीर और उसके स्थूल अवयवोंकी क्रियाके साथ संयोग हो जाता है तो अतिभौतिक तथ्य हमारे लिये वाह्यतया इंद्रियगम्य हो जा सकता है। उदाहरणके लिये हम जिस क्षमताको सूक्ष्म दृष्टि कहते हैं उसमें यही होता है; यह उन सारे अतींद्रिय व्यापारोंकी प्रक्रिया है जो वाह्य इंद्रियोंसे दिखायी और सुनायी पड़ने लगते हैं और ऐसे प्रतिरूपी या व्याख्यात्मक या प्रतीकी प्रतिविम्वोंसे अंतरतः अनुभूत नहीं होते जिनपर आंतरिक अनुभवकी छाप पड़ी हो या जिनका किसी सूक्ष्म धातुमें रचित होनेका कोई स्वरूप स्पष्ट हो। अतः सत्ताकी अन्य भूमियोंके अस्तित्व और उनके साथके संवंधके विविध प्रकारके प्रमाण हो सकते हैं,—वहिरिन्द्रियके लिये उनका गोचरीभूत होना, सूक्ष्मेंद्रियके संपर्क, मनके संपर्क, प्राणके संपर्क, हमारे सामान्य प्रसारसे आगे जाती चेतनाकी विशेष अवस्थाओंमें अवगूढ़ द्वारा संपर्क। हमारा स्थूल मन न तो हमारा समूचा स्वरूप है, न वह हमारी लगभग समूची वाह्य चेतनापर प्रमुख रहने पर भी हमारा उत्तम या महत्तम भाग ही है; सद्वस्तुको इस संकीर्णताके एकमात्र क्षेत्रमें या उसकी

बंधी-बंधायी परिधिके अंतर्गत ज्ञात आयामोंमें सीमित नहीं किया जा सकता।

यदि यह कहा जाय कि विषयिगत अनुभव या सूक्ष्मेंद्रियके प्रतिबिंब हमें आसानीसे छल सकते हैं क्योंकि हमें उनकी सत्यताके परीक्षणकी कोई मान्य पद्धति या मानक प्राप्त नहीं और असाधारण तथा चमत्कारिक या अलौकिकको उसके प्रत्यक्ष मूल्यमें माननेकी हममें अत्यधिक प्रवणता है, तो यह बात स्वीकार की जा सकती है: परंतु मूल-भ्रांति हमारे आंतरिक आत्मपरक या अवगूढ़ अंगोंका विशेषाधिकार नहीं, वह स्थूल मन और उसकी बहिर्वृत्त पद्धतियों और मानकोंकी भी संगिनी है, और मूल-भ्रांतिकी यह संभावना अनुभवके एक विशाल और महत्त्वपूर्ण प्रदेशको बंद करके बाहर रखनेका कारण नहीं हो सकती; यह तो बल्कि इस बातका कारण है कि उसकी संवीक्षा की जाय और उसके अपने सच्चे मानकों और सत्यता-परीक्षणके अपने विशिष्ट उपयुक्त तथा प्रामाणिक साधनोंसे उसका पता लगाया जाय। हमारी आत्मनिष्ठ सत्ता हमारे वस्तुपरक अनुभवका आधार है, और ऐसी संभावना नहीं कि केवल उसके स्थूल गोचर रूप सत्य हों और बाकी सब कुछ अविश्वसनीय। अवगूढ़ चेतना, जब उससे ठीकसे पूछा जाता है, सत्यकी साक्षिणी होती है, और उसकी साखी स्थूल तथा बहिर्विषयक क्षेत्रमें भी बारबार प्रमाणित होती है; अतः वह साखी जब हमारा ध्यान हमारे अंदरकी वस्तुओं या अतिभौतिक लोकों या स्तरोंकी वस्तुओंकी ओर खींचती है तब उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। साथ ही, अकेला विश्वास भी सत्यताका प्रमाण नहीं; उसे स्वीकार किया जा सके इसके पहले उसे किसी अधिक प्रामाणिक वस्तुपर अधिष्ठित होना होगा। यह सुस्पष्ट है कि अतीतके विश्वास ज्ञानका पर्याप्त आधार नहीं होते, भले ही उनकी पूरी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती हो: कारण, विश्वास है मानसिक निर्माण और वह एक गलत निर्माण भी हो सकता है; प्रायः वह किसी आंतरिक संकेतके अनुरूप हो सकता है और तब उसका एक मूल्य होता है, परंतु वह प्रायः ही उस संकेतको विरूप कर देता है, सामान्यतया वह उसे हमारे स्थूल और बहिर्वृत्त अनुभवकी परिचित अभिधाओंमें अनूदित करके विरूप कर देता है, जैसे कि लोकोंकी सोपान-परंपराको स्थूल सोपान-परंपरा या भौगोलिक देश-विस्तारमें परिवर्तित कर दिया गया, सूक्ष्म धातुके अघन शिखरोंको भौतिक शिखरोंमें परिवर्तित

कर दिया गया और देवताओंके गृह भौतिक पर्वतोंकी चोटियोंपर कल्पित किये गये। सारे सत्यको, वह चाहे अतिभौतिक हो या भौतिक, केवल मनके विश्वासपर नहीं, अपितु अनुभवपर आधारित होना होगा; परंतु प्रत्येक दशामें अनुभवको उस श्रेणीका होना होगा,—भौतिक, अवगूढ़ या आध्यात्मिक,—जो सत्योंकी उस श्रेणीके उपयुक्त होगा जिसमें प्रवेश करनेका हमें अधिकार मिला हो; उनकी प्रामाणिकता और सार्थकताकी संवीक्षा करनी तो होगी, परंतु यह संवीक्षा उन्हींके स्वधर्मके अनुसार और ऐसी चेतनासे करनी होगी जो उनके अंदर प्रवेश कर सके, न कि अन्य प्रदेशके धर्मके अनुसार या ऐसी चेतनासे जो केवल अन्य श्रेणीके सत्योंके लिये समर्थ हो; ऐसा करके ही हम अपने डगोंके प्रति निश्चित रह सकते और अपने ज्ञानके प्रदेशका विस्तार दृढ़तासे कर सकते हैं।

अतिभौतिक जगत्-तत्त्वोंके जो संकेत हमें अपने आंतरिक अनुभवमें प्राप्त होते हैं उनकी हम यदि संवीक्षा करें और उसकी तुलना इस प्रकारके संकेतोंके उस विवरणसे करें जो हमें मानव-ज्ञानके आरंभसे आता रहा है, और यदि हम उनकी किसी व्याख्या और संक्षिप्त विन्यास-का प्रयत्न करें, तो देखेंगे कि यह आंतरिक अनुभव हमें अधिकतम घनिष्ठतासे यही कहता है कि विशुद्ध भौतिक स्तरकी अपेक्षा, जिसकी सत्ता और क्रिया संकुचित हैं और जिसकी संवित् हमें अपने संकीर्ण पार्थिव सूत्रमें होती है, सत्ता और चेतनाके विशालतर स्तरोंका अस्तित्व है और हमपर उनकी क्रिया होती है। विशालतर सत्ताके ये प्रदेश हमारी अपनी सत्ता और चेतनासे सर्वथा दूरस्थ और पृथक् नहीं हैं, कारण, यद्यपि उनका अस्तित्व अपने-आपमें बना रहता है और अस्तित्व तथा अनुभवमें उनकी अपनी क्रीड़ा, प्रक्रिया और रूपायण हैं, तथापि साथ ही साथ, वे अपनी अदृश्य उपस्थिति और प्रभावोंसे भौतिक लोकमें अनुप्रविष्ट और उसपर आच्छादित होते हैं, और उनकी शक्तियाँ यहाँ, स्वयं भौतिक जगत्में, उसकी क्रिया और वस्तुओंके पीछे विद्यमान लगती हैं। उनके साथ हमारे संपर्कमें अनुभवकी दो प्रधान श्रेणियाँ हैं; एक है विशुद्ध आत्मनिष्ठ, परंतु अपनी आत्मनिष्ठतामें भी पर्याप्त स्पष्ट और इन्द्रियगोचर, दूसरी श्रेणीका अनुभव अधिक वस्तुनिष्ठ है। आत्मनिष्ठ अनुभवकी श्रेणीमें हम देखते हैं कि जो कुछ हमारे सामने यहाँ जीवन-उद्देश्य, जीवन-संवेग, जीवन-रूपायण बनकर आता है वह संभावनाओंकी

एक विशालतर, सूक्ष्मतर, अधिक नम्य अवलिमें पहलेसे विद्यमान है, और ये पहलेसे विद्यमान शक्तियाँ और रचनाएँ स्थूल जगत्‌में भी कार्यान्वित होनेके लिये हमपर चाप डाल रही हैं; परंतु उनका अंश ही निकल आनेमें सफल होता और वह भी पार्थिव विधान और अनुक्रमकी योजनाके अधिक उपयुक्त रूप और परिस्थितिमें अंशतः ही प्रकट होता है। यह अवक्षेप साधारणतया हमारे जाने बिना होता है; हमपर इन विभूतियों, शक्तियों और प्रभावोंकी जो क्रिया होती है उसकी हमें संवित् नही होती, प्रत्युत हम उन्हें अपने ही प्राण और मनकी रचनाएँ तब भी मानते हैं जबकि हमारी बुद्धि या इच्छा उनका वर्जन करती है और उनसे अधिकृत नहीं होनेका प्रयास करती है : परंतु जब हम सीमित बहिस्तलीय चेतनासे अंतरकी ओर चले जाते हैं और एक सूक्ष्मतर बोध तथा गभीरतर संवित्‌को विकसित करते हैं तब हम इन गतियोंके मूलका संकेत पाना आरंभ करते और उनकी क्रिया और प्रक्रियापर दृष्टि रखने, उन्हें स्वीकार, अस्वीकार या परिवर्तित करने, उन्हें अपने मन और इच्छा, अपने प्राण और अंगोंमेंसे गुजरने और उनको व्यवहृत करने या न करने देनेमें समर्थ होते हैं। उसी तरह हम मनके विशालतर प्रदेशोंसे अवगत होते हैं, हमें एक अधिक नम्य क्रीड़ा, अनुभूति और रूपायणकी, सारे संभव मानसिक निरूपणोंके उपचीयमान प्राचुर्यकी संवित् होती है, और हमारे साथके उनके संपर्कों और हमारे मनोमय अंगोंपर उनकी शक्तियों और प्रभावोंके उसी गूढ़ रीतिसे क्रिया करनेका अनुभव होता है जिससे अन्य शक्तियाँ और प्रभाव हमारे प्राणिक अंगोंपर क्रिया करते हैं। इस प्रकारका अनुभव, प्रधानतः, केवल आत्मनिष्ठ होता है, विचारों, सुझावों, भावावेग-रूपायणों, संवेदन, कर्म और क्रियात्मक अनुभवकी ओर प्रेरणोंका चाप होता है। इस चापका चाहे कितना ही बड़ा भाग हमारी अवगूढ़ सत्तासे अथवा हमारे अपने जगत्‌की विश्वगत मनःशक्तियों या प्राणशक्तियोंके घेरेसे आता मिले, एक ऐसा तत्त्व रहता ही है जिसपर एक अन्य उत्सकी, एक अनपनेय अतिपार्थिव धर्मकी छाप रहती है।

परंतु ये संपर्क यही नहीं रुक जाते : कारण, हमारे मनोमय और प्राणमय अंगोंका उन्मीलन आत्मनिष्ठ-वस्तुनिष्ठ अनुभवोंके एक विशाल प्रसारकी ओर होता है जिसमें ये स्तर आत्मनिष्ट सत्ता एवं चेतनाके विस्तरण-रूपमें न होकर, लोकोंके रूपमें उपस्थित होते हैं; कारण, वहाँ

अनुभव संगठित तो वैसे ही होते हैं जैसे हमारे अपने लोकमें, परंतु उनकी योजना, उनके कर्मकी प्रक्रिया और विधान भिन्न होते हैं और वे एक अतिभौतिक प्रकृतिकी धातुमें होते हैं। जैसे हमारी पृथ्वीपर होता है, इस संगठनमें उन सत्ताओंका अस्तित्व भी सम्मिलित है जो रूपी हैं या रूप लेती हैं, एक दैहिक धातुमें अभिव्यक्त होती या स्वभावतः अभिव्यक्त की जाती हैं, परंतु वह धातु हमारी धातुसे भिन्न है, वह एक ऐसी सूक्ष्म धातु है जो केवल सूक्ष्मेंद्रियके लिये ग्राह्य है, वह एक अतिभौतिक रूप-धातु है। यदि इन लोकों और सत्ताओंका हमसे और हमारे जीवनसे कोई संबंध न हो, वे हम पर कोई क्रिया न करें, तो भी अनेक बार वे पृथ्वी-जीवनके साथ गुप्त संसर्ग स्थापित करती हैं, वैश्व शक्तियों और प्रभावोंका, जिनका हमें आंतरिक अनुभव होता है, अनुसरण करती या उन्हें मूर्त करती हैं और उनके मध्यग और उपकरण होती हैं, या पार्थिव लोकके जीवन और उद्देश्यों और घटनाओंपर वे ही अपने उपक्रमणसे क्रिया करती हैं। इन सत्ताओंसे सहायता या पथप्रदर्शन, हानि या अप-निर्देशन पाना संभव है, इनके प्रभावके अधीन हो जाना, इनके आक्रमण या प्राबल्यसे अधिकृत हो जाना, इनके अच्छे या बुरे प्रयोजनके लिये इनका उपकरण हो जाना भी संभव है। कई बार पार्थिव जीवनकी प्रगति दोनों प्रकारकी अतिभौतिक शक्तियोंके बीच एक विशाल युद्ध-क्षेत्र जान पड़ती है, एक ओर तो वे शक्तियाँ जो हमारे ऊर्ध्वमुखी क्रमविकासको या भौतिक विश्वमें अंतरात्माकी स्वाभिव्यक्तिको उन्नीत, प्रोत्साहित और आलोकित करनेका प्रयत्न करती हैं, दूसरी ओर वे जो उसे पथच्युत करने, ह्रसित करने या रोकने या छिन्नभिन्न भी कर देनेका प्रयत्न करती हैं। इनमेंसे कुछ सत्ताएँ, शक्तियाँ या विभूतियाँ ऐसी हैं जिन्हें हम दिव्य मानते हैं; वे ज्योतिर्मयी हैं, भद्र हैं या सबल सहायिकाएँ हैं : अन्य ऐसी हैं जो दानवी, आसुरी या दैत्यीय हैं; वे अपरिमित 'प्रभाव' होती हैं, प्रायः विपुल और विकट आंतरिक उथल-पुथलकी या सामान्य मानवीय मापका लंघन करनेवाले कार्योंकी स्रष्ट्रियाँ या प्रेरिकाएँ होती हैं। ऐसे प्रभावों, अवस्थितियों, सत्ताओंकी भी संवित् हो सकती है जो हमसे परेके लोकोंकी नहीं लगतीं, बल्कि पार्थिव प्रकृतिमें पर्देके पीछे एक छिपे तत्त्वकी तरह यहीं हैं। चूंकि अतिभौतिकके साथ संपर्क संभव है, अतः हमारी अपनी चेतना और उन सत्ताओंकी चेतनाके बीच भी संपर्क हो सकता है जो कभी शरीरी थीं और अब अस्तित्वके इन

अन्य प्रदेशोंमें एक अतिभौतिक स्थितिमें चली गयी हैं,—वह संपर्क चाहे आत्मनिष्ठ हो चाहे वस्तुपरक, या अंततः वस्तुपरक्कृत ही। आत्मनिष्ठ संपर्क या सूक्ष्मेंद्रियके प्रत्यक्षणसे परे भी बढ़ जाना संभव है, और चेतनाकी ऐसी अवगूढ़ स्थितियाँ हैं जिनमें अन्य लोकोंमें वस्तुतः प्रवेश करना और उनके कुछ रहस्योंको जान लेना भी संभव है। भूतकालमें मानवजातिकी कल्पना अन्य लोकोंके अनुभवकी अधिक वस्तुपरक कोटिसे अधिकतम आकृष्ट थी, परंतु लोक-विश्वासने उसे एक स्थूल वस्तुपरक विवृतिमें रखा जिसने इन व्यापारोंको अनुचित रूपसे हमारे परिचित भौतिक जगत्के व्यापारोंके सदृश करके अपनाया; कारण, हमारे मनकी यह सामान्य प्रवृत्ति है कि वह प्रत्येक वस्तुको अपने ही अनुभव-प्रकार और अनुभव-पदोंके उपयुक्त रूपों या प्रतीकोंमें परिवर्तित कर देता है।

बहुत ही मोटा-मोटी रूपमें कहें तो मनुष्य-जातिके सारे अतीतके युगोंमें अन्य लोकोंके संबंधमें विश्वास और अनुभवकी सामान्य परिधि और प्रकृति यही रही है; नाम और रूप भिन्न-भिन्न हुए है, परंतु सभी देशों और युगोंमें सामान्य लक्षण आश्चर्यकारी रूपसे एक समान रहे हैं। इन स्थायी विश्वासों या अधिसामान्य अनुभवके इस पुंजका हम ठीक-ठीक क्या मूल्य लगायें? जिस किसीको ये संपर्क केवल तितर-बितर असामान्य घटनाओंकी तरह न होकर किसी अंतरंगतासे मिले हों, उसके लिये तो इनको अंधविश्वास या विभ्रम मात्र कहकर हटा देना संभव नहीं; कारण, ये अपने चापमें इतने आग्रही, वास्तविक, प्रभावी, संगठित हैं, अपने कार्यों और परिणामोंसे इतनी सतत पुष्टि पाते हैं कि उन्हें ऐसा कहकर उड़ा नहीं दिया जा सकता; हमारे अनुभव-सामर्थ्यके इस प्रांतका मूल्यांकन करना, उसकी व्याख्या करना, मन द्वारा उसे विन्यस्त करना अनिवार्य रहता है।

एक यह व्याख्या सामने रखी जा सकती है कि मनुष्य जिन अति-भौतिक लोकोंमें मृत्युके पश्चात् निवास करता या निवास करनेकी बात सोचता है, उनकी सृष्टि स्वयं मनुष्य करता है, स्वयं मनुष्य देवताओंकी सृष्टि करता है, जैसी कि प्राचीन उक्ति थी,—यह दावा भी किया जाता है कि स्वयं ईश्वर मनुष्य द्वारा सृष्ट हुआ था, उसकी चेतनाकी एक कल्पना था, और अब मनुष्य द्वारा विनष्ट कर दिया गया है; तब ये सारी वस्तुएँ वर्द्धमान चेतनाकी एक प्रकारकी कपोल-कल्पना हो सकती हैं जिसमें वह अपने ही निर्माणोंमें बंदी हो करके रह

सकती है, और एक प्रकारकी साकार करनेकी क्रियाशक्तिसे अपने-आपको अपनी स्व-कल्पनाओंमें कायम रख पाती है। परंतु ये शुद्ध कल्पनाएँ नहीं हैं; हम इन्हें शुद्ध कल्पनाएँ केवल तबतक मान सकते हैं जबतक कि वे वस्तुएँ जिन्हें ये कल्पनाएँ, कितने ही अशुद्ध रूपमें क्यों न सही, प्रत्युपस्थित करती हैं, हमारे स्वानुभवका अंग नहीं हो जातीं। तो भी यह धारणागम्य है कि ऐसी कल्पित गाथाएँ और कल्पनाएँ हो सकती हैं जिनका उपयोग सृष्टिशीला चित्-शक्तिका वीर्य अपनी ही भाव-शक्तियोंको मूर्त करनेके लिये करता हो; ये सबल कल्पनाएँ साकार हो सकतीं और शरीर धारण कर सकती हैं, विचारके किसी सूक्ष्मतया रूपायित लोकमें टिक सकतीं और अपने स्रष्टापर प्रतिक्रिया कर सकती हैं: यदि ऐसा हो तो हम मान सकते हैं कि अन्य लोक इसी प्रकारके निर्माण हैं। परंतु यदि ऐसा हो, यदि विषयिगत चेतना इस प्रकार लोकों और सत्ताओंकी सृष्टि कर सकती हो तो यह भी भलीभाँति हो सकता है कि बहिर्व्यक्त जगत् भी चेतनाकी या हमारी ही चेतनाकी कपोलकल्पना हो, या कि चेतना ही आद्या अचित्तिकी कपोलकल्पना हो। इस भाँति, इस विचारधाराके अनुसार, हम विश्वके विषयमें उस मतकी ओर वापस आ जाते हैं जिसमें सारीकी सारी वस्तुओंपर अवास्तवताका रंग चढ़ जाता है, बस रह जाती है वह सर्वोत्पादिका निश्चेतना जिसमेंसे सारी वस्तुएँ सृष्ट हुई थीं, रह जाता है वह अज्ञान जो उनकी सृष्टि करता है, और संभवतः एक अतिचेतन या निश्चेतन निर्व्यक्तिक सत्ता जिसकी उदासीनतामें सब कुछ अंततया विलुप्त हो जाता या लौट जाता और अवसान प्राप्त कर लेता है।

परंतु हमारे पास इसका कोई प्रमाण नहीं और ऐसी संभावना भी नहीं है कि मनुष्यका मन इस तरह, जहाँ पहले कोई जगत् नहीं था, वहाँ किसी जगत्की सृष्टि कर सकता हो, शून्यमें किसी ऐसे उपादानके बिना सृष्टि कर सकता हो जिसमें या जिसपर निर्माण हो सके; यद्यपि यह तो भली भाँति हो सकता है कि वह किसी बनाए जा चुके जगत्में कुछ जोड़ सके। मन निस्संदेह एक सबल अभिकर्त्ता है, हम साधारणतया उसे जितना सबल मानते हैं उससे अधिक सबल है; वह ऐसी रचनाएँ कर सकता है जो हमारी अपनी या दूसरोंकी चेतना और जीवनमें अपने-आपको कार्यान्वित कर सकती हैं और निश्चेतन जड़पर भी उनका प्रभाव पड़ सकता है; परंतु शून्यमें कोई संपूर्णतया आद्या सृष्टि उसकी

संभावनाओंके परे है। हम बल्कि यह कहनेका साहस कर सकते हैं कि मनुष्यका मन ज्यों-ज्यों वर्द्धित होता है, वह सत्ता तथा चेतनाके ऐसे नये क्षेत्रोंसे संबंध जोड़ता है जो बिलकुल ही मनुष्य द्वारा सृष्ट नहीं हैं, उसके लिये नये हैं, किंतु सर्व-सत्‌में पूर्व-विद्यमान हैं। अपने वर्द्धित होते आंतरिक अनुभवके साथ-साथ मनुष्य अपने अंदर सत्ताके नये स्तरोंका उन्मेष करता है; उसकी चेतनाके गुप्त केन्द्र ज्यों-ज्यों अपनी ग्रन्थियोंका विलोप करते जाते हैं, वह उनके द्वारा उन विशालतर प्रदेशोंकी धारणा करने, उनसे सीधे प्रभाव पाने, उनमें प्रवेश करने, उन्हें अपने पार्थिव मन और आंतरिक इंद्रियमें चित्रित करनेमें समर्थ होता है। वह उनकी प्रतिमाओं, प्रतीक-रूपों, प्रतिबिम्बक आकारोंकी सृष्टि तो अवश्य करता है जिनसे उसका मन व्यवहार कर सकता है; केवल इसी अर्थमें वह अपनी पूजित 'भागवत प्रतिमा'की सृष्टि करता है, देवोंके रूपोंकी सृष्टि करता है, अपने अंदर नये स्तरों और लोकोंकी सृष्टि करता है, और हमारे जीवनसे ऊपर रहनेवाले वास्तव लोक और शक्तियाँ इन प्रतिमाओंके द्वारा स्थूल जगत्‌में चेतनाको अविकृत, उसके अंदर अपना शक्तिपात और उसे अपनी उच्चतर सत्ताकी ज्योतिसे रूपांतरित कर पाती हैं। परंतु यह सब सत्ताके ऊर्ध्वतर लोकोंकी सृष्टि करना तो नहीं है; यह उन लोकोंको भौतिक भूमिपर अचित्तिमें से बाहर आते विकासशील जीवकी चेतनाके सामने प्रकट करना है। यह उनकी शक्तियोंको ग्रहण कर उनके रूपोंकी यहाँ सृष्टि करना है; वस्तुतः इस भूमिपर हमारे अंतर्मुख जीवनका उसकी अपनी सत्ताकी उन उच्चतर भूमियोंके साथ उसके सच्चे संबंधके आविष्कार द्वारा परिवर्द्धन होता है जिनसे उसका भौतिक अचित्तिके आवरणके कारण विच्छेद हो गया था। इस आवरणके होनेका कारण यह है कि शरीरस्थ जीवने इन महत्तर संभावनाओंको इसलिये अपने पीछे कर दिया है कि वह अपनी चेतना और शक्तिको सत्ताके इस स्थूल जगत्‌में अपने प्राथमिक कार्यपर ऐकांतिक रूपसे संकेंद्रित कर सके; परंतु इस प्राथमिक कार्यका उत्तरकांड केवल तब घटित हो सकता है जबकि उस आवरणको अंशतः तो अवश्य ही उठा दिया जाय या नहीं तो इतना भेद्य कर दिया जाय कि मन, प्राण और आत्माके उच्चतर लोक अपने अर्थोंको मानव-जीवनमें उँडेल सकें।

यह अनुमान करना संभव है कि इन उच्चतर भूमियों और लोकोंकी सृष्टि भौतिक विश्वकी अभिव्यक्तिके बाद, क्रमविकासमें सहायता देनेको,

या एक अर्थमें उसके परिणाम-स्वरूप हुई है। स्थूल मन अपने सारे विचारोंका आरंभ जड़ विश्वसे करता है, जड़ विश्व ही वह एकमात्र वस्तु है जिसे वह जानता है, जिसका उसने विश्लेषण किया है और जिसके साथ वह प्रभुताकी आरंभिक भूमिकासे व्यवहार कर सकता है और वह यदि किसी अतिभौतिक अस्तित्वको माननेको विवश हो भी जाता है तो उपरोक्त विचारको स्वीकार करनेकी प्रवृत्ति उसमें आसानीसे हो सकती है; तब वह जड़ तत्त्वको, निश्चेतनाको, सकल सत्ताका आरंभ-बिंदु और आधार मान्य रख सकता है, जैसे कि निस्संदेह वह हमारे लिये उस क्रमवैकासिक गतिधाराका आरंभ-बिन्दु है जिसका रंगपीठ भौतिक विश्व है। जड़ तत्त्व और जड़ शक्तिको वह तब भी प्रथम अस्तित्वके रूपमें मान्य रख सकेगा,—उसने उसे इस रूपमें इसलिये माना और चाहा है कि वही पहली वस्तु है जिसे वह जानता है, वही एकमात्र वस्तु है जो सर्वदा सुरक्षित रूपसे वर्तमान और ज्ञेय है,—और आध्या-त्मिक तथा अतिभौतिकको जड़की सुनिश्चित नींवपर आश्रितके रूपमें मान्य रख सकेगा।[1] परंतु तब इन अन्य लोकोंकी सृष्टि कैसे, किस शक्तिसे, किस साधन द्वारा हुई? हो सकता है कि यह निश्चेतनमेंसे विकसित होते प्राण और मन ही हों जिन्होंने साथ-साथ इन अन्य लोकों या भूमियोंका विकास निश्चेतनमें प्रकट होते प्राणियोंकी अवगूढ़ चेतनामें किया। अवगूढ़ पुरुषके लिये जीवन-कालमें और मृत्युके बाद भी,—क्योंकि शरीरकी मृत्युके बाद आंतरिक पुरुष ही अस्तित्वमें रहता है,—ये लोक सत्य हो सकते हैं क्योंकि ये उसकी चेतनाके विशालतर परासके लिये संवेद्य हैं; वह पुरुष उनकी सत्यताका वह संवेद साथ लिये उनमें विचरण करेगा, वह संवेद शायद गौण होगा; परंतु सुनिश्चित होगा, और उन लोकोंका उसे जो अनुभव होगा उसे वह बाह्यतलकी सत्ताको विश्वास और कल्पनाके रूपमें ऊपर भेजेगा। यह एक संभव विवरण तब होता है जब कि हम यह स्वीकार करते हों कि चेतना ही सच्ची सृष्टिशीला शक्ति या अभिकर्त्री है और सारी वस्तुएँ चेतनाके रूपायण; परंतु यह विवरण सत्ताकी अतिभौतिक भूमियोंकी उस निःसारता या

---

1. ऋग्वेदमें ऐसे कुछ कथन हैं जो इस दृष्टिको व्यक्त करते हैं। पृथिवी (जड़तत्त्व) को सारे लोकोंका आधार कहा गया है या सप्तलोकको पृथिवीकी सात भूमियाँ कहकर वर्णित किया गया है।

कम मूर्त सत्यताको नही मानता जिसे स्थूल मन उनके साथ जोड़ना चाहता है; उनके लिये अपने-आपमें वही सत्यता होगी जो स्थूल जगत् या स्थूल अनुभवके स्तरकी अपनी श्रेणीमें है।

यदि उच्चतर लोकोंका सृजन इस तरह या और किसी तरह जड़ जगत्की सृष्टिके बाद, जो कि प्राथमिक सृष्टि है, निश्चेतनामेंसे किसी विशालतर निगूढ़ क्रमविकास द्वारा किया गया हो तो अवश्य ही उसे किसी प्रकट होते सर्वभूतात्माने किया होगा, ऐसी प्रक्रियासे किया होगा जिसे हम जान नही सकते, और यहांके क्रमविकासके हेतु, उसके आनुषंगिक व्यापारों या उसके विशालतर परिणामोंके रूपमें किया होगा, ताकि प्राण, मन और अध्यात्म-सत्ता स्वतंत्रतर प्रसारके क्षेत्रोंमें विचरण कर सकें और भौतिक स्वाभिव्यक्तिपर इन महत्तर शक्तियोंकी प्रतिक्रिया हो सके। परंतु इस प्राक्कल्पनाके विरोधमें यह तथ्य खड़ा है कि इन उच्चतर लोकोंका हमें जो दर्शन और अनुभव होता है उसमें हम देखते हैं कि ये किसी भी तरह भौतिक विश्वपर आधारित नही, किसी भी तरह उसके परिणाम नहीं, वल्कि ये सत्ताकी महत्तर अभिधाएँ, चेतनाके विशालतर और स्वतंत्रतर प्रसार हैं, और भौतिक भूमिकी सारी क्रिया इन महत्तर अभिधाओंका उत्स दीखनेकी अपेक्षा उनका परिणाम ही अधिक दीखती है, उनसे उत्पन्न दीखती है, अपने क्रमवैकासिक प्रयासमें उनपर अंशतः आश्रित भी दीखती है। अधिमानस और उच्चतर मनोमय तथा प्राणमय प्रदेशोंसे अति विशाल प्रसारवाली शक्तियों, प्रभावों और घटनाओंका स्रोत हमपर प्रच्छन्न रूपसे उतरता है परंतु उनमेंसे कोई अंश ही, मानों कोई निर्वाचित भाग ही, या उनकी सीमित संख्या ही स्थूल लोकके संस्थानमें रंगमंचपर आ सकती और अपनी संसिद्धि प्राप्त कर सकती है; शेष शक्तियाँ, प्रभाव और घटनाएँ स्थूल नाम-रूपमें प्रकट होनेके लिये, पार्थिव[2] क्रमविकासमें, जो साथ ही अध्यात्म-सत्ताकी सारी शक्तियोंका क्रमविकास है, अपनी भूमिका अदा करनेके लिये, अपने समय और उपयुक्त परिस्थितिकी प्रतीक्षा करते है।

---

2. अवश्य ही, पार्थिवसे हमारा अभिप्राय इस एक पृथ्वी और इसके अस्तित्वकी अवधिसे नहीं है, अपितु हम पृथ्वी शब्दका व्यवहार वैदांतिक पृथिवीके बीज-अर्थमें, अंतरात्माके लिये स्थूल रूपके आवासोंकी सृष्टि करने वाले पृथिवी-तत्वके अर्थमें करते हैं।

सत्ताकी हमारी अपनी भूमिको और जागतिक अभिव्यक्तिमें हमारी अपनी भूमिकाको प्रमुख महत्त्व देनेके हमारे सारे प्रयत्न अन्य लोकोंके इस स्वरूपके सामने हार जाते हैं। ईश्वर हमारी चेतनाकी कल्पना-मायाकी रचना नही, वरन् हम भौतिक सत्तामें भगवान्‌की प्रगतिशील अभिव्यक्तिके लिये उपकरण हैं। देवोंकी रचना, जो कि ईश्वरकी विभूतियाँ हैं, हम नही करते, अपितु जो भी दिव्यत्व हम अभिव्यक्त करते हैं वह शाश्वत देवोंका यहाँ आंशिक प्रतिबिंबन और उनका साकार होना है। उच्चतर लोकोंकी रचना हम नही करते, अपितु हम वे मध्यग हैं जिनके द्वारा वे अपने आलोक, बल, सौंदर्यको, भौतिक भूमिपर प्रकृति-शक्ति उन्हें जो भी रूप और क्षेत्र देती है, उसमें प्रकट करते है। यह तो प्राण-जगत्‌का चाप ही है जो प्राणको उन रूपोंमें उन्मिषित और वर्द्धित होनेमें सक्षम करता है जिन्हें हम पहलेसे जानते हैं; वह बढ़ता हुआ चाप ही उसे हमारे अंदर अपने श्रेष्ठतर प्राकट्यके लिये अभीप्सा करनेको प्रेरित करता है और एक दिन मर्त्यका उसकी वर्तमान अयोग्य और प्रतिबन्धक जड़सत्ताकी संकीर्ण सीमाओंमेंसे उद्धार करेगा। यह मनोलोकका ही चाप है जो यहाँ मनका उन्मेष तथा वर्द्धन करता है और हमें अपने मानसिक आत्मोत्थान तथा विस्तरणके लिये उत्तोलन पानेमें सहायता देता है जिससे कि हम अपनी बुद्धि-सत्ताको निरंतर वर्द्धित करने और अपनी जड़ावद्ध स्थूल मानसताके बंदीगृहकी दीवारोंको तोड़ने तककी भी आशा कर सकते हैं। यह अतिमानसिक तथा आध्यात्मिक लोकोंका ही चाप है जो अध्यात्म-सत्ताकी अभिव्यक्त शक्तिको यहाँ वर्द्धित करने और इसके फलस्वरूप भौतिक भूमिपर हमारी सत्ताका अतिचेतन भगवान्‌के स्वातंत्र्य और आनंत्यमें उन्मेष करनेकी तैयारी कर रहा है; केवल वह संपर्क, वह चाप ही हमारे अंदर प्रच्छन्न सर्वचित् 'देव'को उस प्रतीयमान निश्चेतनासे मुक्त कर सकता है जो हमारा आरंभबिंदु थी। वस्तुओंके इस क्रममें हमारी मानव-चेतना उपकरण है, माध्यम है; वह निश्चेतनामेंसे आलोक और बलके विकासमें आनेवाला वह बिन्दु है जहाँ मुक्ति संभव हो जाती है: उसके लिये हम इससे महत्तर भूमिका मान्य नहीं कर सकते, परंतु यह भूमिका पर्याप्त महान् है, क्योंकि यह हमारी मानवताको क्रमवैकासिकी प्रकृतिके परम लक्ष्यके लिये सर्व-महत्त्वपूर्ण बना देती है।

साथ ही हमारे अवगूढ़ अनुभवमें कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो ऐसी हर

किसी मान्यताके विरुद्ध प्रश्न खड़ा करते हैं जो यह कहती हो कि अन्य लोकोंका अस्तित्व निरपवाद रूपसे भौतिक अस्तित्वसे पूर्व रहा करता है। ऐसा एक संकेत यह है कि मरणोत्तर अनुभवकी झाँकीमें यह दृढ़ परंपरा चली आ रही है कि मृत्युके बाद ऐसी अवस्थाओंमें निवास होता है जो पार्थिव अवस्थाओं, पार्थिव प्रकृति, पार्थिव अनुभवकी अतिभौतिक अनुवृत्ति जान पड़ती हैं। दूसरा संकेत यह है कि विशेषतः प्राण-लोकोंमें हमें ऐसे रूपायण मिलते हैं जो पार्थिव जीवनकी निम्नतर प्रवृत्तियोंके सदृश लगते हैं; वहाँ अंधकार, मिथ्यात्व, असामर्थ्य और अशुभके वे तत्त्व पहलेसे मूर्त मिलते हैं जिनके बारेमें हमारा यह अनुमान हुआ होता है कि वे भौतिक निश्चेतनामेंसे हुए क्रमविकासके परिणाम हैं। यह भी एक तथ्य ही लगता है कि मानव-जीवनको अधिकतम विक्षुब्ध करनेवाली शक्तियोंका स्वाभाविक गृह प्राणिक लोकोंमें है; वास्तवमें यह तर्कसंगत भी है, कारण, हमें वे हमारी प्राण-सत्ताके द्वारा ही डुलाती है, अतः वे एक अधिक विशाल तथा अधिक सबल प्राण-सत्ताकी शक्तियाँ होंगी। यह आवश्यक नहीं था कि क्रमविकासमें मन और प्राणका अवरोहण सत्ता तथा चेतनाके सीमायनके ऐसे अभद्र परिणामोंकी रचना करे: कारण, यह अवरोहण प्रकृत्या ज्ञानका सीमायन है; सत्, चित् और आनंद अपने-आपको न्यूनतर सत्य, शिव और सुंदर और उसके अवर सामंजस्यके अंदर परिरुद्ध कर लेते हैं और संकीर्णतर प्रकाशके उसी विधानके अनुसार चलते हैं, परंतु अंधकार, कष्ट और अशुभ ऐसी गतिधारामें अवश्यम्भावी व्यापार नहीं होते। हम यदि उन्हें अन्य मन और अन्य प्राणके इन लोकोंमें अस्तित्ववान् पाते हैं, भले ही वे वहाँ व्याप्त न हों, अपितु केवल अपने पृथक् प्रांतमें निवास कर रहे हों, तो हमारा या तो यह निष्कर्ष होगा कि उनका अस्तित्वमें आगमन निम्नतर क्रमविकासमेंसे नीचेसे ऊर्ध्वमुख प्रक्षेप द्वारा हुआ है, यहाँ जिस अशुभकी सृष्टि हुई है उसीके एक विशालतर रूपायणमें प्रकृतिके अवगूढ़ भागोंकी किसी वस्तुके वहाँ फूट पड़नेसे हुआ है, या यह कि उनकी सृष्टि संवृत्ति-मुख अवरोहणके समानांतर श्रेणीकरणके अंग-रूपमें पहले हो चुकी थी, वह श्रेणीकरण 'अध्यात्मसत्ता' की ओर क्रमविकासी आरोहणके लिये वैसे ही सोपान बना है जैसे संवृतिगत श्रेणीकरण 'अध्यात्म-सत्ता'के अवरोहणके लिये सोपान बना था। इस दूसरी प्राक्कल्पनाके अनुसार आरोही श्रेणीकरणका प्रयोजन द्विविध हो सकता है। कारण, उसमें

शुभ और अशुमके वे पूर्व-रूपायण धारित होंगे पृथ्वीपर जिनका विकास प्रकृतिमें पुरुषके क्रमविकसनशील वर्द्धनके लिये आवश्यक संघर्षके अंग-रूपमें होना ही चाहिये; ये रूपायण अपने ही लिये, अपनी ही स्वतंत्र तुष्टिके लिये अस्तित्व रखनेवाले होंगे, इन वस्तुओंके संपूर्ण प्रकारको, प्रत्येकको उसकी पृथक्-पृथक् प्रकृतिमें उपस्थित करनेवाले रूपायण होंगे, और साथ ही ये क्रमवैकासिकी सत्ताओंपर अपना विशिष्ट प्रभाव डालेंगे।

अतः विशालतर प्राणके ये लोक हमारे जगत्के जीवनके अधिक ज्योतिर्मय और अधिक तमोमय दोनों रूपायणोंको अपने अंदर एक ऐसे माध्यममें धारित रखेंगे जिसमें वे अपनी स्वतंत्र अभिव्यंजना, अपने स्व-प्रकारकी परिपूर्ण स्वतंत्रता और स्वाभाविक संपूर्णता और सामंजस्य प्राप्त कर सकेंगे, चाहे शुभके लिये हो चाहे अशुभके लिये,—यदि यह भेद उन प्रदेशोंमें वस्तुतः लागू होता ही हो,—और यह संपूर्णता और स्वतंत्रता हमारे यहाँके जीवनमें असंभव हैं जहाँ कि एक अंतिम समा-कलनकी ओर ले जानेवाले वहुमुख क्रमविकासके क्षेत्रके लिये आवश्यक संश्लिष्ट अन्योन्यक्रियामें सब कुछ मिश्रित है। कारण, हम देखते हैं कि जिसे हम मिथ्या, तमोमय या अशुभ कहते हैं, वह वहाँ अपने किसी स्व-सत्यसे युक्त और अपने ही प्रकारसे पूरा तुष्ट लगता है, कारण, वह अपने प्रकारको एक संपूर्ण अभिव्यंजनामें अधिकृत रखता है जिससे उसके अंदर एक अपनी स्व-सत्ताकी तुष्ट शक्तिके बोधकी रचना होती है, उसकी सत्ताके तत्त्वके प्रति उसकी सारी परिस्थितियोंका पूरा अनुकूली-करण हुआ रहता है; वहाँ वह अपनी ही चेतनाका, अपनी ही आत्म-शक्तिका, अपनी ही सत्ताके आनंदका संभोग करता है, यह हमारे मनके लिये तो हेय है, परंतु स्वयं उसके लिये तुष्ट कामनाके हर्षसे परिपूर्ण है। जो प्राणावेग पार्थिव प्रकृतिके लिये अमर्यादित और अत्यधिक हैं और यहाँ विकृत तथा अप्राकृत लगते हैं, वे अपनी सत्ताके स्व-प्रांतमें अपने प्रकार तथा तत्त्वकी स्वतंत्र परिपूर्ति और निर्बाध क्रीड़ाकी प्राप्ति करते हैं। हमारे लिये जो वस्तुएँ दिव्य या दानवी, राक्षसी, पैशाची हैं और इस कारण अतिप्राकृत हैं, उनमेंसे प्रत्येक अपने-अपने क्षेत्रमें, अपने-अपने लिये स्वाभाविक है और इन वस्तुओंको मूर्त करनेवाली सत्ताओंको आत्म-प्रकृतिकी भावना और उनके स्वीय तत्त्वका सामंजस्य प्रदान करती हैं। स्वयं विसंगति, संघर्ष, असामर्थ्य और कष्ट एक प्रकारकी प्राण-तुष्टिका अंग हो जाते हैं; उनके विना वह तुष्टि अपने-आपको वंचित

या अपूर्ण अनुभव करती। इन शक्तियोंको जब हम उनकी पृथक् क्रियामें देखते हैं, अपने-अपने प्राण-प्रासादोंका निर्माण करते देखते हैं, जैसा वे उन गुप्त लोकोंमें करती हैं जहाँ उनकी प्रधानता है, तब हमें उनका मूल, उनके अस्तित्वका कारण और मानव-जीवनपर उनकी पकड़का कारण भी, और अपनी ही अपूर्णताओंके प्रति, विजय और पराजय, सुख और कष्ट, हँसी और आँसू, पाप और पुण्यके अपने जीवन-नाटकके प्रति मनुष्यकी आसक्तिका कारण भी अधिक स्पष्ट रूपसे दिखायी देते हैं। ये वस्तुएँ यहाँ पृथ्वीपर असंतुष्ट अवस्थामें, परिणामतया संघर्ष और मिश्रणकी असंतोषदायी और अँधियाली अवस्थामें रहती हैं, परंतु वहाँ वे अपना रहस्य और अपनी सत्ताका उद्देश्य प्रकट करती हैं, क्योंकि वहाँ वे अपनी सहजात शक्तिको और अपने स्वभावके परिपूर्ण रूपको साथ लिये अपने स्वलोक और अपने निजी ऐकांतिक वातावरणमें स्थापित रहती हैं। मनुष्यका स्वर्गों और नरकों या ज्योतिर्लोकों और असूर्यलोकोंका चित्रण चाहे कितना ही कल्पनापूर्ण क्यों न हो, उनका आधार उसका यह अनुभव है कि ये शक्तियाँ अपने स्व-तत्त्वमें अस्तित्ववान् हैं और ये उसपर जीवनमें एक परवर्ती जीवनसे प्रभाव डालती हैं जहाँसे उसे अपने क्रमवैकासिक जीवनके उपादान प्राप्त होते हैं।

जैसे प्राणकी शक्तियाँ आत्म-प्रतिष्ठ हैं, हमसे परे एक महत्तर प्राणमें पूर्ण और परिपूरित हैं, वैसे ही हम देखते हैं कि हमारी पार्थिव सत्ताको प्रभावित करनेवाली मनःशक्तियों, मानसिक भावों और मानसिक तत्त्वोंके भी आत्म-प्रकृतिकी परिपूर्णताके अपने स्वक्षेत्र महत्तर मनोलोकमें हैं, जबकि यहाँ, मानव-जीवनमें, वे केवल आंशिक रूपायण प्रक्षिप्त करते हैं, अन्य शक्तियों और तत्त्वोंके साथ संगम और मिश्रणके कारण उन्हें अपने-आपको स्थापित करनेमें बहुत कठिनाई होती है; यह संगम, यह मिश्रण उनकी संपूर्णताका निरोध करता है, उनकी शुद्धतामें खोट मिलाता है, उनके प्रभावपर विवाद करता और उसे विफल कर देता है। अतः ये अन्य लोक विकसनशील नहीं, अपितु प्ररूपनिष्ठ हैं; परंतु इनके अस्तित्वका एकमात्र तो नहीं, किंतु एक कारण यह है कि इनसे वे वस्तुएँ मिलती हैं जिन्हें सृष्टिकी संवृति-धारामें उद्भूत होना ही चाहिये और वे वस्तुएँ भी मिलती हैं जो क्रमविकासमें उत्क्षिप्त होती हैं और जिनकी अपनी सार्थकताकी संतुष्टिका क्षेत्र है जहाँ वे स्वाधिकारमें अस्तित्ववान् रह सकती हैं; यह स्थापित अवस्था एक आधार होती है जिसपरसे उनकी वृत्तियाँ और क्रियाएँ क्रमवैकासिकी प्रकृतिकी संश्लिष्ट प्रक्रियामें बीजोंके रूपमें डाली जा सकती हैं।

अन्य लोकोंके अस्तित्वके संबंधमें दिये गये मनुष्यके पारंपरिक विवरणोंको हम यदि इस दृष्टिकोणसे देखें तो पायेंगे कि अधिकांशतया उनका संकेत एक विशालतर प्राणके लोकोंकी ओर होता है जो पृथ्वी-प्रकृतिके प्राणके प्रतिबंधों और अपूर्णताओं या अधूरेपनसे मुक्त हैं। ये विवरण अधिकतर कल्पना द्वारा निर्मित हैं यह स्पष्ट है, परंतु इनमें संबोधि और प्रातिभ दर्शनका भी तत्त्व है, प्राण कैसा हो सकता है और अपने अभिव्यक्त या साध्य स्वरूपके किसी प्रदेशमें वह अवश्य ही जैसा है उसका एक बोध है; सच्चे अवगूढ़ संपर्क और अनुभवका भी एक तत्त्व इनमें है। परंतु मनुष्यका मन अन्य-प्रकृतिमें जो कुछ देखता या उससे पाता या उससे उसके जो संपर्क होते हैं उन्हें वह अपनी ही चेतनाके उपयुक्त आकारोंमें अनूदित कर देता है; यह मनुष्यका अति-भौतिक वास्तवताओंका अपने ही सार्थक रूपों और प्रतिमाओंमें अनुवाद है और इन रूपों और प्रतिमाओंसे वह उन वास्तवताओंके साथ संसर्ग आरंभ कर सकता और उन्हें कुछ दूरीतक मूर्त और प्रभावी बना सकता है। मृत्युके बाद परिवर्तित रूपमें पृथ्वी-जीवनके चलते रहनेका जो अनुभव होता है उसकी व्याख्या इस प्रकारके अनुवादसे की जा सकती है; परंतु उसकी यह व्याख्या भी दी जा सकती है कि अंशतः वह मरणोत्तर विषयिपरक अवस्थाकी रचना है जिसमें मनुष्य तब भी पारलौकिक वास्तवताओंमें प्रवेश करनेके पूर्व, अपने अभ्यस्त अनुभवकी आकृतियोंमें निवास करता है, अंशतः वह प्राणलोकोंमेंसे होता संक्रमण है जहाँ वस्तुओंका प्ररूप अपने-आपको उन रूपायणोंमें व्यक्त करता है जो उन वस्तुओंके उत्स हैं या उन वस्तुओंसे सजातीय हैं जिनकी ओर वह अपने पार्थिव शरीरमें आसक्त था और फलतः शरीरसे प्रयाण कर चुकनेके बाद प्राण-पुरुषके लिये उस प्ररूपके प्रति एक स्वाभाविक आकर्षण होता है। परंतु इन सूक्ष्मतर प्राण-स्थितियोंके अलावा अन्य लोकोंके अस्तित्वके पारंपरिक विवरणोंमें अस्तित्वकी स्थितियोंकी एक उच्चतर श्रेणी भी है, किंतु एक अधिक सूक्ष्म और अधिक उन्नीत तत्त्वके रूपमें ही जो इन वस्तुओंकी लोकप्रिय धारणाके अंतर्गत नहीं होता; इन स्थितियोंका स्वरूप स्पष्टतया मनोमय होता है, न कि प्राणमय, और अन्य स्थितियाँ भी हैं जो किसी आध्यात्मिक मनोमय तत्त्वपर अधिष्ठित हैं; ये उच्चतर तत्त्व सत्ताकी स्थितियोंमें निरूपित होते हैं जिनमें हमारी आंतरिक अनुभूति उत्थित हो सकती या अंतरात्मा प्रवेश कर सकता है। अतएव,

हमने श्रेणीकरणके जिस सिद्धांतको स्वीकार किया है वह उचित सिद्ध होता है बशर्ते हम यह स्वीकार करते हों कि वह हमारे अनुभवको संगठित करनेका एक मार्ग है और अन्य दृष्टिकोणोंसे अग्रसर होनेवाले मार्ग भी संभव हैं। कारण, वर्गीकरण सदैव उस सिद्धांत और दृष्टि-कोणसे प्रमाण्य रह सकता है जिसे उसने अपनाया है और अन्य सिद्धांतों तथा दृष्टिकोणोंसे किया गया उन्हीं वस्तुओंका भिन्न वर्गीकरण समान रूपसे प्रामाणिक हो सकता है। परंतु हमने जो पद्धति चुनी है वह हमारे प्रयोजनके लिये सबसे अधिक मूल्यवाली है, क्योंकि वह मूलभूत है और अभिव्यक्तिके ऐसे सत्यके अनुरूप है जिसका अत्यंत व्यावहारिक महत्त्व है; इससे हमें अपनी गठित सत्ताको और 'प्रकृति'की संवृति-यात्रा और क्रमवैकासिकी गतिधाराको समझनेमें सहायता मिलती है। साथ ही हम देखते हैं कि अन्य लोक भौतिक विश्व और पृथ्वी-प्रकृतिसे सर्वथा अलग नहीं हैं, अपितु उसमें अनुप्रविष्ट होते हैं, उसे अपने प्रभावोंसे आच्छादित करते हैं और उसपर रूपायिणी तथा निर्देशिका शक्तिका एक गुप्त प्रभाव डालते हैं जिसकी आसानीसे गणना नहीं की जा सकती। हमारे अन्य-लौकिक ज्ञान और अनुभवका यह संगठन हमें इस प्रभावके स्वरूप और क्रिया-धाराओंको जाननेका सूत्र देता है।

अन्य लोकोंका अस्तित्व और उनका प्रभाव पार्थिव प्रकृतिमें हमारे क्रमविकासकी संभावनाओं और उसके प्रसारके लिये प्रथम महत्त्वके तथ्य हैं। कारण, यदि स्थूल विश्व ही अनंत 'सद्वस्तु'की अभिव्यक्ति-का एकमात्र क्षेत्र हो और साथ ही उसकी समूची अभिव्यक्तिका क्षेत्र भी, तो हमें यह कल्पना करनी होगी कि चूंकि जड़से लेकर आत्मातक उसकी सत्ताके सारे तत्त्व उस प्रतीयमानतः निश्चेतन शक्तिमें पूरे संवृत हैं जो इस विश्वकी प्रथम क्रियाओंका आधार है, अतः उनका उन्मेष संपूर्णतया यहीं और एकमात्र यहीं किया जा रहा है, इसके लिये उसके अंतरकी निगूढ़ अतिचेतनाके अतिरिक्त अन्य किसीकी सहायता या चाप नहीं है। तब तो एक ऐसी विश्व-योजना होनी चाहिए जिसमें सदा जड़ ही अभिव्यक्त जीवनका प्रथम तत्त्व, उसकी सारभूत और मूल निर्धारिका अवस्था रहेगा। निस्संदेह, आत्मा अंतमें सीमित दूरीतक अपना स्वाभाविक अधिकार प्राप्त कर सकता है; वह अपने स्थूल जड़के आधारको एक अपेक्षाकृत अधिक लचीला उपकरण बना दे सकता है जो आत्माके उच्चतम स्वधर्म और प्रकृतिकी क्रियाका सर्वथा प्रतिषेधक

या विरोधी न रह जायगा, जैसा कि अपने अनम्य प्रतिरोधमें वह अभी है। परंतु आत्मा अपने क्षेत्र और अपनी अभिव्यक्तिके लिये सदैव जड़-तत्त्वपर निर्भर करेगा; उसका कोई अन्य क्षेत्र नही हो सकेगा: वह अन्य प्रकारकी अभिव्यक्तिके लिये उससे बाहर नहीं जा सकता, और उसके अंदर भी वह अपनी सत्ताके किसी अन्य तत्त्वको जड़तत्त्वके आधारपर स्वामी बनाकर उन्मुक्त करे, ऐसा नहीं हो सकता; जड़तत्त्व उसकी अभिव्यक्तिका एकमात्र स्थायी निर्धारक रहेगा। प्राण अधिपति और निर्धारक नहीं हो सका मन स्वामी और स्रष्टा नहीं हो सका; उनकी क्षमताकी सीमाएँ जड़की क्षमताओंसे सीमित होती हैं जिन्हें वे बढ़ा तो सकते हैं, कुछ बदल तो सकते हैं, परंतु मूलतः रूपांतरित या मुक्त नहीं कर सकते। सत्ताकी किसी भी शक्तिकी स्वतंत्र और पूरी अभिव्यक्तिके लिये स्थान नही हो सकता, सब कुछ सदाके लिये तमोवृत्तकारी भौतिक रूपायणकी अवस्थाओंसे सीमित रहेगा। आत्मा, मन और प्राणका कोई स्वक्षेत्र या उनकी अपनी विशिष्ट शक्ति और तत्त्वका कोई संपूर्ण प्रसार नहीं होगा। किंतु यदि 'आत्मा' ही स्रष्टा हो और इन तत्त्वोंका स्वतंत्र अस्तित्व हो और ये जड़तत्त्वकी ऊर्जाकी उत्पत्तियाँ, परिणाम या घटनाएँ नहीं हों तो इस आत्म-परिसीमनकी अनिवार्यतामें विश्वास करना आसान नहीं।

परंतु यदि इस तथ्यको मान लिया जाय कि अनंत 'सद्वस्तु' अपनी चेतनाकी क्रीड़ामें स्वच्छंद है, तो वह अभिव्यक्त हो ही सके इसके पूर्व वह जड़की अचित्तिमें संवृत होनेके लिये बाध्य नहीं। उसके लिये यह संभव है कि वह वस्तुओंकी ठीक विपरीत व्यवस्थाकी, ऐसे जगत्की सृष्टि करे जिसमें आध्यात्मिक सत्ताका एकत्व ही किसी भी रूपायण या क्रियाका आधारक और प्रथमावस्था हो, क्रियारत ऊर्जा गतिमान् आत्म-संविद् आध्यात्मिक सत्ता ही हो, और उसके सारे नाम और रूप आध्यात्मिक एकत्वकी आत्म-चेतन क्रीड़ा हों। या वह ऐसी व्यवस्था हो सकती है जिसमें 'अध्यात्म-पुरुष' की चिन्मयी शक्ति या इच्छाका अंतर्निहित वीर्य अपनी स्व-संभावनाओंको स्वतंत्र और सीधे रूपमें अपने अंदर संसिद्ध करे, न कि, जैसा यहाँ होता है, जड़वस्तुमें प्राण-शक्तिके प्रतिबंधक माध्यम द्वारा करे; वह संसिद्धि अभिव्यक्तिका प्रथम तत्त्व होगी और साथ ही उसकी सारी अबाध और आनंदपूर्ण क्रियाका लक्ष्य भी। फिर, वह ऐसी व्यवस्था हो सकती है जिसमें लक्ष्य ऐसी सत्ताओंके

बहुत्वमें अनंत पारस्परिक आत्मानंदकी स्वतंत्र क्रीड़ा होगा जिन्हें अपने प्रच्छन्न या अंतर्गूढ़ शाश्वत एकत्वकी ही नहीं, अपने एकत्वके वर्तमान आनंदकी भी चेतना होगी; ऐसी व्यवस्थामें स्वयम्भू आनंदके तत्त्वकी क्रिया प्रथम तत्त्व और विश्वव्यापी परिस्थिति होगी। फिर, वह ऐसी जगत्-व्यवस्था हो सकती है जिसमें अतिमानस आरम्भसे ही प्रधान तत्त्व हो; तब अभिव्यक्तिका स्वरूप उन सत्ताओंकी बहुकता होगा जो एकत्वमें अपनी विभिन्नताके बहुविध आनंदको अपनी दिव्य वैयक्तिकताकी अबाध और ज्योतिर्मयी क्रीड़ा द्वारा पा रही होंगी।

यह धाराक्रम यहीं रुक जाय, यह भी आवश्यक नहीं: कारण, हम देखते हैं कि हममें मन जड़ाश्रित प्राणसे बाधा पाता है और इन दो विभिन्न शक्तियोंके विरोधपर अधिकार पानेमें उसे सारी संभाव्य कठि-नाइयाँ मिलती हैं, और वैसे ही प्राण भी जड़की मर्त्यता, तामसिकता और अस्थिरतासे अनुबंधित होता है, परंतु यह स्पष्ट है कि ऐसी जगत्-व्यवस्था हो सकती है जिसमें इन दोनों वैकल्योंमेंसे कोई भी अस्तित्वकी प्रथम आवश्यकताओंका अंग नहीं हो। एक ऐसे जगत्की संभावना है जिसमें मन आरंभसे ही प्रधान हो, एक सर्वथा नमनीय सामग्रीके रूपमें अपनी स्वधातु या जड़वस्तुपर क्रिया करनेको स्वतंत्र हो, या जहाँ जड़तत्त्व, बिलकुल स्पष्ट रूपसे, प्राणमें अपने-आपको क्रियान्वित करती विश्वव्यापिनी मनःशक्तिका परिणाम ही हो। यहाँ भी जड़तत्त्व वास्तवमें ऐसा ही है, परंतु यहाँ मनःशक्ति आरंभसे ही संवृत है, लम्बे समयसे अवचेतन है; और उन्मज्जित हो जानेपर भी, वह कभी भी अबाध रूपसे स्वराट् नहीं हुई, अपितु वह जिस उपादानके द्रव्येमें है उसके अधीन है, जब कि वहाँ वह स्वराट् रहेगी और अपने उपादानकी स्वामिनी भी, और वहाँ वह उपादान, जड़धर्म-प्रधान विश्वमें वह जैसा होगा, उसकी अपेक्षा बहुत अधिक सूक्ष्म और लचीला होगा। इसी भाँति प्राणकी भी अपनी लोक-व्यवस्था हो सकती है जिसमें प्राण सम्राट् हो, अपनी विशिष्ट अधिक लचीली और स्वच्छंदतया परिवर्तनीय कामनाओं और प्रवृत्तियोंका प्रविस्तार कर सकता हो, हर क्षण विघटनकारी शक्तियोंसे आशंकित नहीं हो और फलतः आत्म-संरक्षणकी चिंतामें प्रमुख रूपसे व्यस्त नहीं हो, उसकी क्रीड़ा संकटपूर्ण तनावकी इस स्थितिसे नियंत्रित नहीं हो जो उसकी स्वच्छंद रचना, स्वच्छंद आत्मतुष्टि और स्वच्छंद साहसिकताकी सहज प्रवृत्तियोंको सीमित करती है। सत्ताके प्रत्येक

तत्त्वका पृथक् प्राबल्य सत्ताकी अभिव्यक्तिमें एक शाश्वत संभावना है,—बात सदा ही यह होगी कि वे तत्त्व अपनी क्रियाशक्ति और क्रिया-रीतिमें विशिष्ट होंगे, यद्यपि उनका मौल उपादान एक ही होगा।

यदि यह सब कोई दार्शनिक संभावना मात्र होता या सच्चिदानन्दकी सत्तामें ऐसी संभावनाके रूपमें होता जिसे सच्चिदानंद कभी चरितार्थ नहीं करता या जिसे उसने अभीतक चरितार्थ नही किया है, या यदि किया भी है तो भौतिक विश्वमें रहनेवाले प्राणियोंकी चेतनाके प्रसारके अंतर्गत नहीं लाया है, तो इससे कोई अंतर नहीं हो सकता था। परंतु हमारा सारा आध्यात्मिक और चैत्य अनुभव इस बातका अभिपोषक साक्षी है कि उच्चतर लोक हैं, अस्तित्वकी स्वतंत्रतर भूमियाँ हैं; वह सारा अनुभव इनके सतत प्रमाण उपस्थित करता है और वे प्रमाण अपने प्रधान तत्त्वोंमें अविकल्प रहते हैं। आधुनिक विचारधाराका इतना बड़ा भाग इस मतमें बँधा है कि भौतिक अनुभव या भौतिक इंद्रियोंपर आश्रित अनुभव ही सत्य है, भौतिक अनुभवके विश्लेपणका सत्य एकमात्र बुद्धि द्वारा परीक्षणीय है, और बाकी सबकुछ भौतिक अनुभव और भौतिक सत्ताका परिणाम ही है और उससे परे जो कुछ भी है मूल है, आत्म-भ्रांति और विभ्रम है; परंतु हम इस मतसे नहीं बँधे हैं, अतः हम इन प्रमाणोंको स्वीकार करने और इन भूमियोंकी सत्यताको माननेके लिये मुक्त हैं। हम देखते हैं कि, व्यवहारतः, वे भौतिक विश्वके सामंजस्यसे भिन्न सामंजस्य हैं; वे, जैसा कि "भूमि" शब्दसे संकेत होता है, सत्ताके सोपानमें एक भिन्न स्तरपर बसी हैं और उसके तत्त्वोंका एक भिन्न आयोजन और व्यवस्थापन अपनाती हैं। अपने वर्तमान प्रयोजनके लिये हमें यह अनुसंधान करनेकी आवश्यकता नहीं कि क्या काल और देशमें वे हमारे अपने जगत्के समरूप हैं या उनका संचरण देशके भिन्न क्षेत्रमें और कालकी अन्य धारामें होता है,—दोनों ही दशाओंमें वहाँ उपादान अधिक सूक्ष्म होगा और गतिविधि भिन्न होगी। हमारे लिये सीधा मतलब केवल यह जाननेसे है कि क्या वे भिन्न-भिन्न विश्व हैं जिनमें प्रत्येक विश्व अपने-आपमें संपूर्ण है और दूसरोंसे किसी भी भाँति उसका मिलना नहीं होता, परस्पर-सांकर्य नहीं होता या दूसरों पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता, या बल्कि क्या वे सत्ताके एक ही श्रेणीबद्ध और परस्पर-ग्रथित तंत्रके विभिन्न क्रम हैं, अतएव एक ही संश्लिष्ट विश्वतंत्रके अंग हैं। उनका हमारी मनश्चेतनाके क्षेत्रमें प्रवेश हो सकता

है, यह तथ्य स्वभावतः दूसरे विकल्पके प्रामाण्यका संकेत करेगा, परंतु यह अकेला ही पूरा निर्णायक नही होगा। किंतु हम तो यह देखते हैं कि ये उच्चतर भूमियाँ वस्तुतः प्रतिक्षण हमारी अपनी सत्ताकी भूमिपर क्रिया कर रही हैं और उसके साथ उनका संसर्ग चलता है; परंतु यह क्रिया, स्वभावतः, हमारी सामान्य जागृत या बाह्य चेतनाके सामने उपस्थित नही होती, क्योंकि वह चेतना अधिकांशतः स्थूल जगत्के संपर्कोंके ग्रहण और उपयोग तक सीमित है: परंतु जिस क्षण हम या तो अपनी अवगूढ़ सत्ताके अंदर लौट जाते या अपनी जागृत चेतनाको स्थूल संपर्कोंके प्रसारके परे परिवर्द्धित कर देते हैं, हमें इस उच्चतर क्रियाके किसी अंशका बोध होता है। हम यह भी देखते हैं कि मानव-जीव कुछ अवस्थाओंमें, शरीरमें रहते हुए भी, अपने-आपको इन उच्चतर भूमियोंमें अंशतः प्रक्षिप्त कर सकता है; सुतरां विदेह अवस्थामें वह ऐसा कर ही सकेगा, इसका अधिक सबल कारण होता है, और तब वह ऐसा संपूर्ण रूपसे कर सकेगा, क्योंकि तब शरीरमें आबद्ध स्थूल जीवनकी असमर्थकारिणी परिस्थिति नहीं रह जाती। इस संबंध और स्थानांतरणके इस सामर्थ्यके परिणाम अतिशय महत्त्वके होते हैं। एक ओर तो वे तत्काल ही इस प्राचीन परंपराका, अंततः एक वास्तविक संभावनाके रूपमें तो अवश्य ही, समर्थन करते हैं कि भौतिक शरीरके विघटनके उपरांत मनुष्यकी चेतन सत्ताका भौतिक लोकसे भिन्न लोकोंमें कुछ कालके लिये तो पड़ाव होता ही है। दूसरी ओर वे हमारे सामने भौतिक जीवनपर उच्चतर भूमियोंकी एक ऐसी क्रियाकी संभावनाका उन्मीलन करते हैं जो उन शक्तियोंको जिनका प्रतिनिधित्व वे भूमियाँ करती हैं, प्राण, मन तथा आत्माकी शक्तियोंको, क्रमवैकासिक अभिप्रायके लिये मुक्त कर सकती है; वह अभिप्राय प्रकृतिमें इसी तथ्यके कारण अंतर्निहित है कि उन शक्तियोंने जड़में शरीर लिया है।

इन लोकोंकी आदि सृष्टि क्रमधारामें जड़ विश्वके बाद नहीं, उसके पहले हुई थी,—यदि कालमें पहले नहीं, तो अपनी परिणाम-धारामें ही सही। कारण, अवरोही श्रेणीक्रमके साथ यदि एक आरोही श्रेणीक्रम भी है, तो भी यह आरोही श्रेणीक्रम अपने प्रथम स्वरूपमें जड़के अंदर क्रमवैकासिक उन्मज्जनके लिये एक आयोजन होगा, उसके प्रयासके लिये एक निर्माणात्मिका शक्ति होगा, उसे अनुकूल और प्रतिकूल तत्त्वोंका योगदान करता होगा, और पार्थिव क्रमविकासका परिणाम मात्र नहीं

होगा; कारण, ऐसा होना न तो कोई युक्तिसंगत संभावना है, न ही इसका कोई आध्यात्मिक या क्रियावंत और व्यावहारिक अर्थ है। अन्य शब्दोंमें, उच्चतर लोक निम्नतर जड़-विश्वके चापसे उद्भूत नहीं हुए हैं,—हम यदि भौतिक निश्चेतनामें अवस्थित सच्चिदानन्दके चापकी बात कहें, या उसकी सत्ताकी उस समयकी प्रेरणाकी बात कहें जब वह निश्चेतनामेंसे उन्मज्जित होकर प्राण, मन और अध्यात्म-सत्तामें आती है और ऐसे लोकों या भूमियोंकी सृष्टि करनेकी आवश्यकता अनुभव करती है जिनमें उन तत्त्वोंकी अधिक स्वतंत्र क्रीड़ा होगी और जिनमें मानव-आत्मा अपनी प्राणिक, मानसिक या आध्यात्मिक प्रवृत्तियोंको सबल कर सकता है, तो उनसे भी वे लोक उद्भूत नहीं हुए हैं। मानव-आत्माकी सृष्टियाँ तो वे लोक और भी कम होंगे, उन्हें चाहे मानव-आत्माके स्वप्न कहें, चाहे मानवजाति अपनी सक्रिय और सृष्टिशीला सत्तामें स्थूल चेतनाकी सीमाओंके परे जो सतत आत्म-प्रक्षेप करती है उनका परिणाम कहें। इस दिशामें मनुष्य जो एकमात्र स्पष्ट सृष्टि करता है वह उसकी अपनी देहगत चेतनामें इन भूमियोंकी प्रतिवर्ती प्रतिमाओंकी है और उन्हें प्रत्युत्तर देने, उनके प्रति सचेतन होने, स्थूल भूमिकी क्रियाके साथ उनके प्रभावोंके परस्पर-ग्रथनमें सचेतन रूपसे भाग लेनेकी उसके अपने अंतरात्माकी क्षमताकी है। निस्संदेह, वह इन भूमियोंकी क्रियामें अपनी विशिष्ट उच्चतर प्राणिक और मानसिक क्रियाके परिणामों या प्रक्षेपोंका योगदान कर सकता है: किंतु यदि ऐसा है भी तो ये प्रक्षेप, आखिरकार, उच्चतर भूमियोंका अपने-आपपर प्रत्यावर्तन ही हैं, उनकी जो शक्तियाँ उनसे उतरकर पृथ्वी-मानसमें आयी थीं उन्हींका पृथ्वीसे प्रत्यावर्तन है, क्योंकि स्वयं यह उच्चतर प्राणिक और मानसिक क्रिया ऊपरसे संचारित प्रभावोंका परिणाम है। यह भी संभव है कि मनुष्य इन अतिभौतिक भूमियों या, कमसे कम, इनमेंसे निम्नतर भूमियोंके साथ संलग्न किसी आत्मपरक उपप्रदेशकी रचना करे, अर्ध-वास्तव प्रकारके पर्यावरणोंकी रचना करे जो सच्चे लोक होनेकी अपेक्षा बल्कि उसके सचेतन मन और प्राणके आत्म-सृष्ट आच्छादन होते हों; वे उसकी अपनी सत्ताके प्रतिबिंब, एक ऐसा कृत्रिम पर्यावरण होते हैं जो जीवनके दौरानमें उन अन्य लोकोंको प्रतिबिम्बित करनेके प्रयत्नके अनुरूप होता है,—ये उसकी सचेतन सत्ताकी मानव-शक्तिमें रहनेवाली प्रतिमा-सर्जिका क्षमता द्वारा प्रक्षिप्त स्वर्ग और नरक होते हैं। परंतु इन

दोनोंमेंसे किसी भी योगदानका यह अर्थ बिलकुल नहीं कि सत्ताकी किसी वास्तव भूमिकी समग्र सृष्टि होती हो जो अपने पृथक् स्व-तत्त्वपर अधिष्ठित हो और तदनुसार क्रिया करती हो।

अतएव ये भूमियाँ या लोकतंत्र, अंततः, हमारे सामने जो भौतिक विश्वके रूपमें उपस्थित है उसके समवयस्क और सहवर्ती तो हैं ही। हमें इस निकष्कर्षपर आना पड़ा है कि भौतिक सत्तामें प्राण, मन और अध्यात्म-सत्ताका विकास यह ध्वनित करता है कि इनका अस्तित्व पहलेसे है; कारण, यहाँ ये विभूतियाँ दो सहयोगिनी शक्तियोंसे विकसित होती हैं, नीचेसे ऊर्ध्वकी ओर अभिमुख शक्ति, ऊपरसे ऊर्ध्वकी ओर खींचनेवाली और नीचेकी ओर चाप देनेवाली शक्ति। कारण, निश्चेतनके भीतर यह आवश्यकता है कि जो कुछ उसके अंतरमें निहित है उसे वह बाहर व्यक्त करे, और उच्चतर भूमियोंमें श्रेष्ठतर तत्त्वोंका चाप है जो इस सामान्य आवश्यकताको चरितार्थ होनेमें सहायता ही नहीं देता, अपितु बहुत विस्तृत रूपसे उन विशेष विधियोंका निर्धारण कर सकता है जिनमें वह अंततया चरितार्थ की जाती है। ऊर्ध्वसे यह ऊपरकी ओर खींचनेवाली क्रिया और यह चाप, यह आग्रह ही, भौतिक भूमिपर आध्यात्मिक, मानसिक और प्राणिक लोकोंके सतत प्रभावकी व्याख्या करते हैं। यह स्पष्ट है कि यदि यह विश्व संश्लिष्ट है और इसके तंत्रके प्रत्येक अंगमें सात तत्त्व अंतर्गुम्फित हैं और फलतः वे जहाँ कहीं भी एक दूसरेको पा सकते हैं एक दूसरेपर क्रिया करने और प्रत्युत्तर देनेको स्वभावतः परिचालित होते हैं, तो ऐसी क्रिया, ऐसा सतत चाप और प्रभाव अवश्यम्भावी परिणाम होगा, वह व्यक्त विश्वकी प्रकृतिमें अंतर्निहित ही होगा।

उच्चतर शक्तियाँ और तत्त्व अपनी स्व-भूमियोंसे पार्थिव सत्ता और प्रकृतिपर एक सतत प्रच्छन्न क्रिया करते हैं; यह क्रिया वे करते हैं अवगूढ़ पुरुष द्वारा और स्वयं अवगूढ़ पुरुष निश्चेतनासे उत्पन्न जगत्में उन भूमियोंसे आया प्रक्षेप है। इस क्रियाका प्रभाव एवं सार्थक्य होना ही चाहिए। इसका पहला प्रभाव रहा है जड़तत्त्वमेंसे प्राण और मनकी प्रमुक्ति; इसका अंतिम परिणाम रहा है पार्थिव जीवमें एक आध्यात्मिक चेतना, एक आध्यात्मिक इच्छा और जीवनके एक आध्यात्मिक अर्थके आविर्भावमें सहायता देना, जिसके परिणाम-स्वरूप वह अपने बाह्यतम जीवनमें ही या उसके साथ-साथ मनके धन्धों और रुचियोंमें ही अनन्य रूपसे अभिनिविष्ट नहीं रह जाता है, वरन् उसने अंतरमें देखना, अपने

आंतरिक पुरुष, अपने आध्यात्मिक स्वरूपका आविष्कार करना, पृथ्वी और उसकी सीमाओंको पार करनेकी अभीप्सा करना सीखा है। जैसे-जैसे वह अंतर्मुख होता जाता है, उसके मानसिक, प्राणिक, आध्यात्मिक सीमांतोंका विस्तरण होने लगता है, प्राण, मन तथा अंतरात्माको जिन बंधनोंने उनकी प्रथम सीमाओंमें आबद्ध कर रखा था वे ढीले पड़ने या टूटने लगते हैं, और मनोमय प्राणी मनुष्यको अपने और जगत्के एक विशालतर राज्यकी झाँकी मिलने लगती है जो प्रथम पृथ्वी-जीवनके लिये बन्द था। निस्संदेह, मनुष्य जबतक प्रमुखतया अपने बहिस्तलपर निवास करता है तबतक वह अपने संकीर्ण प्राकृत जीवनकी भूमिपर केवल एक प्रकारकी आदर्शात्मिका, कल्पनात्मिका और भाव-विचारात्मिका अधिरचना ही बना सकता है। परंतु यदि वह उस अंतर्मुखी वृत्तिको अपनाता है जिसे उसकी अपनी उच्चतम दृष्टिने उसके सामने उसकी उच्चतम आध्यात्मिक आवश्यकताके रूपमें उपस्थित किया है तो वहाँ, अपनी आंतरिक सत्तामें, उसे एक विशालतर चेतना, एक विशालतर प्राण मिलेंगे। अंतरसे होती क्रिया और ऊपरसे होती क्रिया जड़तत्त्वके धर्मके प्राबल्यको अभिभूत कर सकती है, निश्चेतनाकी शक्तिको ह्रसित और अंतरमें समाप्त कर दे सकती है, चेतनाके क्रमको उलट दे सकती है, जड़तत्त्वके स्थानपर आत्माको मनुष्यकी सत्ताकी सचेतन भित्तिके रूपमें प्रतिष्ठित कर सकती हैं और आत्माकी उच्चतर शक्तियोंको प्रकृतिमें शरीरधारी जीवके जीवनमें अपना संपूर्ण और विशिष्ट प्राकट्य पानेके लिये परिमुक्त कर सकती है।

●

अध्याय बाईस

पुनर्जन्म और अन्यान्य लोक; कर्म, जीव और अमरत्व

अस्माल्लोकात्प्रेत्य; एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य; एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य; एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य; एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य; इमाँल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन् ॥

इस लोकसे प्रयाण करनेमें वह अन्नमय आत्मामें संक्रमण करता है; वह प्राणमय आत्मामें संक्रमण करता है; वह मनोमय आत्मामें संक्रमण करता है; वह ज्ञानमय आत्मामें संक्रमण करता है; वह आनंदमय आत्मामें संक्रमण करता है; वह इन लोकोंमें स्वेच्छानुसार विचरण करता है।

—तैत्तिरीयोपनिषद्
III.10.5

अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति,
स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति,
यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते,
यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते . . .
तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य।
प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंञ्चेह करोत्ययम्।
तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे॥

वस्तुतः वे कहते हैं कि पुरुष कामनामय है। परंतु जैसी उसकी कामना होती है वैसी ही उसकी इच्छा होती है, और जैसी उसकी इच्छा होती है, वैसा ही वह कर्म करता है, और जैसा उसका कर्म होता है, वैसी ही उसे (फलकी) प्राप्ति होती है।. . . .कर्मके[1] द्वारा सक्त रहता हुआ, वह

1. उपनिषद्के इस श्लोकमें व्यक्त दृष्टिके अनुसार इस जीवनका

अपने सूक्ष्म शरीरमें वहाँ वहाँ जाता है जहाँ जहाँ उसका मन निषक्त रहता है; तब, अपने कर्मके अंतपर पहुँच करके, जो कोई कर्म वह यहाँ करता है उसका भी अंत करके, वह उस लोकसे इस लोकमें कर्मके लिये वापस आता है।

—बृहदारण्यकोपनिषद्
IV.4. 5, 6

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता
कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।...
प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः॥...
संकल्पाहंकारसमन्वितो यः
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव...दृष्टः॥
वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।
नैष स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः,
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥

गुणोंसे अन्वित, कर्मका कर्त्ता और उनके परिणामोंका स्रष्टा होता हुआ वह अपने कर्मोंका फल भोगता है; वह प्राणका अधिपति है और यात्रामें वह अपने कर्मोंके अनुरूप संचरण करता है; उसमें भाव है और अहंकार है, वह अपनी बुद्धिके गुणों और अपने आत्माके गुणसे जाना जायगा। बालकी नोकके सौवे भागसे भी छोटा वह जीव आनंत्यके योग्य है। वह न तो नर है, न नारी, न नपुंसक ही; वह जिस किसी शरीरको अपना कहकर स्वीकार करता है उसीसे युक्त हो जाता है।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्
V. 7-10.

कर्म परलोकके जीवन द्वारा समाप्त हो जाता है; वहाँ उसके कर्मफलका विपाक होता है और तब जीव नये कर्मके लिये पृथ्वीपर वापस आता है। इस लोकमें जन्म, कर्म, अन्य लोक-जीवनमें जीवका संक्रमण और उसका यहाँ पुनरागमन—इन सभीका कारण जीवकी अपनी चेतना, इच्छा और कामना ही है।

मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः ॥

मर्त्य होकर भी उन लोगोंने अमरत्वकी प्राप्ति की।

—ऋग्वेद
I.110.4

पुनर्जन्मके विषयमें हमारा पहला निष्कर्ष यह रहा है कि एकके बाद एक पार्थिव शरीरोंमें जीवका पुनर्जन्म पार्थिव प्रकृतिमें हो रही अभिव्यक्तिके मूल अर्थ और प्रक्रियाका अनिवार्य परिणाम है; परंतु यह निष्कर्ष आगेकी समस्याओं और आगेके परिणामोंकी ओर ले जाता है जिनका स्पष्टीकरण आवश्यक है। पहला प्रश्न पुनर्जन्मकी प्रक्रियाका उठता है; फिर, वह प्रक्रिया यदि अविलंब पुनर्जन्म-क्रमकी नहीं हो, शरीरकी मृत्युके बाद यदि तत्काल जन्म नहीं होता हो जिससे उसी व्यक्तिके जीवनोंकी अविच्छिन्न धारा बनी रह सके, यदि बीचमें अंतराल होते हों, तो इससे इस प्रश्नकी बारी आती है कि जो अन्य लोक इन अंतरालोंकी रंगभूमि होते होंगे उनमें जाने और पृथ्वी-जीवनमें वापस आनेका तत्त्वविधान और प्रक्रिया क्या हैं। तीसरा प्रश्न आध्यात्मिक क्रमविकासकी ही प्रक्रिया और उन परिवर्तनोंका है जो जीवमें उसकी जन्म-जन्मांतरकी यात्रामें, अपने अभियानकी भूमिकाओंमेंसे उसके गुजरनेमें घटित होते हैं।

यदि भौतिक विश्व ही एकमात्र अभिव्यक्त लोक हो, या यदि वह एक सर्वथा पृथक् लोक हो, तो क्रमवैकासिकी प्रक्रियाके अंग-रूपमें पुनर्जन्म एक शरीरसे सीधे दूसरेमें देहांतरणकी सतत धारामें सीमित होगा; तब मृत्युके उपरांत तत्काल ही नया जन्म हो जायगा, अंतरालकी कोई सम्भावना नहीं होगी,—जीवकी यात्रा एक बाध्यकारी, यांत्रिक जड़ पद्धतिके अविच्छिन्न धाराक्रममें एक आध्यात्मिक परिस्थिति होगी। तब जीव जड़से स्वतंत्र नहीं होगा; वह चिर-काल अपने उपकरण शरीरसे बद्ध रहेगा, और अपने अभिव्यक्त जीवनकी अविच्छिन्नताके लिये उसपर निर्भर करेगा। परंतु हम यह देख चुके हैं कि मृत्युके बाद और परवर्ती पुनर्जन्मसे पहले अन्य भूमियोंपर एक जीवन होता है, वह जीवन पार्थिव जीवनकी पुरानी मंजिलका परिणाम और नयीकी तैयारी होता है। हमारी भूमिके साथ अन्य भूमियाँ सहवर्तिनी हैं; वे एक ही संश्लिष्ट व्यवस्थाका अंग हैं, भौतिक भूमि उनका ही अन्तिम और निम्नतम प्रान्त है, उसपर वे निरंतर क्रिया करती रहती

हैं, उसकी प्रतिक्रियाएँ पाती हैं, एक प्रच्छन्न संसर्ग और आदान-प्रदान चलने देती हैं। मनुष्य इन भूमियोंके प्रति सचेतन हो सकता है, कुछ अवस्थाओंमें अपनी चेतन सत्ताको उनमें प्रक्षिप्त भी कर सकता है; ऐसा वह जीवनमें अंशतः कर सकता है, अतएव यह मान लिया जा सकता है कि शरीरके विघटनके बाद ऐसा वह पूरी संपूर्णतासे कर सकेगा। सुतरां, सत्ताके अन्य लोकों या भूमियोंमें प्रक्षेपणकी ऐसी सम्भावना इतने पर्याप्त रूपमें वास्तविक हो जाती है कि वह व्यवहारमें अपनी चरितार्थताको आवश्यक कर दे। यदि मनुष्यको आरम्भसे ही आत्म-स्थानांतरणका ऐसा सामर्थ्य आयत्त हो तो मानव-रूपमें पृथ्वी-जीवनके बाद तत्काल ही और शायद अटल नियमवत् इसे चरितार्थ होना चाहिये, और मनुष्य यदि केवल क्रमिक प्रगतिसे ही वहाँ पहुँचता हो तो ऐसा अंततक हो ही जाना चाहिये। कारण, यह सम्भव है कि आरम्भमें वह इतने पर्याप्त रूपसे विकसित न हुआ हो कि अपने प्राण या अपने मनको विशालतर प्राणलोकों या मनोलोकोंमें ले जाकर कायम रख सके और वह एक पार्थिव शरीरसे दूसरेमें तात्कालिक देहांतरणको ही अपने स्थायित्वकी एकमात्र वर्तमान सम्भावनाके रूपमें स्वीकार करनेको बाध्य हो।

जन्म-जन्मांतरके बीच अंतर्काल होने और अन्य लोकोंमें जानेकी आवश्यकता दो कारणोंसे होती है: मनुष्यकी मिश्र प्रकृतिमें उसकी मनोमयी और प्राणमयी सत्ताके लिये इन अन्य भूमियोंका आकर्षण रहता है क्योंकि उसकी इन स्तरोंसे बंधुता होती है, और अंतराल उपयोगी या आवश्यक भी होता है ताकि प्राप्त जीवन-अनुभवका परिपाक किया जा सके, जिसे परित्यक्त करना है उसकी निवृत्तिकी जा सके, नये शरीरके धारण और नये पार्थिव अनुभवकी तैयारी की जा सके। परंतु परिपाक-की अवधिकी यह आवश्यकता और हमारी सत्ताके सजातीय अंगोंके लिये अन्य लोकोंका आकर्षण केवल तब प्रभावी हो सकते हैं जबकि अर्ध-पशु अन्नमय मनुष्यमें मनोमयी और प्राणमयी वैयक्तिकताका यथेष्ट विकास हो जाय; तबतक ऐसा हो सकता है कि वे अस्तित्वमें ही न आयें या सक्रिय न हों: जीवनानुभव इतने अधिक सरल और आरंभिक होंगे कि उनके परिणामकी आवश्यकता न होगी और प्राकृत सत्ता इतनी अधिक अमार्जित होगी कि वह परिपाककी किसी संश्लिष्ट प्रक्रियाके योग्य न होगी, उच्चतर अंगोंका इतना पर्याप्त विकास न हुआ होगा

कि वे अपने-आपको सत्ताकी उच्चतर भूमियोंतक उठा सकें। अतएव यदि अन्य लोकोंके साथ ऐसे सम्बन्ध नहीं हों तो पुनर्जन्मका ऐसा मत बन सकता है जो केवल सतत देहांतरणको स्वीकार करता हो; इस मतमें अन्य लोकोंका अस्तित्व और अन्य भूमियोंमें जीवका आवास इस व्यवस्थाका न तो वास्तविक अंग, न किसी भी विन्दुपर आवश्यक भाग ही रह जाते है। एक दूसरा मत हो सकता है जिसके अनुसार यह संक्रमण सवके लिये बाध्यकारी नियम है और कोई तात्कालिक पुनर्जन्म नहीं होता; जीवको नये शरीरके धारण और नये अनुभवकी तैयारीके लिये अवकाशकी आवश्यकता रहती है। इन दोनों मतोंके बीच समझौता भी सम्भव है; देहांतरण प्रथम नियमके रूपमें तबतक प्रतिष्ठित रह सकता है जबतक जीव उच्चतर लोकके जीवनके लिये अपक्व रहता हो; अन्य भूमियोंमें संक्रमण बादका नियम होगा। एक तीसरी अवस्था भी हो सकती है जिसका कभी-कभी संकेत किया जाता है; उसमें जीवका इतना सबल विकास हो गया होता है, उसके प्राकृत अंग आध्यात्मिक रूपसे इतने जीवंत हो गये होते हैं कि उसे किसी अंतरालकी आवश्यकता नहीं होती, वरन् वह अंतर्विरामकी अवधिकी देरीके बिना एक अधिक द्रुत विकासक्रमके लिये तत्काल ही पुनर्जन्म ले सकता है।

पुनर्जन्मको माननेवाले धर्मोंसे निकले हुए लोकप्रिय विचारोंमें एक असंगति है जिसे, जैसा कि लोकप्रिय विश्वासोंके साथ होता है, समन्वित करनेका कष्ट वे नहीं करते। एक ओर तो वह विश्वास है, काफी अस्पष्ट परंतु बहुत कुछ व्यापक भी, कि मृत्युके बाद दूसरा शरीर तत्काल ही या लगभग तत्काल धारण कर लिया जाता है। दूसरी ओर, यह प्राचीन धार्मिक मत है कि नरकों और स्वर्गोंमें, या हो सकता है, सत्ताके अन्य लोकों या कोटियोंमें मृत्युके बाद एक जीवन होता है जिसकी प्राप्ति या जिसके भोगका अर्जन जीव इस भौतिक जीवनमें अपने गुण-अवगुणसे करता है; पृथ्वीपर लौटनेका समय केवल तब आता है जब उस गुण और अवगुण, पुण्य और पापका क्षय हो जाता है और जीव एक अन्य पार्थिव जीवनके लिये तैयार हो जाता है। यह असंगति हमारे यह मान लेनेसे विलुप्त हो जाती है कि यहाँ एक परिवर्तनशील गतिधारा है जो विकासकी उस मंजिलपर निर्भर करती है जहाँ जीव प्रकृतिमें अपनी अभिव्यक्तिमें पहुँच गया हो; तब सब कुछ पार्थिव जीवनकी अपेक्षा उच्चतर अवस्थामें प्रवेश के लिए उसकी समर्थताकी मात्रापर

निर्भर करेगा। परंतु पुनर्जन्मकी सामान्य भावनामें आध्यात्मिक क्रम-विकासका विचार स्पष्ट नहीं रहता, वह केवल इस तथ्यमें लक्षित रहता है कि जीवको उस विंदुपर पहुँचना है जहाँ वह पुनर्जन्मकी आवश्यकताको पार करने और अपने शाश्वत उत्समें वापस जानेमें समर्थ हो जाता है; परंतु यदि कोई क्रमिक और श्रेणीबद्ध विकासधारा नहीं है तो इस विंदुपर एक अस्तव्यस्त टेढ़ी-मेढ़ी चालसे भी पहुँचा जा सकता है जिसका नियम आसानीसे निर्देश्य नहीं। इस प्रश्नका निश्चयात्मक समाधान चैत्य गवेषणा और अनुभवपर निर्भर करता है; यहाँ हम केवल इसपर विचार कर सकते है कि चाहे एक शरीरसे दूसरे शरीरमें तात्कालिक संक्रमण, चाहे स्वकायकृत चैत्य तत्त्वके नये कलेवरधारणके पूर्व कोई विलम्ब या अंतराल, इन दोनोंमेंसे किसी भी गतिधाराके लिये क्या वस्तु-स्थितिमें या क्रम-विकास-प्रक्रियाकी तर्क-श्रृंखलामें कोई प्रत्यक्ष या अंतर्निहित आवश्यकता मिलती है।

विभिन्न लोक-तत्त्व एक दूसरेसे अंतर्गुम्फित और एक प्रकारसे अन्योन्याश्रित हैं, इस तथ्यसे और हमारे आध्यात्मिक क्रमविकासकी प्रक्रियापर इसके अवश्यम्भावी प्रभावसे अन्य लोकोंमें जीवन-यापनकी एक प्रकारकी अर्ध-आवश्यकता, मूलस्थकी अपेक्षा वल्कि एक क्रियागत और व्यावहारिक आवश्यकता उत्पन्न होती है। परंतु पृथ्वीका गुरुतर खिचाव या आकर्षण या विकसनशील प्रकृतिका प्रबल स्थूलत्व कुछ समयके लिये इस आवश्यकताका प्रतिकार कर सकता है। आरोही जीव मानव-रूपमें जन्म लेता है और उसी रूपमें उसका वार-वार पुनर्जन्म होता है जिसके विना वह अपना मानवीय विकासक्रम पूरा नहीं कर सकता,—हमारा यह विश्वास, युक्ति-विचार करती वुद्धिके दृष्टिकोणसे, इस आधारपर आश्रित है कि जीवका पार्थिव जीवनकी अधिकाधिक उच्च श्रेणियोंमें प्रगतिशील रूपसे संक्रमण और एकवार उसके मानव-स्तरतक पहुँच जानेपर उसका पुनरावृत्त होता मानव-जन्म प्रकृति-विकासके लिये आवश्यक धारा-क्रम हो जाते हैं; पृथ्वीपर एक ही अल्प मानव-जीवन क्रमवैकासिक प्रयोजनके लिये स्पष्टतया अपर्याप्त है। मानव-पुनर्जन्मोंके धारा-क्रमकी आरम्भिक अवस्थाओंमें, आरम्भिक मानवताकी अवधिमें, प्रथम दृष्टिमें यह संभावना अवश्य रहती है कि तात्कालिक देहांतरण कई वार पुनरावृत्त हो,—संगठित प्राण-ऊर्जाका अवसान या निष्कासन होने और उसके परिणाम-स्वरूप वह भौतिक विघटन होनेसे जिसे मृत्यु कहते

हैं, जब पूर्व शरीरका विलय हो जाता है तो नये जन्ममें नये मानवीय रूपके धारणकी पुनरावृत्ति तत्काल हो। परंतु क्रमविकास-प्रक्रियाकी वह कौनसी आवश्यकता है जो तात्कालिक पुनर्जन्मोंके ऐसे धाराक्रमको अनिवार्य बनाती है? स्पष्ट है कि ऐसा केवल तबतक अनिवार्य रहेगा जबतक कि चैत्य व्यक्तित्व,— स्वयं निगूढ़ आंतरात्मिक सत्ता नहीं, वरन् प्राकृत सत्तामें होनेवाला आंतरात्मिक रूपायण,— अल्प विकसित ही हो, उसका वर्द्धन अपर्याप्त हो, उसकी गठन इतनी अपर्याप्त हो कि वह इस जीवनकी मानसिक, प्राणिक और शारीरिक वैयक्तिकताके अविच्छिन्न सातत्यपर आश्रित होकर ही रह सकता हो: अपने-आपसे टिके रहनेमें, अपने अतीतके मानस-रूपायण और प्राण-रूपायणका परित्याग करने और एक उपयोगी अंतरालके बाद नये रूपायणके अनुरूप निर्माण करनेमें समर्थ न होनेके कारण वह अपने आरम्भिक अमार्जित व्यक्तित्वके संरक्षणके लिये उसे एक नये शरीरमें तत्काल संक्रामित करनेको बाध्य रहेगा। परंतु जो सत्ता इतने सबल रूपसे व्यक्तित्वसम्पन्न हो चुकी है कि वह मानव-चेतनाकी जितनी दूरीतक पहुँच गयी है, उसमें भी ऐसे सर्वथा अपर्याप्त विकासके होनेकी बात हम जब कहते हैं तो हमारी बातकी प्रामाणिकता संदेहास्पद होती है। मानव-व्यक्तिकी नीचेसे नीची प्राकृत अवस्थाओंको लें तब भी वह एक आत्मा ही है जो एक विविक्त मनोमयी सत्ताके द्वारा कार्य कर रहा है, उसका मन चाहे कितना ही कुगठित, कितना ही सीमित और खर्व, स्थूल और प्राणिक चेतनामें कितना ही निविष्ट और बन्द और अपने-आपको अपने निम्नतर रूपायणोंसे वियुक्त करनेमें कितना ही असमर्थ या अनिच्छुक क्यों न हो। फिर भी हम यह अनुमान कर सकते हैं कि कोई अधोमुखी आसक्ति इतनी सबल होती होगी कि वह जीवको भौतिक जीवन तुरंत पुनर्धारण करनेको इसलिये बाध्य करती होगी कि उसकी प्राकृत गठन वस्तुतः अन्य किसीके योग्य नहीं हुई है या वह किसी उच्चतर भूमिपर अपने-आपको विजातीय अनुभव करती है। या फिर, हो सकता है कि जीवनानुभव इतना संक्षिप्त और अधूरा हो कि जीव अपने-आपको बनाए रखनेके लिये तात्कालिक पुनर्जन्मके लिये बाध्य हो। प्रकृति-प्रक्रियाकी संश्लिष्टतामें अन्य आवश्यकताएँ, प्रभाव या कारण हो सकते हैं,—उदाहरणस्वरूप, पार्थिव कामनाकी कोई सबल इच्छा अपनी पूर्तिके लिये दबाव डाल रही हो,—जिनके

कारण व्यक्तित्वके उसी स्थायी रूपका एक नये शरीरमें तुरंत देहांतरण होकर रहेगा। परंतु फिर भी जो दूसरी विकल्पित प्रक्रिया है, जिसके अनुसार 'व्यक्ति'का पुनःशरीरधारण, पुनर्जन्म, केवल एक नये शरीरमें ही नहीं, अपितु व्यक्तित्वकी एक नयी गठनमें होता है, यही पद्धति चैत्य सत्ताके द्वारा सामान्यतः तब अपनायी गयी होनी चाहिये जब वह एक बार अपने क्रमवैकासिक चक्रकी मानव-भूमिकामें पहुँच जाती है।

कारण, चैत्य व्यक्तित्वका जैसे जैसे विकास होता है, उसे अवश्य ही अपने प्रकृति-रूपायणपर पर्याप्त अधिकार और एक पर्याप्त स्वामि-व्यंजक मनोमय और प्राणमय व्यक्तित्व पाना चाहिये जिससे कि वह भौतिक शरीरके अवलंबके बिना टिका रह सके और भौतिक भूमि तथा भौतिक जीवनकी किसी भी अतिशय अटकानेवाली आसक्तिको अभिभूत भी कर सके: उसका इतना पर्याप्त विकास होगा कि वह सूक्ष्म शरीरमें टिका रह सकेगा,—सूक्ष्म शरीर, हम जानते हैं, आंतरिक पुरुषका विशिष्ट कोष या खोल और उपयुक्त सूक्ष्म-भौतिक आधार है। आंतरात्मिक पुरुष ही, चैत्य पुरुष ही, मृत्युके बाद उत्तरजीवी रहता और मन तथा प्राणको अपनी यात्रामें अपने साथ ले जाता है, और वह अपने भौतिक आवाससे सूक्ष्म शरीरमें बाहर निकलता है; अतएव, संक्रमणके लिये दोनोंका ही पर्याप्त विकास हुआ होना चाहिये। परंतु मनोलोक और प्राणलोकमें संक्रमण कर सकनेमें यह अर्थ भी निहित है कि मन और प्राण भी इतने पर्याप्त रूपसे गठित और विकसित हों कि वे विघटित हुए बिना इन उच्चतर स्तरोंतक चले जा जा सकें और वहाँ कुछ काल तक रह सकें। यदि ये परिस्थितियाँ पूरी होती हों, पर्याप्त विकसित चैत्य व्यक्तित्व और सूक्ष्म शरीर हो और पर्याप्त रूपसे विकसित मानसिक और प्राणिक व्यक्तित्व हो, तो नये तात्कालिक जन्मके बिना चैत्य पुरुषका उत्तरजीवन उपलब्ध हो जाता है और अन्य लोकोंका खिंचाव क्रियाशील हो जायगा। परंतु अकेले इसका अर्थ पृथ्वीपर उसी मानसिक और प्राणिक व्यक्तित्व-को साथ लिये आना होगा और नये जन्ममें कोई स्वतंत्र विकास नहीं होगा। स्वयं चैत्य पुरुषका व्यक्तिरूपण इतना पर्याप्त होना चाहिये कि वह जैसे अपने विगत शरीरपर निर्भर नहीं करता, वैसे ही अपने अतीतके मन और प्राणके रूपायणोंपर भी निर्भर न करे और साथ ही उन्हें समयपर परित्यक्त भी कर सके और नये अनुभवके

लिये एक नये रूपायणकी ओर अग्रसर हो सके। पुराने रूपोंके इस परित्याग और नयोंकी तैयारीके लिये दो जन्मोंके बीच कुछ कालके लिये अंतरात्माको हमारी वर्तमान विचरण-स्थली इस सर्वथा भौतिक भूमिको छोड़कर अन्यत्र रहना होगा: कारण, विदेह आत्माके लिये यहाँ कोई आवास-स्थान नहीं होता। निस्संदेह, यदि भूलोकसे सलग्न सूक्ष्म उपप्रांत हों, जो हों तो पृथ्वीके, परंतु जिनका स्वरूप प्राणमय या मनोमय हो, तो एक अल्प निवास संभव हो सकेगा: किंतु फिर भी, यदि जीव पृथ्वी-जीवनकी अभिभूतकारिणी आसक्तिसे लदा नहीं रह गया है तो जीवके लिये वहाँ लम्बे समयतक रहनेका कोई कारण नहीं होगा। यदि भौतिक देहके बाद भी व्यक्तित्व बना रहता है तो इसका अर्थ यह है कि अतिभौतिक जीवन भी होता है, और वह सत्ताकी किसी ऐसी भूमिमें ही हो सकता है जो चेतनाकी क्रमवैकासिकी स्थितिके उपयुक्त हो, या, यदि कोई क्रमविकास नहीं है, तो वह आत्माके किसी अस्थायी स्वगृहमें हो सकता है जो जीवन-जीवनांतरके बीच उसके ठहरनेका स्वाभाविक स्थान होगा,—किंतु यदि वह उसका आद्य लोक ही हो जिससे वह भौतिक प्रकृतिमें वापस नहीं आता तो बात दूसरी है।

अब प्रश्न यह है, अतिभौतिक लोकमें वह अल्पस्थायी निवास कहाँ होगा? जीवका वह अन्य आवास कौन-सा होगा? उसे मनोमय लोकोंमें किसी मनोमयी भूमिपर ही होना चाहिए, ऐसा दो सम्मिलित कारणोंसे लग सकता है, एक तो यह कि मनोमय प्राणी मनुष्यपर उस भूमिके आकर्षणको, जो कि जीवनमें सक्रिय हो चुका है, देहा-सक्तिका विघ्न न रह जानेपर अवश्य अभिभावी हो जाना चाहिए, और दूसरा यह कि मनोमय प्राणीका नैसर्गिक और उपयुक्त आवास, स्पष्टतः, मनोमय भूमिको होना चाहिए। परंतु यह परिणाम स्वतः-सिद्ध नहीं, कारण, मनुष्यकी सत्ता संश्लिष्ट है; मनोमयी सत्ताके साथ-साथ उसकी एक प्राणमयी सत्ता भी है—उसका प्राणिक भाग प्रायः मानसिक भागकी अपेक्षा अधिक सबल और प्रधान होता है,—और मनोमय पुरुषके पीछे एक अंतरात्मा है जिसका वह प्रतिनिधि ही है। इसके अतिरिक्त, जगत्-सत्ताकी नाना भूमियाँ या स्तर हैं और जीवको अपने स्वधामतक पहुँचनेके लिये उनसे होकर जाना पड़ता है। स्वयं स्थूल लोकमें या उसके सन्निकट अधिकाधिक सूक्ष्मताकी परतें

मानी जाती हैं जिन्हें स्थूल लोकके एक प्राणिक और मानसिक प्रकारकी उप-भूमियाँ कहा जा सकता है; ये एक साथ ही पारिपार्श्विक और अंतःप्रवेशी स्तर हैं जिनके द्वारा स्थूल लोक और उच्चतर लोकोंके बीच आदान-प्रदान होता है। अतएव, जबतक उसकी मानसत्ताका पर्याप्त विकास नहीं हुआ होता, जबतक वह प्रधानतः मन और प्राणकी क्रियाशीलताके अधिक स्थूल रूपों तक सीमित रहता है, मनोमय पुरुषका इन मध्यवर्ती भूमियोंमें पकड़े जाना और विलंबित होना सम्भव हो सकता है। वह जन्म-जन्मान्तरके बीच सारे समय वहीं विश्राम करनेको भी बाध्य हो जा सकता है, परंतु यह संभाव्य नहीं, और ऐसा केवल तभी और वहींतक हो सकता है जबकि और जहाँतक अपनी क्रियाशीलताके पार्थिव रूपोंके प्रति उसकी आसक्ति इतनी अधिक रही हो कि उससे प्राकृत ऊर्ध्वमुखी गतिधारा निरुद्ध हो जाय या बाधा पाय। कारण, जीवकी मरणोत्तर अवस्थाको, पृथ्वीपर सत्ताका जो विकास हुआ है, किसी रूपमें उसीके अनुरूप होना ही चाहिए, क्योंकि यह उत्तरजीवन कोई मर्त्यतामें जा पड़नेवाली किसी अल्पस्थायी अधो-मुखी विच्युतिमेंसे मुक्त ऊर्ध्वमुखी पुनर्गमन नहीं अपितु एक स्वाभाविक पुनरावर्तनशील परिस्थिति है जो कि भौतिक जीवनमें दुष्कर आध्या-त्मिक क्रमविकासकी प्रक्रियाको सहायता देनेके लिये बीचमें पड़ती है। मानव-प्राणी पृथ्वीपर अपने क्रमविकासमें अस्तित्वकी उच्चतर भूमियोंके साथ एक सम्बन्ध निर्मित करता है, और जन्म-जन्मान्तरके बीच इन लोकोंमें उसके निवासपर इस सम्बन्धका प्रबल प्रभाव होना ही चाहिए; वही उसकी मरणोत्तर दिशाका निर्धारण करेगा और वहाँ वह कहाँ और कितने समय रहेगा, उसके स्वानुभवका स्वरूप क्या होगा, इनका निर्धारण भी।

यह भी हो सकता है कि वह कुछ समय तक अन्य लोकोंके उन उपप्रान्तोंमेंसे किसीमें ठहर जाय जिनकी रचना उसके मर्त्य शरीरकी अवधिमें पोषित उसके अभ्यस्त विश्वासों या उसकी अभीप्साओंके प्रकारसे हुई हो। हम जानते हैं कि वह इन श्रेष्ठतर भूमियोंकी प्रतिमाएँ रचता है जो प्रायः उनके अंदरके कुछ तत्त्वोंके मानसिक अनुवाद होती हैं, और वह अपनी प्रतिमाओंसे वास्तविक लोकोंका एक तंत्र, एक रूप खड़ा कर देता है; वह बहुत प्रकारके कामना-लोक भी निर्मित करता है जिनकी आंतरिक वास्तवताको सबल भावन

उसे होती है: यह सम्मव है कि ये निर्मितियाँ इतनी सबल हों कि उसके लिये एक कृत्रिम मरणोत्तर पर्यावरणका सृजन कर दें जिसमें वह ठहर जाय। कारण, मानव-मनकी प्रतिमा-निर्मात्री शक्ति, उसकी कल्पना-शक्ति, जो कि उसके भौतिक जीवनमें उसकी ज्ञान-प्राप्ति और उसकी जीवन-सृष्टिके लिये अनिवार्य सहायता मात्र रहती है, उच्चतर क्रममें एक सर्जनात्मिका शक्ति हो जा सकती है जो मनोमय पुरुषको अपनी स्व-प्रतिमाओंके बीच कुछ समय तबतक रहनेमें समर्थ करेगी जबतक कि वे अंतरात्माके दबावसे विघटित न हो जायँ। इन सारी रचनाओंका स्वरूप विशालतर प्राण-निर्माणोंका है; उनमें उसका मन श्रेष्ठतर मनोलोकों और प्राणलोकोंकी वास्तविक अवस्थाओंमेंसे कुछको अपने उस भौतिक अनुभवकी अभिधाओंमें अनूदित कर देता है जो भौतिकतासे परेकी अवस्थामें वर्द्धित, दीर्घायित, विस्तृत हो गया है: इस अनुवाद द्वारा वह भौतिक सत्ताके प्राणिक हर्ष और प्राणिक कष्टको अतिभौतिक अवस्थाओंमें ले जाता है जिनमें उन्हें वृहत्तर क्षेत्र, परिपूर्णता और स्थायित्वकी प्राप्ति होती है। अतः इन निर्माणपरक पर्यावरणोंको, जहाँ तक उनका कोई अतिभौतिक आवास है, अस्तित्वकी प्राणमयी या निम्नतर मनोमयी भूमियोंके संलग्न उपप्रान्त मानना होगा।

परंतु सच्चे प्राण-लोक भी हैं,—वे विश्वव्यापी प्राण-तत्त्वके, वैश्व प्राण-पुरुषके आद्य निर्माण, संगठित परिणाम, स्वधाम हैं, जहाँ वह स्वक्षेत्रमें और स्व-प्रकृतिसे क्रिया करता है। मनुष्यके पार्थिव जीवनको जिन प्रभावोंने घड़ा था उनकी प्रकृति प्रमुखतया प्राणिक रहनेके नाते मनुष्यको जन्म-जन्मांतरके बीचकी यात्रामें एक अवधिके लिये इन लोकोंमें रोक रखा जा सकता है, कारण, ये प्रभाव प्राण-लोकमें सहजात हैं और मनुष्यपर उनकी जो पकड़ है वह उसे अपने स्वप्रांतमें कुछ कालके लिये अटकाए रखेगी : जिसने उसे भौतिक जीवनमें भी पकड़े रखा था उसकी पकड़में वह वहाँ भी रखा जा सकता है। जीवका उपप्रान्तों या अपने स्व-निर्माणोंमें कोई भी निवास भौतिक स्थितिसे अतिभौतिक स्थितिकी ओर यात्रामें एक संक्रमण-कालीन भूमिका ही हो सकता है; उसे इन निर्माणोंमेंसे निकलकर अतिभौतिक प्रकृतिके सच्चे लोकोंमें जाना ही होगा। पर-जीवनके लोकोंमें वह तुरंत प्रवेश कर जा सकता है, या हो सकता है कि पहले वह, संक्रमण-कालीन भूमिकाके रूपमें, सूक्ष्म-भौतिक अनुभवके किसी प्रदेशमें रहे जिसके परिवेश उसे भौतिक जीवनकी

परिस्थितियोंकी अनुवृत्ति प्रतीत हों, परंतु वहाँकी अवस्थाएँ सूक्ष्मतर माध्यमके उपयुक्त रूपमें अधिक स्वतन्त्र होंगी और वहाँ मन या प्राणकी किसी प्रकारकी सुखद पूर्णता होगी या एक सूक्ष्मतर शारीरिक जीवन होगा। अनुभवकी इन सूक्ष्म-भौतिक भूमियों और प्राण-लोकोंसे परे मनोमयी या आध्यात्मिक-मनोमयी भूमियाँ हैं जिन तक जन्म-जन्मांतरके बीच जीवकी पहुँच होती लगती है और जिनमें वह अपनी जन्म-जन्मांतरके बीचकी यात्रा करते हुए जा सकता है, परंतु यदि इस जीवनमें पर्याप्त मानसिक या आंतरात्मिक विकास नही हुआ हो तो वहाँ उसके चेतन रूपसे रहनेकी सम्भावना नही होती। कारण, विकसनशील जीव जन्म-जन्मान्तरके बीच जिन ऊँचेसे ऊँचे स्तरोंतक जा सकता है, वे स्तर सामान्यतया ये ही होने चाहिए, क्योंकि जो जीव सत्ताके सोपानमें मनके डगसे आगे नही आया है वह किसी अतिमानसिक या अधिमानसिक स्थितितक आरोहण नहीं कर सकेगा; या यदि वह इतना विकसित हो चुका हो कि वह मानसिक स्तरको फाँद सके और इतनी दूरीतक आ सके, तो सम्भव है कि जब तक भौतिक क्रमविकास यहाँ जड़में किसी अधिमानसिक अथवा अति-मानसिक जीवनके संगठनका आविर्भाव न कर दे तब तक उसका वापस आना नहीं हो सके।

परंतु ऐसा होने पर भी यह सम्भावना नहीं है कि मनोमय लोक मृत्युके बादकी यात्रामें अन्तिम स्वाभाविक मंजिल हो; कारण, मनुष्य सम्पूर्णतया मनोमय नहीं है; मृत्यु और जन्मके बीचका यात्री मन नहीं, अंतरात्मा है, चैत्य पुरुष है, और मनोमय पुरुष उसकी स्वाभिव्यंजनाकी आकृतिमें एक प्रबल तत्त्व ही है। अतएव कोई शुद्ध चैत्य अस्तित्वका लोक अंतिम आश्रय-स्थलके रूपमें होना ही चाहिए जहाँ अंतरात्मा पुनर्जन्मकी प्रतीक्षा करेगा; वहाँ वह अपने भूतकालके अनुभव और जीवनकी ऊर्जाओंका परिपाक और अपने भविष्यकी तैयारी कर सकेगा, साधारणतया, मानसत्ताकी पर्याप्त शक्तितक उठे हुए, सामान्य रूपसे विकसित मानवसे यह आशा की जा सकती है कि वह अपने चैत्य धामकी यात्रामें सूक्ष्म-भौतिक, प्राणिक और मानसिक, इन सारी भूमियोंसे एकके बाद एक करके निकलता जायगा। हरेक मंजिलपर वह गत जीवनके अस्थायी और बहिस्तलीय रूपसे गठित व्यक्तित्व-निर्मितिके अंशोंका समापन करेगा और उनसे छुटकारा पायगा; जैसे उसने अपने शरीरिक कोषको उतार फेंका था, अब वह अपने मनोमय कोष और प्राणमय कोषको उतार फेंकेगा : परंतु उसके

व्यक्तित्व और उसके मानसिक, प्राणिक और शारीरिक अनुभवोंका सार भविष्यके लिये प्रसुप्त स्मृतिमें या सक्रिय शक्यताके रूपमें रह जायगा। परन्तु यदि मनका विकास अपर्याप्त हुआ हो तो यह सम्भव है कि वह प्राणिक स्तरसे आगे सचेतन रूपसे नहीं निकल सके और जीव या तो वहाँ से वापस गिर पड़े, अपने प्राणिक स्वर्गों या नरकोंसे वापस पृथ्वीपर आ जाय या, जैसा कि अधिक संगत होगा, वह अगले जन्मके पूर्वकी सारी अवधिके लिए तुरत ही एक प्रकारकी चैत्य परिपाककी निद्रामें चला जाय; उच्चतम भूमियोंमें जागृत रहनेके लिए एक विशेष विकास अनिवार्य होगा।

तथापि, यह सब सक्रिय सम्भावनाकी बात है, और यह सम्भावना व्यवहारतः एक आवश्यकता बन कर भी, साथ ही अवगूढ़ अनुभवके कुछ तथ्योंसे समर्थित होकर भी, तर्कशील मनके लिए तो अपने-आपमें सर्वथा निश्चयात्मक नही होती। हमें अब यह जानना है कि क्या जन्म-जन्मांतरके बीच इन अन्तरालोंकी कोई अधिक मूलस्थ आवश्यकता है या, कम-से-कम, इतना अधिक क्रियावंत बल रखनेवाली आवश्यकता है जिससे कि अकाट्य निष्कर्ष निकल सके। उच्चतर भूमियोंने पार्थिव क्रमविकासमें जो निश्चयात्मक भाग लिया है और इससे उनके और विकसनशील आंतरात्मिक चेतनाके बीच जिस सम्बन्धकी रचना हुई है, इनमें हमें ऐसी एक आवश्यकता मिलती है। हमारा विकास, बहुत बड़े रूपमें, पृथ्वी-भूमिपर उनकी श्रेष्ठतर परंतु प्रच्छन्न क्रियासे होता है, सब कुछ निश्चेतन या अवचेतनमें अंतर्विष्ट है, परंतु शक्यता-रूपमें ही; ऊर्ध्वसे होनेवाली क्रिया ही उन्मज्जनको अवश्यम्भावी करनेमें सहायक होती है। जड़ प्रकृतिमें हमारा क्रमविकास जिन मनोमय और प्राणमय रूपोंको अंगीकार करता है उनकी प्रगतिके रूपायण और निर्धारणके लिये उस ऊर्ध्वकी क्रियाका चलते रहना आवश्यक है; कारण, ये प्रगतिशील गतियाँ केवल अपने स्वरूपकी उच्चतर अतिभौतिक शक्तियोंका सतत,—भले ही गुह्य,—आश्रय लेकर ही निश्चेतन या तामसिक और अज्ञानपूर्ण भौतिक प्रकृतिके प्रतिरोधमें अपना पूरा संवेग पा सकती या अपने आशयोंका पर्याप्त विकास कर सकती हैं। यह आश्रय-ग्रहण, उस अवगुंठित समवायकी यह क्रिया प्रधानतः हमारी अवगूढ़ सत्तामें होती है, न कि बाह्य तलपर; हमारी चेतनाका सक्रिय बल वहींसे उन्मज्जित होता है, और वह जो कुछ भी उपलब्ध करता है उसे वह निरंतर अवगूढ़ सत्तामें संचित होने, विक-

सित होने और बादमें सबलतर रूपोंमें पुनः उन्मज्जित होनेको वापस भेज देता है। हमारी विशालतर प्रच्छन्न सत्ता और हमारे बहिस्तलीय व्यक्तित्वकी यह पारस्परिक क्रिया ही उस द्रुत विकासका रहस्य है जो मनुष्यमें तब सक्रिय हो उठता है जब वह एक बार जड़में निमज्जित मनकी निम्नतर भूमिकाओंसे परे चला जाता है।

जन्म-जन्मांतरके बीचके पर्वमें इस आश्रयका बने रहना आवश्यक है; कारण, नवजन्म, नवजीवन, विकासको ठीक वहींसे उठाना नहीं है जहाँ वह पिछले जीवनमें रुक गया था, वह केवल हमारे अतीतके बाह्य व्यक्तित्व और प्रकृति-रूपायणकी पुनरावृत्ति नही करता, उसे ही अविच्छिन्न नहीं रखता। एक परिपाक-क्रिया होती है; पुराने स्वभावगत वैशिष्ट्यों और उद्देश्योंका परित्याग और दृढ़ीकरण और पुर्नविन्यास होता है, अतीतके घटनाक्रमका एक नया व्यवस्थापन और भविष्यके प्रयोजनोंके लिये निर्वाचन होता है जिसके बिना नवारम्भ फलदायक नहीं हो सकता या क्रमविकासको आगे नहीं ले जा सकता। कारण, प्रत्येक जन्म एक नवारम्भ है; वह निस्संदेह अतीतसे विकसित होता है, परंतु वह अतीतका यांत्रिक रूपसे चलते जाना नहीं : पुनर्जन्म कोई सतत पुनरावृत्ति नहीं, वरन् प्रगति है, क्रमविकास-प्रक्रियाका साधन है। इस पुनर्विन्यासका कुछ अंश, विशेषतः व्यक्तित्वके भूतकालके सबल स्पन्दनोंका परित्याग, केवल मृत्युके बाद पहलेके मानसिक, प्राणिक और शारीरिक प्रेरणोंके दबावका समापन करके ही किया जा सकता है, और इस आन्तरिक मुक्तिको पाने या बाधाओंको हल्की करनेका काम उन भूमियोंपर निष्पन्न करना होगा जो उन प्रेरणोंके उपयुक्त हैं जिनका परित्याग करना है या और किसी तरहसे निपटारा करना है, उन भूमियोंपर निष्पन्न करना होगा जिनकी अपनी प्रकृति उसी प्रकारकी है; कारण, जीव उन्हीं भूमियोंमें उन क्रियाओंको चालू रख सकता है जिनका उसे चेतनामेंसे समापन और परित्याग करना है जिससे कि वह एक नये रूपायणमें चला जा सके। यह भी संभव है कि समाकलन करनेवाली निश्चयात्मिका तैयारीका सम्पादन और नवजीवनके स्वरूपका निर्णय स्वयं अन्तरात्मा अपने स्वधाममें, चैत्य विश्रामकी भूमिमें जाकर ही करेगा जहाँ वह सब कुछको अपने अंदर वापस खींच लेगा और क्रमविकासमें अपनी नयी भूमिकाकी प्रतीक्षा करेगा। इसका अर्थ जीवका अनुक्रमेण सूक्ष्म-भौतिक, प्राणिक और मान-सिक लोकोंसे निकलते हुए चैत्य निवास-स्थानमें गमन होगा जहाँसे वह

अपनी पार्थिव तीर्थयात्रामें वापस आयगा। इस भाँति प्रस्तुत की गयी सामग्रीका पार्थिव एकत्रकरण और विकास, पार्थिव जीवनमें उनका कार्यान्वयन, इस जन्म-जन्मांतरके बीचके आश्रयका परिणाम होगा और नवजन्म परिणामिक क्रियाशीलताका क्षेत्र होगा, देही आत्माके वैयक्तिक क्रमविकासमें एक नयी भूमि या सर्पिल मोड़ होगा।

कारण, जब हम कहते हैं कि जीव पृथ्वीपर अनुक्रमसे शारीरिक, प्राणिक, मानसिक और आध्यात्मिक सत्ताको विकसित करता है तो हमारा अभिप्राय यह नहीं होता कि वह उनकी सृष्टि करता है और उससे पहले उनका अस्तित्व नहीं था। इसके विपरीत, उसका कार्य तो यही है कि वह अपनी आध्यात्मिक सत्ताके इन तत्वोंको भौतिक प्रकृतिके लोक द्वारा आरोपित अवस्थाओंमें अभिव्यक्त करता है; यह अभिव्यक्ति पुरोभागके व्यक्तित्वके ऐसे निर्माणका रूप लेती है जो भौतिक जीवनकी अभिधाओं और सम्भावनाओंमें आंतर आत्माका अनुवाद है। वास्तवमें हमें यह प्राचीन विचार स्वीकार करना ही चाहिए कि मनुष्यके अन्दर केवल अन्नमय पुरुष ही नहीं है जिसकी अपनी उपयुक्त प्रकृति होती है, वरन् एक प्राणमय, एक मनोमय, एक चैत्य, एक अतिमानसिक, एक परम आध्यात्मिक पुरुष[2] भी है, और उनकी विद्यमानता या शक्ति, पूरीकी पूरी या अधिकांशमें, उसके अवगूढ़ भागोंमें प्रच्छन्न या उसके अतिचेतन भागोंमें अंतर्गूढ़ और अरूपायित रहती है। उसे उनकी शक्तियोंको अपनी सक्रिय चेतनामें आगे लाना और उसके ज्ञानमें उनके प्रति जागृत होना होता है। परंतु उसकी सत्ताकी इन शक्तियोंमेंसे प्रत्येकका अपनी-अपनी उपयुक्त अस्तित्व-भूमिके साथ संबंध है और सबकी जड़ें वहीं होती हैं। जीवका ऊपरसे आते निर्माता प्रभावोंका अवगूढ़ आश्रय-ग्रहण उन्हींके द्वारा होता है; यह आश्रय-ग्रहण हमारे विकासके साथ-साथ अधिकाधिक चेतन होता जा सकता है। अतः यह तर्क-संगत है कि हमारे चेतन क्रमविकासमें हुए उनकी शक्तियोंके विकासके अनुरूप ही जन्म-जन्मांतरके बीचका वह आश्रय होना चाहिये जिसे हमारे यहांके जन्मका यह स्वरूप और उसका क्रमवैकासिक लक्ष्य तथा प्रक्रिया आवश्यक करते हैं। अवश्य ही उस आश्रयकी परिस्थितियां और भूमिकाएं संश्लिष्ट होंगी, न कि वैसे स्थूल और कटे कटाए सरल स्वरूपवाली होंगी जिसकी कल्पना लोकप्रिय धर्म

---

2. तैत्तिरीय उपनिषद्।

करते हैं: परंतु उसे अपने-आपमें इस रूपमें स्वीकार किया जा सकता है कि वह अंतरात्माके दैहिक जीवनके मूल और स्वरूपका ही अनिवार्य परिणाम है। सब कुछ एक घनी बुनावटका ताना-बाना है, एक क्रम-विकास और अन्योन्यक्रिया है जिसकी कड़ियोंको एक चिन्मयी शक्तिने 'अनंत' के इन सात क्रियाकलापोंकी एक सक्रिय न्याय-रीतिके अनुसार अपने स्वोद्देश्योंके सत्यका अनुसरण करते हुए गढ़ा है।

पुनर्जन्मके बारेमें और अस्तित्वकी अन्य भूमियोंमें जीवके कुछ समयके लिये जानेके बारेमें यदि यह दृष्टि ठीक है, तो पुनर्जन्म और मरणोत्तर जीवन दोनों ही ऐसा अर्थ धारण करते हैं जो उस रूपरंगसे भिन्न होता है जिसे पुनर्जन्मके बारेमें और मृत्युके बाद हमसे परेके लोकोंमें प्रवासके बारेमें लम्बे समयसे प्रचलित विश्वासोंने उन्हें दे रखा है। पुनर्जन्मके सामान्यत: दो पहलू माने जाते हैं, तात्त्विक और नैतिक, एक पहलू आध्यात्मिक आवश्यकताका, एक पहलू वैश्व न्याय और नैतिक अनुशासनका। इस दृष्टिके अनुसार या इस प्रयोजनार्थ जीवका यथार्थ वैयक्तिक अस्तित्व माना जाता है; जीव पृथ्वीपर कामना और अज्ञानके परिणामस्वरूप है, उसे पृथ्वीपर तबतक रहना या सदा वापस आना होता है जबतक कि वह कामनासे थक न जाय और अपने अज्ञानकी वस्तुस्थिति और सच्चे ज्ञानकें प्रति जाग न जाय। यह कामना उसे सदा नये शरीरमें वापस आनेको बाध्य करती है; वह जबतक ज्ञानदीप्त और मुक्त नहीं हो जाता, जन्मके घूर्णमान चक्रके पीछे चलता रहेगा। तथापि, वह सदा ही पृथ्वीपर नहीं रहता, अपितु वह पृथ्वीलोक और अन्य स्वर्गीय और नारकीय लोकोंमें बारी-बारीसे आता जाता है; उन लोकोंमें वह अपने पुण्यकर्मों या पापकर्मोंके गुण-अवगुणोंके संचित भंडारका समापन करता है और तब पृथ्वीपर और किसी प्रकारकी पार्थिव देहमें, कभी मानव-देहमें, कभी पशु-देहमें, तो कभी वनस्पति-देहमें भी वापस आता है। जीवके इस नये शरीरधारणका स्वरूप और उसका भाग्य उसके विगत कर्मोंसे स्वयमेव निर्धारित होते हैं; यदि विगत कर्मोंका कुलयोग शुभ था तो जन्म उच्चतर रूपमें होता है, जीवन सुखद या सफल, या अव्याख्येय रूपसे सौभाग्यशाली होता है; यदि कर्मका वह कुलयोग बुरा था, तो हमें प्रकृतिके निम्नतर रूपमें आवास मिल सकता है, या यदि मानव-जीवन मिला तो वह असुखद, असफल, कष्टपूर्ण और दुर्भाग्यपूर्ण होगा। यदि हमारे विगत कर्म और स्वभाव मिश्र रहे हों तो प्रकृति, अच्छा

हिसाब रखनेवालेकी भाँति, हमें हमारे पूर्व आचरणकी कोटि और मूल्योंके अनुसार, मिश्रित सुख और कष्ट, सफलता और विफलता, विरलतम सुसंयोग और कठोरतम दुर्भाग्यको ठीक-ठीक छाँटकर भुगतान अदा करेगी। साथ ही, गत जीवनकी कोई व्यक्तिगत सबल इच्छा या कामना भी हमारे नये जन्मका निर्धारण कर सकती है। प्रकृतिके इन भुगतानोंको प्रायः गणितीय रूप दिया जाता है, क्योंकि यह अनुमान किया जाता है कि हमें अपने कुकृत्योंके लिये ठीक-ठीक दंड भरना होगा, हमने जो कुछ किया है या क्षति पहुँचायी है उसका प्रतिरूप या उसके समतुल्य कोई भोग हमें सहना या वापस करना होगा, ईटके बदले ईटका अटल नियम कर्म-विधानका बार-बार आता सिद्धांत है: कारण, यह विधान एक ऐसा गणितज्ञ है जो अपने अंकगणकको साथ रखता है और साथ ही वह ऐसा न्यायाधीश भी है जो बहुत पहलेके किये गये अपराधों और उपापराधोंके लिये अपने दंड-शास्त्रको साथ रखता है। यह भी ध्यान देनेकी बात है कि इस व्यवस्थामें पाप और पुण्यके लिये दोहरा दंड और दोहरा पुरस्कार हैं; कारण, पापीको पहले नरकमें यंत्रणा दी जाती है और बादमें वह उन्हीं पापोंके लिये यहाँ दूसरे जीवनमें कष्ट पाता है और पुण्यात्मा या विशुद्ध आचारवादीको स्वर्गीय सुखोंका पुरस्कार मिलता है और बादमें एक नये पार्थिव जीवनमें उन्हीं पुण्यों और शुभकर्मके लिये उसका फिरसे लाड़-प्यार किया जाता है।

ये लोकप्रिय धारणाएँ बहुत संक्षिप्त है और दार्शनिक बुद्धिको कोई आधार नहीं देतीं, जीवनके सच्चे सार्थक्यकी खोजका भी कोई उत्तर नही देतीं। जो विशाल जगत्-तंत्र केवल अज्ञान-चक्रपर अंतहीन रूपसे घूमते रहनेके लिये एक सुविधाके रूपमें हो और जिसका एकमात्र समाधान केवल उससे बाहर निकल जानेका अंतिम अवसर हो, ऐसे जगत्के अस्तित्वका कोई यथार्थ कारण नही होता। जो जगत् केवल पुण्य और पापकी पाठशालाका काम करता हो और केवल पुरस्कार तथा दंडकी व्यवस्थासे बना हो, वह भी हमारी बुद्धिके लिये कोई अधिक आकर्षक नहीं होता। हमारा अंतःस्थ पुरुष या आत्मा यदि दिव्य, अमर या स्वर्गिक है तो उसे केवल इस प्रकारकी स्थूल और आरम्भिक नैतिक शिक्षाकी पाठशालामें आनेके लिये यहाँ नही भेजा जा सकता; वह यदि अज्ञानमें प्रवेश करता है तो इसका कारण अवश्य ही यह होना चाहिए कि उसकी सत्ताका कोई विशालतर तत्त्व या सम्भावना है जिसे अज्ञानमेंसे

गुजरकर कार्यान्वित करना है। दूसरी ओर यदि वह अनंतसे आयी सत्ता है जो जड़के अंधकारमें किसी वैश्व उद्देश्यके लिये निमज्जित है और उसके अंदर आत्म-ज्ञानकी ओर बढ़ रही है, तो उसके यहाँके जीवनको और उस जीवनके अर्थको अवश्य ही दुलार और दंडसे पुण्य-मार्गोंमें ले जाये जाते बच्चेसे अधिक कुछ होना चाहिये; यह एक स्वारोपित अज्ञानमेंसे अपनी परिपूर्ण आध्यात्मिक उच्च स्थितिकी ओर विकास ही होगा जिसका अंतिम संक्रमण एक अमर चेतना, ज्ञान, बल, सौन्दर्य, दिव्य पवित्रता एवं शक्तिमें होगा, और ऐसी आध्यात्मिक प्रगतिके लिये यह कर्म-विधान बिलकुल बालेय ही है। जीव यदि कोई सृष्ट वस्तु ही हो, एक ऐसी शिशु सत्ता ही हो जिसे प्रकृतिसे सीखना और अमरत्वमें प्रस्फुटित होना है, तो यह प्रगतिके एक विशालतर विधानके सहारे ही होगा, किसी आदिमकालीन और बर्बर न्यायकी किसी देव-संहिताके सहारे नहीं। कर्मके विषयमें यह भाव मनुष्यके प्राणमय मनके तुच्छतर भागका ही निर्माण होगा जो कि उसके जीवनके तुच्छ नियमों और उसकी कामनाओं और सुख-दुःखसे सम्बन्ध रखता है और उनके अदना मानकोंको विश्वके विधान और लक्ष्यके रूपमें खड़ा कर देता है। विचारशील मनको ये भावनाएँ स्वीकार्य नहीं हो सकती; हमारे मानव-अज्ञानकी गढ़ी निर्मितिकी छाप उनपर अति स्पष्ट है।

परंतु इसी समाधानको बुद्धिके एक उच्चतर स्तरतक उठाया जा सकता, अधिक विश्वासोत्पादक बनाया जा सकता और एक विश्व-विधानका रंग दिया जा सकता है। कारण, प्रथमतः उसे इस अप्रति-वादनीय आधारपर स्थापित किया जा सकता है कि प्रकृतिमें जितनी भी ऊर्जाएँ हैं उन सबका स्वाभाविक परिणाम होगा ही; यदि उनमेंसे कोई ऐसी हैं जिनका वर्तमान जीवनमें दिखायी देनेवाला फल नहीं, तो इसका कारण भली भाँति यह हो सकता है कि परिणाममें केवल देर हो रही है, उसे कोई सदाके लिये रोक नहीं दिया गया है। हर जीव अपने कार्यों और कृत्योंकी फसल काटता है, अपनी प्रकृतिकी ऊर्जाओंसे उत्पन्न क्रियाके प्रतिदान पाता है, और जो उसके वर्तमान जीवनमें प्रत्यक्ष नहीं होते वे अवश्य ही बादके जीवनके लिये संरक्षित रहेंगे। यह सच है कि व्यक्तिकी ऊर्जाओं और कर्मोंका परिणाम स्वयं उसके नहीं, अपितु उसके विदा हो जानेके बाद दूसरोंको मिले; कारण, हम सदा ऐसा होता पाते हैं,—वास्तवमें, मनुष्यके जीवनकालमें भी ऐसा होता है कि उसकी

ऊर्जाओंके फलका भोग दूसरोंको मिले; परंतु इसका कारण यह है कि प्रकृतिमें जीवनकी संहति और अविच्छिन्नता है और व्यक्ति, चाहते हुए भी, सर्वथा और अकेले अपने ही लिये नहीं जी सकता है। परंतु यदि व्यक्तिके लिये पुनर्जन्म द्वारा उसके अपने जीवनकी अविच्छिन्नता होती हो, केवल समष्टि-जीवन और विश्व-जीवनकी ही अविच्छिन्नता नहीं हो, यदि उसका चिरविकसनशील आत्मा, प्रकृति और अनुभव हो, तो यह अनिवार्य है कि उसके लिये भी उसकी ऊर्जाओंकी क्रियाधारा अकस्मात् न कट जाय, वरन् उसे उनका फल अपने आगे बढ़ते अविच्छिन्न जीवनमें किसी न किसी समय पाना ही हो। मनुष्यकी सत्ता, प्रकृति, जीवन-परिस्थितियाँ, उसकी अपनी आंतरिक और बाह्य क्रियाओंका परिणाम हैं, न कि कोई संयोग-जनित और अव्याख्येय वस्तु: उसने अपने-आपको जैसा बना लिया है वैसा ही वह होता है; भूतकालीन मानव वर्तमान मानवका पिता था, वर्तमान मानव भावी मानवका। प्रत्येक जीव जो बोता है उसीकी फसल पाता है; वह जो करता है उसीसे लाभ पाता है, वह जो करता है उसीके कारण कष्ट पाता है। यह कर्मका, प्रकृति-ऊर्जाके कार्यका विधान और बंधन है, और इस विधानसे हमारे जीवन, प्रकृति, चरित्र और कर्मकी कुल शक्तिको एक ऐसा अर्थ प्राप्त होता है जो जीवनके अन्य सिद्धान्तोंमें नहीं है। इस सिद्धान्तसे यह स्पष्ट है कि मनुष्यका विगत और वर्तमान कर्म उसके भावी जन्म और उसकी घटनाओं और परिस्थितियोंका निर्धारण करेगा ही; कारण, ये भी उसकी ऊर्जाओंके ही फल होंगे: भूतमें वह जो कुछ था और उसने किया था वह उस सबका स्रष्टा होगा जो वह अपने वर्तमानमें अभी है और अनुभव करता है, और जो कुछ वह वर्तमानमें है और कर रहा है वह उस सबका स्रष्टा होगा जो वह भविष्यमें होगा और अनुभव करेगा। मनुष्य अपने-आपका स्रष्टा है; वह अपने भाग्यका भी स्रष्टा है। यह सारी बात अपने क्षेत्रमें पूर्णतया युक्तियुक्त है और इसपर आपत्ति नहीं उठायी जा सकती, और कर्मके विधानको एक वस्तुस्थितिके रूपमें, विश्वविधानके रूपमें स्वीकृत किया जा सकता है; कारण, पुनर्जन्मको एक बार मान लेनेपर वह इतना सुस्पष्ट हो जाता है कि व्यवहारतः निर्विवाद होता है।

परन्तु इस प्रथम सिद्धान्तके दो अनुसिद्धान्त हैं जो कम व्यापक और प्रामाणिक हैं और एक सन्देहात्मक भाव ले आते हैं; कारण, वे यद्यपि अंशतः सत्य हो सकते है तथापि उनका कथन अतिरंजित है और वे

एक गलत संदर्शकी रचना करते हैं, कारण, उन्हें कर्मके समूचे अर्थके रूपमें आगे रखा जाता है। पहला यह है कि जैसा ऊर्जाओंका स्वरूप होगा वैसा ही परिणामोंका भी होगा,—शुभ अवश्य शुभ परिणाम लायगा, अशुभ अवश्य अशुभ परिणाम लायगा: दूसरा यह है कि कर्म-विधानका मूल शब्द है न्याय; अतएव, शुभ कर्म अवश्य ही सुख और सौभाग्यका फल देंगे और अशुभ कर्म अवश्य ही दुःख, दैन्य और दुर्भाग्यका फल देंगे। चूंकि ऐसा कोई विश्वव्यापी न्यायका विधान होना ही चाहिए जो, किसी न किसी रूपमें, जीवनमें हो रही प्रकृतिकी वर्तमान क्षणकी दृश्य क्रियाओंको देख रहा हो और उनका नियंत्रण कर रहा हो, परंतु जीवनके तथ्य हमें जैसे दिखायी देते हैं उनमें वह हमें प्रत्यक्ष नहीं, अतएव उसे प्रकृतिके अदृष्ट व्यवहारोंकी समष्टिमें विद्यमान और सुस्पष्ट होना ही चाहिए; वह अवश्य ही वह सबल और दृढ़ गुप्त धागा होगा जो प्रकृतिके अपने सृष्ट प्राणियोंके साथके व्यवहारोंके अन्यथा असम्बद्ध रहते ब्योरोंको साथ-साथ जोड़े रखता है। यदि यह पूछा जाय कि केवल कर्मोंका ही, शुभ या अशुभ कृत्योंका ही परिणाम क्यों हो, तो यह मान लिया जा सकता है कि शुभ या अशुभ विचार, भावना, कर्म, इन सभीके अपने-अपने अनुरूप परिणाम होते हैं, परन्तु चूंकि कर्म जीवनका विशालतर भाग और मनुष्यके सत्ता-विषयक मूल्योंकी कसौटी और रूपायित शक्ति होता है, चूंकि मनुष्य अपने विचारों और भावनाओंके लिये सदा ही उत्तरदायी भी नहीं होता, कारण, वे प्रायः उसकी इच्छित वस्तुएँ नहीं होतीं, परन्तु वह जो कुछ करता है उसके लिये उसे उत्तरदायी ठहराया जाता है या ठहराया जाना चाहिए ही, कारण, उसकी करनी उसके चुनावके अधीन है, अतएव उसके भाग्यका निर्माण प्रधानतया उसके कर्म ही करते है, वे ही उसकी सत्ता और उसके भविष्यके प्रमुख या सबसे अधिक सशक्त निर्धारक हैं। यही कर्मका सारा विधान है।

परन्तु प्रथम हमें यह देख लेना है कि कर्म-विधान या कर्म-शृंखला एक बाह्य यंत्र मात्र है और, जबतक विश्वका ही स्वरूप सम्पूर्णतः यांत्रिक न हो, कर्म-विधानको विश्व-जीवनकी क्रियाओंके एकमात्र और परम निर्धारकके श्रेष्ठतर पदपर उन्नीत नहीं किया जा सकता। निस्संदेह बहुतोंका यह मानना है कि सब कुछ एक 'विधान' और 'प्रक्रिया' है, विश्वमें या उसके पीछे कोई चिन्मय 'पुरुष' या 'इच्छा' नहीं है; यदि ऐसा हो तो यह रहा 'कर्म' जो ही वह 'विधान' और 'प्रक्रिया' है और

जिससे हमारी मानव-बुद्धिको और हमारे ऋत और न्यायके मानसिक मानकोंको सतुष्टि होती है और जिसमें एक पूर्ण सममिति और क्रिया-न्वयनकी एक गणितीय परिशुद्धताका सौन्दर्य और सत्य हैं। परन्तु वस्तुतः, सब कुछ विधान और प्रक्रिया ही तो नहीं है, 'पुरुष' और 'चेतना' भी है; वस्तुओंका केवल यंत्र-विन्यास ही नहीं है, 'अध्यात्म-सत्ता' भी है, केवल विश्व-प्रकृति और विश्व-विधान ही नहीं है, विश्व-पुरुष भी है, प्राकृत प्राणीमें केवल मन, प्राण तथा शरीरकी प्रक्रिया ही नही है, अन्तरात्मा भी है। यदि ऐसा न हो तो अन्तरात्माका पुनर्जन्म नही होता, कर्म-विधानके लिये क्षेत्र नहीं होता। परन्तु हमारी सत्ताका मूलभूत सत्य यदि आध्यात्मिक हो, न कि यांत्रिक, तो हमारा आत्मा ही, हमारा अंतरात्मा ही, अपने निजके क्रमविकासको मूलतः निर्धारित कर रहा है, और कर्मका विधान उसकी उस हेतु प्रयुक्त की जानेवाली अनेक प्रक्रियाओंमेंसे केवल एक प्रक्रिया हो सकता है: हमारी अध्यात्म-सत्ताको, हमारे 'आत्मा'को अपने कर्मसे महत्तर होना ही चाहिये। विधान है, परन्तु आध्यात्मिक स्वातंत्र्य भी है। विधान और प्रक्रिया हमारे जीवनका एक पार्श्व हैं और उनका राज्य हमारे बाह्य मन, प्राण तथा शरीरपर है, क्योंकि वे अधिकांशतः प्रकृतिकी यांत्रिकताके अधीन हैं। किंतु यहाँ भी उनकी यांत्रिक शक्ति शरीर और जड़पर ही निरंकुश रहती है; कारण, प्राणकी क्रियाके स्फुरणसे विधान अधिक संश्लिष्ट और कम अनम्य हो जाता है, प्रक्रिया अधिक नमनीय और कम यांत्रिक हो जाती है, और ऐसा और भी अधिक तब होता है जब मन अपनी सूक्ष्मताको साथ लिये प्रवेश करता है; एक आन्तरिक स्वतंत्रताने हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया होता है, और हम जितना अधिक अन्दर जाते हैं, अन्तरात्माकी वरणशक्तिका अनुभव उतने ही बढ़ते रूपमें होता है: कारण, प्रकृति विधान और प्रक्रियाका क्षेत्र है, परन्तु अन्तरात्मा, पुरुष, अनुमन्ता है, और यदि उसने सामान्यतः साक्षी भावसे रहना और यांत्रिक रूपसे अनुमति देते रहना वरण कर लिया है तो भी वह, यदि चाहे तो, अपनी प्रकृतिका स्वामी, ईश्वर हो जा सकता है।

यह धारणागम्य नही कि अंतःस्थ आत्मा कर्मके हाथोंमें कठ-पुतला है, इस जीवनमें अपने विगत कर्मोंका दास है; सत्य अवश्य ही कम कठोर और अधिक नमनीय होगा। विगत कर्मके परिणामोंकी कुछ राशि यदि वर्तमान जीवनमें रूपायित होती है तो ऐसा चैत्य पुरुषकी

अनुमतिसे ही होगा, वह चैत्य पुरुष अपने पार्थिव अनुभवके नये रूपायणकी अध्यक्षता करता है और केवल किसी वाह्य वाध्यकारी प्रक्रियाको नहीं, वरन् एक निगूढ़ 'इच्छा' तथा 'निर्देशन'को स्वीकृति देता है। वह निगूढ़ 'इच्छा' यांत्रिक नहीं, आध्यात्मिक है; वह निर्देशन ऐसी 'प्रज्ञा'से आता है जो यांत्रिक प्रक्रियाओंका उपयोग तो कर सकती है, परन्तु उनके अधीन नहीं है। अन्तरात्मा जब शरीरमें जन्म लेता है तो स्वाभिव्यक्ति तथा अनुभवके लिये ही; इस जीवनकी स्वाभिव्यक्ति और अनुभवके लिये जो कुछ भी आवश्यक है, वह चाहे विगत जन्मोंके स्वयंवह परिणामके रूपमें प्रवेश करे, चाहे परिणामोंके स्वतंत्र निर्वाचनके रूपमें और चाहे अविच्छिन्नताके रूपमें, चाहे नये विकासके रूपमें, जो कुछ भी भविष्यके सृजनका साधन है उसे रूपायित किया जायगा: कारण, मूल तत्त्व 'विधान'की यांत्रिकताका क्रियान्वयन नहीं, वरन् प्रकृतिका विश्वानुभवमेंसे होकर विकास है जिससे कि वह अंततया अज्ञानमेंसे वाहर निकल आ सके। अतः दो तत्त्व होने ही चाहिए, उपकरण-रूपमें 'कर्म', परंतु अंतर्निगूढ़ 'चेतना' और 'इच्छा' भी जो उपयोक्ता-रूपमें मन, प्राण तथा शरीर द्वारा कार्य करती हो। भाग्य, वह चाहे निरा यांत्रिक हो चाहे हमारे ही द्वारा सृष्ट हो, हमारी अपनी बनायी शृंखला हो, जीवन के तत्वोंमेंसे एक ही तत्त्व है; अधिष्ठान-पुरुष, उसकी चेतना तथा उसकी इच्छा एक और भी अधिक महत्वपूर्ण तत्व हैं। भारतका फलित ज्योतिष जीवनकी सारी परिस्थितियोंको कर्म मानता है, उन्हें नक्षत्रोंके लेखाचित्रमें अधिकांशतः पूर्वनिर्धारित या संकेतित मानता है; फिर भी, जो कुछ इस प्रकार लिखा हुआ है, उसके अंश या वड़े भागको या यहाँ तक कि कर्मके अत्यंत अनुल्लंघ्य और उत्कट वन्धनोंको छोड़ वाकी सबको जीव अपनी ऊर्जा तथा शक्तिसे वदल सकता या रद्द कर सकता है, इसका स्थान इस ज्योतिषमें भी रखा गया है। सन्तुलनका यह हिसाब वुद्धिसंगत है: परन्तु इस गणनामें यह तथ्य भी जोड़ना होगा कि नियति सरल नहीं अपितु संश्लिष्ट है; जिस नियतिसे हमारी स्थूल सत्ता वँधी है वह उसे तबतक या वहाँ तक ही वाँधे रखती है जबतक या जहाँ तक कोई महत्तर विधान हस्तक्षेप नहीं करता। कर्म हमारे स्थूल भागकी वस्तु है, हमारी सत्ताका स्थूल परिणाम है; किन्तु हमारे वाह्य तलके पीछे एक अधिक स्वतंत्र प्राण-शक्ति है, एक अधिक स्वतंत्र मनोशक्ति है जिसकी एक अन्य ऊर्जा है और जो एक अन्य नियतिकी रचना कर

सकती और उसे प्राथमिक योजनाको वदलनेके लिये अंदर ला सकती है, और जब अन्तरात्मा और पुरुषका उन्मज्जन हो जाता है, जब हम चेतन रूपसे आध्यात्मिक सत्ताएँ हो जाते हैं, तब वह परिवर्तन हमारे स्थूल नियतिके लेखाचित्रको रद्द कर सकता या उसे पूरे ही नये सिरेसे गढ़ दे सकता है। सुतरां, कर्मको—या अंततः कर्मके किसी भी यांत्रिक विधानको—परिस्थितियोंके एकमात्र निर्धारक और पुनर्जन्म तथा हमारे भावी क्रमविकासके समूचे तंत्रके रूपमें स्वीकार नहीं किया जा सकता।

परन्तु यही पूरी वात नहीं है; कारण, 'विधान'के इस निरूपणमें अतीव सरलीकरणकी और एक सीमित तत्त्वके मनमाने निर्वाचनकी भूल रहती है। कर्म जीवकी ऊर्जाका परिणाम है, परन्तु यह ऊर्जा एक ही प्रकारकी नहीं होती; 'आत्मा'की चित्-शक्ति अपने-आपको वहुत प्रकारकी ऊर्जाओंमें अभिव्यक्त करती है: मनके आन्तरिक क्रियाकलाप होते हैं, प्राण, कामना, वासना, संवेग और चरित्रके क्रियाकलाप होते हैं, इन्द्रियों और शरीरके क्रियाकलाप होते हैं, सत्य और ज्ञानकी खोज होती है, सौन्दर्यकी खोज होती है, नैतिक शुभाशुभका अनुसरण होता है, वल, प्रेम, हर्ष, सुख, सौभाग्य, सफलता, प्रसन्नता, सव प्रकारकी प्राण-तुष्टियों और प्राणाभिवर्द्धनके लिये प्रयत्न होता है, व्यष्टि या समष्टिके लक्ष्योंका अनुसरण होता है, शरीरके स्वास्थ्य, वल, सामर्थ्य, तुष्टिके लिये प्रयत्न होता है। इस सवसे जीवनमें 'आत्मा'के वहुविध अनुभव और वहुमुख कर्मका एक अत्यन्त जटिल संकलन हो जाता है, और उसके वैविध्यको किसी एक ही तत्त्वके लिये नहीं हटा दिया जा सकता, न ही उसे नैतिक शुभाशुभके एकमात्र द्वैतके इतने सारे खंडोंमें ठूँसा जा सकता है; अतएव, आचारशास्त्रको, नैतिकताके मानवीय मानदंडोंको वनाये रखना न तो विश्व-विधानका एकमात्र सर्वोपरि व्यवसाय हो सकता है, न कर्मकी क्रियाके निर्धारणका एकमात्र तत्त्व ही। यदि यह सच है कि जो ऊर्जा काममें ली जाती है उसका स्वरूप ही फल या परिणामके स्वरूपका निर्धारण करेगा, तो ऊर्जाके स्वरूपकी इन सारी भिन्नताओंको विचारके अन्तर्गत लेना होगा और प्रत्येकका अपना-अपना उपयुक्त परिणाम होना ही चाहिए। सत्य और ज्ञानकी खोजकी ऊर्जाका परिणाम, कोई चाहे तो उसका प्रतिदान या पुरस्कार कहे, अवश्य ही सत्यकी ओर विकास और ज्ञानका वर्द्धन होगा; मिथ्यात्वके लिये व्यवहृत ऊर्जाका परिणाम प्रकृतिमें मिथ्यात्वका वर्द्धन और अज्ञानमें गभीरतर निमज्जन होना चाहिए।

सौन्दर्यानुशीलनमें लगी ऊर्जाका परिणाम सौन्दर्य-बोधका, सौन्दर्य-भोगका या, यदि उस ओर निर्देशित हो तो, जीवन और प्रकृतिके सौन्दर्य तथा सामंजस्यका वर्द्धन होना चाहिए। शारीरिक स्वास्थ्य, बल और सामर्थ्यके लिये अभ्याससे सबल मनुष्य या सफल व्यायामीकी रचना होनी चाहिए। नैतिक शुभके अनुसरणमें लगी ऊर्जाका परिणाम या पुरस्कार या प्रतिदान पुण्यकी वृद्धि, नैतिक विकासका सुख अथवा एक सरल और स्वाभाविक शुभत्वकी उज्ज्वल प्रसन्नता और संतुलन और शुद्धता होने ही चाहिए, जबकि विपरीत ऊर्जाओंका दंड अशुभमें और भी गहरा गोता, प्रकृतिका अधिक असामंजस्य और विकार होगा और, अतिशयताकी दशामें, महा आध्यात्मिक विनाश होगा, महती विनष्टि। शक्ति या अन्य प्राणिक उद्देश्योंके लिये प्रयुक्त ऊर्जा अवश्य ही इन परिणामोंपर अधिकार करनेके सामर्थ्यकी वृद्धिकी ओर या प्राणिक बल और परिपूर्णताके विकासकी ओर ले जायगी। प्रकृतिमें यही वस्तुओंका सामान्य विन्यास है, और यदि प्रकृतिसे न्यायकी मांग की जाय तो अवश्य ही यह न्याय है कि प्रयुक्त ऊर्जा और सामर्थ्यको प्रकृतिका उपयुक्त उत्तर अपने ही प्रकारमें मिले। दौड़का पारितोषिक प्रकृति द्रुतगामीको देती है, युद्धमें विजय साहसी और बलवान् और निपुणको देती है, ज्ञानके पुरस्कार समर्थ बुद्धि और उत्सुक जिज्ञासुको देती है: ये वस्तुएँ वह किसी भले मानुषको उसके सुस्त या निर्बल या अनिपुण या निर्बुद्धि रहनेपर भी केवल इसलिये नहीं देगी कि वह पुण्यवान् या आदरणीय है; उसे यदि जीवनकी इन अन्य शक्तियोंकी लालसा है तो उसे इनके योग्य होना होगा और ठीक प्रकारकी ऊर्जाको न्यस्त करना होगा। यदि प्रकृतिका आचरण इससे भिन्न होता तभी अन्यायी होनेका दोष उसपर भली भाँति लगाया जा सकता था; इस पूर्णतया ठीक और स्वाभाविक आयोजनके कारण उसपर अन्यायी होनेका दोष लगानेका कोई कारण नहीं, प्रकृतिसे यह चाहनेका भी कोई कारण नहीं कि वह बाकी हिसाबको भावी जीवनमें इस प्रकार ठीक कर दे कि भले मनुष्यको उसमें पुण्यके स्वाभाविक पुरस्कार रूपमें कोई ऊँचा पद या बड़ी बैंक-राशि या सुख, आराम और सुव्यवस्थाका जीवन प्राप्त हो। यह पुनर्जन्मका अभिप्राय नहीं हो सकता, कर्मके विश्व-विधानके लिये पर्याप्त आधार भी नहीं हो सकता।

जिसे हम दैव या सौभाग्य कहते हैं और जो हमारे प्रयासको फलसे

वंचित कर देता या प्रयासके विना या अवर ऊर्जाको पारितोषिक दे देता है, उसका हमारे जीवनमें, निस्संदेह, एक वहुत वड़ा अंश रहता है। नियतिकी इन सनकोंके निगूढ़ कारणको,—या कारणोंको, क्योंकि भाग्यकी जड़ें वहुविध हो सकती है,—हमें निस्संदेह अंशतः अपने प्रच्छन्न अतीतमें खोजना होगा; परन्तु इस सरल समाधानको स्वीकार करना कठिन है कि सौभाग्य किसी विगत जीवनके विस्मृत पुण्य-कर्मका प्रतिदान है और दुर्भाग्य किसी पाप या अपराधका। हम यदि किसी पुण्यात्मा मनुष्यको यहाँ कष्ट पाते देखते हैं तो यह विश्वास करना कठिन है कि यह पुण्य-मूर्ति गत जन्ममें दुष्टात्मा थी और, नये जन्ममें अपना अनुकरणीय परि-वर्तन प्राप्त करने पर भी, उस समयके किये गये पाप अभी चुका रही है; और यदि दुष्टकी विजय होती है तो हम आसानीसे यह अनुमान भी नहीं कर सकते कि वह अपने गत जीवनमें संत था जिसने अकस्मात् गलत मोड़ ले लिया है परन्तु जिसे अपने पूर्व पुण्यके लिये अभी भी नगद अदायगी मिलती जा रही है। जीवन-जीवनांतरमें इस प्रकारका समग्र परिवर्तन होना संभव है, यद्यपि उसके वार-वार होनेकी संभाव्यता नहीं; परन्तु नये विपरीत व्यक्तित्वपर पुरानेके पुरस्कारों या दंडोंको लादना निष्प्रयोजन और निरी यांत्रिक पद्धति दिखायी देता है। यह और वहुत-सी दूसरी कठिनाइयां उठती है, और इनके उपरोक्त पारस्परिक संवंधका अति सरल तर्क उतना सवल नहीं है जितना कि उसका दावा होता है; जीवन और प्रकृतिके अन्यायकी क्षतिपूर्तिमें कर्मका प्रतिफल मिलनेका विचार इस सिद्धान्तके लिये दुर्वल आधार है, कारण, वह एक मानवीय, छिछले और वहिस्तलीय वोध और मानदंडको विश्व-विधानके अर्थके रूपमें आगे रखता है और कच्ची तर्कणापर आधारित है; कर्म-विधानकी कोई अन्य और सवलतर नींव होनी ही चाहिए।

यहां, जैसा कि इतना प्रायः हुआ करता है, भूल इस कारणसे होती है कि हम अपने मानव-मनके रचे किसी मानदंडको वैश्व प्रज्ञाकी विशाल-तर स्वतंत्रता और व्यापकतर विधियोंपर लादते हैं। कर्मके विधानकी मानी जानेवाली क्रियामें प्रकृतिके वहुत सारे मूल्योंमेंसे केवल दो को, नैतिक शुभाशुभ, पाप-पुण्य, प्राणिक-भौतिक शुभाशुभ, वाह्य सुख-दुःख, वाह्य सौभाग्य-दुर्भाग्यको चुना जाता है, और यह अनुमान किया जाता है कि इनके वीच कोई समीकरण अवश्य होगा, उनमेंसे एक दूसरेका पुरस्कार या दंड अवश्य होगा, यही उसे प्रकृतिके गूढ़ न्यायमें मिलनेवाला अंतिम

अनुमोदन होता है। स्पष्ट है कि यह संस्थिति हमारे अंगोंमें रहनेवाली सामान्य प्राणिक भौतिक कामनाके दृष्टिकोणसे बनायी गयी है: कारण, सुख और सौभाग्य वह है जो हमारी प्राण-सत्ताके निम्नतर भागके लिये अधिकतम काम्य है, दुर्भाग्य और कष्ट वह है जिससे वह भाग अति घृणा करता और भय खाता है; उससे जब यह नैतिक माँग की जाती है कि वह अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियोंको नियंत्रित करे, अनिष्ट न करने के लिये आत्म-निरोध करे और जो शुभ है उसे करनेके लिये आत्म-प्रचेष्टा करे, तो वह लाभका एक सौदा ही करने, एक ऐसा विश्वविधान बना डालनेके लिए अग्रसर होता है जो इस श्रमसाध्य आत्म-बाध्यताके बदले उसकी क्षतिपूर्ति करेगा और उसे अपने आत्म-दमनके कठिन मार्गका अनुसरण करनेमें दंडके भयकी सहायता देगा। परन्तु जो जीव सत्यतः सदाचारी है उसके लिए शुभके मार्गका अनुसरण और अशुभके मार्गका परित्याग करनेके लिये पुरस्कार और दंडकी व्यवस्थाकी आवश्यकता नहीं; पुण्य उसके लिए अपने-आपमें पुरस्कार रहता है, पाप उसके स्वधर्मसे च्युत होनेके कष्टके रूपमें अपना दंड साथ ले आता है: यही सच्चा नैतिक मानदंड है। इसके विपरीत, पुरस्कार और दंडकी व्यवस्था शुभके नैतिक मूल्योंको दूषित कर देती, पुण्यको स्वार्थपरतामें, आत्म-हितके व्यवसायी सौदेमें बदल देती और अशुभसे अलग रहनेकी सच्ची प्रेरणाके स्थानपर एक अवर प्रेरणाको ला बिठाती है। मानव-प्राणियोंने पुरस्कार और दंडका नियम एक सामाजिक आवश्यकताके रूपमें बनाया है जिससे कि समाजको हानि पहुँचानेवाली वस्तुओंका निरोध किया जाय और उसके लिये जो सहायक है उसे प्रोत्साहित किया जाय; परन्तु इस मानव-साधनको विश्वप्रकृतिका सामान्य विधान या परम पुरुषका विधान या अस्तित्वका परम विधान बना डालना तो संदिग्ध पद्धति है। हमारे अपने अज्ञानके अपर्याप्त और संकीर्ण मानकोंको विश्वप्रकृतिकी विशालतर और अधिक संश्लिष्ट क्रियाओं या परम प्रज्ञा और परम शुभकी क्रियापर लादना मानव-सुलभ है, परन्तु बालेय भी, जबकि वह परम प्रज्ञा और परम शुभ हमें अपनी ओर एक आध्यात्मिक शक्तिसे खींच या उठा रहा है जो हममें हमारी आन्तरिक सत्ता द्वारा कार्य करती है, न कि हमारी बाह्य प्राण-प्रकृतिपर लोभ और बाध्यताके विधानका प्रयोग करती हुई। यदि जीव बहुमुख और संश्लिष्ट अनुभव द्वारा क्रमविकासमेंसे गुजर रहा है, तो कर्मके किसी भी विधानको, ऊर्जाकी क्रिया और उत्पादनको

दिये जानेवाले प्रतिदानके किसी भी विधानको, उस अनुभवके अन्दर जँच जानेके लिये, अवश्यतया संश्लिष्ट होना चाहिये, उसकी गठन सरल और हल्की नहीं हो सकती, उसका प्रभाव अनम्य और एकदेशीय नहीं हो सकता।

साथ ही, इस सिद्धान्तको मूलभूत या सामान्य तत्त्वरूपी सत्य कह कर तो नहीं, परन्तु वास्तविकताके एक आंशिक सत्य-रूपमें स्वीकार किया जा सकता है; कारण, यद्यपि ऊर्जाकी क्रियाकी रेखाएँ विविक्त और स्वतंत्र हैं, तथापि वे साथ-साथ और एक दूसरीपर क्रिया कर सकती हैं, किंतु अनुरूपताके किसी अनम्य रूपसे निर्धारित नियमके अनुसार नहीं। यह सम्भव है कि प्रकृतिके प्रतिदानोंकी समग्र पद्धतिमें प्राणिक-भौतिक मंगल-अमंगल और नैतिक शुभाशुभके बीचके सम्बन्ध या बल्कि पारस्परिक क्रियाका कोई तन्तु प्रवेश कर जाता हो, विभिन्न द्वन्द्वोंके बीच एक सीमित अनुरूपता और मिलन-स्थली होती हो जो अवियोज्य संगति तो नहीं होती। हमारी अपनी बदलती ऊर्जाएँ, कामनाएँ, गतिधाराएँ अपनी क्रियामें मिश्रित होती हैं और मिश्र परिणाम घटित कर सकती हैं: हमारा प्राणिक भाग पुण्यके लिये, ज्ञानके लिये, प्रत्येक बौद्धिक, सौन्दर्य-बोधी, नैतिक या शारीरिक प्रयासके लिये ठोस और बाह्य पुरस्कारोंकी माँग करता ही है; वह पापके लिये और अज्ञानके लिये भी दंडमें दृढ़ विश्वास करता है। यह सहज संभव है कि यह बात एक संगत विश्वक्रियाकी रचना करे या उसके अनुरूप हो; कारण, प्रकृति हमें उस रूपमें लेती है जैसे कि हम हैं, और वह अपनी गतिविधिको कुछ दूरीतक हमारी आवश्यकता या हमारी उससे की जाती माँगोंके अनुकूल बनाती है। यदि हम स्वीकार करते हैं कि हमपर अदृश्य शक्तियोंकी क्रिया होती है, तो प्राण-प्रकृतिमें भी अदृश्य शक्तियाँ हो सकती हैं जो चित्-शक्तिके उसी स्तरकी हों जिस स्तरका हमारी सत्ताका यह भाग होता है, ऐसी शक्तियाँ हो सकती हैं जो उसी योजना या उसी चालन-शक्तिके अनुसार चलती हों जिससे हमारी निम्नतर प्राणिक प्रकृति चलती है। यह प्रायः देखा जा सकता है कि जब कोई स्व-प्रतिष्ठापक प्राणिक अहंभाव अपनी इच्छा या कामनाका जो कुछ भी विरोधी है उसे किसी अंकुश या संकोचके बिना अपनी राहपर कुचलता जाता है तो वह अपने ही विरोधमें प्रतिक्रियाओंका पुंज खड़ा कर देता है,—मनुष्योंमें घृणा, प्रतिरोध और बेचैनीकी प्रतिक्रियाएँ होती हैं जिनका परिणाम अभी या

वादमें हो सकता है, और विश्व-प्रकृतिमें तो और भी अधिक विकट प्रतिकूल प्रतिक्रियाएँ होती हैं। यह ऐसा होता है मानों प्रकृतिके धैर्यका, उसकी उपयोगमें आनेकी इच्छुकताका अंत हो गया हो; जिन शक्तियोंको सबल प्राणिक मनुष्यके अहंने पकड़ रखा था और अपने प्रयोजनार्थ नमित कर रखा था वे ही शक्तियाँ उसके विरुद्ध घूम जाती और विद्रोह करती हैं, जिनको उसने कुचल डाला था उनका उद्भव होता है और उन्हें उसके अधःपतनके लिये बल मिलता है: मनुष्यकी धृष्ट प्राण-शक्ति नियतिके सिंहासनसे टकराती और चकनाचूर हो जाती है या दंड-शक्तिका लंगड़ाता पैर अन्तमें सफल अपराधीतक पहुँच जाता है। हो सकता है कि उसकी ऊर्जाओंके प्रति यह प्रतिक्रिया उसपर तुरंत नहीं, अपितु अन्य जन्ममें धावित हों, हो सकता है कि वे उसके लिये वह परिणाम-भार बन जायँ जिसे वह इन शक्तियोंके क्षेत्रमें अपनी वापसीमें उठाता हो; यह बड़े पैमानेपर हो सकता है और छोटे पैमानेपर भी, जैसे इन विशालतर उदाहरणोंमें वैसे ही छोटे प्राण-पुरुष और उसकी छोटी भूलोंके लिये भी। कारण, तत्त्व-विधान वही होगा; हमारा अंतःस्थ मनोमय पुरुष शक्तिका अपव्यवहार करता हुआ सफलताकी खोज करता है, प्रकृति इस अपव्यवहारको स्वीकार करती, परन्तु अन्तमें उसके विरोधमें प्रतिक्रिया करती है और अपव्यवहारकर्त्ताको पराजय, कष्ट और विफलताके वेशमें प्रतिकूल प्रतिदान मिलता है। किन्तु, कारणों और परिणामोंकी इस लघु धाराको ऊँचा उठाकर एक अपरिवर्तनीय परम विधानका या परम 'सत्पुरुष'की क्रियाके पूरे ही विश्व-नियमका पद दे देना वैध नहीं है; वे तो विश्वके अंतरतम या परम सत्य और भौतिक प्रकृतिकी निष्पक्षताके बीचके मध्यवर्त्ती प्रदेशकी वस्तुएँ हैं।

जो कुछ भी हो, प्रकृतिकी प्रतिक्रियाएँ, सारतत्त्वमें, पुरस्कार या दंडके रूपमें अभिप्रेत नहीं हैं; पुरस्कार या दंड उनका मूलभूत गुण नहीं है, वह बल्कि प्राकृत सम्बन्धोंका एक अंतर्निहित गुण है, और वह जहाँतक आध्यात्मिक क्रमविकासको प्रभावित करता है, उसमें जीवके विश्व-प्रशिक्षणमें अनुभवका पाठ होनेका गुण है। यदि हम अग्निको स्पर्श करते हैं तो वह जला देती है, परन्तु कारण और परिणामके इस सम्बन्धमें दंडका कोई तत्त्व-विधान नहीं है, यह तो सम्बन्धोंका पाठ है और अनुभवका पाठ है; इस भाँति, प्रकृतिके हमारे साथके सारे व्यवहारोंमें वस्तुओंका एक सम्बन्ध होता है और अनुभवका एक सदृश पाठ होता

है। वैश्व ऊर्जाकी क्रिया संश्लिष्ट है और वे ही शक्तियाँ परिस्थितियोंके अनुसार, सत्ताकी आवश्यकताके अनुसार, विश्वशक्तिके अपने क्रिया-अभिप्रायके अनुसार, भिन्न-भिन्न विधियोंसे क्रिया कर सकती हैं; हमारा जीवन केवल अपनी ही ऊर्जाओंसे नहीं, दूसरोंकी ऊर्जाओं और विश्व-शक्तियोंसे भी प्रभावित होता है और इस सारी विशाल अन्योन्यक्रियाके परिणामोंका निर्धारण किसी एक सर्व-शासक नैतिक विधानके एकमात्र तत्त्वमें नहीं हो सकता जिसका ध्यान ऐकान्तिक रूपसे वैयक्तिक मानव-प्राणियोंके गुण-अवगुण, पाप-पुण्यपर रहता हो। और, सौभाग्य और दुर्भाग्य, हर्ष और कष्ट, सुख और दैन्य और दुःखको भी इस रूपमें नहीं लिया जा सकता मानों उनका अस्तित्व प्राकृत जीवको शुभाशुभके बीच चुनाव करनेके लिये उत्साहित और निरुत्साहित करनेवाले के रूपमें ही हो। पुनर्जन्ममें अन्तरात्माका प्रवेश अनुभवके लिये, व्यष्टि-सत्ताके विकासके लिये होता है; हर्ष और शोक, दुःख और कष्ट, सौभाग्य और दुर्भाग्य उसी अनुभवके अंग, उसी विकासके साधन हैं: यहाँ तक कि अन्तरात्मा स्वतः ही दारिद्र्य, दुर्भाग्य और कष्टको अपने विकासमें सहायकके रूपमें, द्रुत प्रगतिके लिये उद्दीपकोंके रूपमें स्वीकार या वरण कर ले सकता है, और सम्पदा, समृद्धि और सफलताको संकटप्रद और अपने आध्यात्मिक प्रयासमें शिथिलताकारी कहकर उसका वर्जन कर दे सकता है। मानवजातिकी सुखकी और सुखको लानेवाली सफलताकी माँग निस्संदेह न्यायोचित है; यह प्राण और जड़का आनंदके फीके प्रतिबिम्ब या स्थूल प्रतिरूपको पकड़नेके लिये प्रयत्न है: परन्तु बहिस्तल-का सुख और भौतिक साफल्य हमारी प्राणिक प्रकृतिके लिये चाहे कितने ही काम्य क्यों न हों, वे हमारे जीवनका प्रमुख उद्देश्य नहीं; यदि वैसा अभिप्राय होता तो वस्तुओंके विश्वविधानमें जीवन भिन्नतया आयोजित होता। पुनर्जन्मकी परिस्थितियोंका सारा रहस्य जीवकी एक ही प्रधान आवश्यकता, विकासकी आवश्यकता, अनुभवकी आवश्यकताके चारों ओर केन्द्रित है; उसके क्रमविकासकी धारा इसीसे नियमित होती है और बाकी सब कुछ आनुषंगिक है। विश्वजीवन कोई सर्वजनीन न्यायकी विशाल प्रशासन-व्यवस्था नहीं है जिसका यंत्र-विन्यास पारितोषिक और दंडका कोई विश्वविधान हो या जिसके केन्द्रमें कोई दिव्य विधायक और न्यायाधीश विराजमान हो। प्रथमतः हम उसे इस रूपमें देखते हैं मानों वह प्रकृतिकी ऊर्जाकी कोई महती स्वचालित गति है और उसमें चेतनाकी

एक स्वयं-विकसनशील गतिधारा उन्मज्जित होती है; अतएव वह गतिधारा अपनी आत्म-सत्ताको प्रकृतिकी ऊर्जाके संचलनमें क्रियान्वित करते 'अध्यात्म-पुरुष'की गतिधारा है। इस गतिधारामें पुनर्जन्मका चक्र आता है, और उस चक्रमें अन्तरात्मा, चैत्य पुरुष, जो कुछ उसके क्रमविकासमें अगले डगके लिये, उसके अगले व्यक्तित्व-निर्माणके हेतु आवश्यक अनुभवोंकी अगली समष्टिके लिये आवश्यक है, उस सबकी अपने लिये तैयारी करता है, या उस सबको दिव्य प्रज्ञा या वैश्व चित्-शक्ति उसके लिये और उसकी क्रियाके द्वारा तैयार करती है। हर नये जन्मके लिये इस तैयारीकी सामग्री भूत, वर्तमान और भावी ऊर्जाओंके सतत प्रवाहमेंसे नित्य प्राप्त और संगठित होती है; यह 'अध्यात्म-पुरुष'के हर नये डगके लिये होती है और वह डग पीछेकी ओर या आगेकी ओर या नहीं तो एक वृत्तके अंदर ही होता है, किंतु वह सदा ही सत्ताका प्रकृतिमें अपने नियत स्वोन्मेषकी ओर अपने विकासकी यात्राका डग होता है।

इससे हम पुनर्जन्मकी सामान्य धारणाके एक दूसरे तत्त्वपर आते हैं जो स्वीकार्य नहीं, कारण वह स्थूल मनकी स्पष्ट भूल है; वह यह विचार है कि स्वयं अन्तरात्मा एक सीमित व्यक्तित्व है जो जन्म-जन्मान्तरमें अपरिवर्तित टिका रहता है। अन्तरात्मा तथा व्यक्तित्वके विषयमें यह अति सरल और अगभीर भाव स्थूल मनकी इस एक ही जीवनमें होनेवाले अपने प्रतीयमान स्व-रूपायणसे आगे देख सकनेकी अक्षमतासे उत्पन्न होता है। इसकी कल्पनाके अनुसार पुनर्जन्ममें केवल वही आध्यात्मिक पुरुष, वही चैत्य पुरुष ही वापस नहीं आता, गत जन्मके शरीरमें प्रकृतिके जिस रूपायणने निवास किया था उसी रूपायणको भी वापस आना ही चाहिए; शरीर बदल जाता है, परिस्थितियाँ भिन्न हो जाती हैं, परन्तु सत्ताका रूप, मन, चरित्र, विन्यास, स्वभाव, प्रवृत्तियाँ, ये वहीके वही रहते हैं: सोहनलाल अपने नये जीवनमें वही सोहनलाल है जो वह अपने गत जन्ममें था। परन्तु यदि ऐसा हो तो पुनर्जन्मका आध्यात्मिक उपयोग या अर्थ बिलकुल ही नहीं रह जायगा; कारण, कालके अंततक उसी तुच्छ व्यक्तित्व, उसी तुच्छ मनोमयी और प्राणमयी रचनाकी पुनरावृत्ति होती जायगी। देहीके अपने स्वरूप-सत्यके परिपूर्ण आकारकी ओर विकासके लिये केवल एक नया अनुभव नहीं, अपितु एक नया व्यक्तित्व अपरिहार्य है; एक ही व्यक्तित्वकी पुनरावृत्ति केवल

तब सहायक होगी जबकि उसके अनुभव-विन्यासमें कोई वस्तु अधूरी रह गयी हो जिसे स्व-भावके उसी ढांचेमें, मनकी उसी रचनामें और ऊर्जाके उसी रूपायित सामर्थ्यके साथ क्रियान्वित कर डालना आवश्यक था। किंतु साधारणतः यह पुनरावृत्ति सर्वथा व्यर्थ होगी: जो अन्तरात्मा सोहनलाल रहा है वह चिरकाल सोहनलाल बना रहकर न तो कुछ पायगा, न अपनी स्व-परिपूर्ति ही करेगा; उसी चरित्र, उन्हीं रुचियों और धन्धों, आन्तरिक और बाह्य वृत्तियोंके उन्हीं प्ररूपोंकी चिरकाल पुनरावृत्ति करता रहकर वह न तो विकसित हो सकता है, न पूर्णत्व पा सकता है। तब हमारा जीवन और पुनर्जन्म एक ही आवर्तक दशमलव होंगे; यह कोई क्रमविकास नहीं, प्रत्युत एक अंतहीन पुनरावृत्तिकी अर्थहीन अविच्छिन्नता होगा। अपने वर्तमान व्यक्तित्वके प्रति हमारी आसक्ति ऐसी ही अविच्छिन्नता, ऐसी ही पुनरावृत्ति चाहती है; सोहनलाल नित्य सोहनलाल रहना चाहता है: परन्तु यह चाह सुस्पष्ट रूपसे अज्ञानमयी है, और यदि वह पूरी कर दी जाय तो परिणाम होगा विफलता, न कि परिपूर्ति। बहिरात्माका परिवर्तन, प्रकृतिकी सतत प्रगति, अध्यात्म-सत्तामें विकास, केवल इनके ही द्वारा हम अपने जीवनकी सार्थकता सिद्ध कर सकते हैं।

व्यक्तित्व केवल एक अस्थायी मानसिक, प्राणिक, दैहिक रूपायण है, जिसे पुरुष, वास्तविक पुरुष, चैत्य पुरुष, बाह्य तलपर व्यक्त करता है,—वह अपनी नित्य प्रकृततामें प्रतिष्ठ आत्मा नहीं है। पृथ्वीपर जब-जब पुरुष वापस आता है वह एक नया रूपायण धारण करता है, एक नये अनुभवके लिये अपनी सत्ताके एक नये विकासके उपयुक्त एक नया व्यक्तिगत आधार निर्मित करता है। जब वह अपने शरीरमें से चला जाता है तब भी कुछ समयतक वह उसी प्राणमय और मनोमय रूपको बनाये रखता है, परन्तु रूप या कोष तो विघटित हो जाते हैं और विगत आधारके केवल सारतत्त्वोंको संरक्षित रखा जाता है जिनमेंसे कुछ तो अगले शरीरधारणमें काममें लिये जायेंगे और कुछ नहीं भी लिये जा सकते हैं। विगत व्यक्तित्वका सारभूत रूप कई तत्वोंमेंसे एक तत्वकी तरह, उसी पुरुषके कई व्यक्तित्वोंमेंसे एक व्यक्तित्वकी तरह रह सकता है, परन्तु वह पृष्ठभूमिमें, बाह्य तलके मन, प्राण और शरीरके पर्देके पीछे अवगूढ़ सत्तामें रह सकता है, उसके जिस किसी अंगकी आवश्यकता होगी, उसे वह नये रूपायणको देता रहेगा; परन्तु वह स्वयं

ही समूचा रूपायण नहीं होगा, वह प्रकृतिके पुराने अपरिवर्तित प्ररूपका कोई नया निर्माण भी नहीं कर रहा होगा। ऐसा भी हो सकता है कि सत्ताका नया आधार या निर्माण सर्वथा विपरीत चरित्र और प्रकृति, सर्वथा विपरीत क्षमताएँ, अन्य बहुत ही भिन्न प्रवृत्तियाँ प्रदर्शित करे; कारण, हो सकता है कि अन्तर्हित शक्यताएँ उन्मज्जित होनेको प्रस्तुत हों या ऐसी कोई वस्तु हो जो विगत जीवनमें क्रियाशील तो हो गयी थी किन्तु आरम्भिक अवस्थामें थी, उस समय रोक रखी गयी थी, उसका कार्यान्वियन आवश्यक था परन्तु उसे स्वभावकी सम्भावनाओंके बादके और अधिक उपयुक्त सम्मिलनके लिये छोड दिया गया था। निस्संदेह, सारा अतीत रहता है, भविष्यके रूपायणके लिये अपने द्रुततर प्रेरण और शक्यताओंको साथ लिये रहता है, परन्तु वह साराका सारा प्रकट रूपसे वर्तमान और सक्रिय नहीं रहता। रूपायणोंकी जितनी अधिक विविधता अतीतमें रही होगी और उपयोगमें ली जा सकती है, अनुभवके संचित निर्माण जितने अधिक समृद्ध और बहुसंख्यक होंगे, उनका ज्ञान, बल, कर्म और चरित्रके लिये, विश्वके संबंधमें बहुविध प्रतिक्रियाके लिये सामर्थ्य देनेवाले सारभूत परिणामको नये जन्ममें उतना ही अधिक आगे लाया जा सकेगा और सामंजस्यमें बैठाया जा सकेगा, नये व्यक्तित्वको बहिस्तलपर समृद्ध करनेके लिये अवगुंठित व्यक्तित्व, – मानसिक, प्राणिक, सूक्ष्म-शारीरिक,—जितनी अधिक संख्यामें जमा होंगे, वह व्यक्तित्व उतना ही महत्तर और अधिक वैभवपूर्ण होगा और क्रमविकासके निष्पन्न मनोमय पर्वमेंसे निकल कर उससे परेकी किसी वस्तुकी ओर सम्भव संक्रमणके उतना ही अधिक समीप होगा। एक ही व्यक्तिमें बहुत सारे व्यक्तित्वोंका यह उलझाव और समूहन व्यक्तिके विकासकी एक बहुत आगेकी मंजिलका द्योतक तब हो सकता है जबकि कोई ऐसा सबल केन्द्रीय पुरुष हो जो उन सबको साथ संयुक्त रखता हो और प्रकृतिकी सारी बहुमुखी गतिके सामंजस्य और समाकलनकी ओर कार्य कर रहा हो। परन्तु अतीतका यह समृद्धिशाली ग्रहण व्यक्तित्वकी पुनरावृत्ति नहीं होगा; वह एक नया रूपायण और विशाल उत्कर्ष होगा। पुनर्जन्म किसी अपरिवर्तनशील व्यक्तित्वके निरन्तर पुनरुत्थान या आयुवृद्धिका यंत्र नहीं, वह तो प्रकृतिमें आध्यात्मिक सत्ताके क्रमविकासका साधन है।

यह तुरंत स्पष्ट हो जाता है कि हमारा मन विगत जीवनोंकी स्मृतिको जो मिथ्या महत्व देता है वह पुनर्जन्मकी इस योजनामें बिलकुल

लुप्त हो जाता है। पुनर्जन्म यदि वास्तवमें पुरस्कार और दंडकी व्यवस्थासे शासित हो, जीवनका सारा अभिप्राय यदि देहीको भला और नैतिक होनेकी शिक्षा देना हो,—यदि *यह मान लें कि कर्मके विधानमें* यही अभिप्राय है और वह जैसा इस चित्रणमें दिखायी देता है वैसा नही है, किसी पुनर्गठनकारी भाव या प्रयोजनसे रहित पुरस्कार और दंडका यांत्रिक विधान नहीं है,—तो स्पष्ट ही, उसके नवकलेवर-धारणमें मनको उसके विगत जन्मों और कर्मोंकी स्मृति न रहने देना बड़ी मूर्खता और अन्याय है। कारण, इस स्मृतिके न रहनेसे पुनर्जन्म लेनेवाला जीव यह अनुभव करनेके सारे सुयोगसे वंचित हो जाता है कि उसे पुरस्कार या दंड किस कारणसे मिल रहा है, पुण्यकर्मका जो लाभ उसे दिया जा रहा है और पापकी जो लाभहीनता उसपर लादी जा रही है उसके पाठसे कोई लाभ उठानेसे भी वह वंचित रह जाता है। यहाँ तक कि चूंकि जीवन प्रायः विपरीत पाठ पढ़ाता जान पड़ता है,—कारण, मनुष्य भलोंको उनके भलेपनके कारण कष्ट पाते और दुष्टोंको उनकी दुष्टताके कारण समृद्ध होते पाता है,—अतः सम्भावना वल्कि यह होती है कि वह इस विकृत अर्थका निष्कर्ष मान लेवे, कारण, उसे अनुभवके उस आश्वासित और सतत परिणामकी स्मृति नहीं रहती जो उसे यह प्रदर्शित करे कि भले आदमीका कष्ट उसकी भूतकालकी दुष्टताके कारण था और पापीकी समृद्धि उसके विगत पुण्योंकी महिमाके कारण, जिससे कि प्रकृतिकी इस व्यवस्थामें प्रवेश करनेवाले किसी भी बुद्धिशाली और विवेकी जीवके लिये अंतमें उत्तम नीति पुण्यात्मा होना ही हो। कहा जा सकता है कि अंतरमें चैत्य पुरुष स्मरण रखता है; परन्तु वहिस्तलपर ऐसी गुप्त स्मृतिका प्रभाव या सार्थक्य अल्प ही होता लगेगा। या यह कहा जा सकता है कि जब वह शरीरसे निकल जानेके वाद अपने अनुभवोंका सिंहावलोकन और परिपाक करता है तव जो कुछ घटित हुआ है उसे वह अनुभव करता और अपना पाठ सीखता है: परन्तु यह आन्तरायिक स्मृति अगले जन्ममें वहुत स्पष्टतः सहायक नहीं होती; कारण, हममेंसे अधिकांश पाप और प्रमादमें अड़े रहते हैं और इस वातके गोचर चिह्न नहीं मिलते कि हमने अपने अतीतके अनुभवकी शिक्षासे लाभ उठाया हो।

परन्तु यदि वर्द्धमान विश्वानुभव द्वारा सत्ताका सतत विकास ही अभिप्राय है और नवजन्ममें नवव्यक्तित्वका निर्माण उसकी पद्धति, तो

विगत जीवन या जीवनोंकी स्थायी या पूरी स्मृति एक बन्धन और भारी विघ्न हो जा सकती है; वह स्मृति प्राचीन प्रकृति, चरित्र और लगनको जारी रखनेवाली शक्ति होगी और नये व्यक्तित्वके स्वतन्त्र विकास और उसके नवानुभवके निरूपणको रोकनेवाला अतिशय भार होगी। विगत जन्मों, घृणाओं, विद्वेषों, आसक्तियों और सम्बन्धोंकी स्पष्ट और ब्योरेवार स्मृति समान रूपसे अत्यधिक असुविधा होगी; कारण, वह पुनर्जात जीवको अपने बहिस्तलीय अतीतकी अनुपयोगी पुनरावृत्ति या अनिवार्य सातत्य बनाये रखनेके लिए आबद्ध करेगी और उसके अध्यात्मसत्ताकी गहराइयोंमेंसे नयी सम्भावनाओंको निकाल लानेके मार्गमें भारी बाधा बनकर खड़ी हो जायगी। यदि मानसिक पाठ ही सत्यतः मर्मकी बात होता, यदि वही हमारे विकासकी प्रक्रिया होता, तो स्मृतिका बड़ा महत्त्व होता: परन्तु वस्तुतः चैत्य व्यक्तित्वका वर्द्धन होता है और प्रकृतिका वर्द्धन होता है, यह होता है हमारी सत्ताकी धातुमें एक आत्मसात्करण होनेसे, विगत ऊर्जाओंके साररूप परिणामोंका एक सर्जनात्मक और प्रभावी परिपाचन होनेसे; इस प्रक्रियामें सचेतन स्मृतिका महत्त्व नहीं होता। जैसे वृक्ष सूर्य, वर्षा और वायुकी क्रियाको अवचेतन या निश्चेतन रूपसे आत्मसात् करता हुआ और पृथिवी-तत्त्वोंका परिपाचन करता हुआ वर्द्धित होता है, जीव भी अपनी विगत संभूतिके परिणामोंको अवगूढ़ अथवा अंतश्चेतन रूपसे आत्मसात् और उनका परिपालन करता हुआ और भावी संभूतिकी शक्यताओंका उत्पादन करता हुआ वर्द्धित होता है। हमें विगत जीवनोंकी स्मृतिसे वंचित करनेवाला विधान विश्वप्रज्ञाका विधान है और उसके क्रमविकासके उद्देश्यका अनुसेवी है, बाधक नहीं।

विगत जीवनोंकी किसी भी स्मृतिका न होना पुनर्जन्मकी वास्तविकताके खंडनके रूपमें मान लिया जाता है, परन्तु ऐसा करना गलत है और बड़े अज्ञानकी बात है; कारण, यदि इसी जीवनमें अपने भूतकालकी सारी स्मृतियोंको रखना कठिन है, यदि वे स्मृतियाँ फीकी पड़कर पृष्ठभूमिमें चली जाती या बिलकुल लुप्त हो जाती हैं, यदि अपने शैशवकी कोई स्मृति नहीं रह जाती है, और फिर भी, स्मृतिके इस व्यवधानके बावजूद भी, हम यदि रह सकते और वर्द्धित हो सकते हैं, यदि मन विगत घटनाओं और अपने निज-स्वरूपकी स्मृति भी संपूर्णतः खो दे सकता है और फिर भी वही व्यक्ति-सत्ता बनी रहती है और खोयी

स्मृतिका एक दिन पुनरुद्धार किया जा सकता है, तो यह स्पष्ट है कि अन्य लोकोंमें संक्रमण और उसके उपरांत नये शरीरमें नया जन्म, यह जो इतना आमूल परिवर्तन होता है, इसमें वहिस्तलीय या मानसिक स्मृतिका सर्वथा विलोपन स्वाभाविक है, और फिर भी इससे जीवके निज-स्वरूपका या प्रकृतिके वर्द्धनका विलोपन नहीं होता। वहिस्तलीय मानसिक स्मृतिका यह विलोपन तब और भी निश्चित तथा सर्वथा अनिवार्य हो जाता है जबकि उसी जीवका एक नया व्यक्तित्व आता हो और अभिनव उपकरण, एक नया मन, नया प्राण, नया शरीर, पुरानोंका स्थान लेते हों: नये मस्तिष्कसे यह आशा नहीं की जा सकती कि पुराने मस्तिष्कने जिन प्रतिमाओंको धारण कर रखा था उनको वह अपने अन्दर वहन किये रहे; नये प्राण और मनसे यह माँग नहीं की जा सकती कि जो पुराने मन और प्राण विघटित किये जा चुके हैं और अब अस्तित्वमें नही हैं उनकी मिट चुकी छापोंको वे बनाये रखें। निस्संदेह, अवगूढ़ पुरुष तो स्मरण रख सकता है, क्योंकि उसे वहिस्तलकी अक्षमताओंका बंधन नहीं रहता; परन्तु वहिस्तलीय मन अवगूढ़ स्मृतिसे वियुक्त रहता है जबकि केवल अवगूढ़ स्मृति ही विगत जीवनोंकी कोई स्पष्ट स्मृति या स्पष्ट छाप बचाये रख सकती है। यह वियुक्ति इसलिये आवश्यक है कि जो अन्तरमें है उससे कोई सचेतन प्रसंग न रखकर ही वहिस्तलपर नये व्यक्तित्वका निर्माण करना होता है; हमारी बाह्य सत्ताके सारे शेष भागके साथ जैसा होता है, हमारा वहिस्तलीय व्यक्तित्व भी वास्तवमें एक अन्तरमेंसे होती क्रियासे रचित होता है, परन्तु उस क्रियाके प्रति वह सचेतन नहीं है, वह अपने-आपको स्वयं-रचित, या बना-बनाया, या विश्वप्रकृतिकी किसी ठीकसे न समझी गयी क्रिया द्वारा रचित लगता है। और फिर भी, इन लगभग अलंध्य विघ्नोंके बावजूद भी विगत जन्मोंकी आंशिक स्मृतियाँ कभी-कभी रह जाती हैं; बहुत थोड़े-से ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें बालकालमें मनमें विस्मयकारी रूपसे सही और पूरी स्मृति रही है। अन्तमें, सत्ताके विकासकी एक विशेष भूमिकामें, जब आन्तरिक स्मृति बाह्यपर अधिकार जमाना और सामनेके भागमें आना आरम्भ करती है, विगत जीवनकी स्मृति वस्तुतः कभी-कभी इस तरह उन्मज्जित होना आरम्भ करती है मानों किसी निमज्जित परतमेंसे निकल रही हो, परन्तु वह स्मृति घटना और परिस्थितियोंके किसी ठीक-ठीक और सही-सही ब्योरेकी अपेक्षा वर्तमान

जीवनमें सत्ताके निर्माणमें प्रभावकारी रहते विगत व्यक्तित्वोंके उपादान और बलका बोध होनेके रूपमें अधिक सहजतासे आती है। यद्यपि घटना और परिस्थितिकी ब्योरेवार स्मृति भी एकाग्रताके द्वारा अवगूढ़ दृष्टिसे, किसी गुप्त स्मृतिसे या हमारी आन्तरिक चिन्मयी-धातुसे, खंडोंमें आवर्तित हो सकती है या पुनः प्राप्त की जा सकती है, तथापि इस ब्योरेवार स्मृतिका प्रकृतिके लिये उसकी सामान्य क्रियाधारामें गौण महत्त्व होता है और प्रकृति उस स्मृतिके लिये अल्प प्रबन्ध रखती है या कुछ भी नहीं रखती: वह सत्ताके भावी विकासको गढ़नेसे ही संबंध रखती है; अतीतको पीछेकी ओर कर दिया जाता, पर्देके पीछे रख दिया जाता और केवल वर्तमान तथा भविष्यके लिये सामग्रीके गुह्य भंडारके रूपमें उपयोगमें लाया जाता है।

'व्यक्ति' और 'व्यक्तित्व' की यह धारणा यदि स्वीकार कर ली जाती है तो इससे अन्तरात्माके अमरत्वके बारेमें हमारे प्रचलित विचारोंमें भी साथ ही साथ परिवर्तन आयगा; कारण, जब हम अन्तरात्माके अस्तित्वकी अमरताका आग्रह करते हैं तब सामान्यतया हमारा अभिप्राय मृत्युके बाद एक ऐसे निश्चित अपरिवर्तनशील व्यक्तित्वकी उत्तरजीवितासे होता है जो वहीका वही था और अनन्त काल वहीका वही रहेगा। किन्तु यह तो वही अपूर्ण, क्षणिक और बहिस्तलीय "मैं" होता है जिसे प्रकृति स्पष्टतया एक अस्थायी रूप मात्र और संरक्षणके लिए अयोग्य मानती है, परन्तु जिसके लिये हम उत्तरजीवन तथा अमरत्वके इस अति महान् अधिकारकी माँग करते हैं। परन्तु यह माँग अतिशय है और स्वीकार नहीं की जा सकती; क्षणिक "मैं" उत्तरजीवनका अधिकारी केवल तभी हो सकता है जबकि वह परिवर्तित होना, अपना आपा नहीं रहकर बल्कि अन्य कुछ, महत्तर, श्रेष्ठतर होना, अधिक ज्ञान-तेजोमय होना, शाश्वत आन्तरिक सौन्दर्यकी प्रतिमामें अधिक ढल जाना, निगूढ़ 'अध्यात्म-पुरुष' के दिव्यत्वकी ओर अधिकाधिक प्रगतिशील होना स्वीकार कर ले। हमारे अन्दरका वही निगूढ़ 'अध्यात्म-पुरुष' या 'आत्मा'का दिव्यत्व ही अविनाशी है, क्योंकि वह अज और शाश्वत है। उसकी प्रतिनिधि, अन्दरकी चैत्य सत्ता, हमारे अन्दरका आध्यात्मिक व्यक्ति, वह 'व्यक्ति' या पुरुष है जो कि हम हैं; परन्तु वर्तमान क्षणका "मैं", वर्तमान जीवनका "मैं" इस आन्तरिक 'व्यक्ति'का एक रूपायण, एक अस्थायी व्यक्तित्व मात्र है: वह हमारे क्रमवैकासिक परिवर्तनके बहुत सारे डगोंमेंसे एक

डग है, और उसका सच्चा उद्देश्य केवल तब पूरा होता है जब हम उससे आगे बढ़कर एक आगेके डगकी ओर जाते हैं जो चेतना तथा सत्ताकी एक उच्चतर कोटिके समीपतर ले जाता हो। आन्तरिक 'व्यक्ति' जैसे जन्मसे पहले भी अस्तित्वमें रहता है, वैसे ही मृत्युके बाद भी वही उत्तरजीवी होता है; कारण, यह सतत उत्तरजीविता हमारी कालातीत 'अध्यात्म-सत्ता'की नित्यताका कालकी अभिधाओंमें व्यक्त होना है।

हमारी उत्तरजीविताकी माँग सामान्यतया हमारे मन, हमारे प्राण, यहाँ तक कि हमारे शरीरके लिये भी वैसी ही उत्तरजीविता चाहती है; शरीरके पुनरुज्जीवनका मत इस अन्तिम माँगका साक्षी है,—यही मनुष्यके शरीरकी मृत्युको स्थूल रूपसे जीतनेके लिये किसी अमृत-रस या किसी जादूई, रसायनिक या वैज्ञानिक साधनका आविष्कार करनेके युग-युगके प्रयासकी जड़में भी है। परन्तु यह आकूति केवल तब सफल हो सकती है जबकि मन, प्राण या शरीर अन्तर्वासी 'अध्यात्म-पुरुष'के अमरत्व और दिव्यत्वका कुछ सत्त्व धारण कर सकें। कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनमें आन्तरिक मनोमय पुरुषके प्रतिनिधि बाह्य मनोमय व्यक्तित्वका उत्तरजीवन सम्भव हो सकेगा। ऐसा तब हो सकता है यदि हमारा मनोमय पुरुष बहिस्तलपर इतने सबल रूपसे व्यक्तित्व-संपन्न हो जाय और आन्तरिक मन तथा आन्तरिक मनोमय पुरुषके साथ इतना एक हो जाय और साथ ही 'अनन्त'की प्रगतिशील क्रियाकी ओर इतने नमनीय रूपसे उन्मीलित हो जाय कि अन्तरात्माको प्रगतिके लिये मनके प्राचीन रूपके विघटन और नयेके सृजनकी आवश्यकता न रह जाय। सतहपर प्राण-पुरुषकी उसी तरहकी व्यक्तित्व-संपन्नता, समाकलन और उन्मीलन होनेसे ही हमारे प्राण-अंगका, आन्तरिक प्राण-सत्ता, प्राण-पुरुषके प्रतिनिधि बाह्य प्राणिक व्यक्तित्वका उत्तरजीवन सम्भव होगा। तब वस्तुतः यह होगा कि आन्तर आत्मा और बाह्य मनुष्यके बीचकी दीवार टूट गयी होगी, और चिरस्थायी मनोमय और प्राणमय पुरुष, जो कि अमर चैत्य पुरुषके मनोमय और प्राणमय प्रतिनिधि हैं, जीवनपर अन्दरसे शासन करेंगे। तब हमारी मनःप्रकृति और प्राण-प्रकृति केवल ऐसे आनुक्रमिक रूपायणोंकी समष्टि न रहकर जिनके केवल सारतत्त्वका संरक्षण किया जाता हो, अन्तरात्माकी एक सतत प्रगतिशील अभिव्यक्ति होंगी। तब हमारा मनोमय व्यक्तित्व और प्राणमय व्यक्तित्व विघटित हुए बिना

जन्म-जन्मान्तरमें टिके रहेंगे; इस अर्थमें वे अमर होंगे, उनकी उत्तर-जीविता निरवच्छिन्न होगी, उनका निज-स्वरूपका बोध अटूट रहेगा। यह, स्पष्ट ही, निश्चेतनापर और प्रकृतिकी सीमाओंपर अन्तरात्मा, मन तथा प्राणकी बहुत महती विजय होगी।

परन्तु ऐसा उत्तरजीवन केवल सूक्ष्म शरीरमें टिक सकेगा; जीवको अपने स्थूल रूपका फिर भी परित्याग करना होगा, अन्य लोकोंमें जाना और अपनी वापसीमें नया शरीर धारण करना होगा। सूक्ष्म शरीरके मनोमय कोष और प्राणमय कोषका सामान्यतः परित्याग कर दिया जाता है, किन्तु जागृत मनोमय पुरुष और प्राण-पुरुष उन्हें संरक्षित रखेंगे, नये जन्ममें उनके साथ वापस आयँगे और अतीतसे निर्मित और वर्तमान तथा भविष्यमें वितत मन तथा प्राणकी एक चिरस्थायी सत्ताका स्पष्ट और अविच्छिन्न बोध रखेंगे, परन्तु स्थूल शरीर, जो कि भौतिक जीवनका आधार है, इस परिवर्तनसे भी संरक्षित नही रह सकेगा। शारीरिक सत्ता तो केवल तब टिकी रह सकती है जब कि ह्रास और विघटनके स्थूल कारणोंको किसी साधनसे जीता जा सके[3] और साथ ही उसकी संरचना और क्रियाको इतना नमनीय और प्रगतिशील किया जा सके कि आन्तरिक पुरुषकी प्रगति उससे जिस किसी भी परिवर्तनकी माँग करे वह उसके अनुकूल हो सके; उसे इस योग्य होना ही होगा कि वह अन्तरात्माके स्वाभिव्यंजक व्यक्तित्वके रूपायणमें उसके एक निगूढ़ आध्यात्मिक दिव्यत्वके लम्बे उन्मेषमें और मनोमय जीवनके दिव्य मनोमय या आध्यात्मिक जीवनकी ओर मन्द रूपान्तरमें अन्तरात्माका साथ दे सके। इस अमरत्व-त्रिपुटीकी सिद्धि,—'अध्यात्म-सत्ता'की

---

3 विज्ञान,—भौतिक विज्ञान या गुह्य विज्ञान—यदि शरीरके अनिश्चितकालीन जीवन-रक्षणके लिये आवश्यक अवस्थाओं या साधनोंका आविष्कार भी कर ले, तो भी, यदि शरीर अपने-आपको इस रूपमें अनुकूलित न कर सके कि वह आन्तरिक विकासके लिये अभिव्यक्तिका उपयुक्त उपकरण हो जाय, तो अन्तरात्मा उसे त्याग देने और किसी नये शरीरमें चले जानेका कोई मार्ग निकाल लेगा। मृत्युके भौतिक या स्थूल कारण ही उसके एकमात्र या सच्चे कारण नहीं होते; उसका सच्चा अंतरतम कारण एक नयी सत्ताके क्रमविकासके लिये आध्यात्मिक आवश्यकता है।

स्वरूपसिद्ध अमरताको और मृत्युके वादकी चैत्य उत्तरजीविताको संपूरित करती प्रकृतिकी अमरता,—पुनर्जन्मकी अन्तिम परिणति और जड़के राज्यकी नीव तकमें निश्चेतना तथा अज्ञानपर विजय-प्राप्तिकी महत्वपूर्ण सूचना हो सकती है। परन्तु सच्ची अमरता फिर भी अध्यात्म-सत्ताकी नित्यता होगी; शारीरिक उत्तरजीविता केवल सापेक्षिक हो सकेगी, इच्छा-मृत्यु हो सकेगी, वह इहलोकमें मृत्यु और जड़पर अध्यात्म-सत्ताकी विजयका कालिक चिह्न होगी।

अध्याय तेईस

मनुष्य और क्रमविकास

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः. . . साक्षी चेता केवलः. . . ॥
एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।

वह एक देव, सकल भूतोंमें निगूढ, सर्वव्यापी, सकल भूतोंका अन्तरात्मा, सकल कर्मका अध्यक्ष, साक्षी, चेतन ज्ञाता तथा केवल. . . .॥ प्रकृतिके प्रति निष्क्रिय रहनेवाले बहुको वशमें रखनेवाला वह 'एक' एक ही बीजको अनेक प्रकारसे रूपायित करता है।

—श्वेताश्वतरोपनिषद
VI. 11, 12

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन् अस्मिन्क्षेत्रे संचरत्येष देवः।
... ... योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः।
यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्यः।
... ... गुणांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः॥

वह देव, वस्तुओंके प्रत्येक जालको अलग-अलग नाना प्रकारसे परिवर्तित करता हुआ, इस क्षेत्रमें संचरण करता है। . . .वह 'एक' ही सकल योनियों और स्वभावोंका अध्यक्ष है, वह स्वयं ही विश्वयोनि है, वह वह है जो सत्ताके स्वभावको परिपक्व करता है और जिन-जिनको परिपक्व करना है उन सबको उनका विकास-फल देनेवाला और उनकी क्रियाओंके सारे गुणोंका विनियोग करनेवाला वही है।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्
V. 3-5

एकं रूपं बहुधा यः करोति।

वह एक ही रूपको बहुधा रूपायित करते हैं।

—कठोपनिषद्
II. 2. 12

क इमं वो निण्यमा चिकेत वत्सो मातॄर्जनयत स्वधाभिः।
बह्वीनां गर्भो अपसामुपस्थान्महान् कविर्निश्चरति स्वधावान्॥
आविष्टयो वर्धते चारुरासु जिह्मानामूर्ध्वः स्वयशा उपस्थे।...

इस गुह्य ज्ञानका दर्शन किसने किया है कि वत्स ही माताओंको स्वधाकी क्रियाओंसे जन्म देता है? अनेक 'जलधाराओं' (अपसाम्) के क्रोड़से उत्पन्न वह शिशु अपनी प्रकृतिके समग्र विधानसे युक्त (स्वधावान्) होकर उनमेंसे प्रकट होता है। अभिव्यक्त होकर वह उनकी कुटिल-ताओंकी क्रोड़में वर्द्धित होता है और उच्च, चारु तथा महिमावान् हो जाता है।

—ऋग्वेद
I. 95. 4. 5

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमय।
असत्से सत्की ओर, तमसे ज्योतिकी ओर, मृत्युसे अमृतकी ओर।
—बृहदारण्यकोपनिषद्
I. 3. 28

अतः एक आध्यात्मिक क्रमविकास, चेतनाका एक सतत विकसनशील आत्म-रूपायणमें जड़के अन्दर क्रमविकास जिससे वाह्य काया अंतःस्थ 'अध्यात्म-सत्ता को उद्भासित कर सके, यही पार्थिव जीवनका मूल सूत्र, मर्मगत सार्थक उद्देश्य है। आरम्भमें यह अर्थ अध्यात्म-सत्ताके, दिव्य सद्वस्तुके, एक घनी जड़ निश्चेतनामें संवृत होनेसे प्रच्छन्न रहता है; निश्चेतनाका एक आवरण, जड़की असंवेदनशीलताका एक आवरण अपने अन्दर कार्य करती विश्वव्यापी चेतना-शक्तिको छिपाये रखता है, फलतः 'ऊर्जा', जो कि भौतिक विश्वमें सृष्टि-शक्ति द्वारा धारण किया गया प्रथम रूप होती है, स्वयं ही निश्चेतन लगती है और फिर भी एक विशाल गुह्य प्रज्ञाके कार्य करती है। निस्संदेह वह दुर्ज्ञेय रहस्य-मयी स्रष्ट्री अन्तमें प्रच्छन्न चेतनाको उसके सघन और अन्धकारमय वंदीगृहमेंसे मुक्त करती है; परन्तु उसे वह ऊर्जा और रूपधातुकी, प्राणकी, मनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बूंदोंमें, कृश धाराओंमें, स्पन्दनशील लघु संहत कणोंमें, धीमे-धीमे, अल्प-अल्प करके मुक्त करती है, मानों अस्तित्वके निश्चेतन उपादानके घने विघ्नमेंसे, उसकी मलिन अनिच्छुक माध्यमतामेंसे वह बस उतना ही निकाल सकती हो। प्रारम्भमें वह जड़के उन रूपोंमें घर करती है जो सर्वथा अचेतन लगते हैं, फिर जीवन्त जड़के

छद्मवेशमें मानसताकी ओर प्रयास करती है और सचेतन पशुमें उसे अपूर्ण रूपसे प्राप्त करती है। यह चेतना पहले आरम्भिक अवस्थामें होती है, अधिकांशतः अर्ध-अवचेतन या बस चेतन हो पायी सहजप्रवृत्ति होती है; यह धीरे-धीरे वर्द्धित होती है, सजीव जड़के अधिक संगठित रूपोंमेंसे बढ़ती हुई अन्तमें मनुष्यमें अपने बुद्धि-रूपी उत्कर्षपर पहुँचती और अपना अतिक्रमण करती है। मनुष्य विचारशील पशु है; वह विवेकशील मनोमय जीवके रूपमें विकसित होता है परन्तु, अपने उच्चतम शिखरपर भी, आद्य पशुत्वके साँचेको, शरीरकी अवचेतनाके दुर्भारको, आद्य 'तमस्' तथा 'निर्ज्ञान'की ओरके अधोमुखी गुरुत्वाकर्षक खिचावको, अपने सचेतन क्रमविकासपर निश्चेतन जड प्रकृतिके नियंत्रणको, उसकी सीमाकारिणी शक्तिको, उसके दुष्कर विकासके धर्मको, उसकी गतिरोध और विफलीकरणकी अति विशाल शक्तिको अपने साथ लिये चलता है। आद्या निश्चेतनाका अपनेमेंसे उन्मज्जित होती चेतनापर यह नियंत्रण ऐसी मानसताका सामान्य आकार लेता है जो ज्ञानकी ओर सचेष्ट है, किन्तु स्वयं तो, अपने मूलभूत लगनेवाले स्वरूपमें, अज्ञान ही है। बाधा और भारसे इस प्रकार आक्रान्त होकर भी मनोमय मनुष्यको अपने अन्दरसे सम्पूर्णतः सचेतन पुरुषको, दिव्य मानवत्व या एक आध्यात्मिक और अतिमानसिक अतिमानवत्वको विकसित करना होगा जिसे क्रमविकासकी आगामी उत्पत्ति होना है। वह संक्रमण अज्ञानमें होते क्रमविकाससे चलकर ज्ञानमें होते एक महत्तर क्रमविकासकी ओर गमन होगा जो अज्ञान तथा निश्चेतनाके अन्धकारको छोड़कर अतिचेतनकी ज्योतिमें अधिष्ठित और अग्रसर होता जायगा।

जड़से मनकी ओर, फिर मनसे भी आगे,—प्रकृतिके इस पार्थिव क्रमविकास-सम्पादनकी प्रक्रिया द्विविध है। एक तो शारीरिक क्रमविकासकी बाह्य दृश्य प्रक्रिया है जिसका यंत्र जन्म है,—कारण, प्रत्येक विकासित शारीरिक रूपको, जो कि चेतनाकी अपनी-अपनी विकासित शक्तिका आवास होता है, वंशपरम्परा द्वारा संरक्षित और अविच्छिन्न रखा जाता है; साथ ही, आन्तरात्मिक क्रमविकासकी एक अदृश्य प्रक्रिया है जिसका यंत्र रूप और चेतनाकी ऊपर उठती श्रेणियोंमें होनेवाला पुनर्जन्म है। पहली प्रक्रियाको अकेली देखें तो उसका अर्थ केवल एक वैश्व क्रमविकास होगा; कारण, व्यक्ति एक शीघ्र ही नष्ट होनेवाला उपकरण होगा, और जाति ही, एक अधिक स्थायी समष्टि-रूपायण ही, विश्वान्तर्यामीको,

विश्वात्माकी प्रगतिशील अभिव्यक्तिमें यथार्थ डग होगा: पृथ्वी-जीवनमें व्यष्टि-सत्ताके किसी भी दीर्घकालीन जीवन और क्रमविकासके लिये पुनर्जन्म एक अपरिहार्य अवस्था है। पुनर्जन्म विश्वाभिव्यक्तिकी प्रत्येक श्रेणीको, अन्तर्वासी अध्यात्म-पुरुषका आवास हो सकनेवाले प्रत्येक रूप-प्रकारको व्यष्टि-अन्तरात्माका, चैत्य पुरुषका एक साधन बना देता है जिससे वह अपनी गुहाशायी चेतनाको अधिकाधिक व्यक्त कर सके; प्रत्येक जीवन जड़पर विजय-प्राप्तिमें एक-एक डग हो जाता है और इसका सम्पादन उसमें चेतनाकी अधिकाधिक प्रगति होनेसे होता है जिसके अन्तमें जड़तत्त्व भी अध्यात्म-पुरुषकी परिपूर्ण अभिव्यक्तिके लिये साधन बन जायगा।

परन्तु पार्थिव सृष्टिकी प्रक्रिया और अर्थके इस विवरणके प्रत्येक स्थलपर स्वयं मनुष्यके मन द्वारा आपत्ति उठायी जानेकी सम्भावना रहती है; कारण, क्रमविकास अपनी यात्रामें अभी भी आधी राह ही आया है, अभी भी अज्ञानमें है, अपने लक्ष्य और सार्थक्यकी खोज अभी भी एक अर्ध-विकसित मानवजातिके मनमें कर रहा है। क्रमविकासके सिद्धान्तके विरुद्ध यह कहकर आपत्ति उठायी जा सकती है कि उसकी भित्ति अपर्याप्त है और वह पार्थिव जीवनकी प्रक्रियाकी व्याख्याके रूपमें अनावश्यक है। क्रमविकासको यदि मान भी लिया जाय, तो भी इस संशयके लिये अवकाश रहता है कि एक उच्चतर क्रमवैकासिक जीवके रूपमें विकसित होनेकी क्षमता मनुष्यमें है या नहीं। यह संशय करनेका भी अवकाश रहता है कि क्रमविकास जहाँतक पहुँच गया है उससे आगे उसके जानेकी सम्भावना है या नहीं, पार्थिव प्रकृतिके मूलभूत अज्ञानमें अतिमानसिक क्रमविकास, संसिद्ध ऋत-चित्‌का, ज्ञान-पुरुषका आविर्भाव सम्भाव्य है भी या नहीं। यहाँकी अभिव्यक्तिमें 'अध्यात्म-पुरुष'के जो क्रियाकलाप हो रहे हैं उनकी एक अन्य व्याख्या दी जा सकती है जो न तो क्रमविकासका सिद्धान्त अपनाती हो, न यह कि अभिव्यक्तिका कोई उद्देश्य है; यह अच्छा होगा कि आगे बढ़नेसे पहले हम ऐसी व्याख्याको सम्भव बनानेवाली विचारधाराका संक्षेपमें निरूपण करें।

माना कि काल-नित्यतामें कालातीत नित्यकी अभिव्यक्ति ही सृष्टि है, माना कि चेतनाके सात स्तर हैं और भौतिक निश्चेतनाको 'अध्यात्म-पुरुष' के पुनरारोहणके आधार-रूपमें रखा गया है, माना कि पुनर्जन्म होता है और पार्थिव व्यवस्थाका अंग है, फिर भी व्यष्टि-सत्ताका आध्या-

त्मिक क्रमविकास इन मान्यताओंमेंसे किसीका भी या सबको मिलाकर भी उनका अनिवार्य परिणाम नहीं होता। पार्थिव जीवनकी आध्यात्मिक अर्थवत्ता और आन्तरिक प्रक्रियाके विषयमें भिन्न दृष्टिकोण अपनाना भी सम्भव रहता है। प्रत्येक सृष्ट वस्तु यदि अभिव्यक्त दिव्य सत्का रूप है तो प्रकृतिमें उसका जो कोई भी रूप, आकार या स्वभाव क्यों न हो, उसमें आध्यात्मिक सत्ताके अंतःस्थ रहनेके कारण, प्रत्येक अपने-आपमें दिव्य होगी। दिव्य सत्को अभिव्यक्तिके प्रत्येक रूपमें अस्तित्वका आनन्द मिलता है और उसके अन्दर परिवर्तन या प्रगतिकी कोई आवश्यकता नहीं। कार्यान्वित सम्भावनाओंका जो कोई भी व्यवस्थित प्रदर्शन या श्रेणी-क्रम अनन्त सत्-पुरुषकी प्रकृतिके कारण आवश्यक होता है, उसका पर्याप्त अवकाश हमारे चारों ओर सर्वत्र दिखायी देते रूपों, चेतनाप्रकारों, प्रकृतियोंके असंख्य वैचित्र्य और प्रपूर्ण बाहुल्यमें रहता है; सृष्टिमें किसी उद्देश्य-प्राप्तिका अभिप्राय नहीं है और हो भी नहीं सकता, कारण, 'अनन्त'के अन्दर सब कुछ विद्यमान है: ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे प्राप्त करनेकी भगवान्को आवश्यकता हो या जो उनके पास नहीं है; यदि सृष्टि और अभिव्यक्ति है, तो यह सृष्टिके, अभिव्यक्तिके आनन्दके लिये है, किसी उद्देश्यके लिये नहीं। अतः किसी ऐसी क्रम-वैकासिकी गतिधाराके होनेका कोई कारण नहीं है जिसका कोई गन्तव्य उत्कर्ष हो या क्रियान्वित और निष्पन्न करनेके लिये कोई लक्ष्य हो या जिसमें अन्तिम पूर्णत्वकी ओर प्रवृत्ति हो।

वास्तवमें हम यह देखते हैं कि सृष्टिके तत्त्व चिरस्थायी और अपरिवर्तनशील हैं: सत्ताका प्रत्येक प्ररूप स्व-निष्ठ रहता है और अपने स्व से भिन्न होनेकी न तो वह चेष्टा करता है, न उसे कोई आवश्यकता ही है; माना कि सत्ताके कुछ प्ररूप विलुप्त हो जाते हैं और अन्य प्ररूप उत्पन्न होते हैं, किन्तु इसका कारण यह है कि विश्वगत चित्-शक्ति विनष्ट होनेवाले प्ररूपोंसे अपने जीवन-आनन्दको वापस ले लेती है और अपने हर्षके लिये दूसरोंकी सृष्टि करनेकी ओर अभिमुख होती है। परन्तु जीवनका प्रत्येक प्ररूप, जबतक वह रहता है, अपना निजी प्रतिमान रखता है और वह उसमें जो कुछ भी हल्के परिवर्तन क्यों न करे, उसी प्रतिमानके प्रति निष्ठावान् रहता है: वह अपनी ही चेतनासे आबद्ध रहता है और उससे निकलकर अन्य-चेतनामें नहीं जा सकता; वह अपनी ही प्रकृतिसे परिसीमित रहता है और इन सीमाओंमें

उल्लंघन करके अन्य-प्रकृतिमें नहीं जा सकता। 'अनन्त'की चित्-शक्तिने यदि जड़को अभिव्यक्त करनेके बाद प्राणको और प्राणको अभिव्यक्त करनेके बाद मनको अभिव्यक्त किया है तो इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि वह अगली पार्थिव सृष्टिके रूपमें अतिमानसको अभिव्यक्त करनेके लिये अग्रसर होगा। कारण, मन और अतिमानस सर्वथा भिन्न-भिन्न गोलार्द्धोंकी वस्तुएँ है, मन अज्ञानमयी निम्नतर स्थितिकी वस्तु है, अतिमानस दिव्य ज्ञानमयी उच्चतर स्थितिकी वस्तु। यह जगत् अज्ञानका जगत् है और इसका वैसा ही होना अभिप्रेत है; परार्द्धकी शक्तियाँ अस्तित्वके अपरार्द्धमें अवतीर्ण हों या वहाँ अपनी प्रच्छन्न उपस्थितिको अभिव्यक्त करें, किसी ऐसे अभिप्रायकी आवश्यकता नहीं; कारण, यदि यहाँ वे अस्तित्ववान् हैं भी, तो एक अवाग्मनसगोचर अन्तर्यामित्वके रूपमे ही, और सृष्टिको केवल बनाये रखनेके लिये ही, न कि उसे पूर्ण बनानेके लिये। मनुष्य इस अज्ञान-सृष्टिका शिखर है; यह सृष्टि चेतना और ज्ञानकी जिस चरम सीमा तक पहुँचनेमें समर्थ है, मनुष्य वहाँ तक पहुँच चुका है: वह यदि आगे जानेका प्रयत्न करता है तो अपनी ही मानसताके विशालतर वृत्तोंमें चक्कर काटेगा। कारण, यहाँ तो उसके जीवनकी गति-रेखा यही है, यह एक सान्त आवर्तन है जो मनको अपनी परिक्रमाओंमें साथ रखता और सदैव उस बिन्दुपर वापस चला आता है जहाँसे उसने आरम्भ किया था; मन अपने ही चक्रमेंसे बाहर नही जा सकता,—ऋजु गतिसे अनन्त ऊर्ध्वायन या तिर्यग्गतिसे अनन्त प्रगतिके द्वारा 'अनन्त'के अन्दर जानेका सारा विचार भ्रान्ति है। मनुष्यके अन्तरात्माको यदि मानवतासे परे जाना है, अतिमानसिक या किसी और भी उच्चतर पदपर पहुँचना है, तो उसे इस विश्व-जीवनसे निकलकर 'आनन्द' एवं 'ज्ञान'की भूमि या लोकमें अथवा अव्यक्त 'शाश्वत' एवं 'अनन्त'में चले जाना होगा।

यह सच है कि विज्ञान अब क्रमविकसनशील पार्थिव जीवनकी पुष्टि करता है: परन्तु विज्ञान जिन तथ्योंसे व्यवहार करता है वे यदि विश्वसनीय हैं, तो साथ ही, वह जिन सामान्य सिद्धान्तोंको खड़े करनेका साहस करता है वे अल्पजीवी होते हैं; वह उन्हें कुछ दशकों या कुछ शताब्दियोंतक रखता है, फिर किसी अन्य सामान्य सिद्धान्तकी ओर, वस्तुओंके दूसरे मतकी ओर चला जाता है। यह भौतिक विज्ञानमें भी होता है जहाँ कि तथ्य ठोस रूपसे निश्चेय और परीक्षण द्वारा प्रमाण्य

होते हैं: मनोविज्ञानमें,—जो कि इस प्रसंगमें उपयुक्त है, कारण, वहाँ चेतनाका क्रमविकास चित्रपटपर प्रवेश करता है,—उसकी अस्थिरता और भी अधिक होती है; वहाँ वह किसी सिद्धान्तके सुप्रतिष्ठित होनेके पूर्व ही दूसरे सिद्धान्तकी ओर चला जाता है; वास्तवमें, कई परस्पर-विरोधी सिद्धान्त मैदानमें एक साथ रहते हैं। इन चंचल चोर-रेतोंपर कोई दृढ़ तत्त्वदार्शनिक इमारत नहीं बनायी जा सकती। वंशानुक्रम, जिसपर विज्ञान अपनी जीवन-क्रमविकासकी धारणा निर्मित करता है, अवश्य ही एक शक्ति है, प्ररूप या जातिको अपरिवर्तित अस्तित्व में रखनेका एक साधन है: यह प्रतिपादन कि वह सतत और प्रगतिशील परिवर्तनका भी उपकरण है बहुत संदिग्ध होता है; उसकी प्रवृत्ति विकासात्मिका न होकर बल्कि संरक्षणात्मिका होती है,—प्राण-शक्ति उसपर जिस नये चरित्रको लादनेका प्रयत्न करती है, उसे वह कठिनाईसे स्वीकार करती लगती है। सारे तथ्य यह दिखाते हैं कि कोई भी प्ररूप अपनी ही प्रकृतिकी विशिष्टताओंके अंतर्गत नाना रूप ले सकता है, परन्तु यह दिखलानेको कुछ भी नहीं है कि वह उससे आगे भी जा सकता है। अभीतक यह यथार्थमें स्थापित नहीं हुआ है कि वानर-प्रकार ही विकसित होकर मनुष्य हो गया; कारण, बल्कि ऐसा लगता है कि वानरसे सादृश्य रखनेवाला कोई ऐसा प्ररूप जो वानरत्वसे नहीं, प्रत्युत सदा ही अपनी स्व-विशिष्टतासे युक्त था, अपनी स्व-प्रकृतिकी प्रवृत्तियोंके अन्तर्गत विकसित हो गया और जिसे हम मनुष्य कहते हैं, वर्तमान मानव-प्राणीके रूपमें जानते है, वैसा बन गया। यह भी स्थापित नहीं हुआ है कि मनुष्यकी अवर जातियोंने ही अपने अन्दरसे श्रेष्ठतर जातियोंको विकसित किया; अवर संगठन और सामर्थ्यवाली जातियाँ विनाशको प्राप्त हो गयीं, परन्तु यह नहीं प्रकट हुआ है कि वे आजकी मानव-जातियोंको अपने वंशजोंके रूपमें पीछे छोड़ गयीं : परन्तु फिर भी, प्ररूपके अन्तर्गत ऐसा विकास कल्पनीय है। प्रकृतिने जड़से प्राणकी ओर, प्राणसे मनकी ओर प्रगति की, यह मान लिया जा सकता है; परन्तु अभी तक इसका कोई प्रमाण नहीं है कि जड़ ही प्राणमें परिणत हो गया या प्राण-ऊर्जा मानस-ऊर्जामें परिणत हो गयी; बस इतना ही माना जा सकता है कि जड़में प्राण व्यक्त हुआ और सप्राण जड़में मन। कारण, इसका कोई पर्याप्त प्रमाण नहीं कि कोई वनस्पति-जाति पशु-सत्तामें परिणत हो गयी या निर्जीव जड़तत्त्वका कोई संगठन विकसित

होकर प्राणवंत जीवाधार बन गया। अब बादमें यदि यह भी आविष्कृत हो कि विशेष रसायनिक या अन्य परिस्थितियोंमें प्राण प्रकट होता है, तो इस संयोगसे इतना ही स्थापित होता है कि कुछ विशिष्ट भौतिक अवस्थाएँ हैं जिनमें प्राण व्यक्त होता है, न कि कुछ विशिष्ट रसायनिक अवस्थाएँ प्राणके उपादान हों, उसके तत्त्व हों या कि निर्जीव जड़-तत्त्वके सजीव जड़तत्त्वमें रूपांतरित होनेका वैकासिक कारण हों। जैसे अन्यत्र है, वैसे ही यहाँ भी, सत्ताकी प्रत्येक श्रेणी अपने-आपमें और अपने-आपसे अस्तित्व रखती है, अपनी ही स्वीय ऊर्जासे अपने ही स्वभावके अनुरूप अभिव्यक्त होती है, और उससे ऊपर या नीचेकी श्रेणियाँ पृथिवी-प्रकृतिके अविच्छिन्न क्रममें कोटियाँ ही हैं, उत्पत्ति-कारण और परिणामिक लड़ियाँ नहीं।

यदि यह पूछा जाय कि तब सृष्टिके इतने सारे वर्ग और प्ररूप अस्तित्वमें आये ही कैसे, तो इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि जड़में उनकी अभिव्यक्ति, मूलभूततः, जड़में निहित चित्-शक्तिसे, अन्तर्वासी 'आत्मा'के विश्वजीवनके लिए अपने स्वकीय सार्थक विग्रहों और प्ररूपोंका निर्माण करते 'सत्-भाव'की शक्तिसे हुई: यद्यपि धाराका एक आधारिक सादृश्य दिखाई दे सकता है, भिन्न-भिन्न श्रेणियों या पर्वोंमें व्यावहारिक या स्थूल पद्धति बहुत भिन्न-भिन्न हो सकती है; सृष्टिशीला शक्ति किसी एक ही प्रक्रियाको नहीं, वरन् बहुत सारी प्रक्रियाओंको व्यवहृत कर सकती या बहुत सारी शक्तियोंको कार्यमें साथ-साथ नियोजित कर सकती है। जड़के अन्दर प्रक्रिया है अमेय ऊर्जासे भरे अत्यणुओंका सृजन, आकृति और संख्याके अनुसार उनका संयोजन, उसी प्राथमिक आधारपर विशालतर अत्यणुओंकी अभिव्यक्ति, उन्हें साथ-साथ करके उनका गोष्ठीकरण और संयोजन जिसपर मिट्टी, जल, खनिज, धातु आदि इन्द्रियगोचर पदार्थोंका, सारे भौतिक जगत्का प्राकट्य आधारित होता है। प्राणमें भी चित्-शक्ति वनस्पति-प्राणके अत्यणु रूपों और जंतुक अत्यणुओंसे आरम्भ करती है; वह एक आदि जीवद्रव्य (Plasm) की सृष्टि करती और उसे बहुगुणित करती है, एक इकाईके रूपमें सजीव कोषकी सृष्टि करती है, बीज या जीन (gene) जैसे सूक्ष्म जैव उपकरणके अन्य प्रकारोंकी सृष्टि करती है, सदा गोष्ठीकरण और संयोजनकी उसी रीतिका व्यवहार करती है जिससे वह विभिन्नताशाली क्रिया द्वारा नाना प्रकारके प्राणवंत जीवाधारोंका निर्माण करती है।

प्ररूपोंका एक सतत सृजन दिखायी देता है, परन्तु वह क्रमविकासका कोई निःसंदिग्ध प्रमाण नही होता। ये प्ररूप कभी एक दूसरेसे दूर होते हैं, कभी बहुत ही सदृश, कभी आधारमें एकसम परन्तु ब्योरोंमें भिन्न; ये सब प्रतिमान होते हैं, और प्रतिमानोंमें यह भिन्नता किन्तु साथ ही सबका एकसम आरम्भिक आधार होना इस बातका चिह्न है कि एक चिन्मयी शक्ति अपने स्वीय 'भाव'के साथ क्रीड़ा कर रही है और उसके द्वारा सृष्टिकी सब प्रकारकी सम्भावनाएँ विकसित कर रही है। पशु-जाति जन्ममें आते समय सबके लिये सदृश आरम्भिक भ्रूणीय या मूलभूत प्रतिमानसे आरम्भ कर सकती है, वह विकासकी कुछ सम-रूपताओंका अनुसरण कुछ दूरीतक उसकी कुछ या सारी रेखाओंपर कर सकती है; ऐसी भी जातियाँ हो सकती हैं जो द्विस्वभावधारी हों, उभयचर हों, दो प्ररूपोंके मध्यकी हों: परन्तु इन सबका यह अर्थ आवश्यक नहीं कि उन प्ररूपोंका विकास किसी क्रमविकासकी धारामें एकमेंसे दूसरेका विकास होते हुए हुआ। नयी विशिष्टताओंके उद्भवके लिये वंशानुगत विभिन्नतासे भिन्न शक्तियाँ सक्रिय रही हैं; एक तो स्थूल शक्तियाँ हैं, भोजन, प्रकाश-किरणें और अन्यान्य, जिन्हें हमने अभी जानना शुरू ही किया है, अवश्य ही ऐसी अन्य शक्तियाँ हैं जिन्हें हम अभी तक नहीं जानते; फिर, अदृश्य प्राण-शक्तियाँ और दुर्ज्ञेय मानसिक शक्तियाँ भी कार्य करती हैं। कारण, भौतिक क्रमविकासके सिद्धान्तमें भी प्राकृतिक निर्वाचनकी व्याख्याके लिये इन अपेक्षाकृत सूक्ष्म शक्तियोंको मानना होगा; यदि कुछ प्ररूपोंमें गुह्य अथवा अवचेतन ऊर्जा पर्यावरणकी आवश्यकताके अनुकूल होती है और अन्य प्ररूपोंमें असंवेदनशील रहती और जीवनमें टिकी रहनेमें अक्षम रहती है, तो यह एक परवर्ती प्राण-ऊर्जा और मनस्तत्त्वका स्पष्ट चिह्न है, ऐसी चेतना और शक्तिका स्पष्ट चिह्न है जो स्थूल चेतना और शक्तिसे भिन्न है और प्रकृतिमें विभिन्नता लानेके लिये कार्य कर रही है। इनकी क्रिया-पद्धतिकी समस्या अभी भी दुर्ज्ञेय और अज्ञात तत्त्वोंसे इतनी अधिक भरी पड़ी है कि अभी जिस किसी मतका निर्माण सम्भव है वह निश्चयात्मक नहीं हो सकता।

जड़गत अभिव्यक्तिमें इस भाँति निर्मित बहुत सारे प्ररूपोंमेंसे एक प्ररूप, बहुसंख्यक प्रतिमानोंमेंसे एक प्रतिमान मनुष्य है। जो कुछ सृष्ट हुआ है उसमें वह सबसे अधिक जटिल है, चेतनाके तत्त्वमें और अपने निर्माणकी विलक्षण विचक्षणतामें वह समृद्धतम है; वह पार्थिव सृष्टिका

शिरोमणि है, परन्तु उसका अतिक्रमण नहीं करता। दूसरोंकी तरह उसका भी अपना स्वभाव, अपना स्वधर्म है; वह उन सीमाओंमें विस्तृत और वर्द्धित हो सकता है, परन्तु उनसे बाहर नहीं जा सकता। यदि कोई पूर्णता है जिस तक उसे पहुँचना है, तो वह पूर्णता उसके अपने ही प्रकारमें, उसके स्वधर्मके अन्तर्गत ही होगी,—उसके अपने प्रकार और स्वधर्मकी परिपूर्ण क्रीड़ा होगी, परन्तु उसकी रीति और मितिको मान्य रखकर होगी, न कि उसका अतिक्रमण करके। अपने-आपका अतिक्रमण, वर्द्धित होकर अतिमानवमें परिणति, देव-स्वरूप और देव-सामर्थ्यका धारण, यह उसके स्वधर्मके विपरीत होगा, अव्यावहारिक और असम्भव होगा। सत्ताके प्रत्येक रूप और रीतिकी सत्ताके आनन्दकी अपनी उपयुक्त रीति होती है; मनोमय जीव मनुष्य मनके द्वारा पर्यावरणपर अधिकार करने, उसका उपयोग और भोग करनेमें समर्थ है, यह उसका उपयुक्त लक्ष्य है: परन्तु इससे भी आगे देखना, जीवनके एक दूरतर लक्ष्य या उद्देश्यका पीछा करना, मनोमयी आकृतिसे आगे बढ़ जानेकी अभीप्सा करना, यह जीवनमें एक उद्देश्यात्मक तत्त्वको ले आना है जो विश्व-निर्माणमें दिखायी नहीं देता। यदि अतिमानसिक पुरुषको पार्थिव सृष्टिमें प्रकट होना है, तो उसे एक नयी और स्वतंत्र अभिव्यक्ति ही होना चाहिए; जैसे प्राण और मन जड़में अभिव्यक्त हुए हैं, ठीक वैसे ही, अवश्य ही, अतिमानसको भी वहाँ अभिव्यक्त होना होगा और अन्तर्गूढ़ चित्-शक्तिको अपनी अन्तःशक्तियोंके इस नये वर्गके लिये आवश्यक प्रतिमानोंकी सृष्टि करनी होगी। किन्तु ऐसे अभिप्रायका प्रकृतिकी क्रियाओंमें कोई चिह्न नही है।

परन्तु यदि कोई श्रेष्ठतर सृष्टि अभिप्रेत है, तो अवश्य ही, नये वर्ग, प्ररूप या प्रतिमानका विकास मनुष्यमेंसे नहीं हो सकता; कारण, तब तो, जैसे जो विलक्षण पशु-प्राणी मनुष्यमें परिणत हो गया उसके अन्दर मानवीय स्वभावके सारतत्त्व पहलेसे ही वर्तमान या शक्यावस्थामें थे, वैसे ही मानव-प्राणियोंकी कोई जाति या वर्ग या प्ररूप होगा जिसके अन्दर अतिमानवका उपादान वर्तमान ही हो: परन्तु ऐसी जाति, वर्ग या प्ररूप है नही; अधिकसे अधिक, केवल अध्यात्मभावापन्न मनोमय जीव हैं जो पार्थिव सृष्टिमेंसे पलायन करना चाह रहे हैं। यदि मनुष्यकी अतिमानसिक जीवमें ऐसी विकास-परिणति प्रकृतिके किसी गुह्य विधानमें अभिप्रेत हो तो ऐसा मानव-जातिके केवल थोड़ेसे लोग ही कर सकते

हैं जो सत्ताके इस नये प्रतिमानका प्रथम आधार बननेके लिये अपने-आपको मानव-जातिसे वियुक्त कर लेंगे। यह अनुमान करनेका कोई कारण नहीं कि सारी जाति यह पूर्णता प्रस्फुटित कर सकेगी; यह मानव-जीवमें सामान्य रूपसे व्याप्त सम्भावना नहीं हो सकती।

मनुष्य यदि प्रकृतिमें वस्तुतः पशुमेंसे विकसित हुआ हो, तो भी, वर्तमानमें हम देखते हैं कि ऐसा और कोई पशु-प्ररूप नहीं है जो अपने-आपसे आगे विकसित होनेका चिह्न प्रदर्शित करता हो; अतः यदि पशु-प्रदेशमें यह क्रमवैकासिक चाप था भी तो यह अवश्य ही मनुष्यके प्राकट्यसे लक्ष्यकी पूर्ति होते ही फिर शांत पड़ गया होगा: वैसे ही, यदि विकासक्रममें एक नये डगके लिये, स्वातिक्रमणके लिये ऐसा कोई चाप है तो अतिमानसिक जीवके प्राकट्यसे लक्ष्यकी पूर्ति होनेके साथ-साथ उसके भी शांत पड़ जानेकी सम्भावना है। परन्तु वस्तुतः ऐसा कोई चाप नहीं है: स्वयं मानव-प्रगतिका विचार भी बहुत सम्भवतया भ्रम है, कारण, इसका कोई लक्षण नहीं मिलता कि मनुष्यने, पशु-भूमिकामेंसे एक बार उन्मज्जित हो चुकनेपर, अपनी जातिके इतिहासमें आमूल प्रगति की हो; अधिकसे अधिक, वह भौतिक जगत्के ज्ञानमें, विज्ञानमें, अपने परिवेशके साथ व्यवहार करनेमें, प्रकृतिके गुह्य नियमोंके निरे बाह्य और उपयोगी व्यवहारमें आगे बढ़ा है। किन्तु अन्य दिशाओंमें वह वैसा ही है जैसा वह सभ्यताके आदि आरम्भकाल में था; वह वे ही सामर्थ्य, वे ही गुण और दोष, वे ही प्रयत्न और बड़ी भूलें, वे ही सफलताएँ और विफलताएँ व्यक्त करता है। यदि प्रगति हुई है तो वृत्ताकार हुई है, अधिकसे अधिक, शायद एक विस्तारशील वृत्तमें हुई है। आजका मनुष्य प्राचीन ऋषियों, मुनियों और मनीषियोंसे अधिक बुद्धिमान् नहीं, पुरातन कालके महान् साधकों, प्रथम महान् रहस्यवेत्ताओंकी अपेक्षा अधिक आध्यात्मिक नहीं, कला और शिल्पमें प्राचीन कलाकारों और शिल्पियोंसे श्रेष्ठतर नहीं; जो प्राचीन जातियाँ विलुप्त हो गयी हैं उन्होंने एक उतनी ही ओजस्विनी और यथार्थ मौलिकता, आविष्कार-प्रवणता, जीवनके साथ व्यवहार करनेकी क्षमता प्रदर्शित की थी, और यदि आधुनिक मनुष्य इस दिशामें थोड़ा आगे बढ़ गया है, तो भी उसने कोई सारगत प्रगति नहीं की है, प्रत्युत उसकी प्रगति मात्रा, विस्तार, बाहुल्यकी दिशामें हुई है, और वह भी इस कारण कि उसे अपने पूर्वजोंकी प्राप्तियाँ विरासतमें मिली थीं। इस विचारका कोई समर्थन नहीं

मिलता कि जो अर्ध-ज्ञान अर्ध-अज्ञान उसकी जातिकी छाप है उससे बाहर निकलनेका रास्ता वह कभी काट निकाल सकेगा या कि यदि वह किसी उच्चतर ज्ञानको विकसित कर ले तो भी कभी मनके वृत्तकी चरम सीमाको तोड़कर उससे बाहर निकल सकेगा।

पुनर्जन्म आध्यात्मिक क्रमविकासका साधन-उपाय है, क्रमविकासको सम्भव करनेवाला तत्त्व है, ऐसा माननेका लोभ होता है और ऐसा मानना अयौक्तिक भी नही है, परन्तु पुनर्जन्मकी वास्तविकताको स्वीकार कर लेनेपर भी यह निश्चित नही होता कि यही उसका तात्पर्य है। पूर्वजन्मके सारे प्राचीन मत उसे जीवका पशुसे मनुष्यमें देहान्तरण, किन्तु साथ ही मनुष्यसे पशुमें भी देहान्तरण मानते थे: भारतीय चिन्तनने उसमें कर्मकी व्याख्या जोड़ दी, यह कि सुकृत्य या दुष्कृत्यका, विगत संकल्प तथा प्रयत्नका प्रतिदान होता है, परन्तु वहाँ इसका कोई संकेत नही था कि एक-एक प्ररूपसे उच्चतर प्ररूपकी ओर प्रगतिशील विकास होता हो, इसका संकेत तो और भी दूरकी बात है कि सत्ताके किसी ऐसे प्रकारमें जन्म हो जो कभी अस्तित्वमें नहीं रहा अपितु जिसे भविष्यमें अभी भी विकसित होना बाकी है। यदि क्रमविकास है तो मनुष्य अन्तिम पर्व है, कारण, मनुष्यके द्वारा पार्थिव अथवा शरीरी जीवनका परिहार हो सकता और यहाँसे निष्क्रमण द्वारा किसी स्वर्ग या निर्वाणकी प्राप्ति हो सकती है। प्राचीन मतोंने इसी अन्तिम लक्ष्यको सामने रखा था, और सारी ही विश्व-सत्ता, यदि स्वरूपतः ही अज्ञानकी अवस्था न भी हो, तो भी, चूंकि यह जगत् मूलतः और अटलतः अज्ञान-जगत् है, अतः यह सम्भावना है कि वह निष्क्रमण ही भवचक्रका सच्चा अन्तिम लक्ष्य होगा।

इस युक्ति-धारामें बहुत बल और गुरुत्व है, और इसका खंडन करनेके लिये इसका कथन, इसके महत्त्वकी तुलनामें अति संक्षेपसे ही सही, आवश्यक था। कारण, यद्यपि इसकी कुछ प्रस्थापनाएँ प्रामाणिक हैं, तथापि इसकी दृष्टि सम्पूर्ण नहीं और प्रामाणिकता सुनिश्चित नहीं। और सबसे पहले हम उस उद्देश्यात्मक तत्त्वके विरुद्ध उठायी जानेवाली आपत्तिसे बहुत कठिनाईके बिना छुटकारा पा सकते हैं जिसका पार्थिव जीवनकी संरचनामें इस विचार द्वारा समावेश होता है कि निश्चेतनासे अतिचेतनाकी ओर एक पूर्वनियत क्रमविकास है, सत्ताओंकी ऊपर उठती

श्रेणियोंका एक प्रगतिक्रम है जिसमें अज्ञानके जीवनसे निकलकर ज्ञानके जीवनमें परमोत्कर्षकारी संक्रमण होता है। विश्वका कोई उद्देश्य है, इसके विरुद्ध दो बहुत ही भिन्न-भिन्न आधारोंपर आपत्ति उठायी जा सकती है,—एक है वैज्ञानिक तर्कणा जो इस मान्यताके आधारपर बढ़ती है कि सब कुछ एक निश्चेतन ऊर्जाका कार्य है जो यांत्रिक प्रक्रियाओं द्वारा स्वचलित रूपसे कार्य करती है और जिसमें उद्देश्यका कोई भी तत्त्व नहीं हो सकता, दूसरी है दार्शनिक तर्कणा जो इस दर्शनके आधार-पर बढ़ती है कि 'अनन्त' और 'विश्वपुरुष' में सब कुछ पहलेसे विद्यमान ही रहता है, उसके लिये ऐसा कुछ भी असम्पादित नहीं जिसे सम्पादित करना हो, ऐसा कुछ भी नहीं जिसे अपने साथ जोड़ना हो, कार्यान्वित करना, उपलब्ध करना हो, और फलतः उसमें प्रगतिका कोई तत्त्व नहीं हो सकता, कोई आद्य या उन्मेषशील उद्देश्य नहीं हो सकता।

जड़में प्रतीयमान रूपसे निश्चेतन रहती ऊर्जाके अन्दर या पीछे यदि कोई निगूढ़ चेतना है तो वैज्ञानिक या जड़वादी आपत्तिकी प्रामाणिकता नहीं बनी रह सकती। निश्चेतनके अन्दर भी, अन्ततः, एक अन्तर्निहित आवश्यकताकी प्रेरणा जान पड़ती है जो रूपोंका क्रमविकास उत्पन्न करती है और रूपोंके अन्दर एक विकसनशील चेतना जान पड़ती है, और यह भली भाँति माना जा सकता है कि यह प्रेरणा एक अन्तर्गूढ़ चिन्मय पुरुषकी क्रमवैकासिकी इच्छा है और प्रगतिशील अभिव्यक्तिके लिये उसका प्रवेग क्रमविकासके अन्दर एक अन्तर्जात अभिप्रायका प्रमाण है। यह एक उद्देश्यात्मक तत्त्व है और इसे स्वीकार करना अयौक्तिक नहीं होता: कारण, चेतन प्रयत्नका उद्भव, निश्चेतन प्रयत्नका उद्भव भी, चेतन सत्ताके किसी ऐसे सत्यसे होता है जो सक्रिय हो गया हो और जड़ प्रकृतिकी किसी स्वचलित प्रक्रियामें अपनी पूर्तिके लिये चल पड़ा हो; उस प्रयत्नमें उद्देश्यका, अभिप्रायका जो तत्त्व है वह 'सत्-पुरुष'के स्वतः-क्रियाकारी सत्यका उस 'सत्-पुरुष'की स्वतः-प्रभाविनी 'इच्छा-शक्ति'की अभिधाओंमें अनुवाद होता है, और यदि वहाँ चेतना विद्यमान हो, तो ऐसी 'इच्छा-शक्ति' भी वहाँ होनी ही चाहिए और वह अनुवाद स्वाभाविक तथा अनिवार्य होता है। 'सत्ता'का 'सत्य' जो कि अपनी अनिवार्य पूर्ति कर रहा है, क्रमविकासका मूलभूत तथ्य होगा, परन्तु वहाँ 'इच्छा' और उसका उद्देश्य भी साधनविनियोगके अंग-रूपमें, क्रियाकारी सिद्धान्तके किसी तत्त्वके रूपमें होने ही चाहिये।

दार्शनिक आपत्तिका गुरुत्व अधिक है; कारण, यह स्वतः-सिद्ध लगता है कि 'निर्विशेष'का अभिव्यक्तिमें अभिव्यक्तिके ही आनन्दके अतिरिक्त और कोई उद्देश्य नहीं हो सकता: जड़-तत्त्वमें चलनेवाली क्रम-विकासकी गतिधारा भी, अवश्य ही, अभिव्यक्तिके अंगके रूपमें, इस व्यापक उक्तिके अन्तर्गत आ जायगी; वह गतिधारा भी उन्मेषके, प्रगतिशील क्रियान्वयनके, लक्ष्यहीन क्रमिक आत्म-प्राकट्यके आनन्दके लिए ही वहाँ हो सकती है। वैश्व समग्रता भी एक अपने-आपमें सम्पूर्ण वस्तु मानी जा सकती है; एक समग्रके रूपमें उसे न तो कुछ प्राप्त करना है, न अपनी सत्ताकी परिपूर्णतामें कुछ जोड़ना ही है। परन्तु यहाँका भौतिक जगत् तो अखंड समग्रता नही है, वह एक सम्पूर्णका अंग है, श्रेणी-विन्यासमें एक श्रेणी है; अतः वह अपने अन्दर उन अविकसित अभौतिक तत्त्वों या शक्तियोंकी विद्यमानताको स्थान दे सकता है जो उस सम्पूर्णकी वस्तुएँ हैं और उसके जड़-तत्त्वमें संवृत हैं; इतना ही नही, वह विश्व-संस्थानकी उच्चतर श्रेणियोंमेंसे उन्हीं शक्तियोंको अपने अन्दर उतर आनेके लिये स्थान दे सकता है जिससे इस लोकमें उनकी सजातीय गतियाँ जड़ परिसीमनकी कठोरतासे विमुक्त हो जायँ। 'सत्'की महत्तर शक्तियोंकी अभिव्यक्ति, जिसके अन्तमें सारी सत्ता जड़ जगत्में एक उच्चतर, एक आध्यात्मिक सृष्टिकी अभिधाओंमें अभिव्यक्त हो जाय, क्रमविकासका उद्देश्य मानी जा सकती है। यह उद्देश्य-भाव कोई ऐसा तत्त्व नहीं समाविष्ट करता जो उस समग्रताकी वस्तु न हो; यह तो बस अंशके अन्दर समग्रताकी उपलब्धिका प्रस्ताव रखता है। वैश्व समग्रताकी अंश-गतिधाराका उद्देश्य—मानव-अर्थमें उद्देश्य नहीं, अपितु एक अन्तर्गूढ़ 'सत्य'की आवश्यकताकी प्रेरणा जो अन्तर्वासी 'अध्यात्म-पुरुष'की इच्छामें चेतन हो,—यदि समग्र गतिधारामें अन्तर्निहित रहनेवाली सारी सम्भावनाओंको अंश-गतिधारामें पूर्णतया अभिव्यक्त करना हो, तो उस अंश-गतिधारामें उद्देश्यात्मक तत्त्वका होना स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति नही हो सकती। निस्संदेह यहाँ सब कुछका अस्तित्व अस्तित्वके आनन्दके लिये ही है, सब कुछ लीला है; परन्तु लीलामें भी तो ऐसा कोई लक्ष्य साथ रहता है जिसे पूरा करना होता है और उस लक्ष्यकी पूर्तिके विना उसका सार्थक्य सम्पूर्ण नहीं होगा। निर्वहणरहित नाटक कलाकारिताकी सम्भावना हो सकता है,—वह केवल पात्रोंको देखनेके आनन्द और ऐसी समस्याओंके आनन्दके लिये हो सकता है जिनका

समाधान नहीं दिया गया हो या समाधानको अनिश्चित तुलामें सदाके लिये लटकते छोड़ दिया गया हो; यह कल्पना की जा सकती है कि पार्थिव क्रमविकासके नाटकका यही स्वरूप हो, परन्तु यह कल्पना भी सम्भव है और अधिक विश्वासोत्पादक रूपसे सम्भव है कि कोई पूर्वनियत निर्वहण उसमें अभिप्रेत अथवा अन्तर्निहित है। आनन्द सकल सत्ताका निगूढ़ तत्त्व और सत्ताकी सकल क्रियाका आधार है: परन्तु जो सत्य सत्तामें अन्तर्निहित है, सत्ताकी 'इच्छा' या 'शक्ति'में अनुस्यूत है, सत्ताके निखिल क्रियाकलापोंकी गतिशील और कार्यकारिणी अभिकर्त्री और उनके अर्थकी ज्ञात्री उसकी चित्-शक्तिकी निगूढ़ आत्मसंवित्‌में धारित है, उस सत्यके कार्यान्वयनमें मिलनेवाले रसका वर्जन तो आनन्द नहीं करता।

आध्यात्मिक क्रमविकासका सिद्धान्त वैज्ञानिकके रूप-विकास और स्थूल प्राण-विकासके सिद्धान्तसे एकसम नहीं है; उसे अपनी ही अन्तर्निहित प्रामाणिकतापर खड़े होना होगा: स्थूल क्रमविकासके वैज्ञानिक विवरणको वह एक अवलम्ब या तत्त्वकी तरह स्वीकार कर सकता है, किन्तु वह अवलम्ब अपरिहार्य नहीं है। वैज्ञानिक सिद्धान्त केवल बाह्य और दृश्य यंत्र और प्रक्रियासे, प्रकृतिके कार्य-सम्पादनके ब्योरेसे, जड़में वस्तुओंके स्थूल विकास और जड़में प्राण तथा मनके विकासके विधानसे सम्बन्ध रखता है; नये आविष्कारके प्रकाशमें उसके प्रक्रिया-विवरणमें बहुत परिवर्तन करना या उसे बिलकुल त्याग देना तक भी आवश्यक हो सकता है, परन्तु इससे आध्यात्मिक क्रमविकासके, चेतनाके क्रमविकासके, भौतिक जीवनमें अन्तरात्माकी अभिव्यक्तिकी प्रगतिके स्पष्ट तथ्यपर कोई असर नहीं पड़ेगा। बाहरसे देखें तो क्रमविकासका सिद्धान्त मोटा-मोटी यह है कि पार्थिव सत्ताके क्रममें रूपोंका, शरीरोंका विकास होता है, जड़-तत्त्वका, जड़में प्राणका, सप्राण जड़में चेतनाका एक प्रगतिशील रूपसे संश्लिष्ट और समर्थ संगठन होता है, और इस क्रममें, रूपाधारका जितना अधिक अच्छा संगठन होता है, उतना ही वह एक अधिक अच्छी तरह संगठित, अधिक संश्लिष्ट और समर्थ, अधिक वर्द्धित या विकसित प्राण एवं चेतनाका आवास बनने योग्य होता है। एक बार क्रमविकासका अभ्युपगम यदि उपस्थित कर दिया जाय और उसके समर्थक तथ्य सुयोजित कर दिये जायँ तो पार्थिव जीवनका यह रूप इतना प्रभावशाली बन जाता है कि निर्विवाद लगने लगता है। इसके सम्पादनका यंत्र-विन्यास ठीक-ठीक क्या है या सत्ताके प्रकारोंकी वंशावली ठीक-ठीक

क्या है या काल-प्रकरणमें उनका अनुक्रम क्या रहा है, यह अपने-आपमें एक मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न होकर भी, यहाँ तो अप्रधान प्रश्न ही है; कम विकसित पूर्ववर्ती रूपमेंसे प्राणके किसी रूपका विकास, प्राकृत निर्वाचन, जीवनके लिये संघर्ष, अर्जित विशिष्टताओंकी उत्तर-जीविता,—इन्हें स्वीकार किया जा सकता है और नहीं भी, परन्तु वस्तुतः क्रमागत सृष्टि होती है जिसमें एक योजना प्रस्फुटित होती है, यही एक निष्कर्ष प्रथम महत्त्वका है। दूसरा स्वतःसिद्ध निष्कर्ष यह है कि क्रमविकासमें एक आवश्यक क्रमिक शृंखला है, पहले जड़का विकास, फिर जड़में प्राणका विकास, इसके बाद सप्राण जड़में मनका विकास, और इस अन्तिम भूमिकामें पशुका विकास, फिर मानव-विकास। अनुक्रमके ये पहले तीन पर्व इतने स्पष्ट हैं कि उनपर विवाद नहीं किया जा सकता। विवाद यह किया जा सकता है कि क्या अनुक्रममें मनुष्य पशुके बाद आया या क्या आरम्भिक विकास साथ-साथ हुआ, किन्तु मनके विकासमे मनुष्य पशुको पार कर गया; यह मत भी व्यक्त किया गया है कि मनुष्य पशु-जातिमें अन्तिम नहीं, अपितु प्रथम और ज्येष्ठ था। मनुष्यकी पूर्ववर्तिताकी यह धारणा प्राचीन है, परन्तु यह सर्व-मान्य नही थी; इस धारणाका जन्म पार्थिव जीवोंके बीच मनुष्यकी स्पष्ट सर्वोच्चताके बोधसे हुआ है और ऐसा लगता है कि इस सर्वोच्चताके गौरवने जन्ममें भी पूर्वकालीन होनेकी माँग की होगी: किन्तु क्रमविकासकी वास्तविकताके अनुसार श्रेष्ठतरका प्रादुर्भाव प्राक्तन नहीं, अपितु उत्तरवर्ती होता है, कम विकसित अधिक विकसितसे पहले आता और उसे तैयार करता है।

वास्तवमें, यह भावना कि जीवनी-शक्तिके निम्नतर रूप पहले आये थे, प्राचीन विचारधारामें पूरी अनुपस्थित नहीं है। सृष्टिके पौराणिक विवरणोंके अतिरिक्त, भारतकी प्राचीन और मध्ययुगीन विचार-धारामें हमें ऐसे कथन मिलते हैं जो कालानुक्रममें मनुष्यसे पहले पशुके आनेकी बातका समर्थन ऐसे अर्थमें करते है जो क्रमविकासकी आधुनिक धारणासे मेल खाता है। एक उपनिषद् यह घोषणा करती है कि प्राण-सृष्टिका निश्चय कर लेनेके बाद परम पुरुष या परमात्माने प्रथमतः गौओं और अश्वों जैसी पशु-जातियोंको रूपायित किया, किन्तु देवताओंने,—जो कि उपनिषदोंके अनुसार चेतनाकी शक्तियाँ और प्रकृतिकी शक्तियाँ हैं,—उन्हें अपर्याप्त आधार पाया, और परम पुरुषने अन्तमें मनुष्यके

रूपकी सृष्टि की जिसकी रचनाको देवताओंने उत्कृष्ट और पर्याप्त पाया और वे अपनी विश्व-क्रियाओंके लिये उसमें प्रवेश कर गये। यह आख्यायिका स्पष्ट ही अधिकाधिक विकसित रूपोंका सृजन होते जानेकी है जिसके अन्तमें एक ऐसा रूप मिल सका जो एक विकसित चेतनाका आयतन होनेमें समर्थ हुआ। पुराणोंमें कहा गया है कि तामसिक पशुकी सृष्टि कालमें प्रथम थी। तमस्‌का अर्थ चेतना और शक्तिकी जड़ताका तत्त्व रहा है: जो चेतना अपनी क्रीड़ामें मन्द, निश्चेष्ट और अक्षम है, वह तामसिक कही जाती है; जो शक्ति, जो प्राण-ऊर्जा अलस है और सीमित सामर्थ्यवाली है, सहजप्रवृत्तिमूलक अन्तर्वेगोंके संकीर्ण प्रदेशसे आवद्ध है, आगे विकसित नहीं होती, आगेकी खोज नहीं करती, विशालतर गतिक क्रिया या अधिक ज्योतिर्मयी सचेतन क्रियाकी ओर प्रेरित नहीं होती, वह भी उसी श्रेणीमें रखी जायगी। पशुमें चेतनाकी यह कम विकसित शक्ति है, वह सृष्टिमें पहले आया है; अधिक विकसित मानव-चेतना, जिसमें क्रियामुख मानस-ऊर्जाकी महत्तर शक्ति है और प्रत्यक्ष वोधकी दीप्ति है, वादकी सृष्टि है। तंत्र कहता है कि स्वधामसे च्युत जीव वनस्पति और पशु-रूपोंके कोटि-कोटि जन्मोंमेंसे निकलकर ही मानव-स्तरतक पहुँच सकता और मुक्तिके लिये प्रस्तुत हो सकता है। इस वातमें भी यह धारणा लक्षित है कि वनस्पति और पशुके प्राण-रूप एक सोपानकी निचली सीढ़ियाँ हैं, मनुष्य चेतन सत्ताका अन्तिम या सर्वोच्च विकास है, वह वह रूप है जिसमें जीवको आध्यात्मिक उद्देश्यके लिये और मन, प्राण तथा शरीरमेंसे आध्यात्मिक परिणाम पानेमें समर्थ होनेके लिये निवास करना होता है। यह धारणा निस्संदेह स्वाभाविक धारणा है, और यह बुद्धि तथा संवोधि दोनोंको इतने वलके साथ जँचती है कि इसपर तर्क करनेकी शायद ही आवश्यकता होती है,—निष्कर्ष लगभग अनिवार्य है।

प्रगतिशील क्रमविकासकी प्रक्रियाकी इस पृष्ठभूमिके सहारे ही हमें मनुष्य, उसकी उत्पत्ति और प्रथम प्रादुर्भाव और अभिव्यक्तिमें उसकी स्थितिका अवलोकन करना है। यहाँ दो सम्भावनाएँ हैं; या तो पृथ्वी-प्रकृतिमें मानवीय शरीर तथा चेतनाका आविर्भाव आकस्मिक था, जड़ जगत्‌में युक्तिशाली मानसताकी सृष्टि अकस्मात् हुई या उसकी अपने-आप स्वतंत्र अभिव्यक्ति हुई जो जड़में अवचेतन प्राण-रूपों और सप्राण चेतन देहोंकी पहलेकी सदृश अभिव्यक्तिके वाद चली आयी, या नहीं

तो, मनुष्यका पशु-सत्तामेंसे विकास हुआ, इस विकासकी तैयारी और इसकी प्रगतिकी भूमिकाएँ शायद मन्थर थीं, परन्तु संक्रमणके निर्णायक स्थलोंपर परिवर्तनकी सवल छलाँगें लगी। इस पिछले सिद्धान्तमें कोई कठिनाई नहीं खड़ी होती: कारण, यह निश्चित है कि यद्यपि मूलभूत प्ररूपके तो नहीं, परन्तु प्ररूपके अन्दरकी विशिष्टताओंके परिवर्तन जाति या उपजातिमें लाये जा सकते हैं,—वास्तवमें, मनुष्य भी ऐसा कर चुका है और परीक्षणात्मक विज्ञान इसकी संभावनाओंको छोटे पैमानेपर आश्चर्यकारी रूपसे सम्पादित कर रहा है,—और यह न्यायतः माना जा सकता है कि प्रकृतिमें रहनेवाली निगूढ़तः सचेतन ऊर्जा अपनी ही सर्जनात्मिका परम्पराओंके सहारे इस प्रकारकी क्रियाएँ बड़े पैमानेपर सम्पादित कर सकी और महत्त्वपूर्ण तथा निश्चायक विकास-घटनाएँ घटित कर सकी। सामान्य पशु-जीवनसे मानवीय प्रकारके जीवनमें परिवर्तनके लिये आवश्यक शर्त यह होगी कि शारीरिक संगठनका ऐसा विकास हुआ हो जो द्रुत प्रगतिकी, चेतनाके परावर्तन या उसके उलट जानेकी, किसी नयी ऊँचाईपर पहुँचने और वहाँसे नीचेकी भूमिकाओंपर दृष्टिपात करनेकी क्षमता लाय, सामर्थ्यका ऐसा उन्नयन और विस्तरण हो कि जीव पुरानी पशु-क्षमताओंको एक विशालतर और अधिक नमनीय वुद्धिके साथ, मानव-बुद्धिके साथ उठा ले सके, और साथ ही साथ, या वादमें, जीवके नये प्ररूपके उपयुक्त महत्तर और सूक्ष्मतर शक्तियाँ, युक्ति, चिन्तन, संश्लिष्ट प्रेक्षण, संगठित नूतन रचना, विचार तथा आविष्कारकी शक्तियाँ विकसित कर सके। यदि कोई उन्मिषन्त चित्-शक्ति है, तो उपकरण प्राप्त रहनेपर, भौतिक निश्चेतनाके अवरोध और प्रतिरोधकी कठिनाईको छोड़कर, संक्रमणमें और कठिनाई नहीं होगी। पशुमें कुछ सदृश गुण सीमित पैमानेपर विद्यमान रहते हैं, परन्तु केवल क्रियाके लिये रहते हैं और उनका संगठन आरम्भिक, सरल और स्थूल रहता है, उनका क्षेत्र और उनकी नमनीयता वहुत अवर रहती है, उस क्षमतापर उसका अधिकार अधिक संकीर्ण और अधिक अनियत रहता है; परन्तु, विशेष करके, इन क्षमताओंकी क्रिया यांत्रिक अधिक और विमृष्ट कम होती है, आरम्भिक चेतनाकी क्रियाको संचालित करती प्रकृति-ऊर्जाकी स्वचलताका गुणधर्म ही वहाँ व्यक्त होता है, न कि जैसा मनुष्यमें होता है, कोई सचेतन ऊर्जा निजकी क्रियाओंका प्रेक्षण और वहुत दूरी तक उनका निर्देशन और शासन और विमृष्ट रूपसे उनमें परिवर्तन या

संशोधन करती हो। पशु-चेतनाके अन्य अभ्यासोंका मनुष्यकी चेतनाके अभ्यासोंसे कोई मौलिक भेद नहीं है; मनुष्यको तो बस उन्हें उच्चतर मनोमय स्तरपर विकसित और वर्द्धित, और जहाँ कहीं सम्भव था, मनोधर्मी, परिमार्जित और सूक्ष्म करना था,—संक्षेपमें, उसे उनमें अपनी नयी समझ और बौद्धिक क्षमताके आलोक और तर्क-बुद्धिमूलक नियंत्रणकी शक्तिको लाना था जबकि यह सब पशुको प्राप्त नहीं था। एक बार जब यह परिवर्तन या परावर्तन सम्पादित हो जाता है तो मानव-मनकी अपने-आप और विषयोंपर क्रियाकी, सृजन, ज्ञान और परिकल्पनाकी शक्तियाँ उसकी क्रमविकास-यात्रामें विकसित होंगी, भले ही, जैसाकि धारणागम्य है, आरम्भमें उनका क्षेत्र छोटा रहा हो, वे पशु-अवस्थाके समीपतर रही हों, उनकी क्रिया अपेक्षाकृत सरल और स्थूल ही रही हो। ऐसा परावर्तन प्रकृतिके प्रत्येक आमूल संक्रमणमें हुआ है: उन्मज्जित होती प्राण-शक्ति जड़की ओर मुड़ती है, जड़ ऊर्जाकी क्रियाओंपर एक प्राणिक तत्त्व आरोपित करती है जबकि साथ ही अपनी स्वीय नयी गतियाँ और क्रियाएँ भी विकसित करती है; प्राण-मन प्राण-शक्ति और जड़में उन्मज्जित होता और अपने चेतना-तत्त्वको उनकी क्रियाओंपर आरोपित करता है, जबकि साथ ही वह अपनी स्वीय क्रिया और क्षमताएँ भी विकसित करता है; एक अभिनव महत्तर उन्मज्जन और परावर्तन, मानवताका उद्भव, प्रकृतिके पूर्वोदाहरणोंके अनुरूप है; यह सामान्य नियमका एक नया प्रयोग होगा।

अतएव, इस सिद्धान्तको स्वीकार करना सहज है: इसका क्रिया-विन्यास बोधगम्य है। परन्तु जो दूसरा अभ्युपगम आकस्मिक आविर्भावका है, वह बहुत सारी कठिनाइयाँ खड़ी करता है। चेतनाकी ओरसे देखें तो उस नयी अभिव्यक्तिकी, मानव-अभिव्यक्तिकी व्याख्या विश्व-प्रकृतिमें संवृत अवस्थामेंसे निगूढ़ चेतनाका उभार कहकर दी जा सकती है। परन्तु तब, उसके उन्मज्जनका वाहन होनेके लिये अवश्य ही कोई भौतिक रूप पहलेसे विद्यमान रहा होगा, उस वाहनको उन्मज्जन-शक्तिने ही एक नयी आन्तरिक सृष्टिकी आवश्यकताओंके अनुकूल बनाया होगा; या नहीं तो, पहलेके स्थूल प्ररूपों या प्रतिमानोंको छोड़कर किसी द्रुत प्रकारान्तरणसे एक नयी सत्ताका आविर्भाव हुआ होगा। परन्तु जो कोई भी अभ्युपगम स्वीकार किया जाय, एक क्रमविकास-प्रक्रिया इसका अर्थ होती ही है,—अन्तर केवल उस प्रकारान्तरण या संक्रमणकी पद्धति

और यंत्रमें होता है। या, इसके विपरीत, ऐसा हो सकता है कि मानसताका नीचेसे उभार न होकर हमारे ऊपरकी किसी मनोभूमिसे अवतरण हुआ हो, पार्थिव प्रकृतिमें शायद अन्तरात्मा या मनोमय पुरुषका अवतरण हुआ हो। कठिनाई तब मानव-शरीरके प्रकट होनेके विषयमें आती है, क्योंकि मानव-शरीर इतना अधिक जटिल और दुष्कर करण है कि उसकी रचना या अभिव्यक्ति अकस्मात् नहीं की जा सकती थी; कारण, प्रक्रियाकी ऐसी चमत्कारिक द्रुतता सत्ताके अतिभौतिक स्तरपर भले ही बिलकुल सम्भव हो, वह भौतिक ऊर्जाकी प्राकृत सम्भावनाओं या शक्यताओंके बीच नहीं दिखायी देती। यहाँ वह केवल तभी घटित हो सकती है यदि प्रकृतिकी कोई अतिभौतिक शक्ति या विधान हस्तक्षेप करे या यदि कोई स्रष्टा 'मन' जड़पर पूरे बलसे और सीधे क्रिया करे। यह स्वीकार किया जा सकता है कि जड़में जो नये आविर्भाव होते हैं उनमें प्रत्येकमें किसी अतिभौतिक शक्ति और किसी स्रष्टाकी क्रिया होती है; वास्तवमें, ऐसा प्रत्येक आविर्भाव एक चमत्कार है जिसे एक निगूढ़ चेतना संचालित करती है और अवगुंठित मानस-ऊर्जा या प्राण-ऊर्जाका अवलम्ब प्राप्त रहता है: परन्तु वह क्रिया कहीं भी अपरोक्ष, स्वयं-पर्याप्त नहीं दिखायी देती; वह सदा ही किसी संसिद्ध हो चुके स्थूल आधारपर ऊपरसे आरोपित होती है और प्रकृतिकी किसी स्थापित प्रक्रियाके विस्तारण द्वारा क्रिया करती है। यह अधिक अनुमेय है कि कोई विद्यमान शरीर एक अतिभौतिक अन्तःस्रावकी ओर उन्मीलित हुआ हो जिससे वह एक नये शरीरमें रूपान्तरित हो गया; परन्तु भौतिक प्रकृतिके विगत इतिहासमें ऐसी घटना घटी हो, यह यों ही नहीं मान लिया जा सकता; ऐसी घटनाके लिये यह आवश्यक लगता है कि या तो किसी अदृश्य मनोमय पुरुषका ऐसे शरीरकी रचनाके लिये सचेतन हस्तक्षेप हुआ हो जिसमें वह निवास करना चाहता था, या फिर, जड़में ही मनोमय पुरुषका पूर्व विकास रहा हो जिसमें अतिभौतिक जड़ातीत शक्तिको ग्रहण करने और उसे अपने भौतिक जीवनके अनम्य और संकीर्ण सूत्रोंपर आरोपित करनेकी क्षमता पहलेसे विद्यमान रही हो। अन्यथा, हमें यही मानना होगा कि कोई पूर्वविद्यमान शरीर पहलेसे ही इतना अधिक विकसित था कि वह एक बृहत् मनोमय अन्तःस्रावको ग्रहण करनेके लिये सक्षम बना था या अपने अन्दर मनोमय पुरुषके अवतरणको आनम्य उत्तर देनेमें समर्थ था। परन्तु तब यह मानना

होगा कि शरीरमें मनका क्रमविकास पहले ही उस विन्दु तक पहुँच गया था जहाँ ऐसी ग्रहणशीलता सम्भव होगी। यह सर्वथा अनुमेय है कि नीचेसे ऐसा क्रमविकास और ऊपरसे ऐसा अवतरण, दोनोंने पृथ्वी-प्रकृतिमें मानवताके आविर्भावमें सहयोग दिया है। पशुमें विद्यमान निगूढ़ चैत्यिक सत्ताने, हो सकता हैं, मनोमय पुरुषको सप्राण जड़के प्रदेशमें उतर आनेके लिये आह्वान किया हो जिससे वह क्रियारत हो चुकी प्राणिक-मानसिक ऊर्जाको ग्रहण कर उच्चतर मानसतामें उन्नीत कर सके। परन्तु यह तब भी क्रमविकासकी प्रक्रिया ही होगी, उच्चतर लोक पार्थिव प्रकृतिमें अपने स्वीय तत्त्वके आविर्भाव और परिवर्द्धनमें केवल सहायता देनेके लिये हस्तक्षेप कर रहा होगा।

इसके बाद यह मान लिया जा सकता है कि शरीरमें चेतना और सत्ताका जो प्रकार या प्रतिमान एक बार स्थापित हो जाता है, उस प्रत्येक प्रकार या प्रतिमानको उसी प्रकारकी सत्ताके धर्मके प्रति, अपनी ही बनत और स्वभावके नियमके प्रति निष्ठावान् रहना होगा। परन्तु यह भी बहुत भली भाँति हो सकता है कि मानव-प्रकारके विधानका एक भाग उसका स्वातिक्रमणकी ओर अन्तर्वेग हो और चेतन संक्रमणका साधन मनुष्यकी आध्यात्मिक शक्तियोंमें प्रस्तुत हो; मनुष्यका ऐसे सामर्थ्यसे युक्त होना उस योजनाका अंग हो सकता है जिसके अनुसार सृष्टिशीला ऊर्जाने मनुष्यको बनाया है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि मनुष्यने अबतक प्रमुखतः जो किया है वह अपने स्वभावके वृत्तके अन्तर्गत ही, प्रकृति-गतिकी कभी उतरती, कभी चढ़ती, सर्पिल रेखापर चलते हुए ही क्रिया करना रहा है,—प्रगतिकी कोई सीधी रेखा नहीं रही है, उसने अपने भूतकालके स्वभावका कोई निर्विवाद, आधारगत या मूलगत अतिक्रमण नहीं किया है: उसने तो बस अपनी क्षमताओंको तीक्ष्ण और सूक्ष्म किया है और उनका अधिकाधिक संश्लिष्ट तथा नमनीय उपयोग किया है। यह सत्यतः नहीं कहा जा सकता कि मनुष्यका जबसे आविर्भाव हुआ है तबसे आजतक, अथवा उसके हालके निर्देश्य इतिहास-कालको ही लें तो उसमें, मानव-प्रगति जैसी कोई चीज नहीं हुई; कारण, प्राचीन पुरुष कितने ही महान् क्यों न रहे हों, उनकी कुछ उपलब्धियाँ और रचनाएँ कितनी ही उत्तुंग क्यों न रही हों, उनकी आध्यात्मिकता, बुद्धि या चरित्रकी शक्तियाँ कितनी ही हृदयस्पर्शिनी क्यों न रही हों, बादकी विकासधारामें मनुष्यकी उपलब्धियोंमें, उसकी

राजनीतिमें, समाज, जीवन, विज्ञान, तत्त्वदर्शनमें, सब प्रकारके ज्ञानमें, कला और साहित्यमें, एक वर्द्धमान सूक्ष्मता और संश्लिष्टता रही है, ज्ञान और सम्भावनाका बहुविध विकास रहा है; उसके आध्यात्मिक प्रयासमें भी, जो कि प्राचीन पुरुषोंके प्रयासकी तुलनामें अध्यात्म-शक्तिमें कम विस्मयकारी रूपसे उत्तुंग और कम विराट् है, यह वर्द्धमान सूक्ष्मता, नमनीयता, गहराइयोंका अवगाहन, खोजका विस्तरण रहे हैं। संस्कृतिके उच्च प्ररूपसे पतन हुए हैं, कुछ अवधिके लिये एक विशेष ज्ञान-विरोधमें स्पष्ट उतार हुआ है, आध्यात्मिक प्रेरणामें विराम आये हैं, वर्वर प्राकृत जड़वादमें गोते लगे हैं, परन्तु ये व्यापार अस्थायी रहे हैं, अपने बुरेसे बुरे रूपमें ये प्रगतिकी सर्पिल रेखामें अधोमुखी मोड़ रहे है। निस्संदेह यह प्रगति मानव-जातिको उसके अपने स्वसे आगे, मनोमयी सत्ताके स्वातिक्रमणकी ओर, रूपान्तरकी ओर नहीं ले गयी है। परन्तु इसकी आशा भी नहीं की जा सकती थी, कारण, सत्ता और चेतनाके किसी प्ररूपमें क्रमवैकासिक प्रकृतिकी क्रिया पहले उस प्ररूपको ठीक ऐसे सूक्ष्मीकरण तथा वर्द्धमान संश्लिष्टताके द्वारा उसकी अन्तिम समर्थतातक विकसित करते जाना है जबतक कि वह प्रकृतिके उस कोषको विदीर्ण करनेके लिये, परिपक्व निर्णायक उन्मज्जनके लिये, चेतनाके परावर्तनके लिये, चेतनाके अपने-आपपर अभिमुख होनेके लिये प्रस्तुत न हो जाय जो कि विकासक्रममें एक नया पर्व होता है। यदि यह कल्पना की जाय कि प्रकृतिका अगला डग आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक सत्ताका आविर्भाव है तो जातिमें आध्यात्मिकताका जो चाप है उसे इसका संकेत माना जा सकता है कि वही प्रकृतिका अभिप्राय है, उसे मनुष्यके इस सामर्थ्यका भी संकेत माना जा सकता है कि वह अपने अंदर उस संक्रमणको संचालित कर सकता या प्रकृतिको उसके संचालनमें सहायता दे सकता है। यदि मानव-विकासकी पद्धति यह थी कि पशु-सत्तामें एक ऐसा प्ररूप प्रकट हुआ जो कुछ दिशाओंमें वानर-प्रकारके सदृश था परन्तु आरम्भसे ही मानवताके तत्त्वोंसे सम्पन्न था, तो मानव-सत्तामें ऐसे आध्यात्मिक प्ररूपका आविर्भाव ही, जो कि मनोमय-पशुवर्गी मनुष्यके सदृश होगा परंतु जिसपर आध्यात्मिक अभीप्साकी छाप लगी होगी, क्रम-विकासकी धारामें आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक सत्ताके उत्पादनके लिये प्रकृतिकी स्पष्ट पद्धति होगा।

एक संगत प्रस्ताव यह रखा जाता है कि यदि क्रमविकासकी ऐसी

पराकाष्ठा अभिप्रेत है और मनुष्यको उसका माध्यम होना है तो केवल थोड़ेसे विशेष रूपसे विकसित मानव-जीव ही होंगे जिनसे नये रूपकी रचना होगी और जो नये जीवनकी ओर अग्रसर होंगे; एक बार जब यह हो जायगा तब आध्यात्मिक अभीप्सा प्रकृतिके उद्देश्यके लिये आवश्यक नहीं रह जायगी और शेष मानवजाति उस अभीप्साकी अवस्थासे वापस पतित हो जायगी और अपनी सामान्यावस्थामें शांत रहेगी। समान रूपसे यह युक्ति भी दी जा सकती है कि यदि जीव वस्तुतः पुनर्जन्मके द्वारा क्रमविकासकी पैड़ियोंसे आध्यात्मिक शिखरकी ओर ऊपर चढ़ता है तो मानव-वर्गको संरक्षित रखना होगा; कारण, नहीं तो, मध्यवर्ती डगोंमें सबसे अधिक आवश्यकका अभाव रह जायगा। यह तुरन्त ही स्वीकार कर लेना होगा कि ऐसी जरा भी सम्भाव्यता या सम्भावना नहीं कि सारीकी सारी मानवजाति एक साथ अतिमानसिक स्तरतक उठ जायगी; वस्तुतः किसी ऐसी क्रान्तिकारिणी और आश्चर्यकारिणी घटनाकी बात नही की जा रही है, वरन् केवल यह कहा जा रहा है कि क्रमवैकासिक संवेगके एक विशेष स्तर या विशेष चाप-बिन्दुतक पहुँच जानेपर मानव-मानसतामें यह सामर्थ्य होता है कि वह चेतनाकी उच्चतर भूमिका की ओर जाने और उसे आधारमें मूर्त करनेकी ओर बल लगाय। इस मूर्तायनके कारण अवश्य ही आधारके स्वभावकी प्राकृत गठनमें परिवर्तन आयगा, यह परिवर्तन अवश्य ही उसके मन, हृदय और इन्द्रियोंकी गठनमें, और बहुत दूरीतक शरीर-चेतनामें और हमारे प्राण तथा ऊर्जाओंपर जो दैहिक नियमन है उसमें भी आयगा; परन्तु चेतनाका परिवर्तन ही प्रमुख तत्त्व, आरम्भिक गति होगा, दैहिक परिवर्तन गौण तत्त्व होगा, परिणाम होगा। हृदय तथा मनमें अन्तरात्माकी लौके, चैत्य समिन्धनके सबल हो जाने और प्रकृतिके तैयार हो जानेपर चेतनाका यह रूपान्तर मानव-प्राणीके लिये सदा सम्भव रहेगा। आध्यात्मिक अभीप्सा मनुष्यमें अन्तर्जात है; कारण, पशुसे भिन्नतः उसे अपूर्णता और परिसीमनका बोध रहता है और वह यह अनुभव करता है कि वह अभी जो है उससे परे भी प्राप्त करनेको कुछ बाकी है, स्वातिक्रमणकी ओर यह प्रवृत्ति मानव-जातिमें कभी भी पूरी विलुप्त हो जायगी, इसकी सम्भावना नहीं। मानवीय मनोमयी भूमिका सदा रहेगी, परन्तु पुनर्जन्मके क्रममें एक शिखरके रूपमें ही नहीं, वरन् आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक भूमिकाकी ओर खुले सोपानके रूपमें।

यह भी ध्यानमें रखना होगा कि पृथ्वीपर मानवीय मन तथा शरीरका आविर्भाव प्राचीन रेखाओंको ही आगे चलाते जाना नहीं है, वरन् वह क्रमविकासकी धारा और प्रक्रियामें एक निर्णायक डग, एक निर्णायक परिवर्तनका चिह्न है। विकसित विचारशील मनका जड़में यह आविर्भाव जबतक नहीं हुआ था, तबतक विकासक्रम प्राणीकी आत्म-चेतन अभीप्सा, अभिप्राय, संकल्प या एषणासे नहीं, अपितु प्रकृतिकी स्वचलित क्रियासे अवचेतन अथवा अवगूढ़ रूपसे चला था। ऐसा इस कारण हुआ कि क्रमविकासने निश्चेतनासे प्रारम्भ किया था और निगूढ़ चेतना उसमेंसे इतनी पर्याप्त उन्मज्जित नहीं हुई थी कि अपने सजीव प्राणीकी आत्म-चेतन और भाग लेनेवाली वैयक्तिक इच्छाके द्वारा क्रिया कर सके। परन्तु आवश्यक परिवर्तन मनुष्यमें कर दिया गया है,—जीव अपने प्रति जाग गया है और चेतन हो गया है; उसकी विकासकी, ज्ञानवृद्धिकी, आन्तरिक जीवनको अधिक गहरा करने और बाह्यको विशालतर करनेकी, प्रकृतिके सामर्थ्योंको वर्द्धित करनेकी इच्छा मनमें व्यक्त कर दी गई है। मनुष्यने देख लिया है कि उसकी अपनी चेतना-स्थितिसे उच्चतर चेतना-स्थिति हो सकती है; उसके मन और प्राण-अंगोंमें वैकासिक उद्दीपन है, स्वातिक्रमणकी अभीप्सा उसमें मुक्त और व्यक्त है: वह अन्तरात्माके प्रति सचेतन हो गया है, उसने आत्मा और अध्यात्म-सत्ताका आविष्कार किया है। अतएव, उसके आगमनसे अवचेतन विकासके स्थानपर सचेतन विकास कल्पनीय और साध्य हो गया है, और यह निष्कर्ष भली भाँति निकल सकता है कि उसमें जो अभीप्सा है, प्रेरणा है, दृढ़ प्रयत्नशीलता है, वह परिपूर्तिकी ओर एक उच्चतर मार्गके लिये, एक महत्तर स्थितिके लिये प्रकृतिकी इच्छाका निश्चित चिह्न है।

क्रमविकासकी पहलेकी भूमिकाओंमें प्रकृतिके ध्यान और प्रयासको प्रमुखतः स्थूल संगठनमें परिवर्तन करनेकी ओर अभिमुख होना था, कारण, वैसा करके ही चेतनाका परिवर्तन हो सकता था; ऐसा करना उस समय गठित हो रही चेतनाकी शक्तिकी शरीरमें परिवर्तन करनेमें अक्षमताके कारण आवश्यक हो गया था। परन्तु मनुष्यमें इस क्रमको उलट देना सम्भव है, वस्तुतः अनिवार्य है, कारण, किसी नयी शारीरिक गठनको प्रथम साधन मानना छोड़कर, मनुष्यकी चेतनाके द्वारा उसकी चेतनाके रूपान्तरके द्वारा विकासक्रम सम्पादित किया जा सकता है और करना ही होगा। वस्तुओंकी आन्तरिक सत्यताको देखें तो चेतनाका

परिवर्तन सदा प्रधान तत्त्व रहा था, विकासक्रमका सदा एक आध्यात्मिक सार्थक्य रहा है और स्थूल परिवर्तन केवल उपकरणवत् था; परन्तु यह सम्बन्ध इन दो तत्त्वोंके प्रथम अस्वाभाविक संतुलनसे छिप गया था जबकि आध्यात्मिक तत्त्व, सचेतन सत्ताका महत्त्व, बाह्य निश्चेतनाके भार और विस्तारसे दबा हुआ था। परन्तु एक बार जब संतुलन ठीक हो गया तब यह आवश्यक नही रह जाता कि चेतनाके परिवर्तनके पहले शरीरका परिवर्तन हो ही; शरीरके लिये जो कोई परिवर्तन आवश्यक है उसे चेतना ही अपने परिवर्तनसे अवश्यम्भावी कर देगी और उसका सम्पादन भी करेगी। ध्यान देनेकी बात है कि वनस्पति और पशुके नये प्ररूपोंके क्रमविकासमें प्रकृतिको सहायता देनेकी समर्थता मनुष्यका मन दिखला चुका है; उसने अपने पर्यावरणके रूपोंकी सृष्टि की है, अपनी मानसतामें ज्ञान और अनुशासनसे बहुत सारे परिवर्तन किये हैं। यह कोई असम्भवता नहीं कि मनुष्य निजके आध्यात्मिक और शारीरिक क्रमविकास तथा रूपान्तरके लिये भी प्रकृतिको सचेतन रूपसे सहायता दे। इस ओरकी प्रेरणा विद्यमान है और अंशतः प्रभावी भी, भले ही बहिस्तलीय मानसताने अबतक उसे पूरी तरह न तो समझा है और न स्वीकार किया है; परन्तु किसी दिन वह समझ सकती है, अपने अन्दर अधिक गहरे जा सकती है और जिसे हम प्रकृति कहते हैं उसकी गोपन वास्तविकता रहनेवाली अंतःस्थ चित्-शक्तिके साधन, निगूढ़ ऊर्जा, अभिप्रेत क्रिया-विन्यासका आविष्कार कर सकती है।

ये सब ऐसे निष्कर्ष हैं जिन तक हम प्रकृतिकी प्रगतिके बाह्य व्यापारोंका, भौतिक जन्ममें और देहमें प्रकृतिके सत्ता और चेतनाके बहिस्तलीय क्रमविकासका अवलोकन करते हुए भी पहुँच सकते हैं। परंतु वह दूसरा तत्त्व, अदृश्य तत्त्व भी है; पुनर्जन्म होता है, जीवकी क्रमविकसनशील जीवनके एक वर्गसे दूसरे वर्गकी ओर आरोहण करके प्रगति होती है, और उन वर्गोंमें जीव कायिक और मानसिक साधन-विनियोगके अधिकाधिक ऊँचे प्ररूपोंकी ओर जाता है। इस प्रगतिमें, सचेतन मनोमय जीव मनुष्यमें भी, चैत्य पुरुष अपने उपकरणोंसे, मन, प्राण और शरीरसे अवगुंठित रहता है; वह पूरा अभिव्यक्त होनेमें असमर्थ रहता है, उसे पुरोभागमें आनेसे पीछे रोक रखा जाता है जबकि पुरोभागमें आकर वह अपनी प्रकृतिके स्वामीके रूपमें खड़ा हो सकता है; वह उपकरणोंकी किसी निर्देशनाके अधीन होनेके लिये, पुरुषपर प्रकृतिके

आधिपत्यको माननेके लिये बाध्य होता है। परन्तु अवर सृष्टिकी अपेक्षा मनुष्यमें व्यक्तित्वका चैत्य भाग बहुत अधिक तेजीसे विकसित हो सकता है, और एक ऐसा समय आ सकता है जब आन्तरात्मिक सत्ता उस बिन्दुके समीप आये जहाँ वह अवगुंठनमेंसे निकलकर खुलेमें आयेगी और विश्व-प्रकृतिमें अपने उपकरणोंकी स्वामिनी हो जायेगी। परन्तु इसका अर्थ यह होगा कि गूढ़ अन्तर्वासी पुरुषका, अन्तःस्थ प्रेरक आत्माका, अन्तःस्थ ईश्वरका आविर्भाव आसन्न है और इसमें शायद ही सन्देह हो सकता है कि उसका आविर्भाव होनेपर उसकी माँग एक अधिक दिव्य, एक अधिक आध्यात्मिक जीवनके लिये होगी, जैसा कि वस्तुतः स्वयं मनके साथ तब होता है जब वह आन्तरिक चैत्य प्रभावके नीचे आ जाता है। पृथ्वी-जीवनकी प्रकृतिमें मन अज्ञानका उपकरण है और वहाँ इस परिवर्तनका सम्पादन चेतनाके परिवर्तनसे ही, अज्ञानाधारसे ज्ञानाधारकी ओर, मनोमयी चेतनासे अतिमानसिक चेतनाकी ओर, प्रकृतिके अतिमानसिक साधनविनियोगकी ओर संक्रमणसे ही हो सकता है।

इस युक्तिमें कोई निर्णायक बल नहीं है कि चूंकि यह जगत् अज्ञानमय है, अतः ऐसा रूपान्तर केवल यहाँसे परे किसी द्युलोकमें जानेसे ही हो सकता है या यह रूपान्तर बिलकुल असाध्य है और चैत्य पुरुषकी माँग ही अज्ञानप्रसूत है और उसके स्थानपर 'निर्विशेष'में आत्म-विलयनकी माँगकी स्थापना करनी होगी। यह निष्कर्ष एकमात्र प्रामाणिक निष्कर्ष तभी हो सकता था यदि अज्ञान ही जागतिक अभिव्यक्तिका समूचा अर्थ, उपादान और बल होता या यदि स्वयं विश्व-प्रकृतिमें ऐसा कोई तत्त्व नहीं होता जिसके द्वारा हमारी सत्ताकी वर्तमान स्थितिको अभी भी भाराक्रान्त करनेवाली अज्ञानी मानसताका अतिक्रमण किया जा सकता, परन्तु अज्ञान इस विश्व-प्रकृतिका अंश ही है, समूची विश्व-प्रकृति नहीं, आद्या शक्ति या आद्य स्रष्टा नहीं : अपने उच्चतर मूलमें वह एक आत्म-सीमाकारी ज्ञान है और अपने निम्नतर मूलमें भी, शुद्ध भौतिक निश्चेतनामेंसे अपने उन्मज्जनमें भी, वह एक अवदमित चेतना है जो अपने-आपको ढूंढ़ने, अपने-आपको फिरसे पाने, ज्ञानको, जो कि उसका सच्चा स्वरूप है, जीवनके आधारवत् अभिव्यक्त करनेका उद्यम कर रही है। विश्वमनमें भी ऐसे प्रदेश हैं जो हमारी मानसतासे ऊपर हैं, वैश्व सत्य-संबोधके साधन हैं, और मनोमय पुरुष अवश्य ही उनमें ऊपर उठ जा सकता है; कारण, वह अभी भी, अधिसामान्य अवस्थाओंमें, उनकी ओर

ऊपर उठता या उनसे, उन्हें जाने विना या अधिकृत किये विना, संवोधि-स्फुरण, आध्यात्मिक संकेत, प्रदीप्ति या आध्यात्मिक सामर्थ्यके वड़े अन्तः-स्राव पाता ही है। वे सारे प्रदेश, जो उनसे परे है, उसके प्रति सचेतन हैं, और उनमें सवसे ऊँचा सीधे अतिमानसकी ओर खुला हुआ है, जो ऋत-चित् उसके परे है उसकी उसे संवित् है। इसके अतिरिक्त, चेतनाकी वे महत्तर शक्तियाँ यहाँ, स्वयं क्रमविकसनशील सत्तामें, विद्यमान हैं; वे मनके सत्यको आधार देती हैं, उसकी जो क्रिया उनपर परदा डालती है उसमें अंतःस्थ हैं; यह अतिमानस और वे सत्यात्मिका शक्तियाँ प्रकृतिको अपनी निगूढ़ अवस्थिति द्वारा धारण करती हैं: यहाँ तक कि मनका सत्य भी उनका परिणाम है, एक ह्रसित क्रिया है, आंशिक आकृतियोंमें चित्रण है। अतः जैसे प्राण और जड़में मन अभि-व्यक्त हुआ है, वैसे ही 'सत्'की ये उच्चतर शक्तियाँ यहाँ मनमें अभि-व्यक्त हों, यह स्वाभाविक ही नहीं है, अपितु अनिवार्य जान पड़ता है।

आध्यात्मिकताकी ओर मनुष्यकी प्रेरणा उसके अन्तःस्थ अध्यात्म-तत्त्वके उन्मज्जनकी ओर आन्तरिक संचालन है, सत्ताकी चित्-शक्तिका अपनी अभिव्यक्तिके अगले डगकी ओर आग्रह है। यह सच है कि आध्यात्मिक प्रेरणा प्रमुखतया पारलौकिक रही है या, अपने चरम रूपमें, मनोमय व्यक्तिके आध्यात्मिक नेतिभाव और आत्म-विलोपनकी ओर मुड़ी रही है; परन्तु यह उसकी प्रवृत्तिका केवल एक पहलू है जिसके कायम रहने और प्रवल होनेका कारण है मूलभूत निश्चेतनाके राज्यमेंसे वाहर निकलने, शारीरिक विघ्नको पार करने, तमोवृत प्राणको हटा फेंकने, अज्ञानमयी मानसतासे निस्तार पानेकी आवश्यकता, इन सारे विघ्नोंका निराकरण करके आध्यात्मिक सत्ता, आध्यात्मिक पदको सर्वप्रथम और सर्वोपरि लक्ष्य मानते हुए उसे प्राप्त करनेकी आवश्यकता। आध्यात्मिक प्रेरणाके दूसरे पहलू, क्रियावन्त पहलूका भी अभाव नहीं रहा है,—प्रकृतिपर आध्यात्मिक प्रभुता पानेकी और उसे अध्यात्मतः परिवर्त्तित करनेकी, आधारकी आध्यात्मिक पूर्णताकी, मन, हृदय और स्वयं शरीरको भी दिव्य वनानेकी अभीप्सा रही है: ऐसी संसिद्धि जो वैयक्तिक रूपान्तरसे भी आगे वढ़ी होगी, एक नयी धरती और एक नया स्वर्ग, एक ईश्वर-नगरी, पृथ्वीपर दिव्य अवतरण, सिद्ध पुरुषोंका शासन, ईश्वरका राज्य,—और वह राज्य केवल हमारे अन्तरमें ही नहीं, अपितु वाहर भी, सामूहिक मानव-जीवनमें भी,—इनके भी हमने अतीतमें स्वप्न देखे हैं, हमारे आन्तरिक

पुरुपने इन्हें भविष्यके रूपमें देखा है। इस अभीप्साने जो रूप लिये उनमेंसे कुछ चाहे कितने ही अस्पष्ट क्यों न रहे हों, पृथ्वी-प्रकृतिमें उन्मज्जित हो आनेके लिये गुहाशायी आध्यात्मिक पुरुपकी प्रेरणाका उनमें असंदिग्ध संकेत मिलता है।

पृथ्वीपर आध्यात्मिक उन्मेप यदि जड़के अन्दर हमारे जन्मका प्रच्छन्न सत्य है, प्रकृतिमें जो कुछ हो रहा है वह यदि मूलत: चेतनाका क्रमविकास है, तो मनुष्य अभी जैसा है वह उस विकास-क्रमका अन्तिम पर्व नहीं हो सकता : मनुष्य 'अध्यात्म-सत्ता' की एक अति अपूर्ण अभिव्यक्ति है, मन भी एक अति सीमित रूप और साधन है; मन चेतनाका केवल एक मध्यवर्ती तत्त्व है, मनोमय जीव केवल संक्रमणकालीन जीव ही हो सकता है। अतएव, मनुष्य यदि मनोमयताका अतिक्रमण करनेमें असमर्थ है तो मनुष्यका ही अतिक्रमण किया जायगा, अतिमानस तथा अतिमानव अवश्य अभिव्यक्त होंगे और सृष्टिके नायक बनेंगे। परन्तु जो उसके मनके परे है, उसकी ओर उन्मीलित होनेका सामर्थ्य यदि उसके मनमें है, तो इसका कोई कारण नही कि मनुष्य ही अतिमानस तथा अतिमानवता तक क्यों न पहुँचेगा या, अन्ततः, प्रकृतिमें अभिव्यक्त होते 'अध्यात्म-पुरुप' के उस महत्तर पदके क्रमविकासमें अपने मन, प्राण और शरीरका योगदान क्यों न करेगा।

अध्याय चौबीस

आध्यात्मिक मानवका क्रमविकास

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्॥
अन्तवत्तु फलं तेषाम् ... ... ।
देवान् देवयजो यान्ति ... ...।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

जो मेरे पास जिस भावसे आता है उसे मैं वैसे ही स्वीकार करता हूँ। मनुष्य सब ओरसे मेरे ही पथका अनुसरण करते हैं।...भक्त जिस किसी भी रूपकी अर्चना श्रद्धासे करता है मैं उसकी उस श्रद्धाको अचल करता हूँ, वह अपनी चाहको अपनी आराधनामें उस श्रद्धाके साथ रखता है और मुझसे अपनी कामना पूरी कराता है। परन्तु वह फल सीमित होता है। जो देवताओंका यजन करते हैं वे देवताओंको पाते हैं, जो भूतोंका यजन करते हैं वे भूतोंको, परन्तु जो मेरा यजन करते हैं वे मेरे ही पास आते हैं।

—गीता

IV. 11; VII. 21-23; IX. 25

...न यासु चित्रं ददृशे न यक्षम्।
...न वां निण्यान्यचिते अभूवन्॥

इनमें न तो वह चमत्कार है न वह वीर्य ही; जो सत्य गुह्य हैं, अज्ञानियोंके मनके लिये वे हैं ही नहीं।

—ऋग्वेद

VII. 61. 5

कविर्न निण्यं विदथानि साधन् ... ...।
दिव इत्था जीजनत् सप्त कारूनह्ना चिच्चक्रुर्वयुना गृणन्तः॥
गुह्य सत्यों और उनके ज्ञानाविष्कारोंको क्रियान्वित करते कविकी भाँति उन्होंने द्युलोकके सात कारुओंको जन्म दिया जिन्होंने दिनके आलोकमें ही बात कही और अपनी प्रज्ञाकी वस्तुएँ बनायीं।

—ऋग्वेद
IV. 16. 3

...निण्या वचांसि। निवचना कवये काव्यानि...॥
कवि-प्रज्ञाएँ, रहस्यवाणियाँ, जो कविको अपना मर्म कहती हैं।

—ऋग्वेद
IV. 3. 16

नकिर्ह्येषां जनूंषि वेद ते अङ्ग विद्रे मियो जनित्रम्॥
एतानि धीरो निण्या चिकेत पृश्निर्यदूधो मही जभार॥
इनके जन्मको कोई नहीं जानता; इन्हें ही एक दूसरेकी जन्म-विधि ज्ञात है; परन्तु ज्ञानी इन गुप्त रहस्योंको, उस रहस्यको भी जानता है जिसे वह महादेवी, बहुवर्णा माता अपने ज्ञान-स्तनकी नाईं धारण करती है।

—ऋग्वेद
VII. 56. 2,4

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः...शुद्धसत्त्वाः।
उच्चतम आध्यात्मिक ज्ञानके अर्थके बारेमें सुनिश्चित, जिनकी सत्ता शुद्ध हो चुकी है।

—मुण्डकोपनिषद्
III. 2. 6

एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥
... ... ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानः .. ...।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति॥
वह इन साधनोंसे प्रयास करता है और उसे ज्ञान होता है: उसमें यह आत्मा अपने परम पदमें प्रवेश करता है।....ज्ञानतृप्त, कृतात्मा, (जो अपनी आध्यात्मिक सत्ताका निर्माण कर चुके हैं), धीर युक्तात्मा (जो ज्ञानी अध्यात्म-पुरुषसे ऐक्य प्राप्त कर चुके हैं), सर्वत्र सर्वगको पाते और 'सर्व'में प्रवेश करते हैं।

—मुण्डकोपनिषद्
III. 2. 4,5

क्रमवैकासिकी प्रकृतिकी आदिकालीन भूमिकाओंमें हमें उसकी निश्चेतनाकी मूक रहस्यमयता मिलती है; उसके कार्योंमें कोई सार्थक्य या उद्देश्य प्रकट नही होता, जिस प्रथम रूपायणमें वह उस समय अभिनिविष्ट रहती है और जो उसका सदाके लिये एकमात्र व्यवसाय लगता है उसके अतिरिक्त सत्ताके किन्हीं भी दूसरे तत्त्वोंका संकेत नहीं मिलता: कारण, उसके आरम्भिक कार्योंमें केवल जड़तत्त्व ही एकमात्र मूक और नग्न वैश्व सद्वस्तुके रूपमें प्रकट होता है। यदि सृष्टिका कोई साक्षी होता जो सचेतन तो होता परन्तु जिसे रहस्यकी बात बतायी हुई नही होती, तो उसे केवल एक प्रतीयमान असत्के एक वृहत् गह्वरमेंसे एक ऊर्जा प्रकट होती दिखाई देती जो जड़तत्त्वकी, जड़ जगत् और जड़ पदार्थोंकी सृष्टिमें लगी हुई है, निश्चेतनके आनंत्यको किसी असीम विश्वकी योजनामें या ऐसे असंख्य विश्वोंके तंत्रमें संगठित कर रही है जो किसी निश्चित लक्ष्य या सीमाके बिना उसके चारों ओर देशमें विस्तृत हैं; वह यह देखता कि नीहारिकाओं और नक्षत्र-समूहों और सूर्यो और ग्रहोंकी यह अथक सृष्टि केवल अपने-आपके लिये है, उसका कोई अर्थ नहीं, कारण या लक्ष्य नहीं। उसे यह सब एक उपयोगहीन अतीव विशाल यंत्र, एक अर्थहीन सबल गतिधारा, एक दर्शकहीन अनन्तकालीन दृश्य, एक निवासीहीन विश्वप्रासादके समान दिखायी दे सकता था, कारण, उसे किसी अन्तर्वासी 'अध्यात्म-पुरुष'का, किसी ऐसी सत्ताका चिह्न नहीं मिलता जिसके आनन्दके लिये उसका निर्माण किया गया हो। इस प्रकारकी सृष्टि केवल निश्चेतन ऊर्जाका परिणाम या किसी अतिचेतन एवं उदासीन 'निर्विशेष' पर प्रतिबिम्बित रूपोंका माया-चलचित्र, उनकी छाया-क्रीड़ा या कठपुतलीका खेल ही हो सकती थी। जड़के इस अमेय तथा अन्तहीन प्रदर्शनमें उसे अन्तरात्माका कोई साक्ष्य नहीं मिलता, न मन या प्राणका संकेत ही। उसे यह न तो सम्भव लगता, न कल्पनीय ही कि इस सर्वदा निष्प्राण और असंवेदनशील रहते मरु-विश्वमें कभी प्राणके परिप्लावनका प्रादुर्भाव होगा, किसी गुह्य तथा अनिर्देश्य, सजीव तथा सचेतन वस्तुका, बहिस्तलकी ओर अपना मार्ग टटोलती निगूढ़ आध्यात्मिक सत्ताका प्रथम स्पन्दन होगा।

परन्तु कुछ युगोंके बाद, उस वृथा दृश्यपटलपर फिर दृष्टिपात करते उस साक्षीको विश्वके कमसे कम एक छोटेसे कोनेमें, ऐसे कोनेमें जहाँ एक नये विकासका दृश्य होनेके लिये जड़तत्त्वको तैयार कर दिया गया

था, उसकी क्रियाओंको पर्याप्त रूपसे निर्धारित, संगठित, स्थायी और अनुकूल कर दिया गया था, एक नया दृश्य दिखायी दे सकता था,—उसे दिखायी देता जीवन्त जड़, विश्वमें उन्मिषित और दृष्टिगोचर हुआ प्राण: परन्तु हमारे साक्षीको कुछ भी समझमें नहीं आता, कारण, क्रम-वैकासिकी प्रकृति अपना रहस्य तब भी छिपाए रखती। उसे प्रकृतिका केवल यह रूप दिखाई देता कि वह प्राणके इस प्रस्फुटन, इस नयी सृष्टिकी स्थापनामें व्यस्त है और वह प्राण अपने-आपके लिये जी रहा है, उसमें कोई सार्थकता नहीं; प्रकृति उसे एक मनमानी करनेवाली प्रचुर स्रष्ट्रीके रूपमें दिखायी देती जो अपनी नयी शक्तिका बीज बिखेरने और अपने बहुसंख्यक रूपोंको सुन्दर तथा राजसी बाहुल्यमें स्थापित करने, या बादमें, मात्र सृजनके आनंदके लिये जातियों और उपजातियोंकी अन्तहीन रूपमें गुणावृद्धि करनेमें व्यस्त हो: तब अति विशाल विश्व-मरुस्थलमें रंग और गतिका एक हल्का पुट ही डाला जा सकता था, अधिक कुछ नहीं। वह साक्षी यह कल्पना नहीं कर सकता था कि प्राणके इस अति लघु द्वीपमें विचारशील मन आविर्भूत होगा, निश्चेतनमें एक चेतना जाग सकेगी, एक अधिक सूक्ष्म, नया और श्रेष्ठतर स्पन्दन बाहर आ सकेगा और अन्तःनिमज्जित 'अध्यात्म-सत्ता'के अस्तित्वको अधिक स्पष्टतासे प्रकट करेगा। आरम्भमें उसे ऐसा लग सकता था कि प्राणको किसी भांति अपने-आपका बोध हो गया और यही सारी बात है; कारण, वह नवोदित अल्प मन प्राणका सेवक मात्र, प्राणके जीनेमें सहायताका एक साधन, उसके पालनके लिये, आक्रमण और बचावके लिये कुछ आवश्यकताओं और प्राणिक तुष्टियोंके लिये, जीनेकी सहज प्रवृत्ति और प्राणिक अन्तर्वेगकी मुक्त सिद्धिके लिये एक यंत्र ही लगता। उसे यह सम्भव नहीं लग सकता था कि इस छोटेसे प्राणमें जो कि महा विशाल-ताओंके बीच इतना नगण्य है, इस तुच्छ समूहमेंसे केवल एक जातिमें, मनोमय प्राणी आविर्भूत होगा, वह मन आविर्भूत होगा जो तब भी प्राणका सेवक होगा किन्तु प्राण और जड़को भी अपने सेवक बना रहा होगा, अपने ही भावों, अपनी ही इच्छा और चाहोंकी पूर्तिके लिये उनका उपयोग कर रहा होगा,—ऐसा मनोमय प्राणी होगा जो जड़तत्त्वों-से सब प्रकारके उपयोगोंके निमित्त सब तरहके साधनों, औजारों, यंत्रोंकी रचना करेगा, उनसे नगर, गृह, मन्दिर, रंगशालाएं, प्रयोगशालाएं, कारखाने निर्मित करेगा, उनसे मूर्तियां गढ़ेगा, गुफाओंमें मन्दिरोंका निर्माण करेगा,

शिल्पकला, मूर्तिकला, चित्रकला, काव्य और सहस्रों कारुकारिता और कलाओंका नूतन आविष्कार करेगा, विश्वके गणित और भौतिकीका और उसकी संरचनाके गुप्त रहस्यका आविष्कार करेगा, मन और उसकी रुचियोंके लिये, विचार तथा ज्ञानके लिये जीएगा, मनीषी, दार्शनिक और वैज्ञानिकके रूपमें विकसित होगा और, जड़के राज्यको एक चरम चुनौती देनेके रूपमें, निगूढ़ देवके प्रति अपने अन्तरमें जाग जायगा, अलखका अहेरी, रहस्य-पन्थी और आध्यात्मिक अन्वेषी हो जायगा।

परन्तु कई युगों या कल्पोंके बाद वह साक्षी यदि फिर अवलोकन करता और इस चमत्कारको पूरी प्रक्रियामें देखता, तब भी शायद, अपने इस आद्य अनुभवसे आच्छन्न होकर कि जड़ ही विश्वमें एकमात्र सद्वस्तु है, वह फिर भी समझ नहीं पाता, उसे यह फिर भी असम्भव लगता कि गुहाशायी 'अध्यात्म-पुरुष' पूरा उन्मज्जित हो सकेगा, अपनी सम्पूर्ण चेतनाके साथ व्यक्त हो सकेगा, और आत्मज्ञाता तथा जगत्ज्ञाता होकर, प्रकृतिका शासक तथा अधिपति होकर, पृथ्वीपर निवास कर सकेगा। "असम्भव!" वह कह सकता था, "जो सब हुआ है वह कोई बड़ी बात नहीं; बस मस्तिष्कका संवेदनशील धूसर उपादान थोड़ा बुदबुदाया है, निष्प्राण जड़के किसी टुकड़ेमें कोई अनोखी सनक विश्वके किसी छोटेसे तिल-ठाँवपर गतिशील हुई है।" इसके विपरीत, यदि कहानीके अन्तमें कोई नया साक्षी प्रवेश करे जिसे भूतकालकी घटना तो विदित हो किन्तु जो आरम्भकी प्रवंचनाकी जकड़से मुक्त हो, तो वह यों कह उठ सकता है, "ओह, तो यही वह अभिप्रेत चमत्कार था, इतने बहुतेरे चमत्कारोंमें अन्तिम चमत्कार,—जो अध्यात्म-सत्ता निश्चेतनामें निमज्जित थी वह उसमेंसे फूट निकली है और अब वस्तुओंके रूपोंके अन्दर अनावृत होकर निवास कर रही है जिनकी सृष्टि उसने आवरणमें रहकर, अपने निवास-स्थल और अपने उन्मज्जनके रंगमंचके रूपमें की थी।" परन्तु वस्तुतः यदि साक्षी अधिक सचेतन होता तो वह इस सन्धानसूत्रका आविष्कार उन्मेषके आरम्भिक कालमें ही, यहाँ तक कि उसकी प्रक्रियाके हर डगमें कर लेता; कारण, प्रत्येक पर्वमें प्रकृतिकी मूक रहस्यमयता रहती तो है किन्तु कम होती जाती है; अगले डगका संकेत किया जाता है, एक अधिक व्यक्त रूपसे सार्थक तैयारी दृष्टिगोचर होती है। जो प्राणमें निश्चेतन प्रतीत होता है उसमें, पहलेसे ही, बहिस्तलकी ओर जाते संवेदनके चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं; जंगम और उच्छ्वासी प्राणमें

संवेदनशील मनका उन्मेष प्रत्यक्ष होता है और विचारधर्मी मनकी तैयारी पूरी छिपी नहीं होती है, और जब विचारधर्मी मनका विकास होता है तब आरम्भिक पर्वमें उस मनकी एक आध्यात्मिक चेतनाकी प्राथमिक चेष्टाएँ और बादमें अधिक विकसित एषणाएँ उद्भूत होती हैं। जैसे वनस्पति-जीवन चेतन पशुकी अव्यक्त सम्भावनाको अपने अन्दर रखे रहता है, जैसे पशुका मन संवेदन और इन्द्रिय-बोधकी वृत्तियों और धारणाके आरम्भिक तत्त्वोंसे स्पन्दित होता है जो कि विचारधर्मी मनुष्यकी प्रथम भूमि हैं, वैसे ही मनोधर्मी मनुष्यमेंसे आध्यात्मिक मनुष्यका, सम्पूर्णतया चिन्मय जीवका, अपने प्रथम जड़ाश्रित स्वरूपका अतिक्रमण और अपने सच्चे आत्मा तथा उच्चतम प्रकृतिका आविष्कार करनेवाले मनुष्यका आविर्भाव करनेके लिये क्रमवैकासिकी ऊर्जाका प्रयास मनोधर्मी मनुष्यको उदात्त बनाता है।

परन्तु यदि हम यह मानना चाहें कि प्रकृतिके अन्दर यही अभिप्राय है तो दो प्रश्न तुरन्त उठते हैं, और उनका निश्चित उत्तर आवश्यक है,—पहला यह कि मनोमयी सत्तासे आध्यात्मिक सत्ताकी ओर संक्रमणका ठीक-ठीक स्वरूप क्या है, और इसका उत्तर पा लेनेपर दूसरा यह कि मनोधर्मी मानवमेंसे आध्यात्मिक मानवके उन्मेषकी प्रक्रिया और पद्धति क्या है। प्रथम दृष्टिमें यह स्पष्ट लगेगा कि जैसे प्रत्येक कोटि अपनी पूर्ववर्तिनी कोटिमेंसे उन्मज्जित होकर बाहर ही नहीं आती, अपितु उसके अंदर उन्मज्जित होती है, जैसे प्राण जड़में उन्मज्जित होता है और उसकी स्वाभिव्यक्ति अपनी जड़मयी अवस्थाओंसे सीमित होती है, जैसे *मन जड़में अवस्थित प्राणमें उन्मज्जित* होता है और उसकी स्वाभिव्यक्ति उसी तरह प्राणकी अवस्थाओं और जड़मयी अवस्थाओंसे सीमित और निर्धारित होती है, वैसे ही 'अध्यात्म-तत्त्व'को भी जड़में अवस्थित प्राणमें शरीरको धारण किये हुए मनमें उन्मज्जित होना होगा और वह अवश्य ही अपनी जड़गत मनोमयी अवस्थाओंसे और साथ ही अपने यहाँके जीवनकी प्राणिक अवस्थाओं और भौतिक अवस्थाओंसे प्रधानतः सीमित और निर्धारित होगा। यह भी कहा जा सकता है कि हममें यदि आध्यात्मिक तत्त्वका क्रमविकास हुआ है तो वह मनोमय क्रमविकासके अंग-रूपमें ही, मनुष्यकी मानसताकी एक विशेष क्रियाके रूपमें हुआ है; आध्यात्मिक तत्त्व कोई विविक्त या पृथक् सत्ता नहीं, उसका कोई स्वतंत्र उन्मज्जन या अतिमानसिक भविष्य भी नहीं हो सकता। मनोमय जीवमें

एक आध्यात्मिक अनुराग या लगनका प्रादुर्भाव हो सकता है, और परिणामतः वह शायद बौद्धिक मानसताकी तरह एक आध्यात्मिक मानसता-को, अपने मनोमय जीवनके एक सुन्दर आन्तरात्मिक पुष्पको भी प्रस्फुटित कर सकता है। जैसे कुछ मनुष्योंमें कलात्मक या व्यावहारिक प्रवृत्ति बहुत प्रबल रहती है, वैसे ही कुछमें आध्यात्मिक प्रवृत्ति भी बहुत प्रबल हो जा सकती है; परन्तु आध्यात्मिक पुरुष मनोमयी प्रकृतिको उठाकर आध्यात्मिक प्रकृतिमें रूपान्तरित करे, ऐसी कोई बात नहीं हो सकती। आध्यात्मिक मनुष्यके क्रमविकास जैसी कोई बात नहीं; मनोमय जीवमें क्रमविकास एक नये और सम्भवतः सूक्ष्मतर तथा विरलतर तत्त्वका ही होता है। तो अब ये ही बातें स्पष्ट करनी हैं,—आध्यात्मिक तथा मनोमयका स्पष्ट भेद, इस क्रमविकासका स्वरूप, उन तत्त्वोंका परिचय जो यह सम्भव और अनिवार्य करते हैं कि 'अध्यात्म-सत्ता' का यह आविर्भाव उसके सच्चे विविक्त स्वरूपमें हो, वह हमारी मानसताके एक गौण अथवा प्रधान लक्षणके रूपमें न रहकर, जैसा कि वह अभी अपनी प्रक्रियामें अधिकांशतः है या अपने प्राकट्यकी राहमें जान पड़ता है, एक ऐसी नवशक्तिके रूपमें उपस्थित हो जो अन्तमें मनोमय भागसे बहुत ऊपर होगी और उसके स्थानपर जीवन तथा प्रकृतिकी नेत्री बनेगी।

यह बिलकुल सच है कि बाह्य दृष्टिको प्राण जड़का ही एक व्यापार और मन प्राणकी ही एक क्रिया लगता है, और यह परिणाम निकलता लग सकता है कि हम जिसे अन्तरात्मा या अध्यात्म-सत्ता कहते हैं वह मानसताकी ही एक शक्ति है; अन्तरात्मा मनका एक सूक्ष्म रूप है, आध्यात्मिकता मनोमय देहीकी एक उच्च क्रिया। परन्तु यह दृष्टि गहरी नहीं है, क्योंकि इसकी विचारणा प्रकट रूप और प्रक्रियापर केन्द्रित होती है और जो प्रक्रियाके पीछे है उसे नहीं देखती। इन्हीं रेखाओंपर चलनेसे विद्युत्के विषयमें यह निष्कर्ष भी निकल सकता था कि वह जल और बादलरूपी जड़वस्तुकी ही उत्पत्ति या व्यापार है, क्योंकि ऐसे ही क्षेत्रमें बिजलीका उद्भव होता है; किंतु गभीरतर गवेषणाने यह प्रदर्शित किया है कि, इसके विपरीत, विद्युतकी ऊर्जा ही जल और बादल दोनोंकी भित्ति है, उनकी उपादान-शक्ति या ऊर्जा-धातु है: जो परिणामवत् प्रतीत होता है, वह चाहे रूपतः नहीं, परन्तु तत्त्वतः मूल कारण है; परिणाम सारतः प्रतीयमान कारणसे पहलेसे अस्तित्ववान् है, उन्मज्जनशील क्रियाशीलताका तत्त्व अपने वर्तमान, क्रियाक्षेत्रसे पूर्ववर्ती है। क्रम-

वैकासिकी प्रकृतिमें सर्वत्र ऐसा रहा है; जड़ कभी प्राणमय नहीं हो सकना था यदि प्राणका तत्त्व जड़की गठनके भीतर ही न होता और जड़ावस्थित प्राणके व्यापारके रूपमें उन्मज्जित न हो उठता; जड़ावस्थित प्राणमें संवेदना, अनुभव, विचार और युक्तिकी क्रियाका आरम्भ नहीं होता यदि मनका तत्त्व प्राण और जड़धातुके पीछे न होता, उसे अपना क्रियाक्षेत्र नहीं बनाता और विचारशील प्राण तथा शरीरके व्यापारमें उन्मेषशील नहीं होता: इसी भाँति मनमें उन्मज्जित होती आध्यात्मिकता भी ऐसी शक्तिका चिह्न है जो प्राण, मन एवं शरीरका अधिष्ठान और उपादान ही है, और अब जीवन्त तथा विचारशील देहमें आध्यात्मिक जीवके रूपमें उन्मज्जित हो रही है। यह उन्मज्जन कहाँ तक जायगा, यह प्रधान हो सकेगा या नहीं, अपने उपकरणको रूपान्तरित कर सकेगा या नहीं, यह बादका प्रश्न है; परन्तु पहली आवश्यकता यह प्रतिष्ठित करनेकी है कि 'अध्यात्म-तत्त्व' मनसे अन्य और मनसे महत्तर कुछ है, आध्यात्मिकता मानसतासे अन्य कुछ है, अतएव आध्यात्मिक पुरुष मनोमय पुरुषसे स्पष्टतया भिन्न कुछ है: अध्यात्म-सत्ता क्रमविकासमें अन्तिम उन्मज्जन है, कारण, वह संवृतिक्रममें आद्य तत्त्व और अंग है। क्रमविकास संवृतिकी प्रतीप क्रिया है: संवृतिमें जो सर्वसे बादमें और अन्तमें निःसृत हुआ है वह क्रमविकासमें प्रकट होनेमें प्रथम है; संवृतिमें जो आद्य और प्रारम्भिक था, वह क्रमविकासमें अन्तिम तथा परम उन्मज्जन होगा।

फिर यह भी सच है कि मनुष्यके मनके लिये यह कठिन होता है कि वह अपने अन्दर अन्तरात्मा या अध्यात्म-सत्ता या किसी भी आध्यात्मिक तत्त्वको उस मानसिक और प्राणिक रूपायणसे विविक्त करके देखे जिसमें वह प्रकट होता है; परन्तु ऐसा तभी तक रहता है जबतक कि उन्मज्जन पूरा नहीं हुआ हो। पशुमें मन अपनी प्राण-मातृका और प्राण-धातुसे सर्वथा विविक्त नहीं है; उसकी गतिविधियाँ प्राण-गतिविधियोंमें इतनी संवृत रहती हैं कि वह अपने-आपको उनसे पृथक् नहीं कर सकता, उनसे अलग खड़ा होकर उनका प्रेक्षण नहीं कर सकता; परन्तु मनुष्यमें मन पृथक् हो गया है, वह अपनी मनःक्रियाओंको अपनी प्राण-क्रियाओंसे विविक्त रूपमें जान सकता है, उसके विचार और संकल्प अपने-आपको उसके संवेदनों और अंतवर्गों, उसकी कामनाओं और भावजनित प्रतिक्रियाओंसे वियुक्त कर सकते हैं, उनसे पृथक् हो सकते हैं, उनका प्रेक्षण

और नियंत्रण कर सकते हैं, उनकी क्रियाको अनुमति देनेवाले या निरस्त कर देनेवाले हो सकते हैं: वह अभी भी अपनी सत्ताके रहस्योंको इतनी अच्छी तरह तो नहीं जानता है कि उसे निश्चित और आश्वस्त भावसे अपने बारेमें यह संवित् हो कि वह प्राण और शरीरमें स्थित मनोमय पुरुष है, परन्तु उसे इसका आभास रहता है और वह अन्तरतः इस भावको धारण कर सकता है। इसी तरह आरम्भमें अन्तरात्मा भी मनुष्यको मन और मनोभावापन्न प्राणसे सर्वथा विविक्त वस्तु नहीं प्रतीत होता; उसकी गतिविधि मनकी गतिविधिमें संवृत रहती है, उसकी क्रियाएँ मानसिक और संवेगमूलक क्रिया-कलाप जान पड़ती हैं; मनोमय मानव-प्राणीको यह संवित् नहीं कि उसमें कोई अन्तरात्मा है जो मन, प्राण और शरीरके पीछे खड़ा है, उनसे अलग होकर उनकी क्रिया और रूपायणको देख रहा, नियंत्रित कर रहा और गढ़ रहा है, परन्तु जैसे-जैसे आन्तरिक क्रमविकास आगे बढ़ता है ठीक यही बात घटित हो सकती है, होनी ही चाहिये और होती भी है,—यह हमारे क्रमविकासकी नियतिमें बहुत विलम्बित किन्तु अनिवार्य डग है। एक ऐसा निर्णायक उन्मज्जन हो सकता है जिसमें जीव अपने-आपको विचारसे अलग कर लेता और एक आन्तरिक नीरवतामें अपने-आपको मनःस्थ अध्यात्म-सत्तावत् देखता है, या अपने-आपको प्राणिक वृत्तियों, कामनाओं, संवेदनों, क्रियामुख आवेगोंसे पृथक् कर लेता और अपने बारेमें यह बोध रखता है कि वह प्राणका धारयिता अध्यात्म-पुरुष है, या वह अपने-आपको शरीर-बोधसे पृथक् कर लेता और अपने-आपको इस रूपमें जानता है कि वह जड़को अनुप्राणित करती अध्यात्म-सत्ता है: यह हमारा अपने पुरुष-रूपका, इस बातका आविष्कार होता है कि हम शरीरके धारयिता मनोमय पुरुष या प्राणमय अन्तरात्मा या सूक्ष्म आत्मा हैं। बहुतसे लोग इसे सच्चे आत्माका पर्याप्त आविष्कार मानते है और एक विशेष अर्थमें वे ठीक भी हैं, कारण, आत्मा या अध्यात्म-पुरुष ही अपने-आपको प्रकृतिकी क्रियाओंके प्रसंगमें इस भाँति प्रतिरूपायित करता है, और उसकी अव-स्थितिका यह प्रकटन आध्यात्मिक तत्त्वको विलग करनेके लिये पर्याप्त है: परन्तु आत्म-आविष्कार और आगे जा सकता है, वह प्रकृतिके रूप या क्रियाके साथके सारे सम्बन्धको अलग रख दे सकता है। कारण, यह देखा गया है कि ये सारे खंडात्मा एक 'दिव्य सत्ता'के ही प्रतिरूप हैं जिसके लिये मन, प्राण और शरीर रूप और उपकरणमात्र हैं: तब

हम प्रकृतिके उपद्रष्टा पुरुष होते हैं जो प्रकृतिको हमारे अन्दरकी सारी क्रियाशक्तियोंको, मानसिक प्रत्यक्षण और प्रेक्षणसे नहीं, वरन् एक अन्तर्भूत चेतनासे, उसकी अपरोक्ष बोध-शक्ति और अंतरंग यथातथ्य दृष्टिसे जानता है, अतएव उसके उन्मेषसे हमारी प्रकृतिपर घना नियंत्रण कर सकता और उसे बदल सकता है। जब सत्तामें पूरी नीरवता हो जाती है, या तो समूची सत्ताकी निस्तब्धता या पीछेकी ओर ऐसी निस्तब्धता जो बहिस्तलकी गतिविधिसे अप्रभावित हो, तब हमें 'आत्मा'की, अपनी सत्ताके आध्यात्मिक सत्त्वकी, उस अस्तित्वकी संवित् हो सकती है जो आन्तरात्मिक वैयक्तिकताका भी अतिक्रमण किये हुए है, अपने-आपको विश्व-सत्तामें प्रसारित कर रहा है, किसी भी प्राकृतिक रूप या क्रियापर किसी भी निर्भरताकी अवस्थासे ऊपर है, अपने ऊर्ध्वमुख विस्तरणमें ऐसी विश्वातीत सत्तामें चला जाता है जिसकी सीमाएँ दिखायी नहीं देतीं। हमारे अन्दर आध्यात्मिक अंगोंकी ये प्रमुक्तियाँ ही प्रकृतिमें आध्यात्मिक क्रमविकासके निर्णायक डग होती हैं।

क्रमविकासका सच्चा रूप इन निर्णायिका गतियोंसे ही स्पष्ट होता है; कारण, इनके पहले तो तैयारीकी ही गतियाँ होती है, सच्ची आन्तरात्मिक क्रियाको विकसित करनेके लिये मन, प्राण और शरीरपर चैत्य सत्ताका चाप पड़ता है, अहंसे, बहिस्तलीय अज्ञानसे मुक्तिके लिये अन्तरात्मा या पुरुषका चाप पड़ता है, मन तथा प्राणका किसी गुह्य 'सद्वस्तु'की ओर मोड़ होता है,—अध्यात्मवासित मन, अध्यात्मवासित प्राणके प्रारम्भिक अनुभव, आंशिक रूपायण होते हैं, परन्तु कोई पूरा परिवर्तन नहीं होता, अन्तरात्मा अथवा पुरुषके पूरे अनावरण या प्रकृतिके आसन्न रूपान्तरकी सम्भावना नहीं होती। जब निर्णायक उन्मज्जन होता है तो उसका एक चिह्न यह है कि हमारे अन्दर एक अन्तर्निहित, अन्तर्भूत, स्वयम्भू चेतनाकी स्थिति या क्रिया होती है जो अपने-आपको होने मात्रके नाते जानती है, जो उसके अन्दर है उसे भी वह उसी भांति, उसके साथ तादात्म्य द्वारा जानती है, हमारे मनको जो कुछ बाह्य लगता है उस सबको भी वह उसी तरह तादात्म्य-गति या ऐसी अन्तर्भूत प्रत्यक्ष चेतना द्वारा जानती है जो अपने विषयपर आच्छादित होती, उसमें अन्तर्वेधन करती, उसमें प्रविष्ट होती, अपने-आपको विषयके अन्दर ढूंढ़ निकालती और उसके अन्दर किसी ऐसे पुरुषके प्रति सचेतन होती है जो न तो मन है, न प्राण, न शरीर, अतः स्पष्ट ही, एक आध्यात्मिक

चेतना है जो मनोमयीसे भिन्न है, और वह हमारे अन्दर एक आध्यात्मिक सत्ताके अस्तित्वकी साक्षिणी होती है जो हमारे बाह्य मनोमय व्यक्तित्वसे भिन्न है। किन्तु आरम्भमें यह चेतना अपने-आपको सत्ताकी केवल ऐसी स्थिति तक परिमित रख सकती है जिसमें वह हमारी अज्ञानी बहिस्तलीय प्रकृतिकी क्रियासे अलग हो, उसकी उपद्रष्ट्री हो, अपने-आपको ज्ञानतक, वस्तुओंको अस्तित्वके आध्यात्मिक अर्थ और दृष्टिसे देखनेतक ही सीमित करती हो। क्रियाके लिये वह तब भी मन-प्राण-देहरूपी साधनोंपर निर्भर कर सकती है, या वह उन्हें अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार कार्य करनेकी अनुमति दे सकती है, और जहाँतक उसकी अपनी बात है, आत्मानुभूति और आत्मज्ञानसे, एक आन्तरिक मुक्तिसे, एक तज्जनित स्वातंत्र्यसे संतुष्ट रह सकती है: परन्तु वह विचार, प्राण-वृत्ति और शरीरकी क्रियापर कुछ आधिपत्य, शासन, प्रभाव भी प्रयुक्त कर सकती है और सामान्यतः करती भी है, उनपर उसका वह शुद्धिकारी और उन्नयनकारी नियंत्रण भी हो सकता है और होता है जो उन्हें बाध्य करता है कि वे अपने उच्चतर तथा शुद्धतर सत्यमें विचरण करें, किसी दिव्यतर शक्तिके अन्तःस्राव या ऐसे ज्योतिर्मय निर्देशनका अनुसरण करें या उपकरण बनें जो मानसिक नहीं, आध्यात्मिक हो, जिसका कोई दिव्य गुण-धर्म स्पष्ट दिखायी देता हो, जो श्रेष्ठतर 'आत्मा'की प्रेरणा या सकल सत्ताके शासकका, ईश्वरका आदेश हो। या प्रकृति चैत्य पुरुषकी सूचनाओंका अनुसरण कर सकती, एक आन्तरिक ज्योतिमें विचरण कर सकती, एक आन्तरिक निर्देशनके अनुसार चल सकती है। ऐसा होना भी एक बड़ा विकास हो चुकना है और वह अन्ततः एक चैत्य तथा आध्यात्मिक रूपान्तरका आरम्भ तो है ही। किन्तु और भी आगे बढ़ना सम्भव है; कारण, आध्यात्मिक पुरुष एकबार अन्तरतः मुक्त हो जानेपर मनके अन्दर सत्ताकी उन उच्चतर स्थितियोंको विकसित कर सकता है जो उसका अपना स्वाभाविक वातावरण हैं और अतिमानसिक ऊर्जा तथा क्रियाको उतार सकता है जो ऋत-चित्‌के स्वधर्म हैं, तब सामान्य मानसिक साधन, प्राणिक साधन, शारीरिक साधन भी पूरे रूपान्तरित किये जा सकेंगे और वे अज्ञानके अंग न रहकर, वह अज्ञान चाहे कितना ही आलोकित क्यों न हो चुका हो, एक अतिमानसिक सृष्टिके अंग हो सकेंगे जो आध्यात्मिक ऋत-चित् तथा ज्ञानकी सच्ची क्रिया होगी।

अध्यात्म-सत्ता तथा आध्यात्मिकताका यह सत्य आरम्भमें मनके लिये स्वतः सिद्ध नही होता; मनुष्यको अपने अन्तरात्माका मनके द्वारा इस रूपमें बोध होता है कि वह उसके शरीरसे भिन्न कुछ है, उसके प्राकृत मन-प्राणसे श्रेष्ठ-तर कुछ है, परन्तु उसे उसका स्पष्ट बोध नहीं होता, अपनी प्रकृतिपर उसके प्रभावोंमेंसे कुछका अनुभव मात्र होता है। चूंकि ये प्रभाव मानसिक रूप या प्राणिक रूप ले लेते हैं, अतः यह अन्तर दृढ़ और पैने रूपसे अंकित नही होता, अन्तरात्माका प्रत्यक्ष बोध कोई विविक्त तथा आश्वस्त स्वातंत्र्य नही प्राप्त करता। वास्तवमें बहुत सामान्यतया, मानसिक तथा प्राणिक अंगोंपर चैत्य चापके अर्ध प्रभावोंकी संसृष्टिको, मनोमयी अभीप्सा तथा प्राणिक कामनाओंसे मिश्रित रूपायणको अन्तरात्मा मानने-की भूल वैसे ही की जाती है जैसे कि यद्यपि आत्मा अपनी सच्ची सत्ता-में अपने सारमें विश्वक भी होता है और वैयक्तिक भी, तथापि पृथक्कारी अहंको आत्मा मान लिया जाता है,—या यह भूल वैसे ही होती है जैसे किसी प्रकारके सबल या उच्च विश्वास या आत्मोत्सर्ग या परहित-भावकी उत्कंठासे उन्नीत किसी मानसिक अभीप्सा और प्राणिक उत्साह तथा आवेगको भूलसे आध्यात्मिकता मान लिया जाता है। परंतु यह अस्पष्टता और ये संभ्रम क्रमविकासके एक अस्थायी पर्वके रूपमें अनिवार्य है, क्योंकि अज्ञान ही उसका आरम्भ-विन्दु और हमारी प्राथमिक प्रकृतिका समूचा लक्षण है जिसके कारण विकासक्रमको अनि-वार्यतः किसी अनुभव-अर्जन या स्पष्ट ज्ञानके विना, एक अपूर्ण संबोधिके प्रत्यक्षण और एक सहजप्रवृत्तिमूलक प्रेरणा या चाहके सहारे आरम्भ करना होता है। यहाँ तक कि जो रूपायण इस प्रत्यक्षण या प्रेरणाके प्रथम प्रभाव या आध्यात्मिक क्रमविकासके प्रथम संकेत होते हैं वे भी अनिवार्यतः ऐसे ही असम्पूर्ण और अनन्तिम प्रकारके होने चाहिये। परन्तु इस प्रकार रचित भ्रान्ति सच्ची समझकी राहमें बहुत बाधा देती है; अतएव इसपर बल देना आवश्यक है कि आध्यात्मिकता कोई उच्च बौद्धिकता नहीं, आदर्शवाद नहीं, मनका नैतिक घुमाव या चारित्रिक पवित्रता और कठोर संयम नहीं, धार्मिकता या कोई तीव्र और उन्नीत भावुक धर्मोत्साह नहीं, इन सारी उत्कृष्ट वस्तुओंका सम्मिलन भी नहीं; मानसिक विश्वास, धर्ममत या श्रद्धा, भावुक अभीप्सा, धार्मिक अथवा नैतिक सूत्रके अनुसार आचरणका नियमन, ये आध्यात्मिक प्राप्ति और अनुभव नहीं। मन और प्राणके लिए इन वस्तुओंका मूल्य बहुत है; स्वयं आध्यात्मिक क्रमविकास-

के लिये इनका यह मूल्य है कि ये तैयार करनेवाली चेष्टाएँ हैं जो प्रकृति-को नियमित करती, शुद्ध करती या उपयुक्त रूप देती हैं; परंतु ये तब भी मनोमय क्रमविकासकी वस्तुएँ है, वहाँ तबतक आध्यात्मिक उपलब्धि, अनुभूति या परिवर्त्तनका आरम्भ नहीं हुआ है। आध्यात्मिकता अपने सारमें हमारा अपनी सत्ताकी आंतरिक सत्यताके प्रति, हमारे मन, प्राण तथा शरीरसे भिन्न अध्यात्मसत्ता, आत्मा, अन्तरात्माके प्रति जागरण है, उसे जानने, उसे अनुभव करने और वही हो जानेकी एक आन्तरिक अभीप्सा है, जो महत्तर 'सद्वस्तु' विश्वसे परे है, विश्वव्यापिनी भी है और हमारी अपनी सत्तामें भी निवास करती है, उससे अंतरंग संपर्क और ऐक्य प्राप्त करनेकी आंतरिक अभीप्सा है, और उस अभीप्सा, उस सम्पर्क, उस ऐक्यके परिणामस्वरूप हमारी सारी सत्ताका एक मोड़, एक धर्मान्तर, एक रूपान्तर है, एक नई संभूति या नई सत्तामें, नये आत्मा, नई प्रकृतिमें अभ्युदय या जागरण है।

वास्तवमें, हमारे पार्थिव जीवनमें जो सृष्टिशीला चित्शक्ति है उसे एक युगल क्रमविकासको एक लगभग साथ-साथकी प्रक्रियामें आगे बढ़ाना होता है, परन्तु इसमें अवर तत्त्वको बहुत प्राथमिकता दी जाती है, उसपर अधिक बल दिया जाता है। एक क्रमविकास हमारी बाह्य प्रकृतिका, प्राण और शरीरमें मनोमय पुरुषकी प्रकृतिका होता है, और उसमें, आत्म-प्राकट्यके लिये आगे पग धरते हुए,—क्योंकि मनके उदय-के साथ वह प्राकट्य सम्भव हो रहा है,—हमारी आन्तरिक सत्ता, हमारी गुह्य, अवगूढ़ और आध्यात्मिक प्रकृतिके क्रमविकासकी अन्ततः एक तैयारी, उसका एक आरम्भ भी होता है। परन्तु तब भी और लम्बे समयतक प्रकृतिका सर्वोपरि व्यवसाय प्रधानतः मनके विकासको उसके सम्भाव्य महत्तम प्रसार, उच्चता और सूक्ष्मतातक ले जाना होगा; कारण, केवल ऐसा करके ही एक सम्पूर्णतया संबोधिमूलिका बुद्धिका, अधिमानसका, अति-मानसका अनावरण, अध्यात्म-सत्ताके उच्चतर साधनविनियोगकी ओरका दुर्गम पथ तैयार हो सकेगा। यदि मूलस्थ आध्यात्मिक सद्वस्तुका प्राकट्य और हमारी सत्ताका उसके शुद्ध अस्तित्वमें अवसान ही एकमात्र अभिप्राय होता तो मनोमय विकासके लिये होनेवाले इस आग्रहका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता : कारण, 'अध्यात्म-सत्ता'का स्फुरण और उसमें हमारी सत्ताकी लीनता, ये तो प्रकृतिके हर बिन्दुपर हो सकते हैं; हृदयकी तीव्रता, मनकी पूरी नीरवता, इच्छाका एकमात्र तल्लीन अनुराग, उस उत्कर्षतक

ले जानेवाली गतिधाराको सम्पन्न करनेके लिये पर्याप्त होंगे। यदि प्रकृति-का अन्तिम अभिप्राय पारलौकिक हो, तब भी यही नियम लागू होगा, कारण, पार्थिव क्रियाधाराको पार करने, उससे अलग होने और किसी आध्यात्मिक अन्यत्रमें प्रवेश करनेकी पारलौकिक प्रेरणामें सर्वत्र ही, प्रकृतिके किसी भी विन्दुपर पर्याप्त वल हो सकता है। परन्तु यदि उसका अभिप्राय सत्ताका व्यापक परिवर्तन हो तो यह युगल क्रमविकास वोधगम्य हो जाता है और इसका औचित्य सिद्ध होता है; कारण, यह उस उद्देश्यके लिये अपरिहार्य है।

तथापि, इससे यह अनिवार्य हो जाता है कि आध्यात्मिक प्रगति कठिन और धीमी हो : कारण, प्रथम तो आध्यात्मिक उन्मेषको प्रत्येक डगपर उपकरणोंके तैयार होनेकी प्रतीक्षा करनी होती है; फिर, जब आध्यात्मिक रूपायणका आविर्भाव होता है, उसमें अपूर्ण मन, प्राण तथा शरीरकी शक्तियाँ, प्रेरक हेतु, आवेग, विकट रूपसे मिश्रित हो जाते हैं,—उसपर यह खिचाव पड़ता है कि वह इन शक्तियों, प्रेरक हेतुओं और आवेगों-को स्वीकार करे और उनका अनुचर हो, उसपर एक अधोमुख गुरुत्वा-कर्षण और संकटप्रद मिश्रण आ पड़ता है, उसे पतन या च्युतिका सतत लोभ होता है, कमसे कम उसे बेड़ियाँ तो लगा ही दी जाती हैं, उसपर भार लाद ही दिया जाता है, विलम्बन तो होता ही है; जो पैड़ी प्राप्त हो चुकी है उसपर वापस आना आवश्यक होता है ताकि प्रकृतिके उस अंशको ऊपर लाया जाय जो पीछे लटक रहा हो और आगेके डगको रोक रहा हो; अन्तमें यह है कि उसे मनके भीतर कार्य करना होता है, और मनकी प्रकृति ही ऐसी है कि उन्मिषन्त आध्यात्मिक ज्योति तथा शक्तिका परिसीमन होता है और उसे वाध्य किया जाता है कि वह खंड-खंड करके कार्य करे, किसी एक रेखाका, फिर दूसरीका अनुसरण करे और अपनी समग्रताकी प्राप्तिको विलकुल ही या वादके लिये छोड़ दे। यह अवरोध, मन, प्राण, तथा शरीरका यह विघ्न,—शरीरकी भारी तामसिकता और दुराग्रह, प्राणिक अंगके आविल अनुराग, मनकी अस्पष्टता और संशयकारिणी अनिश्चितियाँ, अस्वीकृतियाँ, अन्य निरूपण,—इतनी बड़ी और असह्य वाधा है कि आध्यात्मिक प्रेरणा अधीर हो जाती और इन विरोधियोंको कुचल देने, प्राणका वर्जन, शरीरका उत्पीड़न और मनको नीरव करके अपना पृथक् स्वोद्धार पानेका कठोर प्रयत्न करती है जिससे अध्यात्म-सत्ता शुद्ध अध्यात्म-सत्तामें कूच कर जाय

और अदिव्य तथा तमोवृत प्रकृतिका उससे सर्वथा वर्जन कर दिया जाय। हमारे अन्तरके आध्यात्मिक भागकी जो परम पुकार, स्वाभाविक प्रवृत्ति, अपने ही उच्चतम तत्त्व तथा स्थितिमें वापस जानेकी होती है, उसे छोड़कर भी, शुद्ध आध्यात्मिकताकी राहमें आनेवाला प्राणमयी तथा अन्नमयी प्रकृतिका यह विघ्नकारी रूप संन्यासवादके लिये, मायावादके लिये, पारलौकिकताकी ओर प्रवृत्तिके लिये, जीवनसे उपरत होनेके लिये, शुद्ध एवं अमिश्र 'निर्विशेष' के अनुरागके लिये एक बाधा-कारी कारण होता है। शुद्ध आध्यात्मिक निर्विशेषके लिये जो आकूति होती है वह आत्माकी अपनी ही परमा आत्म-स्थितिकी ओर जानेकी प्रवृत्ति है, परन्तु वह प्रकृतिके अपने प्रयोजनके लिये भी अपरिहार्य है; कारण, यह नही हो तो जो मिश्रण होता है, जो अवोमुख गुरुत्वाकर्षण रहता है वह आध्यात्मिक उन्मेषको असम्भव कर देगा। इस निर्विशेषवादका चरमपन्थी, एकान्तवासी, संन्यासी, 'अध्यात्म-सत्ता'की ध्वजाका वाहक है, उसका गेरुआ वस्त्र उसकी पताका है, कोई भी सुलह करनेसे इनकार करनेका प्रतीक है, क्योंकि वस्तुतः इस उन्मेषके संघर्षका अन्त किसी सुलहसे नही, अपितु केवल एक सपूर्ण आध्यात्मिक विजय और अवर प्रकृतिके संपूर्ण समर्पणसे ही हो सकता है। यदि ऐसा यहाँ करना अस-म्भव है तो इसे अन्यत्र उपलब्ध करना होगा; यदि प्रकृति उन्मिषन्त अध्यात्म-सत्ताकी अधीनता अस्वीकार करती है तो पुरुष अवश्य ही प्रकृति-से अलग हट जायगा। इस भाँति आध्यात्मिक उन्मेषमें एक द्विविध प्रवृत्ति है, एक ओर तो सत्तामें आध्यात्मिक चेतनाके प्रतिष्ठापनका संवेग, इसके लिये चाहे जो भी मूल्य चुकाना पड़े, भले ही प्रकृतिका वर्जन भी करना पड़े, दूसरी ओर आध्यात्मिक चेतनाको हमारे प्रकृति-अंगों तक भी विस्तृत करनेकी ओर प्रेरणा। परन्तु जबतक पहली प्रवृत्ति पूरी सिद्ध नहीं हो जाती दूसरी अपूर्ण और रुक-रुक जानेवाली ही हो सकती है। शुद्ध आध्यात्मिक चेतनाका स्थापन ही आध्यात्मिक मानवके विकासक्रममें प्रथम लक्ष्य है, और इसको तथा परम 'सद्वस्तु', 'आत्मा' या 'दिव्य पुरुष'-के साथ सम्पर्क करनेके लिए उस चेतनाकी प्रेरणाको आध्यात्मिक साधककी प्रथम और सर्वोपरि या, जबतक वह पूर्णतः निष्पन्न न हो जाय, एकमात्र लगन होना होगा। यही वह एक आवश्यक वस्तु है जिसे प्रत्येकको अपनी-अपनी सम्भव राहसे, प्रत्येकको अपनी-अपनी प्रकृतिमें विकसित आध्यात्मिक सामर्थ्यके अनुसार करनी ही होगी।

आध्यात्मिक सत्ताके क्रमविकासकी अबतक हो चुकी यात्रापर विचार करनेमें हमें उसे दो ओरसे देखना होता है,—प्रकृतिने प्रगतिके जिन साधनों, जिन धाराओंका व्यवहार किया है उनपर विचार, और मानव-व्यक्तिमें उसने जो वास्तविक परिणाम प्राप्त किये हैं उनका अवलोकन। प्रकृतिने आन्तरिक सत्ताके उन्मेषके प्रयत्नमें चार प्रधान धाराओंका अनुसरण किया है,—धर्म, गुह्यविद्या, अध्यात्म-विचार और आन्तर आध्यात्मिक उपलब्धि तथा अनुभूति : इनमें प्रथम तीन पहुँच-मार्ग है, चतुर्थ है निर्णायक प्रवेश-मार्ग। इन चारों शक्तियोंकी क्रियाएँ एक साथ हुई है, इनमें कम या अधिक सम्बद्धता रही है, कभी अनिश्चित सहयोग रहा है, कभी आपसमें कलह हुआ है, कभी वे पृथक् स्वतंत्र रूपसे हुई हैं। धर्मने अपने आचारमें, अनुष्ठानों और संस्कारोंमें किसी गुह्य तत्त्वको प्रवेश दिया है; उसने अध्यात्म-विचारका सहारा लिया है, उससे कभी कोई मत या विश्वास, कभी अपना आधारी अध्यात्म दर्शन प्राप्त किया है,—साधारणतः इनमें पहली रीति पश्चिमकी, दूसरी पूर्वकी रही है; किन्तु अध्यात्म-अनुभव ही धर्मका अन्तिम साध्य और सिद्धि, उसका गगन और शिखर है। परन्तु धर्मने कभी-कभी गुह्यविद्या-को निषिद्ध भी कर दिया है या अपने अन्दरके गुह्य तत्त्वको घटाकर न्यूनतम कर दिया है; उसने दार्शनिक मानसको शुष्क बौद्धिक विजातीय कह कर अलग हटा दिया है, वह मत और सिद्धान्तपर, धर्म-परायण भावोच्छ्वास तथा उत्साह और नैतिक सदाचारपर पूरा आश्रित रहा है; उसने आध्यात्मिक उपलब्धि तथा अनुभूतिको घटाकर न्यूनतम कर दिया है या उसे तिलांजलि दे दी है। गुह्यविद्याने कभी-कभी आध्यात्मिक उद्देश्यको अपने लक्ष्यके रूपमें आगे रखा है, और उसके समीप ले जाने वाले मार्गके रूपमें गुह्यज्ञान तथा गुह्यानुभवका अनुसरण किया है, एक प्रकारका रहस्यवादी दर्शन भी निरूपित किया है : परन्तु अधिक प्रायः उसने आध्यात्मिक राज्यकी अन्वेषणा किये बिना गुह्य ज्ञान और साधना तक ही अपने-आपको सीमित रखा; वह चमत्कार या निरे जादूकी ओर मुड़ गयी या विच्युत होकर पैशाचिकतामें ही जा पड़ी। अध्यात्म-दर्शनने बहुत सामान्यतः धर्मका सहारा अपने अवलम्ब या अनु-भव-मार्गके रूपमें लिया; यह दर्शन सिद्धि और अनुभवका परिणाम रहा है या इसने सिद्धि और अनुभवकी ओर ले जाने वाले मार्गोंके रूपमें अपने निर्माण खड़े किये : परन्तु यह धर्मकी सारी सहायता या उसकी

सारी बाधासे अलग भी रहा है और अपने बलपर बढ़ा है, या तो मानसिक ज्ञानसे संतुष्ट रहा है या अनुभव और सार्थक साधनाका अपना मार्ग खोज पानेका विश्वास रखे रहा है। आध्यात्मिक अनुभवने इन तीनों साधनोंका आरम्भ-बिन्दुके रूपमें उपयोग किया है, परन्तु अपने ही निरे बलपर निर्भर रहकर उसने तीनोंको छोड़ भी दिया है : उसने गुह्य विद्या और शक्तियोंको संकटकारी प्रलोभन और उलझानेवाली बाधाएँ कह कर उनकी अवज्ञा की है और केवल अध्यात्म-तत्त्वके शुद्ध सत्यकी खोज की है; दर्शनशास्त्रको छोड़कर उसके बदले हृदयोच्छ्वास या एक रहस्यमय अन्तर्मुख अध्यात्मीकरणके द्वारा लक्ष्य तक पहुँचा है; समस्त धार्मिक मत-विश्वास, आराधना और अनुशीलनको पीछे डाल कर, उन्हें अवर भूमिका या प्राथमिक मार्ग मानता हुआ, इन सारे अवलम्बोंको अपने पीछे छोड़ता हुआ, वह इन सारी सज्जाओंका परित्याग करके आध्यात्मिक 'सद्वस्तु'के शुद्ध सम्पर्क तक चला गया है। ये सारी विभिन्नताएँ आवश्यक थीं; प्रकृतिके क्रमवैकासिक प्रयासने परम चेतना तथा पूर्ण ज्ञानकी ओर प्रकृतिका सच्चा मार्ग और साथ ही उसका सम्पूर्ण मार्ग खोजनेके लिए सारी दिशाओंमें परीक्षण किया है।

कारण, इनमेंसे प्रत्येक साधन या मार्ग हमारी समग्र सत्ताके अन्दर-की किसी न किसी वस्तुके अनुरूप, अतः प्रकृतिके क्रमविकासके समग्र लक्ष्यके लिये आवश्यक किसी न किसी वस्तुके अनुरूप भी रहता है। मनुष्यको यदि बहिस्तलीय अज्ञानका वह वर्त्तमान प्राणी नहीं रहना है जो धूमिल रूपसे वस्तुओंके सत्यकी खोज करता और ज्ञानके खंडों तथा भागोंका संग्रह और उन्हें व्यवस्थाबद्ध करता हो, उसे यदि विश्व-शक्ति-का वह तुच्छ और अर्ध-समर्थ जीव नहीं रहना है जैसा वह अपने दृश्य स्वरूपमें अभी है, तो उसके आत्म-विस्तरणकी चार आवश्यकताएँ रहती हैं। उसे अपने-आपको जानना और अपनी सारी शक्यताओंका आवि-ष्कार और उपयोग करना होगा : परन्तु अपने-आपको और जगत्को पूरी तरह जाननेके लिए उसे अपने और जगतके बाह्य रूपके पीछे जाना होगा, अपनी मानसिक सतह और प्रकृतिकी स्थूल सतहके नीचे गहराईमें गोता लगाना होगा। ऐसा वह अपनी आन्तर मानसिक, प्राणिक, शारीरिक और चैत्य सत्ता और उसके सामर्थ्यो और गतिविधि और विश्वके भौतिक पुरोभागके पीछे स्थित गुह्य मन तथा प्राणके विश्वव्यापी नियमों तथा प्रक्रियाओंका ज्ञान पा करके ही कर सकता है : गुह्य विद्या-

को उसके सबसे व्यापक अर्थमें लें तो उसका क्षेत्र यही है। उसे जगत्‌को शासित करनेवाली प्रच्छन्न शक्ति या शक्तियोंका भी ज्ञान पाना होगा; यदि कोई विश्वात्मा, विश्वपुरुष या विश्वस्रष्टा है तो मनुष्यको उसके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेमें समर्थ होना होगा और उसके साथ जो कोई भी सम्पर्क या समागम सम्भव है उसमें रहनेमें समर्थ होना होगा, विश्वाधिपति देव-विभूतियों अथवा विश्वपुरुष और उसकी विश्वव्यापिनी इच्छा या किसी परम पुरुष और उसकी परमा इच्छाके साथ किसी प्रकारकी समस्वरता प्राप्त करनी होगी, उसे उस पुरुषसे प्राप्त विधानका, अपने जीवन तथा आचरणके निर्दिष्ट अथवा प्रकटित लक्ष्यका अनुसरण करना होगा, उसके अभीके जीवनमें या यहाँसे बादके जीवनमें जिस उच्चतम शिखरकी माँग वह पुरुष करता है वहाँ तक उसे अपने-आपको ऊपर उठाना होगा; यदि ऐसा कोई वैश्व या परम आत्मा या पुरुष नहीं है तो उसे यह जानना होगा कि वहाँ फिर क्या है और वह अपनी वर्तमान अपूर्णता तथा अशक्ततामेंसे निकलकर उसतक कैसे ऊपर उठ सकता है। यह गमनमार्ग ही धर्मका लक्ष्य है: इसका उद्देश्य मनुष्यको भगवान्‌के साथ संबद्ध करना और ऐसा करनेमें विचार, प्राण और मांस-देहको उदात्त करना है जिससे वे अन्तरात्मा तथा अध्यात्म-सत्ताका शासन स्वीकार कर सकें। परन्तु इस ज्ञानको किसी मत या किसी रहस्यमय उद्‌घाटनकी अपेक्षा अधिक कुछ होना होगा; यह आवश्यक है कि मनुष्यका विचारशील मन उसे स्वीकार कर सके, वस्तुओंके तत्त्व और विश्वके दृष्ट सत्यके साथ उसे सहसम्बद्ध कर सके: यह काम दर्शनशास्त्रका है और अध्यात्मके सत्यके क्षेत्रमें इसे आध्यात्मिक दर्शन ही कर सकता है, उसकी पद्धति चाहे बौद्धिक हो चाहे संबोधि-मूलक। परन्तु सारे ज्ञान और प्रयासका फल केवल तब ही सकता है, जबकि वह अनुभूतिमें परिणत हो जाय और चेतना तथा उसकी प्रस्थापित क्रियाओंका अंग हो जाय; आध्यात्मिक क्षेत्रमें इस सारे धार्मिक, गुह्य या दार्शनिक ज्ञानको फलीभूत होनेके लिये आध्यात्मिक चेतनाके उन्मीलनमें, उस चेतनाको प्रतिष्ठित और निरन्तर उन्नीत, विस्तृत तथा समृद्ध करनेवाले अनुभवोंमें और अध्यात्मके सत्यसे संगत जीवन तथा कर्मके निर्माणमें पर्यवसित होना होगा: यह काम आध्यात्मिक उपलब्धि तथा अनुभूतिका है।

वस्तुस्थिति ही ऐसी है कि धर्मविधान साधकको आरम्भमें एक सीमे

उन्मेषसे बढ़ना होगा; कारण, अपनी शक्तियोंको विकसित करनेवाले प्रत्येक नये तत्त्वको निश्चेतना तथा अज्ञानके अन्दर संवृतिमेंसे अपनी राह बनानी होगी। निश्चेतनाकी टान और दबावका, उसके सहज प्रवृत्तिगत विरोध और अवरोध और अज्ञानके बाधक मिश्रण और अन्धे तथा दुराग्रही विलम्बनोंका सामना करते हुए, अपने-आपको संवृतिमेंसे, आद्य माध्यमकी तमिस्राके आधिपत्यमेंसे खींच निकालनेका उसका बीड़ा दुष्कर है। आरंभमें प्रकृति एक अस्पष्ट प्रेरणा तथा प्रवृत्तिको पुष्ट करती है जो गुह्य, अवगूढ़, निमज्जित सद्वस्तुकी बाह्यतलकी ओर प्रवृत्तिका चिह्न है; तब जो चीज होनेको है उसके छोटे-छोटे अर्ध-निरुद्ध संकेत, अपूर्ण आरम्भ, अमार्जित तत्त्व, आरम्भिक प्राकट्य, लघु, नगण्य और कठिनाईसे पहचानमें जानेवाले परिमाण मिलते हैं। बादमें छोटे या बड़े रूपायण होते हैं, एक अधिक विशिष्ट और पहचानमें आनेवाला गुण प्रकट होने लगता है, आरम्भमें आंशिक रूपसे, यत्रतत्र या क्षीण मात्रामें, फिर अधिक स्पष्टता, अधिक रूपायणशीलताके साथ और अन्तमें निर्णायक आविर्भाव होता है, चेतनाका परावर्त्तन होता है, उसके आमूल परिवर्तनकी सम्भावनाका आरम्भ होता है : परन्तु तब भी प्रत्येक दिशामें बहुत कुछ करना शेष रह जाता है, पूर्णताकी ओर लम्बी और दुष्कर प्रगति क्रमवैकासिक उद्योगके लिये बाकी रहती है। जो किया जा चुका है उसे केवल पक्का ही नहीं करना होता है, पुनःपतन और अधोमुख गुरुत्वाकर्षण, विफलता और विनाशकी ओरसे उसे सुरक्षित ही नहीं करना होता है, अपितु उसे उसकी सम्भावनाओंके सारे क्षेत्रोंमें, उसकी सम्पूर्ण आत्म-सिद्धिकी समग्रतामें, उसकी अधिकतम ऊँचाई, सूक्ष्मता, समृद्धि और विस्तृतिमें उन्मीलित करना होता है; उसे प्रधान, सर्वालिंगनकारी, व्यापक होना होता है। प्रकृतिकी प्रक्रिया सर्वत्र यही रही है और उसे न देखना प्रकृतिके कार्योंमें अन्तःस्थ अभिप्रायको न पकड़ना और उसकी पद्धतिके गोरखधंधेमें खो जाना है।

मानवीय मन तथा चेतनामें धर्मके क्रमविकासमें यही प्रक्रिया घटित हुई है; हम यदि इस प्रक्रियाकी परिस्थितियों और उनकी आवश्यकताको नहीं देखते हैं तो धर्मने मानव-जातिके लिये जो कार्य किया है उसे नहीं समझा जा सकता या उसका सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। यह स्पष्ट है कि धर्मके प्रथम आरम्भ अमार्जित तथा अपूर्ण ही होंगे, उसके विकासमें मिश्रणों, भ्रान्तियों, मानवीय मन और प्राणिक अंगको दी गयी

रियायतोंकी बाधा आयगी जिनकी प्रकृति प्रायः बहुत अनाध्यात्मिक हो सकती है। अज्ञानमय तथा हानिकारक तत्त्व, नाशकारी तत्त्व भी, अन्दर चले आ सकते और भूल-भ्रान्ति तथा अशुभकी ओर ले जा सकते हैं; मानव-मनकी मताग्रहिता, उसकी स्व-प्रतिष्ठात्मक संकीर्णता, उसका असहनशील और आक्रामक अहंभाव, अपने सीमित सत्योंके प्रति उसकी आसक्ति और अपनी भूल-भ्रान्तियोंके प्रति और भी अधिक आसक्ति, या प्राणकी उग्रता, कट्टरता, युयुत्सा और उत्पीड़क स्व-प्रस्थापन, अपनी ही कामनाओं और प्रवृत्तियोंके लिये अनुमति प्राप्त करनेके हेतु मनपर उसकी कपटी क्रिया,—ये बहुत आसानीसे धार्मिक क्षेत्रपर आक्रमण कर सकती और धर्मको उसके उच्चतर आध्यात्मिक लक्ष्य तथा गुणसे वंचित कर दे सकती हैं; धर्मके नाममें बहुत सारा अज्ञान छिपा रह सकता है, बहुत सारी भ्रान्तियों और एक विस्तृत गलत निर्माणको अनुमति दे दी जा सकती है, अध्यात्म-तत्त्वके विरोधमें बहुतसे अपराध और अपकृत्य भी किये जा सकते हैं। परन्तु यह उतार-चढ़ाववाला इतिहास सारे ही मानव-प्रयासका हुआ करता है, और इस बातकी गणना यदि धर्मकी सत्यता तथा आवश्यकताके विरुद्ध की जाय तो इसकी गणना मानव-प्रयासकी प्रत्येक अन्य धाराकी सत्यता और आवश्यकताके विरुद्ध, मनुष्यके सारे कर्मके विरुद्ध, उसके आदर्शों, उसके विचार, उसकी कला, उसके विज्ञानके विरुद्ध भी करनी होगी।

धर्मने यह दावा किया है कि वह सत्यको दैवी अधिकारसे, प्रेरणासे, ऊपरसे प्रदत्त एक परम पुनीत तथा अचूक प्रभुत्वाधिकारसे निर्धारित करता है,—ऐसा करके उसने अपने-आपके अस्वीकार किये जानेकी राह खोल दी है; उसने मानवीय विचार, भावना और आचरणपर अपने-आपको विवाद या प्रश्नके बिना आरोपित करना चाहा है। यद्यपि धार्मिक भावपर इस दावेकी भावनाके आरोपणका कारण एक प्रकारसे उसके आधार और प्रमाण होनेवाली प्रेरणाओं तथा प्रदीप्तियोंका अनुल्लंघ्य और अकाट्य स्वरूप और मनके अज्ञान, संशयों, दुर्बलताओं, अनिश्चितियोंके बीच अन्तरात्मासे आती एक गुह्य ज्योति तथा शक्तिके रूपमें श्रद्धाकी आवश्यकता है, तथापि यह दावा अतिशय और अपरिपक्व है। श्रद्धा मनुष्यके लिये अपरिहार्य है, क्योंकि उसके बिना वह अज्ञातके बीच अपनी यात्रामें आगे नहीं बढ़ सकता; परन्तु उसे आरोपित नहीं करना चाहिये, उसे आन्तरिक पुरुषसे स्वतंत्र बोध या अनुल्लंघ्य

निर्देशके रूपमें आना चाहिये। निर्विवाद स्वीकृतिके लिये उसका दावा केवल तब उचित ठहर सकता है जबकि आध्यात्मिक प्रयासके फलस्वरूप मनुष्यकी प्रगति सारे अज्ञानमय मानसिक तथा प्राणिक मिश्रणसे मुक्त, उच्चतम, समग्र तथा पूर्ण ऋत-चित् तक पहुँच गयी हो। हमारा अन्तिम लक्ष्य यहीं है, परन्तु वह अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है, और इस अपरिपक्व दावेने मनुष्यके अन्दर धार्मिक सहजप्रवृत्तिके सच्चे कार्यको धूमिल कर दिया है; वह सच्चा कार्य है मनुष्यको 'दिव्य सद्वस्तु' की ओर ले जाना, उस दिशामें उसने अबतक जो कुछ पाया है उसे निरूपित करना और प्रत्येक मानव-प्राणीको आध्यात्मिक साधना-का एक साँचा देना, दिव्य सत्यको खोजने, स्पर्श करने, उसके समीप जानेकी एक राह देना, ऐसी राह देना जो उसकी प्रकृतिकी शक्यताओंके उपयुक्त हो।

क्रमविकासिका प्रकृतिकी वह विशाल और नमनीय पद्धति जो मनुष्य-की धार्मिक खोजके सबसे विस्तीर्ण प्रसारको अवसर देती और उसके सच्चे अभिप्रायको संरक्षित रखती है, भारतमें धर्मके विकासमें देखी जा सकती है। यहाँ धार्मिक निरूपणों, मान्यताओं और पद्धतियोंकी असीम संख्याको अवसर दिया गया है, यहाँ तक कि उन्हें अगल-बगल रहनेको प्रोत्साहित किया गया है, और प्रत्येक मनुष्य इसके लिये स्वतंत्र था कि जो उसके विचार, भावना, स्वभाव, प्रकृति-गठनके अनुकूल हो उसका अनुसरण करे। यह ठीक और बुद्धिसंगत है कि परीक्षणात्मक क्रमविकासके उपयुक्त यह नमनीयता वहाँ हो; कारण, धर्मका यथार्थ कार्य मनुष्यके मन, प्राण तथा शारीरिक जीवनको आध्यात्मिक चेतनाके हाथों उठाये जानेके लिये तैयार करना है; उसे मनुष्यको उस बिन्दु तक ले जाना है जहाँ आन्तर आध्यात्मिक ज्योति पूरी प्रकट होने लगती है। उसी बिन्दुपर धर्मको अपने-आपको गौण कर देना सीखना चाहिये, अपने बाह्य लक्षणोंपर आग्रह नहीं करना चाहिये, अपितु आन्तर पुरुषको उसके अपने सत्य और तत्त्वका विकास करनेके लिये पूरा अवकाश देना चाहिये। इस बीच, मनुष्यके मन-प्राण और देहके जितने भागको वह हाथमें ले सकता है उसे लेना चाहिये और मनुष्यके सारे क्रियाकलापोंको आध्यात्मिक दिशाकी ओर मोड़ना चाहिये, उनके भीतरका आध्यात्मिक अर्थ प्रकट करना चाहिये, आध्यात्मिक परिमार्जनका संस्कार, आरम्भिक आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान करना चाहिये। इसी प्रयत्नमें धर्मकी भूलें

आती है, जिस सामग्रीसे उसका व्यवहार पडा है उसका स्वरूप ही इन मूलोंका कारण है,—वह अवर सामग्री उन्हीं रूपोंपर आक्रमण करती है जो आध्यात्मिक और मानसिक, प्राणिक या शारीरिक चेतनाके बीच मध्यवर्ती तत्त्वोंके रूपमें उपयोगी होनेको अभिप्रेत हैं, और प्रायः वह उन्हें क्षीण, अवनत और भ्रष्ट कर देती है: परन्तु अध्यात्म-तत्त्व तथा प्रकृतिके बीच सेतुरूप होनेसे धर्मकी अधिकतम उपादेयता भी इसी प्रयत्न-मे रहती है। मानव-क्रमविकासमें सत्य और भूल-भ्रांति दोनों सदा साथ-साथ रहते है और यद्यपि भूल-भ्रांतियोंका निराकरण अवश्य करना है, इनके साथ रहनेके कारण सत्यका परित्याग तो नहीं करना है,—यह कार्य प्रायः कठिन होता है, और यदि अनगढ़ रूपसे किया जाय तो परि-णाम धर्मके शरीरपर शल्यक्रियाकी हानि पहुँचाना होता है: कारण, हम जिसे भूल मानते हैं वह बहुत प्रायः उस सत्यका प्रतीक या छद्मवेश या भ्रष्ट या कुगठित रूप होता है जो शल्यक्रियाकी निर्मम उन्मूलकतामें खो जाता है,—भूल-भ्रांतिके साथ-साथ सत्यको भी काट डाला जाता है—स्वयं प्रकृति अच्छे दानों और अपतृण और जंगली घासको लंबे समय तक साथ-साथ फलने-फूलने देती है, कारण, प्रकृतिका अपना वर्द्धन, उसका मुक्त क्रमविकास, ऐसा करके ही सम्भव होता है।

क्रमविकासिका प्रकृति जब मनुष्यको आरम्भिक आध्यात्मिक चेतनाकी ओर पहली बार जगाती है तो स्थूल सत्ताको घेरे हुए 'अनंत' तथा 'अदृश्य'के एक अस्पष्ट बोधसे, मानवीय मन तथा इच्छाकी सीमितता और निःशक्तताके बोधसे, इस बोधसे ही आरम्भ करती है कि मनुष्यसे भी महत्तर कोई चीज जगत्‌में छिपी है, उसके कर्मके परिणामोंकी निर्वा-रिका मंगलकारिणी या अनिष्टकारिणी शक्तियाँ है, एक ऐसी शक्ति है जो, जिस स्थूल जगत्‌में वह रह रहा है, उसके पीछे है और जिसने शायद स्वयं उसकी और जगत्‌की सृष्टि की है, या ऐसी शक्तियाँ हैं जो प्रकृतिकी गतिविधियोंको अनुप्राणित और अनुशासित करती है और स्वयं भी शायद अपनेसे परेके महत्तर 'अज्ञात'से शासित हैं। मनुष्यको यह निश्चित करना था कि ये शक्तियाँ क्या हैं, और उनसे सम्बन्ध स्थापित करनेका साधन प्राप्त करना था जिससे वह उन्हें प्रसन्न कर सके या अपनी सहायताके लिए पुकार सके; उसने उन साधनोंकी भी खोज की जिनसे वह प्रकृतिकी छिपी गतिधाराओंके स्रोतोंका पता पा सके और उनका सूत्रधार हो सके। ऐसा वह अपनी बुद्धिसे तुरन्त नहीं

कर सका, क्योंकि उसकी बुद्धि आरम्भमें केवल स्थूल तथ्योंके साथ व्यवहार कर सकती थी जबकि वह क्षेत्र 'अदृश्य'का था और इसके लिये एक अतिभौतिक दृष्टि तथा ज्ञानकी आवश्यकता थी; उसे यह कार्य संबोधि तथा सहजप्रवृत्तिकी क्षमताके विस्तरणसे करना था जो पशुमें आ चुकी थी; यह क्षमता, विचारशील जीवनमें सुस्थिर, स्थायी और मनोधर्मी होकर आरम्भिक मनुष्यमें अवश्य ही अधिक तीक्ष्ण तथा सजग हुई होगी, यद्यपि तब भी, अधिकतर, एक निम्नतर क्षेत्रमें ही हुई होगी, क्योंकि मनुष्यको अपने सारे प्रथम आवश्यक आविष्कारोंके लिये, बड़े परिमाणमें, इसीपर निर्भर करना था। उसे अवगूढ़ अनुभवकी सहायतापर भी निर्भर करना था; कारण, उसने अपनी बुद्धि और इन्द्रियोंपर पूरा निर्भर करना सीखा, उससे पहले अवगूढ़ सत्ता भी अधिक सक्रिय हुई होगी, उसमें ऊपर उभर आनेको अधिक तैयार हुई होगी, अपने व्यापारोंको बाहर निरूपित करनेमें अधिक समर्थ हुई होगी। प्रकृतिके साथ अपने सम्पर्कोंसे उसने इस भाँति जो संबोधि-स्फुरण प्राप्त किये उन्हें उसके मनने प्रणालीबद्ध किया और इस तरह धर्मके आरम्भिक रूपोंकी रचना की। संबोधिकी इस सक्रिय और तैयार शक्तिने उसे भौतिकके पीछे रहती अतिभौतिक शक्तियोंका बोध भी दिया; और अपनी सहजप्रवृत्ति और इस अवगूढ़ या अधिसामान्य अनुभूतिसे कि ऐसी अतिभौतिक सत्ताएँ हैं जिनसे वह किसी तरह संपर्क कर सकता है, वह इस ज्ञानके क्रियाशील उपयोगके प्रभावी और व्यवस्थित साधनके आविष्कारकी ओर अभिमुख हुआ; इस तरह जादूकी और गुह्यविद्याके अन्य आरंभिक रूपोंकी रचना हुई। किसी समय उसमें यह स्फुरण अवश्य हुआ होगा कि उसके अन्दर ऐसा कुछ है जो भौतिक नहीं है, एक अन्तरात्मा है, जो शरीरके बाद भी रहता है; अदृश्यको जाननेके दबावसे सक्रिय होनेवाले कुछ अधिसामान्य अनुभवोंने उसके अन्दरकी इस सत्ताके सम्बन्धमें उसके प्रथम अपरिष्कृत भावोंके निरूपणमें अवश्य सहायता की होगी। केवल बादमें ही उसने यह अनुभव करना आरंभ किया होगा कि उसे विश्वकी क्रियामें जो कुछ दीखता है वह किसी रूपमें उसके अन्दर अवश्य है और उसमें भी वे तत्त्व हैं जो अदृश्य विभूतियों और शक्तियोंको शुभाशुभके लिये उत्तर देते हैं; इस तरह उसके धार्मिक-नैतिक संस्कारों और उसकी आध्यात्मिक अनुभूतिकी संभावनाओंका आरम्भ हुआ होगा। प्रारम्भिक संबोधि-स्फुरणों, गुह्याचार, धार्मिक-सामाजिक

सदाचार, पुराण-कथाओंमें प्रतीक-रूपसे वर्णित रहस्य-ज्ञान अथवा अनुभवके समूहका समिश्रण, परन्तु गुप्त दीक्षा और अनुशासन द्वारा उनके मर्मका रक्षण,—यही मानव-धर्मकी पूर्वकालीन भूमिका है जो आरम्भमें बहुत छिछली और बहिरंग रही है। निस्संदेह, आरम्भमें ये तत्त्व अमार्जित, दीन और त्रुटिपूर्ण थे, परन्तु उन्होंने गहराई और प्रसारकी प्राप्ति की और कुछ संस्कृतियोंमें वर्द्धित होकर उन्होंने बहुत विस्तृति और सार्थकता पायी।

परन्तु मन तथा प्राणका विकास जैसे-जैसे बढ़ा,—कारण, प्रकृतिका मनुष्यमें पहला और सर्वोपरि व्यवसाय यही रहा है और जिन अन्य तत्त्वोंको बादमें पूरी तरह हाथमें लेकर ऊपर उठाना होगा उनकी उपेक्षा करके इस विकासको आगे बढ़ानेमें वह हिचकिचाती भी नहीं है,—बौद्धीकरणकी ओर एक प्रवृत्ति आयी है और जो संबोधिमूलक, सहज-प्रवृत्तिक तथा अवगूढ़ रूपायण प्रथम आये थे और आवश्यक भी थे उनपर युक्तिबुद्धि और मनोबुद्धिकी बढ़ती शक्तिके खड़े किये गये निर्माण छा गये। मनुष्य ज्यों-ज्यों भौतिक प्रकृतिके रहस्यों और प्रक्रियाओंका आविष्कार करता है, वह अपने गुह्यविद्या और जादूई विद्याके आरम्भिक आश्रयसे अधिका-धिक दूर हटता जाता है; ज्यों-ज्यों अधिकाधिक वस्तुओंकी व्याख्या प्राकृतिक क्रियाओंसे, प्रकृतिकी यांत्रिक पद्धतिसे होती जाती है त्यों-त्यों देवताओं और अदृश्य शक्तियोंकी विद्यमानता और उनके अनुभूत प्रभाव-का भाव पीछे हटता जाता है: परन्तु अपने जीवनमें एक आध्यात्मिक तत्त्वकी और आध्यात्मिक उपकरणोंकी आवश्यकता उसे तब भी अनु-भव होती है, अतएव वह कुछ समय तक दोनों क्रियाओंको साथ-साथ चालू रखता है। परन्तु धर्मके गुह्य तत्त्व यद्यपि तब भी विश्वास-भाव-नाओंके रूपमें धृत या संरक्षित रहते हैं, वे अनुष्ठानों और पौराणिक कथाओंमें आसक्त भी हो जाते हैं, अपना सार्थक्य खो देते और क्षीण हो जाते हैं और बौद्धिक तत्त्व वर्द्धित होता है; अन्तमें, जब और जहां बौद्धीकरणकी प्रवृत्ति अति प्रबल हो जाती है, मतवाद, आचार, अनुष्ठान धार्मिक आचरण और नीतिवादको छोड़ बाकी सब कुछको काट निका-लनेकी चेष्टा होती है। आध्यात्मिक अनुभवका तत्त्व भी क्षीण हो जाता है और केवल विश्वास, भावोच्छ्वास और नैतिक सदाचारपर निर्भर करना पर्याप्त माना जाता है; धर्म, गुह्यविद्या तथा रहस्यात्मा अनुभव-का प्रथम संमिश्रण भंग हो जाता है और एक यह प्रवृत्ति होती है—

यद्यपि वह किसी भी प्रकार सार्वभौम या संपूर्ण नहीं होती, परन्तु फिर भी स्पष्ट या दृष्टिगोचर रहती है—कि इन शक्तियोंमेंसे प्रत्येक अपने-अपने लक्ष्यके लिये अपनी-अपनी राहपर अपने-अपने पृथक् और स्वतंत्र स्वभावानुसार चले। धर्म, गुह्यविद्या और जो कुछ भी अतिभौतिक है, इन सबका पूरा निषेध इस पर्वका अन्तिम परिणाम है; यह हमारी प्रकृतिके गंभीरतर अंगोंके लिये शरणरूप रहनेवाले आश्रयदाता निर्माणों-को टुकड़े-टुकड़े कर देती अगंभीर बुद्धिका निर्मम और शुष्क आवेग होता है। परन्तु क्रमविकासिका प्रकृति तब भी अपने गूढ़ अभिप्रायों-को कुछ लोगोंके मनमें जीवित रखती और उन्हें एक उच्चतर भूमि और गम्भीरतर परिणामों तक ऊपर उठानेके लिये मनुष्यके महत्तर मनोमय विकासका उपयोग करती है। वर्तमान कालमें भी, विजयी बौद्धिकता और भौतिकवादके युगके बाद, हम इस प्राकृतिक प्रक्रियाके प्रमाण देख सकते हैं,—आंतरिक आत्माविष्कारकी ओर वापसी, आन्तरिक खोज और विचारणा, रहस्यानुभवके लिये एक नया प्रयास, आन्तर पुरुष-की टोह, अध्यात्म-तत्त्वके सत्य तथा बलके किसी बोधकी ओर पुनर्जागरण, यह सब अभिव्यक्त होना आरम्भ करता है; अपने आत्मा और अन्तरात्मा-के लिये और विश्वके एक गम्भीर सत्यके लिये मनुष्यकी खोज पुनरु-ज्जीवित होने, अपनी खोयी शक्तिको पुनः प्राप्त करने और प्राचीन मतोंको नव-जीवन देने, नये विश्वासोंका निर्माण करने या साम्प्रदायिक धर्मोंसे स्वतंत्र रहकर प्रगति करनेकी ओर प्रवृत्त होती है। बुद्धिने भी भौतिक आविष्कारके सामर्थ्यकी प्राकृत सीमाओं तक पहुँचकर, उसके आधार-शैलका स्पर्श कर और यह पाकर कि उससे प्रकृतिकी बाह्य प्रक्रियाके अतिरिक्त और किसीकी भी व्याख्या नहीं होती, मन और प्राण-शक्तिके गंभीरतर रहस्यों और गुह्यविद्याके प्रदेशपर, जिसे उसने ठीकसे विचारे बिना वर्जित कर दिया था, अनुसंधानकी दृष्टि—किन्तु परीक्षणात्मक रूपसे और हिचकिचाहटके साथ ही—डालनी शुरू की है जिससे वह जान सके कि उनमें ऐसा क्या है जो सत्य हो। धर्मने भी अपने अतिजीवनकी शक्ति प्रदर्शित की है और वह ऐसे विकासक्रममें-से गुजर रहा है जिसका अंतिम अर्थ अभी भी अस्पष्ट है। मनका जो यह नया पर्व हमें आरम्भ होता दीख रहा है वह चाहे कितने ही अपरि-ष्कृत और हिचकिचाते रूपमें क्यों न हो, प्रकृतिमें आध्यात्मिक क्रम-विकासके किसी निर्णायक मोड़ और प्रगतिकी ओरके चापकी सम्भावना

उसमे देखी जा सकती है। धर्म, जो कि प्रकृतिकी प्रथम अवबौद्धिक भूमिकामें समृद्ध तो था, किन्तु साथ ही एक धूमिलता लिये हुए था, बुद्धिके अति भारके नीचे यौक्तिकताके स्पष्ट किन्तु रिक्त अन्तरालमें चले जानेकी ओर प्रवृत्त हुआ था; परन्तु अन्तमें उसे मानव-मनकी ऊर्ध्वमुखी गतिरेखा-का अनुसरण करना ही होगा और उसके शिखरोंपर अपने सच्चे या श्रेष्ठतम क्षेत्रकी ओर अधिक पूरी तरह ऊपर उठना ही होगा जो कि अतियौक्तिक चेतना एवं ज्ञानके प्रदेशमें है।

यदि हम अतीतको देखें तो यद्यपि प्राकृतिक क्रमविकासकी इस धाराके अधिकांश आरम्भिक पर्व प्रागितिहासके अलिखित पृष्ठोंमें हमसे छिपे पड़े हैं, इसके प्रमाण हमें अभी भी दिखायी दे सकते हैं। यह प्रतिपादित किया गया है कि धर्म अपने आरम्भकालमें जीववाद, जड़पूजा, जादू, टोटमवाद, वर्जनवाद, पुराणकथा और अन्ध-विश्वासजात प्रतीकोंका समूह होनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं था; वहाँ औषधोपचार करनेवाला व्यक्ति पुजारी होता था; यह सब प्रारम्भिक मानव-अज्ञानकी मानसिक फफूंद था,—बादमें, अपने उत्तम रूपमें वह प्रकृति-पूजाका ही एक रूप था। आदिम मानसमें ऐसा हो भी सकता था, किन्तु हमें यह अनुबन्ध जोड़ना होगा कि उसके बहुतसे विश्वासों और आचारोंके पीछे एक अवर किन्तु बहुत ही प्रभावी प्रकारके सत्यका रहना सम्भव था जो हमारे श्रेष्ठतर विकासमें हमसे खो गया है। आदिम मनुष्य अपनी प्राण-सत्ताके एक नीचेके और छोटे प्रदेशमें बहुत ज्यादा रहता है, और गुह्य स्तरपर यह एक ऐसी अदृश्य प्रकृतिके समरूप है जिसका स्वरूप वैसा ही है और जिसकी गुह्य शक्तियोंको ऐसे ज्ञान तथा पद्धतियोंसे सक्रिय किया जा सकता है जिन तक पहुँचनेका द्वार निम्नतर प्राणिक संबोधि और सहजप्रवृत्तियाँ खोल दे सकती हैं। इसे धार्मिक विश्वास और आचरणके एक प्राथमिक पर्वमें निरूपित किया जा सकता है जिसकी प्रकृति और रुचियाँ एक अमार्जित तथा अविकसित रूपमें गुह्य होंगी, परन्तु वह पर्व तब तक आध्यात्मिक नहीं हुआ होगा: छोटी-छोटी प्राण-कामनाओं और स्थूल भौतिक हितकी सहायताके लिये छोटी-छोटी प्राण-शक्तियों और आदिभौतिक सत्ताओंको पुकारना उसका प्रमुख तत्त्व होगा।

परन्तु यह आदिम पर्व,—यदि यह वस्तुतः एक आदिम पर्व हो, न कि जैसा यह हमें अभी भी दिखायी देता है, कोई पतन या शेषांश

हो, सभ्यताके किसी पहलेके युग-चक्रके उच्चतर ज्ञानसे कोई पुनःपतन या किसी मृत या जीर्ण-शीर्ण संस्कृतिके भ्रष्ट अवशेष हो,—केवल एक आरम्भ ही रहा होगा। उसके बाद, चाहे जिन किन्ही भी भूमिकाओंमेंसे निकालनेके बाद ऐसा हुआ हो, धर्मका समुन्नत प्रकार आया जिसका अभिलेख हमे आद्य सभ्य राष्ट्रोंके साहित्य अथवा अवशिष्ट प्रलेखोंमें मिलता है। एक बहुदेववादी विश्वास और आराधना, एक सृष्टि-शास्त्र, एक पौराणिक कथासंग्रह, आचार, व्यवहार, अनुष्ठान और नैतिक कर्तव्योंकी कभी-कभी सामाजिक व्यवस्थामें गहरी परस्पर-गुम्फित एक जटिल प्रणालीसे संरचित यह धर्म-प्रकार सामान्यतः कोई राष्ट्रीय अथवा सामुदायिक धर्म होता था जो विचार और जीवनके विकासकी उस स्थितिका अंतरंग अभिव्यंजक होता था जहाँ तक समुदाय पहुँच चुका हो। बाह्य संरचनामें हमें अभी भी गभीरतर आध्यात्मिक अर्थका अवलम्ब नहीं मिलता है, किन्तु यह रिक्तता अधिक विकसित श्रेष्ठतर संस्कृतियोंमें गुह्य ज्ञान और आचरणोंकी सबल पृष्ठभूमि द्वारा या नहीं तो आध्यात्मिक बुद्धिमत्ता और अनुशासनके प्राथमिक तत्त्वके सहित सावधानीसे रक्षित रहस्योंके द्वारा भर दी गयी। गुह्यविद्या अधिक प्रायः एक जोड़ या अविरचनाके रूपमें आती है, परन्तु सदा वर्तमान नहीं होती; दिव्य शक्तियोंकी आराधना, यज्ञ, बाह्य धर्मपरायणता और सामाजिक नीति-शास्त्र प्रमुख अंग रहते हैं। जीवनके अर्थका आध्यात्मिक दर्शन-सिद्धान्त या विचार आरम्भमें अनुपस्थित लगता है, परन्तु उसके आरम्भ प्रायः पुराण-कथाओं और गूढ़ार्थोंके भीतर रहते हैं और दो-एक उदाहरणोंमें इनमेंसे पूरे प्रकट हो जाते हैं जिससे वह एक सबल पृथक् अस्तित्व धारण करता है।

निस्संदेह यह संभव है कि सर्वत्र रहस्यवादी या गुह्यविद्याका आरम्भिक साधक ही धर्मका स्रष्टा रहा हो और उसीने अपनी गुप्त खोजोंको विश्वास, पुराण और अनुष्ठानके रूपमें जन-मानसपर आरोपित किया हो; कारण, सदा व्यक्ति ही प्रकृतिके संबोधि-स्फुरणोंको ग्रहण करता और, शेष मानवजातिको अपने पीछे घसीटते या खींचते हुए, आगेका डग भरता है। परन्तु यदि हम इस नयी रचनाका श्रेय अव-चेतन जन-मानसको दें तब भी जन-मानसके अन्दरके गुह्यविद्या और रहस्य-विद्याके तत्त्वने ही उसकी रचना की है और उसे अवश्य ही ऐसे व्यक्ति मिले होंगे जिनके द्वारा उसका आविर्भाव हो सका; कारण,

जनव्यापी अनुभव या आविष्कार या प्राकट्य प्रकृतिकी प्रथम पद्धति नहीं है; अग्नि किसी एक ही या कुछ ही बिंदुओंपर दीप्त की जाती है और वह एक गृहाग्निसे दूसरी गृहाग्निमें, एक वेदीसे दूसरी वेदीमें फैलती जाती है। परन्तु रहस्यवेत्ताओंकी आध्यात्मिक अभीप्सा तथा अनुभूति सामान्यतः गुप्त सूत्रोंकी मंजूषामें धरी जाती थी और केवल थोड़ेसे दीक्षित लोगोंको दी जाती थी; बाकी लोगोंको वह धार्मिक या पारम्परिक प्रतीकोंके समूहके अन्दर रखकर पहुँचायी जाती या बल्कि उनके लिये संरक्षित की जाती थी। ये प्रतीक ही आदिकालीन मानव-मानसमें धर्मका मर्म-तत्त्व होते थे।

इस दूसरे पर्वमेंसे तीसरेका उदय हुआ जिसने गुप्त आध्यात्मिक अनुभव तथा ज्ञानको मुक्त करना और उसे सब लोगोंके हाथोंमें एक ऐसे सत्यके रूपमें रखना चाहा जो सर्वरुचिकर हो और सर्वसुलभ भी। एक यह प्रवृत्ति सबल हो उठी कि आध्यात्मिक तत्त्वको धर्मका यथार्थ सार ही नहीं बनाया जाय, वरन् किसी बहिरंग शिक्षा द्वारा उसे सारे आराधकोंके लिये प्राप्य भी कर दिया जाय; जैसे प्रत्येक रहस्यतंत्रकी ज्ञान और साधनाकी अपनी-अपनी पद्धति थी, वैसे ही अब प्रत्येक धर्मकी अपनी ज्ञान-पद्धति, अपना सिद्धान्त और अपनी आध्यात्मिक साधना होनी थी। यहाँ आध्यात्मिक क्रमविकासके अंतरंग और बहिरंग. इन दो रूपोंमें, रहस्यसाधकके मार्ग और धार्मिक मनुष्यके मार्गमें हमें क्रमवैकासिकी प्रकृतिका युगल तत्त्व-विधान दिखायी देता है, एक तत्त्व छोटेसे परिसरमें अन्तरावगाही और संकेंद्रित विकासका, और एक तत्त्व विस्तरण तथा प्रसरणका जिससे कि अभिनव सृष्टि यथासम्भव विशालतम क्षेत्रमें सर्वसामान्य हो सके। इनमें प्रथम है संकेंद्रित, सक्रिय और प्रभावी गतिधारा, द्वितीयकी प्रवृत्ति व्याप्ति एवं प्रतिष्ठाकी है। इस नयी प्रगतिका परिणाम यह हुआ कि आरम्भमें थोड़ेसे व्यक्तियों द्वारा सावधानीसे संरक्षित आध्यात्मिक अभीप्सा मानवजातिमें अधिक सामान्य रूपसे व्याप्त हो गयी; किन्तु उसकी शुद्धता, ऊँचाई और तीव्रतामें कमी आ गयी। रहस्यवादियोंने अपने प्रयासको अतियौक्तिक ज्ञानकी शक्ति, संबोधिमूलक, प्रेरणामूलक, स्वतः प्रकाशक ज्ञानकी शक्ति और आन्तरिक सत्ताकी गुह्य सत्य तथा अनुभवमें प्रवेश करनेकी शक्तिपर अधिष्ठित किया था: परन्तु ये शक्तियाँ जन-साधारणके अधिकारमें नहीं हैं या यदि हैं भी, तो अमार्जित, अविकसित और खंडित आरंभिक रूपमें ही जिसपर कुछ भी सुरक्षित रूपमें अधिष्ठित

नहीं किया जा सकता; अतः इस नयी प्रगतिमें उनके लिये आध्यात्मिक सत्यको मत और सिद्धान्तके बौद्धिक रूपों, आराधनाके भावुक रूपों और एक सरल किन्तु अर्थपूर्ण कर्मकांडकी पोशाक देनी पड़ी। साथ ही वह सबल आध्यात्मिक केन्द्रक व्यामिश्र और मन्दीभूत हो गया, उसमें खोट मिल गया; मन, प्राण और शारीरिक प्रकृतिके निम्नतर तत्त्व उसपर आक्रमण और उसकी नकल करने लगे। अप्रामाणिक और कृत्रिमका यह मिश्रण, खोट और आक्रमण, रहस्योंका यह दूषण और उनके सत्य तथा तात्पर्यका विलोप, साथ ही, अदृश्य शक्तियोंके साथ सम्पर्क करनेसे प्राप्त होनेवाली गुह्य शक्तिका अपव्यवहार, इन्हीं सबसे आदिकालीन रहस्यवेत्ता अधिकतम भय खाते थे और इनको रोकनेके लिये वे गोपनता बनायीं रखते थे, कठोर अनुशासन रखते थे, रहस्यको थोड़ेसे अधिकारी दीक्षित जनोंतक ही सीमित रखते थे। विस्तरणशील गति और परिणामगत आक्रमणका दूसरा अभद्र फल या संकट यह हुआ है कि आध्यात्मिक ज्ञानको बौद्धिक आकार देकर उसके सिद्धान्त-मत बनाये गये और जीवन्त साधनाको जड़ आकार देकर उपासना-पद्धति, धर्माचार और अनुष्ठानका मृत पिंड बना दिया गया; इस यंत्रीकरणसे काल-क्रममें धर्मके शरीरमेंसे आत्माका कूच कर जाना अवश्यम्भावी हो गया। परन्तु यह संकट उठाना तो था ही, कारण, विस्तारकारिणी गतिधारा क्रमविकासिका प्रकृतिमें आध्यात्मिक प्रेरणाकी अन्तर्निहित आवश्यकता थी।

इस तरह वे धर्म अस्तित्वमें आये जो प्रमुखतः या कुल मिलाकर किसी आध्यात्मिक परिणामके लिये धर्मपंथ और अनुष्ठान-कर्मपर निर्भर करते हैं, परन्तु फिर भी, अपने अनुभवके सत्यके कारण उस मूलभूत आन्तरिक सत्यको धृत रखते हैं जो उनमें आरम्भमें वर्तमान था और तबतक टिका रहता है जबतक कि उसे चालू रखनेवाले या उसका पुनर्नवीकरण करनेवाले लोग रहते हैं; यह उन लोगोंके लिये साधन होता है जिन्हें भगवान्‌को पाने और अध्यात्म-तत्त्वको मुक्त करनेकी आध्यात्मिक प्रेरणाने स्पर्श किया है। इस विकास-घटनाके कारण आगे जाकर दो प्रवृत्तियोंमें विभाजन हुआ है, कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट, उदारपंथी और नवविधानी; एक तो धर्मके आदि नमनीय स्वभाव, उसकी बहुमुखता और मानव-प्राणीकी सारी प्रकृतिके लिये उसकी आकर्षणशीलताके किसी संरक्षणकी ओर प्रवृत्ति, दूसरी वह जो इस उदारताका भंजन करती और केवल विश्वास, उपासना तथा आचरणपर निर्भर करनेका आग्रह रखती है, इसके लिये उन्हें

इतना सरल करती है कि वे सामान्य वुद्धि, हृदय तथा नैतिक इच्छाको तुरन्त और आसानीसे रुचिकर लगें। यह मोड़ अतिशय वौद्धीकरणके उद्‌भवमें जो कुछ अदृश्य है उसके साथ सम्पर्क स्थापित करना चाहते गुह्य तत्त्वोंमेंसे अधिकांशका अपयश और तिरस्कार करने, वहिस्तलीय मनको आध्यात्मिक प्रयासका पर्याप्त वाहन मानकर उसपर निर्भर करनेकी प्रवृत्तिके उद्‌भवमें सहायक रहा है; आध्यात्मिक जीवनमें एक विशेष शुष्कता, एक संकीर्णता और एक अल्पता प्रायः ही इसके परिणाम रही हैं। इसके अतिरिक्त जव वुद्धिने इतने सारेको अस्वीकार किया, इतने सारेको निकाल वाहर किया, तो उसे इसका प्रचुर अवकाश और अवसर मिला कि वह औरको भी अस्वीकार करती चले, फिर अन्तमें वह सव कुछको ही अस्वीकार कर दे, आध्यात्मिक अनुभवका भी निषेध करे और आध्यात्मिकता तथा धर्मको निकाल वाहर करे, केवल अपने-आपको एकमात्र उत्तरजीविनी शक्तिके रूपमें छोड़े। परन्तु आत्मासे शून्य वुद्धि केवल वाह्य ज्ञान, यंत्र और निपुणताका ही ढेर वना सकती है, अन्तमें जीवनी-शक्तिके गुप्त स्रोत सूख जाते हैं और एक अवनति होने लगती है; तव कोई ऐसी आन्तरिक शक्ति भी नहीं रहती जो जीवनकी रक्षा या नये जीवनकी सृष्टि कर सके, तव मृत्यु और विघटन और पुराने अज्ञानसे एक नवारम्भके अलावा और कोई राह नहीं रह जाती।

क्रमविकास-तत्त्वके लिये यह सम्भव था कि वह संकेंद्रणकी रीति और विसरणकी रीतिके श्रेष्ठतर समन्वयकी ओर अधिक विज्ञ प्राचीन सामंजस्यको भंग करके नहीं, वरन् उसके विस्तरणके द्वारा वढ़ता हुआ, अपनी आदि गतिधाराकी संपूर्णताको संरक्षित रखता। हमने देखा है कि भारतमें क्रमविकासिका प्रकृतिकी आद्या संवोधि और समग्र गति टिकी रही है। कारण, भारतमें धर्मने अपने-आपको किसी एक सिद्धान्त या मतसे सीमित नहीं रखा; उसने विभिन्न निरूपणोंको एक विपुल संख्यामें प्रवेश ही नहीं दिया, वरन् उन सारे तत्त्वोंको अपने अन्दर सफलतासे अंतर्विष्ट किया जो धर्मके क्रमविकासकी यात्रामें पनपे हैं और उनमेंसे किसीका भी निषेध या उच्छेद करनेसे अस्वीकार किया: उसने गुह्यविद्याका विकास उसकी आत्यन्तिक सीमाओंतक किया, सव प्रकारके अध्यात्म-दर्शनोंको स्वीकार किया, आध्यात्मिक उपलब्धि, अनुभूति और साधनाकी प्रत्येक सम्भव धाराका अनुसरण उसकी उच्चतम, गभीरतम या विशालतम निष्पत्ति तक किया। उसकी पद्धति क्रमविकासिका प्रकृतिकी

ही पद्धति रही है, उसने सारी विकास-धाराओंको, आधारके विभिन्न अंगोंके साथ सम्पर्क और उनपर क्रिया करनेके आत्माके सारे साधनोंको, मनुष्य और परम या भगवान्के संगमके सारे पंथोंको अवकाश दिया है, लक्ष्यकी ओर बढ़नेकी हर सम्भव राहका अनुसरण और उसके चरमत्व तकमें भी उसका परीक्षण करने दिया है। मनुष्यमें आध्यात्मिक क्रमविकासकी सारी भूमिकाएँ हैं और प्रत्येकको अध्यात्मकी ओर जानेके अपने-अपने मार्गका, ऐसे मार्गका अवसर या साधन देना होता है जो उसके सामर्थ्यके उपयुक्त हो, जिसका उसे अधिकार हो। जो आदिम रूप बचे रह गये उनपर भी रोक नहीं लगायी गयी, वरन् उन्हें एक गभीरतर सार्थक्यकी भूमितक ऊपर उठाया गया, जबकि साथ ही सूक्ष्मतम परम व्योममें उत्तुंगतम आध्यात्मिक शिखरोंकी ओर बढ़नेका चाप रहा था। यहाँ तक कि धर्मके अपवर्जक साम्प्रदायिक प्रकारका भी बहिष्कार नहीं किया गया; यदि सामान्य लक्ष्य तथा सिद्धान्तसे उसका मेल स्पष्ट हो तो उसे सर्वसामान्य व्यवस्थाके अनन्त वैविध्यके अन्दर प्रवेश दिया जाता था। परन्तु इस नमनीयताने एक निर्धारित धार्मिक-सामाजिक व्यवस्थाका अवलम्ब लेना चाहा, और उस व्यवस्थामें उसने मानव-प्रकृतिके क्रमिक सम्पादनके सिद्धान्तको व्याप्त कर दिया जो कि अपने उच्चतम विन्दुपर एक परम आध्यात्मिक प्रयासकी ओर मुड़ा हुआ था; सामाजिक व्यवस्थाकी यह दृढ़बद्धता जो किसी समय जीवनकी एकताके लिये तो शायद आवश्यक थी, भले ही वह साथ ही साथ आध्यात्मिक स्वतंत्रताके लिये एक निश्चित और सुरक्षित आधारके रूपमें आवश्यक न भी रही हो, एक ओर संरक्षणार्थ शक्ति रही है, परन्तु साथ ही सम्पूर्ण सार्वभौमताके सहजात अन्तर्भावके मार्गमें महा बाधा होकर भी रही है, अति-केलासन तथा प्रतिबन्धका तत्त्व भी रही है। सुदृढ़ आधार अपरिहार्य हो सकता है, किन्तु उसे भी, यदि वह सारतः सुनिश्चित हो गया है तो भी, अपने रूपोंमें नमनीयताके लिये, क्रमवैकासिक परिवर्तनके लिये, समर्थ होना ही चाहिये; व्यवस्था तो वह अवश्य हो, परन्तु वर्द्धमान व्यवस्था हो।

तथापि, इस महान् और बहुमुख धार्मिक तथा आध्यात्मिक विकासका सिद्धान्त स्वस्थ सिद्धान्त था, और समग्र जीवन तथा मानव-प्रकृतिको अपने अन्दर लेकर, बुद्धिके वर्द्धनको प्रोत्साहित कर और कभी भी उसका विरोध न कर या उसकी स्वतंत्रताको सीमित न कर, बल्कि उसे आध्यात्मिक खोजकी सहायताके लिये आमंत्रित कर, उसने उस संघर्ष या

अनुचित प्रधानताको रोक दिया जिसके कारण पाश्चात्य जगत्में धार्मिक सहजवृत्ति कुंठित हुई और सूख गयी और शुद्ध जड़वाद तथा अधार्मिकतामें डुबकी लगी। इस नमनीयता तथा सार्वभौमताकी पद्धति, जो कि सारे मतों और रूपोंको स्वीकार करती परन्तु उनका अतिक्रमण भी करती है और प्रत्येक प्रकारके तत्त्वको अनुमति देती है, ऐसे बहुतेरे परिणाम उत्पन्न कर सकती है जिनपर विशुद्धिवादी आपत्ति कर सकता है, किन्तु इसका बड़ा समर्थक परिणाम रहा है आध्यात्मिक प्राप्ति और प्रयास और खोजका अनुपम प्रचुर ऐश्वर्य और उसकी बहुयुगव्यापिनी आयु और दुराक्रम्य स्थायिता, सार्वजनीनता, सार्वभौमता, ऊँचाई, सूक्ष्मता और बहुमुखी विशालता। विकासक्रमके विशालतर लक्ष्यको यदि किसी भी परिपूर्णतासे क्रियान्वित होना है तो वह वस्तुतः किसी ऐसी ही सार्व-भौमता और नमनीयतासे हो सकता है। धर्मसे व्यक्ति चाहता है आध्यात्मिक अनुभवके उन्मीलनका द्वार या उसकी ओर मुड़नेका साधन, ईश्वरसे आन्तर संयोग, या मार्गपर पथप्रदर्शनका सुनिश्चित प्रकाश, यहाँके बादका आश्वासन या अधिक सुखद पारलौकिक भविष्य; ये आवश्यकताएँ सैद्धान्तिक विश्वास और साम्प्रदायिक उपासनाके अधिक संकीर्ण आधारपर पूरी कर दी जा सकती हैं। परन्तु प्रकृतिका वह विशालतर उद्देश्य भी तो है कि वह मनुष्यमें आध्यात्मिक विकासकी तैयारी करे और उसे आगे बढ़ाये और मनुष्यको आध्यात्मिक जीवमें परिणत करे; मनुष्यके प्रयास और आदर्शको उस दिशामें प्रवृत्त करने और जो लोग तैयार हैं उनमेंसे प्रत्येकको उस ओरके मार्गपर डग भरनेकी सम्भावना प्रदान करनेके लिये साधन-रूपमें धर्म प्रकृतिके लिये उपयोगी है। इस उद्देश्यके लिये प्रकृति अपने द्वारा सृष्ट उपासना-पद्धतियोंकी अमित विविधता-को काममें लेती है जिनमेंसे कुछ तो नियत, मानकित और निश्चयात्मिका होती हैं, बाकी अपेक्षाकृत नमनीय, नानाविध और बहुमुखी। जो धर्म स्वयं ही धर्मोका समूह हो और साथ ही प्रत्येक मनुष्यको आन्तरिक अनुभवमें उसका अपना मोड़ देता हो, वही धर्म प्रकृतिके इस उद्देश्यसे अधिकतम मेल खायगा: वह आध्यात्मिक विकास तथा पुष्पणकी समृद्ध नर्सरी होगा, जीवके अनुशासन, प्रयास, आत्मोपलब्धिका विशाल बहुवर्गी शिक्षालय होगा। धर्मने जो कोई भी भूलें की हों, उसका कार्य और उसकी महान् तथा अपरिहार्य उपयोगिता तथा सेवा यही है,— मनके अज्ञानमेंसे होकर 'अध्यात्म-सत्ता'की संपूर्ण चेतना तथा आत्म-

ज्ञानकी ओर हमारी यात्रामें पथप्रदर्शनका यह वर्द्धमान प्रकाश दिखाते रहना।

गुह्यविद्या, अपने साररूपमें, मनुष्यका प्रकृतिके गुप्त सत्यों और शक्यताओंका ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयास है जो मनुष्यको उसकी सत्ताकी स्थूल सीमाओंकी दासतामेंसे निकालकर ऊपर उठायगा। यह विद्या, विशेषतः, प्राणपर मनकी और जड़पर मन तथा प्राण दोनोंकी रहस्यमयी, गुह्य और अपरोक्ष किन्तु बाह्यतः अभी भी अविकसित शक्तिको अधिकृत तथा संगठित करनेका प्रयत्न है। साथ ही यह प्रयास होता है कि विश्व-सत्ताकी अतिभौतिक ऊँचाइयों, गहराइयों और मध्यवर्ती स्तरोंके लोकों और सत्ताओंके साथ सम्पर्क स्थापित किया जाय और इस सम्पर्कका उपयोग उच्चतर सत्यपर अधिकार करने और प्रकृतिकी शक्तियों और क्षमताओंपर प्रभुता पानेके मानव-संकल्पमें उसकी सहायता देनेके लिये किया जाय। मनुष्यकी यह अभीप्सा इस विश्वास, संबोधि या संकेतपर खड़ी होती है कि हम केवल कीचके जीव नहीं, वरन् अन्तरात्मा हैं, मन हैं, इच्छाबल हैं और हम इस जगत् तथा प्रत्येक जगत्के सारे रहस्योंको जान सकते और प्रकृतिके शिष्य ही नहीं, अपितु उसके रहस्यज्ञाता और स्वामी बन सकते हैं। गुह्यविद्याके तांत्रिकने स्थूल वस्तुओंका रहस्य भी जानना चाहा और इस प्रयासमें उसने नक्षत्रविद्याका विकास किया, रसायनशास्त्रकी रचना की, अन्य विज्ञानोंको प्रेरणा दी, ज्यामिति और संख्या-विज्ञानको भी काममें लिया; परन्तु इससे भी अधिक, उसने अति-प्राकृतिक रहस्य जानने चाहे। इस अर्थमें गुह्यविद्याको अतिप्राकृतिकका विज्ञान कहा जा सकता है; परन्तु वह वस्तुतः केवल अतिभौतिकका आविष्कार, भौतिक सीमाका अतिक्रमण है,—गुह्यविद्याका मर्म वह असम्भव मरीचिका नहीं है जो प्रकृतिकी सारी शक्तिसे परे या बाहर चले जाने और शुद्ध कपोलकल्पना तथा मनमाने चमत्कारको सर्वशक्ति-शाली रूपसे प्रभावी बनानेकी आशा करती है। जो हमें अतिप्राकृतिक लगता है वह वस्तुतः या तो जड़ प्रकृतिमें अन्य-प्रकृतिके व्यापारोंका स्वतःस्फूर्त अभिधावन है या, गुह्यवेत्ताके कार्यमें, वैश्व 'सत्ता' तथा 'ऊर्जा' की उच्चतर व्यवस्थाओं या श्रेणियोंके ज्ञान और बलको अधिकृत करना और उनकी शक्तियों तथा प्रक्रियाओंको,—परस्पर-सम्बन्धकी सम्भावनाओं और भौतिक प्रभाव-सम्पादनके साधनोंको हस्तगत करके,—भौतिक जगत्में प्रभावोत्पादनकी ओर निर्देशित करना है। मन और प्राण-शक्तिके ऐसे

सामर्थ्य हैं जो प्रकृतिके द्वारा जड़में मन और प्राणके वर्तमान व्यवस्थापनमें सम्मिलित नहीं किये गये है परन्तु शक्य रूपमें हैं और जिन्हें भौतिक वस्तुओं तथा घटनाओंपर प्रभाव डालनेके लिये लाया जा सकता या वर्तमान व्यवस्थापनके अन्दर लाकर जोड़ भी दिया जा सकता है जिससे वे हमारे अपने प्राण और शरीरपर मनका अधिकार बढ़ा सकें या दूसरोंके मन, प्राण और शरीरपर या विश्वशक्तियोंकी गतिविधिपर क्रिया कर सकें। आधुनिक युगमें सम्मोहनकी मान्यता,—यद्यपि यह प्रयोग अभी भी संकीर्ण और सीमित है, अपनी पद्धति तथा सिद्धान्त-ज्ञानसे सीमित है,—उन गुह्य शक्तियोंके इस प्रकारके आविष्कार और प्रणालीबद्ध प्रयोगका उदाहरण है जो अन्यथा हमें केवल किसी ऐसी अनियमित या गुप्त क्रियासे ही स्पर्श करती हैं जिसकी प्रक्रिया हमें अज्ञात हो या अपूर्ण रूपसे थोड़ेसे ही लोगोंकी पकड़में आती हो। वस्तुतः हमपर सारे ही समय सुझावोंकी धौल-धप्पड़ चलती रहती है; सुझाव आते हैं हमारी विचारणामें, हमारे आवेग, संकल्प, भावोच्छ्वास और संवेदनमें, विचार-तरंगोंमें, प्राण-तरंगोंमें; ये सुझाव हममें या हमपर दूसरोंसे या विश्व-ऊर्जासे आते हैं, किन्तु इनकी क्रिया और प्रभाविताका हमें ज्ञान नहीं होता। इन गतियों और इनके विधान तथा सम्भावनाओंको जानने, इनके पीछे रहनेवाले बल या प्रकृतिशक्तिको अधिकृत और व्यवहृत करने या इनसे हमारी रक्षा करनेका व्यवस्थाबद्ध प्रयास गुह्यविद्याके एक प्रान्तके अन्तर्गत आयगा: परन्तु उस प्रान्तका भी यह एक छोटासा ही भाग होगा, कारण, इस बहुत ही अल्प-अन्वेषित ज्ञानके इस बृहत् प्रदेशके सम्भव क्षेत्र, उपयोग और प्रक्रियाएँ विशाल तथा बहुल हैं।

आधुनिक कालमें, भौतिक विज्ञानने जैसे-जैसे अपने आविष्कारोंकी वृद्धि की और प्रकृतिकी गुप्त भौतिक शक्तियोंको मानव-उपयोगके लिये मानव-ज्ञान द्वारा शासित क्रियामें नियोजित किया, गुह्यविद्या पीछे हटती गयी और अन्तमें यह कहकर अलग हटा दी गई कि एकमात्र स्थूल ही सत्य है और मन तथा प्राण जड़की विमार्गीय क्रियाशीलताएँ मात्र हैं। इस आधारपर, भौतिक ऊर्जाको सारी वस्तुओंकी कुंजी मानकर, विज्ञानने हमारे मन और प्राणके सामान्य और अपसामान्य व्यापारों और क्रिया-कलापोंके भौतिक साधनविनियोग और प्रक्रियाके ज्ञान द्वारा मन तथा प्राणकी प्रक्रियाओंपर अधिकारकी ओर बढ़नेका प्रयत्न किया; आध्यात्मिकको मानसताका कोई एक रूप ही कहकर उपेक्षित किया जाता

है। प्रसंगवश यह कहा जा सकता है कि यदि यह प्रयास सफल हो गया तो यह मानवजातिके अस्तित्वके लिये संकटहीन नहीं होना चाहिए, जैसेकि अभी भी कुछ अन्य वैज्ञानिक आविष्कारोंका इतनी वड़ी और संकटपूर्ण शक्तियोंसे व्यवहार करनेके लिये मन और नैतिकताकी दिशामें अप्रस्तुत मानवजाति द्वारा दुरुपयोग अथवा अनिपुण व्यवहार होता है; कारण, यह एक कृत्रिम नियंत्रण होगा जो हमारे जीवनको आधार तथा अवलम्ब देती गुप्त शक्तियोंके किसी भी ज्ञानके विना प्रयुक्त किया जाता होगा। पाश्चात्य जगत्में गुह्यविद्याको इस प्रकार आसानीसे हटा दिया जा सका, कारण, वहाँ वह कभी भी वालिग नहीं हुई, उसने कभी भी परिपक्वता और कोई दार्शनिक या ठोस व्यवस्थावद्ध भित्ति नही प्राप्त की। उसने अतिप्राकृतिकके रोमांसका उपभोग अति स्वच्छंदतासे किया या अविसामान्य शक्तियोंके उपयोगके लिये सूत्रों और प्रभावी विधियोंके आविष्कारपर ही अपने प्रधान प्रयत्नको एकाग्र करनेकी भूल की। वह च्युत होकर सफेद और काला जादू या गुह्य रहस्यवादकी रूमानी या ऐंद्रजालिक साज-सामग्री हो गयी और आखिरकार जो एक सीमित तथा अल्प ज्ञान ही था उसका एक अतिरंजित रूप हो गयी। इन प्रवृत्तियों और मानसिक आधारकी इस अनिश्चितिके कारण गुह्यविद्याका वचाव कठिन और उसका अपयश सरल हो गया, वह सुगम और सहजवेध्य लक्ष्य वन गयी। मिस्र और पूर्वमें ज्ञानकी यह धारा एक महत्तर और अधिक व्यापक प्रयास तक पहुँच गयी : यह अधिक प्रभूत परिपक्वता अभी भी तंत्रोंकी अपूर्व प्रणालीमें अक्षत देखी जा सकती है; यह विद्या केवल अविसामान्यका वहुमुख ज्ञान नहीं थी, उसने धर्मके सारे गुह्य तत्त्वोंका आधार प्रदान किया और आध्यात्मिक साधना तथा आत्मोपलव्धिकी एक महान् और सशक्त प्रणालीका भी विकास किया। कारण, उच्चतम गुह्यविद्या वह है जो मन, प्राण और अध्यात्म-तत्त्वकी गुप्त गतिविधि और क्रियाशील अधिसामान्य सम्भावनाओंका आविष्कार करती और हमारी मानसिक, प्राणिक तथा आध्यात्मिक सत्ताकी श्रेष्ठतर प्रभावशालिताके लिये उनका उपयोग उनकी सहजात शक्तिसे या किसी प्रक्रियाके प्रयोगसे करती है।

लोकमतमें गुह्यविद्याको जादू और जादूई सूत्रों और अतिप्राकृतिककी एक अनुमानित क्रियाविधिसे संयुक्त किया जाता है। परन्तु यह एक ही पहलू है और यह सर्वथा कोई अंध-विश्वास भी नहीं जैसा होनेकी

कल्पना वे लोग गर्वसे करते हैं जिन्होंने गुह्य प्रकृति-शक्तिके इस प्रच्छन्न रूपको गहराईसे नहीं देखा है या देखा ही नही है या उसकी सम्भावनाओं-का परीक्षण नही किया है। सूत्र और उनके प्रयोग, प्रसुप्त शक्तियों-का यंत्रीकरण,—ये जैसे भौतिक विज्ञानमें ठीक वैसे ही मनःशक्ति और प्राणशक्तिके गुह्य उपयोगमें भी आश्चर्यकारी रूपसे प्रभावी हो सकते हैं, परन्तु यह केवल एक गौण पद्धति और एक सीमित गतिमुख है। कारण, मन और प्राणकी शक्तियां अपनी क्रियामें नमनीय, सूक्ष्म और परिवर्तन-शील हैं, और उनमें जड़तत्त्वकी अनम्यता नहीं; उन्हें जाननेमें, उनकी क्रिया और पद्धतिको समझनेमें, उनके विनियोगमें, यहां तककि उनके स्थापित सूत्रोंको समझने और उनके उपयोगमें भी एक सूक्ष्म तथा नम-नीय संबोधि आवश्यक है। यंत्रीकरण और अनम्य सूत्रीकरणपर अत्य-धिक बल देनेसे इस परिणामकी सम्भावना होती है कि ज्ञान बंजर हो जाय या सूत्राकारमें सीमित हो जाय और व्यावहारिक क्षेत्रमें बहुत सारी भूल-भ्रान्ति, अज्ञानमयी रूढ़ि, अपव्यवहार और विफलताका आगमन हो। चूंकि अब हम इस अंधविश्वासको पार कर रहे हैं कि जड़ ही एकमात्र सत्य है, प्राचीन गुह्यविद्या और नये निरूपणोंकी ओर, साथ ही, मनके अभी भी प्रच्छन्न रहते सत्यों और शक्तियोंके वैज्ञानिक अनुसंधान-की ओर और चैत्यिक तथा असामान्य या अधिसामान्य अतीन्द्रिय व्यापारके घने अध्ययनकी ओर पीछे जाना सम्भव है, और उसके कुछ अंश दृष्टि-गोचर भी हो गये हैं। परन्तु उसे यदि अपनी परिपूर्ति करनी है तो सच्ची भित्ति, सच्चे लक्ष्य तथा सच्ची दिशाका, अनुसंधानकी इस धाराके आवश्यक अनुबन्धों और पूर्वविधानोंका पुनः आविष्कार करना होगा; उसका सबसे महत्त्वपूर्ण लक्ष्य मनःशक्ति और प्राण-शक्तिके छिपे सत्यों और सामर्थ्यों और निगूढ़ अध्यात्म-तत्त्वकी श्रेष्ठतर शक्तियोंका आविष्कार ही होना चाहिये। गुह्य विज्ञान, सारतः, अवगूढ़का, हमारे अपने अन्दरके अवगूढ़का और जगत्-प्रकृतिके अन्दरके अवगूढ़का, और जो कुछ भी अवगूढ़-से सम्बन्धित है, जिसमें अवचेतन तथा अतिचेतन सम्मिलित हैं, उस सबका विज्ञान है, और आत्मज्ञान तथा जगत्ज्ञानके अंग-रूपमें और उस ज्ञानके सही सक्रियकरणके लिये उसके उपयोगका विज्ञान है।

उच्चतम ज्ञानकी ओर बुद्धिके द्वारा जाना, मनके द्वारा उसे आयत्त करना, मानव-प्राणीमें प्रकृतिकी इस गतिधाराके लिये अपरिहार्य सहायता है। सामान्यतः हमारे बाह्य तलपर मनुष्यके विचार और कर्मका प्रधान

उपकरण युक्तिबुद्धि है, वह बुद्धि है जो प्रेक्षण करती, समझती और व्यवस्थित करती है। अध्यात्म-तत्त्वकी किसी भी समग्र प्रगति अथवा विकासमें केवल संबोधि, अन्तर्दृष्टि, अन्तर्बोध, हृदयकी भक्ति, अध्यात्म-तत्त्वकी वस्तुओंके गंभीर और अपरोक्ष जीवन्त अनुभवको ही विकसित नहीं करना है, अपितु बुद्धिको भी आलोकित और तुष्ट करना ही होगा; हमारे विचारशील तथा चिन्तनधर्मी मनको हमारी प्रकृतिके इस उच्चतम विकास और क्रियाशीलताके लक्ष्य, पद्धति, सिद्धान्तोंका और उसके पीछे जो कुछ है उस सबके सत्यका बुद्धिसंगत और प्रणालीबद्ध विचार बनानेमें सहायता देनी ही होगी। आध्यात्मिक उपलब्धि और अनुभूति, संबोधि-मूलक और प्रत्यक्ष ज्ञान, आंतर चेतनाकी वृद्धि, अन्तरात्मा और एक अन्तरंग आंतरात्मिक प्रत्यक्षणका, आन्तरात्मिक दृष्टि और आन्तरात्मिक बोधका विकास वस्तुतः इस क्रमविकासके उपयुक्त साधन हैं : परन्तु मननधर्मिणी और आलोचिका युक्तिबुद्धिके अवलम्बका भी बहुत महत्त्व है; यदि बहुतसे लोग इसके बिना भी चल सकते हैं, कारण, उनका आन्तरिक सत्यताओंसे स्पष्ट और अपरोक्ष सम्पर्क है और वे अनुभव तथा अन्तर्दृष्टिसे संतुष्ट हैं, फिर भी क्रमविकासकी गतिधारामें तो यह अपरिहार्य ही है। परम सत्य यदि एक आध्यात्मिक 'सद्वस्तु' है तो मनुष्यकी बुद्धिको यह जाननेकी आवश्यकता होती है कि उस आद्य सत्यका स्वरूप क्या है और शेष अस्तित्वके साथ, हमारे साथ और विश्व-के साथ उसके सम्बन्धोंका तत्त्व-विधान क्या है। अकेली बुद्धिमें यह सामर्थ्य नही कि वह हमें मूर्त आध्यात्मिक सद्वस्तुके संस्पर्शमें ले आय, परन्तु वह अध्यात्म-तत्त्वके सत्यके मानसिक निरूपणसे सहायता दे सकती है; वह निरूपण मनके सामने उस सत्यकी व्याख्या करता है और अधिक सीधी खोजमें भी प्रयुक्त किया जा सकता है : यह सहायता अति महत्वकी है।

हमारा विचारधर्मी मन प्रधानतः सामान्य आध्यात्मिक सत्यके कथनसे, उसकी निरपेक्षताकी युक्ति और उसकी सापेक्षताओंकी युक्तिसे सम्बन्ध रखता है, वे परस्पर किस सम्बन्धमें अवस्थित हैं या किस प्रकार वे एक दूसरेकी ओर ले जाते हैं और अस्तित्वके आध्यात्मिक प्रमेयके मान-सिक परिणाम क्या हैं, इनसे सम्बन्ध रखता है। परन्तु इस बोध और बौद्धिक कथनके अलावा जो कि बुद्धिका प्रधान अधिकार और भाग है, बुद्धि एक आलोचनात्मक नियंत्रण प्रयुक्त करना चाहती है; वह आनन्द-

विभोरता या अन्य ठोस आध्यात्मिक अनुभवोंको मान सकती है, परंतु उसकी यह जाननेकी माँग होती है कि वे सत्ताके किन निश्चित और सुव्यवस्थित सत्योंपर आधारित हैं: वस्तुतः, किसी ऐसे ज्ञात और प्रमाण्य सत्यके बिना हमारी बुद्धिको ये अनुभव असुरक्षित और अबोध्य लग सकते हैं, वह यह कह कर उनसे अलग हट जा सकती है कि वे सम्भवतः सत्यपर आधारित नहीं, या फिर, यदि उनके आधारमें नहीं तो उनके रूपमें यह कहकर अविश्वास करती है कि वे किसी मूल-भ्रान्तिसे, यहाँ तक कि कल्पनाशील प्राणिक मन, भावोच्छ्वासों, स्नायुओं या इन्द्रियोंके विपथनसे प्रभावित हो गये हैं; कारण, उनके भौतिक और इन्द्रियग्राह्यसे अदृश्यकी ओर यात्रा-मार्ग या स्थानान्तरणमें इस भ्रान्तिकी सम्भावना रहती है कि वे प्रवंचक दीप्तियोंके पीछे चलें या अन्ततः ऐसी वस्तुओंका भ्रान्त ग्रहण ही करें जो अपने-आपमें तो प्रामाणिक हैं परन्तु जो अनुभूत हुआ है उसकी गलत या अपूर्ण व्याख्या या सच्चे आध्यात्मिक मूल्योंके विषयमें संभ्रम और अव्यवस्थाके कारण विकृत हो गयी हैं। यदि बुद्धि रहस्यविद्याकी क्रियावत्ताको स्वीकार करनेके लिए अपने-आपको विवश पाती है तो वहाँ भी वह जिन शक्तियोंको क्रीड़ामें लायी गयी देखती है, उनके सत्य, उनकी सही प्रणाली और उनके यथार्थ तात्पर्यसे अधिकतम सम्बन्ध रखेगी, वह यह अवश्य पूछेगी कि वह सार्थक्य क्या वही है जिसे गुह्यविद्या-विशारद मानता है या वह ऐसा कुछ और है और शायद गंभीरतर भी जिसके सारगत सम्बन्धों और मूल्योंका गलत अर्थ लगाया गया है या जिसे अनुभवकी संपूर्णतामें उसका सच्चा स्थान नहीं दिया गया है। कारण, हमारी बुद्धिकी क्रिया प्रथमतः समझनेकी क्रिया होती है, परन्तु द्वितीयतः वह आलोचनाकारिणी और अन्तमें संगठनकारिणी, नियंत्रण-कारिणी और रूपकारिणी होती है।

इस आवश्यकताकी पूर्ति जिस साधनसे की जा सकती है और जिसे हमारी मनःप्रकृतिने हमें दे रखा है वह है दार्शनिक विचार, और इस क्षेत्रमें उसे आध्यात्मिक दर्शन ही होना होगा। ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त प्राच्य जगत्में बड़ी संख्यामें उद्भूत हुए हैं; कारण, लगभग सदा ही, जहाँ कहीं भी पर्याप्त आध्यात्मिक विकास हुआ है, उसे बुद्धिके सामने प्रमाणित करनेके लिये दार्शनिक विचार भी उसमेंसे उद्भूत हुआ है। आरम्भमें पद्धति थी संबोधिमूलिका दृष्टि और संबोधिमूलिका अभिव्यंजना, जैसी कि हमें उपनिषदोंकी अगाध विचारधारा और गंभीर भाषामें मिलती

है, परन्तु बादमें एक आलोचनात्मिका पद्धति, एक तर्क-वितर्ककी दृढ़ प्रणाली, एक तार्किक संगठनका विकास हुआ। बादमें आनेवाले दर्शन, जो कुछ आन्तरिक उपलब्धिसे प्राप्त हो चुका था, उसका बौद्धिक विवरण[1] या तार्किक प्रतिपत्ति थे; या स्वयं उन्होंने उपलब्धि और अनुभवके लिये मानसिक भित्ति या व्यवस्थित पद्धति[2] दी। पश्चिममें, जहाँ कि चेतनाकी समन्वयी प्रवृत्तिका स्थान विश्लेषणात्मिका और पृथगात्मिका चेतनाने ले लिया, आध्यात्मिक प्रेरणा और बौद्धिक विचारने लगभग आरम्भसे ही एक दूसरेका साथ छोड़ दिया; दर्शन आरम्भसे ही वस्तुओंकी निरी बौद्धिक और युक्तिपूर्ण व्याख्याकी ओर मुड़ गया। फिर भी, पाइथा-गोरिअन, स्टोइक और एपिक्यूरिअन जैसे सिद्धान्त बने जो केवल विचारके क्षेत्रमें नहीं, अपितु जीवन-संचालनके लिये भी सक्रिय थे, और उन्होंने सत्ताकी आन्तरिक पूर्णताके लिये एक अनुशासन, एक प्रयासका विकास किया; वह बादके ईसाई या नए पैगन धर्मके विचार-निर्माणोंमें ज्ञानकी उच्चतर आध्यात्मिक भूमिपर पहुँचा जहाँ पूर्व और पश्चिम साथ मिल गये। किन्तु बादमें बौद्धीकरण संपूर्ण हो गया और जीवन तथा उसकी ऊर्जाओं या अध्यात्म-तत्त्व और उसकी क्रियागतिके साथ दर्शनका सम्बन्ध या तो कट गया या उस अल्पांश तक सीमित हो गया जिसे तत्त्व-विचार जीवन और कर्मपर अमूर्त्त तथा गौण प्रभावसे अंकित कर सकता है। पश्चिममें धर्मने दर्शनको नहीं, सैद्धान्तिक धर्ममतको अपना अवलम्ब बनाया है; कभी कभी आध्यात्मिक दर्शन वैयक्तिक प्रतिभाकी शक्ति मात्रसे प्रकट हुआ है; परन्तु जैसा पूर्वमें हुआ उस तरह वह आध्यात्मिक अनु-भव तथा प्रयत्नकी प्रत्येक महत्त्वपूर्ण धाराका आवश्यक अनुषंगी नहीं रहा है। यह सच है कि आध्यात्मिक चिंतनका दार्शनिक अनुशीलन संपूर्णतः अपरिहार्य नहीं; कारण, संबोधि और ठोस आन्तरिक सम्पर्कसे अध्यात्म-तत्त्वके सत्योंतक अधिक प्रत्यक्ष और संपूर्ण रूपसे पहुँचा जा सकता है। यह भी कहना ही होगा कि आध्यात्मिक अनुभवपर बुद्धिका आलोचनात्मक नियंत्रण बाधक और अविश्वसनीय हो सकता है, क्योंकि यह उच्चतर प्रदीप्तिके क्षेत्रका एक निम्नतर प्रकाश द्वारा अवलोकन है; सच्ची नियंत्रिका शक्ति है एक आन्तरिक विवेक, एक चैत्य बोध और कौशल, ऊर्ध्वसे पथ-प्रदर्शनका एक श्रेष्ठतर हस्तक्षेप या एक सहज

---

[1] उदाहरण, गीता। [2] उदाहरण, पातंजलिका योग-दर्शन।

और ज्योतिर्मय आन्तरिक पथ-प्रदर्शन। परन्तु विकासकी यह धारा फिर भी आवश्यक है, क्योंकि अध्यात्म-तत्त्व और बौद्धिक युक्तिके बीच सेतु होना ही चाहिये, हमारे समग्र आन्तरिक क्रमविकासकी परिपूर्णताके लिये आध्यात्मिक या, कमसे कम, अध्यात्मभावापन्न बुद्धिका प्रकाश आवश्यक है, और यदि यह न हो, और किसी अन्य गभीरतर पथ-प्रदर्शनका भी अभाव हो, तो आन्तरिक गतिधारा भ्रान्त और अनुशासनहीन, आविल, अनाध्यात्मिक तत्त्वोंसे मिश्रित या एकदेशीय या अपनी सार्वभौमतामें अधूरी हो सकती है। अज्ञानको पूर्ण ज्ञानमें रूपान्तरिक करनेके लिये यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण मध्यवर्ती आवश्यकता है कि हममें ऐसी आध्यात्मिक बुद्धिका विकास हो जो उच्चतर ज्योतिको ग्रहण करने और उसे हमारी प्रकृतिके सारे अंगोंके लिये प्रवाहित करनेको तैयार हो।

परन्तु धर्म, गुह्यविद्या और अध्यात्म-विचार, इन तीनों गमन-मार्गोंमेंसे कोई भी, अपने-आप, प्रकृतिके महत्तर और गूढ़ आशयकी पूरी पूर्ति नहीं कर सकता। यदि और जब तक ये मार्ग आध्यात्मिक अनुभूतिका द्वार नहीं खोलते, ये मनोमय मनुष्यमें आध्यात्मिक सत्ताकी सृष्टि नहीं कर सकते। ये मार्ग जिसकी खोज कर रहे हैं, उसकी आन्तरिक उपलब्धिसे ही, किसी एक अभिभूतकारिणी अनुभूति या बहुतेरी अनुभूतियोंके द्वारा एक आन्तरिक परिवर्त्तनके निर्माणसे ही, चेतनाके रूपान्तरसे ही, अध्यात्म-तत्त्वकी मन, प्राण तथा शरीरके वर्त्तमान आवरणसे मुक्तिसे ही आध्यात्मिक पुरुषका आविर्भाव हो सकता है। वही अन्तरात्माकी प्रगतिकी अन्तिम धारा है जिसकी ओर अन्योंका संकेत रहा है, और जब वह आरम्भिक मार्गोंसे वियुक्त होनेको तैयार हो जाती है तब यथार्थ कार्यका आरम्भ होता है और परिवर्तनका मोड़-बिन्दु दूर नहीं रह जाता। तब तक मानवीय मनोमय जीव इतनी ही दूरीतक पहुँचा होता है कि वह अपनेसे परेकी वस्तुओंके भावसे, किसी अन्य लोककी क्रियाकी सम्भावनासे, किसी नैतिक पूर्णताके आदर्शसे परिचित हो जाता है; वह अपने मन या हृदय या प्राणको सहायता देनेवाली महत्तर 'शक्तियों' या 'सद्वस्तुओं' के साथ कुछ सम्पर्क भी कर ले सकता है। एक परिवर्तन तो हो सकता है, परन्तु मनोमयी सत्ताका आध्यात्मिक सत्तामें रूपान्तर नहीं। धर्म, धार्मिक विचार, नीतिशास्त्र तथा गुह्य रहस्यवादने प्राचीन कालमें पुजारी और जादूगर, धर्मपरायण मनुष्य, न्यायनिष्ठ मनुष्य, बुद्धिमान् मनुष्य और मनोधर्मी मानवत्वके बहुतेरे उच्च रूप उत्पन्न

किये; परन्तु सन्त, पैगम्बर, ऋषि, योगी, द्रष्टा, अध्यात्मज्ञानी और रहस्यवेत्ताका आविर्भाव तो हम हृदय और मनके द्वारा आध्यात्मिक अनुभूतिके आरम्भके बाद ही देखते है, और जिन धर्मोमें आध्यात्मिक मानवत्वके ये प्रतिरूप अस्तित्वमें आये वे धर्म ही टिके हैं, विश्वव्यापी हुए हैं और मानव-जातिको अपनी सारी आध्यात्मिक अभीप्सा तथा संस्कृति उन्हींसे मिली है।

आध्यात्मिकता जब चेतनामें विमुक्त हो जाती और अपना विविक्त स्वभाव धारण कर लेती है, तब आरम्भमें वह केवल एक छोटा-सा बीजकोश, एक वर्द्धनशील प्रवृत्ति, हमारी बाह्य सत्ता बननेवाले और हमारी प्राकृतिक लगनको आविष्ट करनेवाले सामान्य अप्रवुद्ध मानवीय मन, प्राण और शरीरके विशाल पुंजमें अनुभवकी एक अपवाद-रूप ज्योति होती है। परीक्षणात्मक आरम्भ होते हैं, मन्थर क्रमविकास होता है, हिचकिचाता उन्मेष होता है। उसका शुरूका एक पहला आरम्भिक रूप एक प्रकारकी धार्मिकताकी रचना करता है जो शुद्ध आध्यात्मिक स्वभाव नहीं होती, अपितु उसकी प्रकृति उस प्राण या मनकी होती है जो किसी आध्यात्मिक अवलम्ब अथवा तत्त्वको अपने ही अन्दर खोजता या पाता है, जो मनुष्यसे परे है उसके साथ मनुष्यको जो सम्पर्क मिल सकते हैं या उसके साथ जो सम्पर्क वह बना सकता है उनका उपयोग अपने मानसिक भावों या नैतिक आदर्शों या अपने प्राणिक और शारीरिक हितोंकी सहायता या सेवाके लिये ही करनेमें वह इस पर्वमें अधिकतर व्यस्त रहता है; वहाँ किसी आध्यात्मिक परिवर्तनकी ओर सच्चा मोड़ नहीं आया है। सच्चे प्रथम रूपायण हमारी प्राकृत क्रियाओंके अध्यात्म-भावापन्न होनेका, उनपर एक अन्तर्वेधी प्रभाव या एक दिशा-निर्देशनका रूप लेते हैं; मन या प्राणके किसी भाग या प्रवृत्तिमें एक तैयार करने-वाला प्रभाव या अन्तःस्राव होता है,—विचारमें एक अध्यात्मभावापन्न घुमाव आता है जिसके साथ उन्नयनकारी दीप्तियाँ आती हैं, या भाव-प्रवण अथवा सौन्दर्यबोधी सत्तामें एक अध्यात्मभावापन्न मोड़ आता है, चरित्रमें एक अध्यात्मभावापन्न नैतिक रूपायण आता है, किसी जीवन-क्रियामें या मानव-प्रकृतिकी किसी अन्य सक्रिय प्राणिक वृत्तिमें अध्यात्म-भावापन्न प्रेरणा आती है। शायद एक अन्तर्ज्योतिका, एक पथ-प्रदर्शन या आन्तर योगका, एक मन और संकल्पकी अपेक्षा महत्तर नियंत्रणका बोध होता है जिसका अनुगमन हमारे अन्दर कोई वस्तु करती है; परन्तु

तब तक सब कुछ उस अनुभवके साँचेमें फिरसे ढाला नहीं गया है। किन्तु जब इन संबोधि-स्फुरणों और दीप्तियोंका आग्रह बढ़ जाता है और वे प्रवाह-मार्ग बना लेती हैं, सबल आन्तरिक आधारकी रचना करती हैं और सारे जीवनको शासित करने और प्रकृतिको हाथमें ले लेनेका दावा करती है, तब सत्ताका आध्यात्मिक रूपायण आरम्भ होता है; तब सन्त, भक्त, अध्यात्म-ज्ञानी, द्रष्टा, पैगम्बर, ईश्वरका दास, अध्यात्म-तत्त्वका सैनिक प्रकट होता है। ये सभी प्राकृत सत्ताके किसी ऐसे भागको आधार बनाते हैं जो एक आध्यात्मिक ज्योति, शक्ति अथवा आनन्दसे उन्नीत हुआ हो। मुनि और ऋषि निवास करते हैं आध्यात्मिक मनमें, उनकी विचारणा या दृष्टि ज्ञानकी एक आन्तरिक अथवा एक महत्तर दिव्य ज्योतिसे शासित और ढली होती है; भक्त निवास करता है हृदयकी आध्यात्मिक अभीप्सामें, उसकी आत्म-देन और एषणामें; सन्त चालित होता है आन्तरिक हृदयमें स्थित चैत्य पुरुषसे जो जाग गया है और भावुक तथा प्राणिक सत्ताको शासित करनेके लिये सबल हो गया है; अन्य लोग उस प्राणिक क्रियावन्त प्रकृतिको आधार बनाते हैं जो उच्चतर आध्यात्मिक उर्जासे चालित होती है और उसके द्वारा एक प्रेरित कर्मकी ओर, ईश्वर-प्रदत्त कार्य या मिशनकी ओर, किसी दिव्य शक्ति, भाव अथवा आदर्शकी सेवाकी ओर मोड़ी गई है। अन्तिम या सर्वोच्च आविर्भाव है प्रमुक्त मानव जिसने 'आत्मा' और 'अध्यात्म-सत्ता'को अपने भीतर उपलब्ध कर लिया है, विश्वचेतनामें प्रवेश पा लिया है, 'शाश्वत' के साथ ऐक्य प्राप्त कर लिया है, और जहाँतक वह जीवन तथा कर्मको अब भी स्वीकार करता है, उस शक्तिकी ज्योति तथा ऊर्जासे कार्य करता है जो उसके भीतर है और उसके प्रकृतिदत्त मानवीय उपकरणों द्वारा क्रिया कर रही है। इस आध्यात्मिक परिवर्तन तथा सिद्धिका विशालतम निरूपण है अन्तरात्मा, मन, हृदय तथा कर्मकी समग्र मुक्ति, उन सभीका 'विश्वात्मा' तथा 'दिव्य सद्वस्तु'के भावमें गढ़ा जाना।[3] वहाँ व्यक्तिके आध्यात्मिक क्रमविकासको अपना मार्ग मिल चुका है और उसने अपने हिमालय-जैसे उत्तुंग प्रदेश और अपनी उत्तमा प्रकृतिकी चोटियाँ प्रकट की है। इस उत्तुंगता और विस्तृतिसे

---

[3] गीताने जिस आध्यात्मिक आदर्श तथा उपलब्धिको हमारे सामने रखा है उसका सार यही है।

आगे फिर अतिमानसिक आरोहण या अनिर्वचनीय सर्वातीत ही रह जाता है।

मनोमयी मानव-सत्तामें आध्यात्मिक मानवके क्रमविकासके लिये अब तक प्रकृतिकी यही धारा रही है, और यह पूछा जा सकता है कि इस प्राप्तिका ठीक परिमाण, इसका वास्तविक सार्थक्य क्या है। जड़के मध्य मनके जीवनकी ओर हालकी प्रतिक्रियामें इस महती दिशा और इस विरल परिवर्तनका यह कह कर तिरस्कार किया गया है कि यह कोई सच्चा चेतना-परिवर्तन नहीं, अपितु सच्चे मानव-विकासक्रमसे च्युत, अज्ञानकी ऊँची उठाई गई अपरिमार्जितता है, जबकि उसे एकमात्र प्राण-शक्ति, व्यावहारिक स्थूल मन, विचार तथा आचरणको शासित करती युक्ति-बुद्धि और आविष्कारकर्त्री तथा संगठनकारिणी बुद्धिका क्रमविकास होना चाहिए। इस युगमें धर्मको ऐसा अन्धविश्वास कह कर अलग हटा दिया गया जिसका समय बीत चुका है और आध्यात्मिक उपलब्धि तथा अनुभवको असार रहस्यवाद कह कर अपयश दिया गया; इस दृष्टिके अनुसार रहस्यपन्थी अवास्तवताका उपासक है जो अपनी ही बनायी हुई कपोल-कल्पनाकी भूमिके गुह्य प्रदेशोंमें चला जाता और वहाँ मार्ग खो देता है। इस निर्णयके आधारमें एक ऐसी दृष्टि है स्वयं जिसका अमान्य ठहराया जाना अवश्यम्भावी है, कारण, वह अन्तमें इस मिथ्या बोधपर निर्भर करती है कि एकमात्र जड़ वास्तव है और एकमात्र बाह्य जीवन महत्त्वपूर्ण। परन्तु इस चरम जड़वादी दृष्टिकोणके अलावा मानव-जीवनकी परिपूर्तिके लिये उत्सुक बुद्धि और स्थूल मन यह मान्यता रख सकते और रखते हैं,—और यही प्रचलित मनोवृत्ति है, प्रधान आधुनिक धारा है,—कि मानव-जातिमें आध्यात्मिक प्रवृत्तिका परिणाम बहुत ही अल्प रहा है; उसने न तो जीवनकी समस्याओंका, न उन समस्याओंमेंसे ही किसीका समाधान किया है जिनसे मानव-जातिकी गुत्थमगुत्थी चल रही है। रहस्यपन्थी या तो पारलौकिक संन्यासी या न्यारे कल्पनाविहारीकी तरह अपने-आपको जीवनसे वियुक्त कर लेता है और फलतः जीवनको सहायता नहीं दे सकता, या नहीं तो वह जो समाधान या परिणाम लाता है वे व्यावहारिक मनुष्य या बुद्धि और युक्ति-धर्मी मनुष्यके समाधान या परिणामकी अपेक्षा श्रेष्ठतर नहीं होते : अपने हस्तक्षेपसे तो वह बल्कि मानवीय मूल्योंमें खलल ही डालता है, मनुष्यकी समझके लिये अस्पष्ट रहनेवाले अपने विजातीय तथा अप्रमाण्य प्रकाशसे

उन्हें विकृत करता है और जीवन हमारे सामने जिन स्पष्ट, व्यावहारिक और परमावश्यक प्रश्नोंको रखता है उन्हें उलझा देता है।

परन्तु यह वह दृष्टिकोण नहीं है जिससे मनुष्यके आध्यात्मिक क्रम-विकासका सच्चा तात्पर्य या आध्यात्मिकताका मूल्य जाँचा या आँका जा सके; कारण, उसका यथार्थ कार्य भूतकाल या वर्तमानके मानसिक आधारपर मानव-समस्याओंका समाधान करना नहीं, वरन् हमारी सत्ता और हमारे जीवन तथा ज्ञानके लिये एक नयी भित्तिकी रचना करना है। रहस्यपन्थीकी संन्यास अथवा परलोककी ओर प्रवृत्ति इस बातकी चरम अभिपुष्टि है कि वह भौतिक प्रकृति द्वारा आरोपित सीमाओंको स्वीकार नहीं करता : कारण, उसकी सत्ताका मूल हेतु ही उस प्रकृतिसे परे जानेका है; वह यदि प्रकृतिको रूपान्तरित नहीं कर सकता तो वह प्रकृतिको ही छोड़ देगा। साथ ही, आध्यात्मिक मनुष्य मानव-जातिके जीवनसे सर्वथा अलग होकर भी नहीं खड़ा रहा है; वस्तुतः सकल भूतोंके साथ एकताका भाव, विश्वप्रेम तथा करुणाका प्रतिष्ठापन, सकल प्राणियोंके मंगलमें शक्ति व्यय करनेका संकल्प[4], ये अध्यात्म-तत्त्वके क्रियावन्त प्रस्फुटनमें केन्द्रीय चीजें हैं : अतः वह सहायता देनेकी ओर प्रवृत्त हुआ है, जैसा प्राचीन ऋषियों अथवा पैगम्बरोंने किया था उसने पथ-प्रदर्शन किया है, या वह सृजन करनेके लिये झुका है और, जहाँ उसने ऐसा 'अध्यात्म-सत्ता'की साक्षात् शक्तिके किसी अंशके साथ किया है, परिणाम आश्चर्यजनक रहे हैं। परन्तु समस्याका जो समाधान आध्यात्मिकता देती है वह बाह्य साधनोंसे होनेवाला समाधान नहीं,—यद्यपि उनका भी उपयोग करना है,—वरन् वह एक आन्तरिक परिवर्तन द्वारा, चेतना तथा प्रकृतिके रूपान्तर द्वारा होनेवाला समाधान है।

यदि कोई निर्णायक फल न होकर केवल आंशिक फल ही, चेतनाके कुल योगमें किन्हीं नये सूक्ष्मतर तत्त्वोंका जुड़ जाना ही, सामान्य परिणाम रहा है और जीवन-रूपान्तर घटित नहीं हुआ है, तो इसका कारण यह है कि जनसाधारणने सदा आध्यात्मिक प्रेरणको विषय किया है, वह

---

[4] गीता। बौद्ध धर्मने विश्वकरुणा तथा सहानुभूति (वसुधैव कुटुम्ब-कम्) को कर्मके उच्चतम सिद्धान्तका उच्च पद दिया और ईसाई धर्मने प्रेमपर बल दिया; इससे आध्यात्मिक पुरुषके इस क्रियामुख पहलूका इंगित मिलता हैं।

आध्यात्मिक आदर्शसे मुकर गया है, या उसने उसके वाह्य रूपको ही ग्रहण किया है और अन्तर्मुख परिवर्तनको अस्वीकार किया है। आध्यात्मिकतासे यह माँग नहीं की जा सकती कि वह जीवनके साथ किसी अनाध्यात्मिक पद्धतिसे व्यवहार करे या उसके रोगोंका उपचार किन्हीं रामवाण साधनों, सामाजिक, राजनैतिक या अन्य यांत्रिक उपायोंसे करनेका प्रयत्न करे जैसा कि मन सर्वदा करता रहा है और जो सदा ही किसीका भी समाधान करनेमें विफल रहे हैं और विफल होते भी रहेंगे। इन साधनोंसे किये गये आमूलसे आमूल परिवर्तन भी कुछ भी नहीं वदलते; कारण, पुराने रोग नये रूपमें वने रहते हैं : वाह्य परिवेशका रूप वदल जाता है, परन्तु मनुष्य जैसा था वैसा ही रह जाता है; वह अभी भी अज्ञानी मनोमय प्राणी ही है जो अपने ज्ञानका अपव्यवहार कर रहा है या उसका व्यवहार प्रभावी रूपसे नहीं कर रहा है, अहंसे चालित होता और प्राणिक कामनाओं और अनुरागों और शरीरकी आवश्यकताओंसे शासित होता है, अपने दृष्टिकोणोंमें अनाध्यात्मिक और वहिस्तलीय होता है, न तो अपने ही आत्माको जानता है और न उन शक्तियोंको जो उसे चलाती और व्यवहृत करती हैं। मनुष्यकी जीवन-निर्मितियोंका मूल्य यह है कि मनुष्यकी वैयक्तिक सत्ता और सामूहिक सत्ता जिस मंजिलतक पहुँच गयी हैं ये निर्मितियाँ उसकी अभिव्यंजनाएँ हैं या ये उसके प्राणिक तथा शारीरिक अंगोंकी सुविधा और भलाईके साधन-यंत्र और उसके मानसिक विकासका क्षेत्र और माध्यम हैं, किन्तु ये उसे उसकी वर्त्तमान सत्ताके परे नहीं ले जा सकतीं, उसे रूपान्तरित करनेके साधन-यंत्रके रूपमें उपयोगी नहीं हो सकतीं; उसकी और इनकी पूर्णता उसके आगेके विकाससे ही आ सकती है। आध्यात्मिक परिवर्तन ही, उसकी सत्ता का वहिस्तलीय मनश्चेतनाकी अपेक्षा गंभीरतर आध्यात्मिक चेतनाकी ओर विकास ही, यथार्थ और प्रभावी अन्तर सम्पन्न कर सकता है। अपने अन्दर आध्यात्मिक पुरुषका आविष्कार करना आध्यात्मिक मानवका प्रमुख व्यवसाय है और दूसरोंको उसी क्रमविकासकी ओर सहायता देना उसकी यथार्थ जाति-सेवा; जव तक यह नहीं किया जाता, तव तक वाह्य सहायता सहारा दे सकती है, उपशम कर सकती है, परन्तु इससे अधिक कोई वात सम्भव नहीं या वहुत थोड़ा ही अधिक कुछ सम्भव है।

यह सच है कि आध्यात्मिक प्रवृत्ति जीवनकी ओरकी अपेक्षा जीवनसे परेकी ओर देखनेकी अधिक रही है। यह भी सच है कि आध्यात्मिक

परिवर्तन वैयक्तिक रहा है, सामूहिक नहीं; उसका परिणाम मानव-व्यक्तिमें सफल किन्तु जन-समुदायमें विफल अथवा केवल परोक्ष रूपसे क्रियाकारी रहा है। प्रकृतिके आध्यात्मिक क्रमविकासकी प्रक्रिया अभी भी चल रही है, वह विकास अभी भी अधूरा है,—यह भी कहा जा सकता है कि अभी आरम्भ ही हो रहा है—और उसका प्रधान सर्वोपरि व्यवसाय आध्यात्मिक चेतना तथा ज्ञानके एक आधारको प्रतिष्ठित तथा विकसित करना और अध्यात्म-तत्त्वके सत्यमें जो शाश्वत है उसके दर्शनके लिये एक भित्ति या रूपायणका अधिकाधिक सृजन करना रहा है। जब प्रकृति इस अन्तरावगाही क्रमविकास तथा रूपायणको व्यक्तिके माध्यमसे पूरी तरह पुष्ट कर चुकेगी केवल तभी विस्तरणशील या सक्रिय प्रसरणशील प्रकारकी किसी मूलगत वस्तुकी आशा की जा सकेगी या सामूहिक आध्यात्मिक जीवनके लिये कोई प्रयत्न सफल स्थायित्व पा सकेगा, जबकि पहले ऐसे प्रयत्न किये तो गये हैं किन्तु मुख्यतः व्यक्तिकी आध्यात्मिकताके विकासके लिये रक्षा-क्षेत्रके रूपमें ही। कारण, तब तक व्यक्तिका सर्वोपरि व्यवसाय उसकी अपनी ही यह समस्या होगी कि वह अपने मन और प्राणको अध्यात्म-तत्त्वके उस सत्यके अनुरूप पूरा परिवर्तित करे जिसे वह अपनी आन्तरिक सत्ता तथा ज्ञानमें प्राप्त कर रहा या कर चुका है। बड़े पैमानेपर सामूहिक आध्यात्मिक जीवनके लिये जो भी समयपूर्व प्रयत्न होगा उसके दूषित होनेकी सम्भावना रहेगी, क्योंकि उसके सक्रिय रूपमें आध्यात्मिक ज्ञानका कुछ अधूरापन होगा, वैयक्तिक साधकोंकी अपूर्णताएँ होंगी, और उस साधारण मानसिक, प्राणिक तथा शारीरिक चेतनाका धावा होगा जो सत्यको जकड़ सकती और उसे यंत्रित, तमोवृत या विकृत कर सकती है। मनोबुद्धि और उसकी प्रधान शक्ति युक्ति मानव-जीवनके तत्त्व और स्थायी स्वभावको नहीं बदल सकती, वह केवल विविध यंत्र-विन्यास, क्रिया-कौशल, अभिवर्द्धन और निरूपण ही सम्पन्न कर सकती है। परन्तु समूचा मन भी, आध्यात्मभावापन्न होनेपर भी, उसे बदलनेमें सक्षम नहीं होता। आध्यात्मिकता आन्तरिक सत्ताको मुक्त और द्योतित करती है, मनको अपनेसे उच्चतरके साथ सम्पर्क करनेमें, यहाँतक कि निजसे निस्तार पानेमें सहायता देती है, वैयक्तिक मानव-प्राणियोंकी बाह्य प्रकृतिको आंतरिक प्रभावसे शुद्ध और उत्थित कर सकती है, किन्तु उसे जबतक मानव-समुदायमें मनको उपकरण बना कर कार्य करना होगा,

वह पृथ्वी-जीवन पर कुछ प्रभाव तो डाल सकती है, किन्तु उस जीवनका रूपान्तर नहीं घटित कर सकती। इसी कारण आध्यात्मिक मनमें यह प्रवृत्ति प्रचलित रही है कि वह ऐसे प्रभावसे संतुष्ट रहे और परिपूर्तिकी खोज प्रधानतया कहीं औरके अन्य-जीवनमें करे या सारेके सारे बहिर्गामी प्रयासको सर्वथा त्याग दे और एकमात्र वैयक्तिक आध्यात्मिक मुक्ति या पूर्णतापर एकाग्र हो। अज्ञान द्वारा सृष्ट प्रकृति के समग्र रूपान्तरके लिये मनकी अपेक्षा एक उच्चतर साधनरूपी क्रियाबलकी आवश्यकता है।

रहस्यवादी और उसके ज्ञानपर एक और आपत्ति उठायी जाती है,—जीवनपर उसके प्रभावके विरुद्ध नहीं, अपितु उसकी 'सत्य'के आविष्कारकी पद्धतिके विरुद्ध और उस 'सत्य'के विरुद्ध जिसका वह आविष्कार करता है। उसकी पद्धतिके विरुद्ध एक आपत्ति यह है कि वह शुद्धतः विषयिगत है, व्यक्तिकी चेतना और उस चेतनाके निर्माणोंसे स्वतंत्र रूपमें सत्य नहीं है, प्रमाण्य नहीं है। परन्तु आक्षेपके इस कारणका कोई बहुत मूल्य नहीं है : कारण, रहस्यपन्थीका लक्ष्य आत्मज्ञान तथा ईश्वरज्ञान है, और उस तक केवल अन्तर्मुखी दृष्टिसे ही पहुँचा जा सकता है, बहिर्मुखी दृष्टिसे नहीं। या वह वस्तुओं-के परम सत्यकी खोज करता है और उस तक भी इन्द्रियों द्वारा किसी बहिर्मुखी गवेषणासे या बाहरी रूपों और ऊपरी सतहपर आधारित संवीक्षा या अनुसंधानसे या ज्ञानके परोक्ष साधन द्वारा प्राप्त अनिश्चित सामग्रीपर आश्रित परिकल्पनासे नहीं पहुँचा जा सकता है। उसकी प्राप्ति तो सत्यके ही अन्तरात्मा और सत्यकी देहसे साक्षात्कार होनेसे या चेतनाका उससे अपरोक्ष सम्पर्क होनेसे या तादात्म्य-ज्ञानसे उस आत्माके द्वारा होगी जो वस्तुओंके आत्मा और उनकी शक्तिके सत्य और उनके सार-तत्त्वके सत्यके साथ एक हो गया हो। परन्तु यह बात कही जाती है कि इस पद्धतिके वास्तविक परिणाममें कोई एक सर्वसामान्य सत्य नहीं मिलता, बड़ी भिन्नताएँ रहती हैं; यहाँ इस निष्कर्षका संकेत किया जाता है कि यह ज्ञान सत्य है ही नहीं, अपितु एक व्यक्तिनिष्ठ मनकी विरचना है। परन्तु यह आपत्ति आध्यात्मिक ज्ञानके स्वरूपके विषयमें एक गलत समझपर आधारित है। आध्यात्मिक सत्य अध्यात्म-तत्त्व का सत्य है, बुद्धि-का सत्य नहीं, गणितीय प्रमेय नहीं, तार्किक सूत्र भी नहीं। वह अनंत-का सत्य है, अनन्त विविधताके अंदर एक है, और वह अनन्त प्रकारके रूप और आकार ले सकता है; आध्यात्मिक क्रमविकासमें यह अनिवार्य है कि उस सत्यतक पहुँचानेवाला मार्ग बहुविध हो, उसकी प्राप्ति बहुविध

हो; यह बहुविधता इसका चिह्न है कि अन्तरात्मा एक जीवन्त सद्वस्तुके समीप जा रहा है, न कि वस्तुओंके किसी अमूर्तीकरण या किसी निर्मित आकृतिकी ओर जिसे प्राणहीन या अनमनीय सूत्रमें पथरा दिया जा सके। सत्यके विषयमें यह कठोर तार्किक और बौद्धिक भावना कि सत्यको कोई ऐसा एकमात्र भाव होना चाहिये जो सबके लिये स्वीकार्य हो, कोई ऐसा एक भाव या अनेक भावोंका तंत्र होना चाहिये जो अन्य सारे भावों या तंत्रोंका निराकरण करता हो, या कोई एकमात्र सीमित तथ्य या तथ्योंका एकमात्र सूत्र होना चाहिये जो सबको मान्य हो, स्थूल क्षेत्रके सीमित सत्यसे प्राण, मन और अध्यात्म-सत्ताके बहुत अधिक जटिल और नमनीय क्षेत्रमें अवैध स्थानान्तरण है।

यह स्थानान्तरण बहुत सारी हानिके लिए उत्तरदायी रहा है; यह विचारमें संकीर्णता और परिसीमन ले आता है, दृष्टिकोणोंके जिस अनिवार्य नानात्व और बहुत्वके बिना सत्य-प्राप्तिकी समग्रता नहीं आ सकती उनके प्रति असहिष्णुता ले आता है, और संकीर्णता तथा परिसीमनके फलस्वरूप मूल-भ्रान्तिमें बहुत हठ ले आता है। वह दर्शनको बंजर विवादों की अन्तहीन भूलभुलैया बना डालता है; इस दोषी स्थानान्तरणने धर्मपर भी आक्रमण किये हैं और उसमें सामुदायिक मतवादिता, कट्टरता और असहिष्णुताके कीटाणु प्रविष्ट कर दिये हैं। अध्यात्मका सत्य सत्ता और चेतनाका सत्य है, न कि विचारका सत्य : मानसिक भाव उसके किसी रूपको, मन द्वारा अनूदित किसी तत्त्व या शक्तिको ही प्रत्युपस्थित या निरूपित कर सकते हैं या उसके पहलुओंका विवरण दे सकते हैं, परन्तु उसे जाननेके लिए तो वही हो जाना होगा और उसे जीवनमें उतारना होगा; वैसा हुए बिना और उस तरह जीए बिना सच्चा आध्यात्मिक ज्ञान नहीं हो सकता। आध्यात्मिक अनुभवका मूलभूत सत्य एक है, उसकी चेतना एक है, आध्यात्मिक सत्ताके प्रति जागने और उस सत्तामें विकसित हो उठनेकी एक सी ही सामान्य धाराओं और प्रवृत्तियोंका वह सर्वत्र अनुसरण करता है; कारण, वे आध्यात्मिक चेतनाके अनुल्लंघ्य विधान हैं। परन्तु उन अनुल्लंघ्य विधानोंपर आधारित होकर अनुभव और अभिव्यंजनाके नानात्वकी असंख्य सम्भावनाएँ आती हैं : इन सम्भाव्योंका केन्द्रीकरण और सामंजस्यीकरण, परन्तु अनुभवकी किसी एक रेखाका प्रगाढ़ ऐकांतिक अनुसरण भी, दोनों ही हमारे अन्दर उन्मज्जित होती आध्यात्मिक चित्-शक्तिकी आवश्यक गतिधाराएँ हैं। इसके अतिरिक्त

मन और प्राणका आध्यात्मिक सत्यके प्रति अनुकूलीकरण, उनमें उस सत्यकी अभिव्यंजना, यह तब तक साधककी मनोवृत्तिके अनुसार भिन्न भिन्न होती रहेगी जब तक वह ऐसे अनुकूलीकरण या ऐसी सीमाकारिणी अभिव्यंजनाकी सारी आवश्यकतासे ऊपर न उठ गया हो। इस मानसिक और प्राणिक तत्त्वने ही उन विरोधोंकी रचना की है जो अभी भी आध्यात्मिक जिज्ञासुओंको विभक्त करते हैं या उनके अनुभूत सत्यके भिन्न-भिन्न प्रतिष्ठापनोंमें चले आते हैं। यह भेद और वैविध्य आध्यात्मिक खोज और आध्यात्मिक विकासकी स्वच्छंदताके लिये आवश्यक है : भेदोंको पार करना बिलकुल सम्भव है, परन्तु यह शुद्ध अनुभवमें ही सबसे अधिक आसानीसे सम्पन्न होता है; मानसिक निरूपणमें अन्तर तबतक रहेगा जबतक कि हम मनका सर्वथा अतिक्रमण न कर सकें और 'अध्यात्म-सत्ता'के बहुमुख सत्यको एक उच्चतम चेतनामें अखंड, अद्वय और सामंजस्ययुक्त न कर सकें।

आध्यात्मिक मनुष्यके क्रमविकासमें अवश्य ही बहुत सारे पर्व आयेंगे, और प्रत्येक पर्वमें सत्ता, चेतना, जीवन, प्रकृति, भावों और चरित्रके वैयक्तिक रूपायणोंकी बड़ी विविधता होगी। उपकरणरूपी मनकी प्रकृति और जीवनके साथ व्यवहार करनेकी आवश्यकता ऐसी है कि वे स्वतः ही विकासके पर्व और जिज्ञासुकी वैयक्तिकताके अनुसार एक अनन्त विविधताकी रचना करेंगी। परन्तु, इसके अलावा, शुद्ध आध्यात्मिक आत्मोपलब्धि और आत्माभिव्यक्तिके प्रदेशके लिये भी यह आवश्यक नहीं कि वह अभिन्न शुभ्र एकरंग हो, वरन् वहाँ मूलभूत एकत्वके मध्य बहुत ही विविधता हो सकती है; परमात्मा एक है परन्तु परमात्माके जीव अनेक हैं, और जीवने प्रकृतिको जैसा गठित किया होगा वैसी ही उसकी आध्यात्मिक स्वाभिव्यक्ति होगी। एकत्वमें विविधता अभिव्यक्तिका विधान है; अतिमानसिक एकीकरण और समाकलन इन विविधताओंमें अवश्य ही सामंजस्य लायेंगे, परन्तु इन विविधताओंको विनष्ट करना प्रकृति-स्थ 'पुरुष'का अभिप्राय नहीं।

अध्याय पच्चीस

रूपान्तर-त्रय

.........पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।

ईशानो भूतभव्यस्य...॥

.........ज्योतिरिवाधूमकः॥

तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेत्...धैर्येण॥

पुरुष ही सत्ताका केन्द्र है। वह भूत और भविष्यका ईश है।...वह निर्धूम अग्निके जैसा है।...हमें उसे ही धैर्यपूर्वक अपने शरीरसे पृथक् करना होगा।

—कठ उपनिषद्

II.1.12,13;II.3.17

तदयं केतो हृद आ वि चष्टे।

हृदयमें एक संबोधि उस सत्यको देखती है।

—ऋग्वेद

I.24.12

...अहमज्ञानजं तमः।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

मैं आध्यात्मिक सत्तामें निवास करता हूँ और अज्ञानजनित तमको वहाँसे भास्वर ज्ञान-दीप द्वारा विनष्ट करता हूँ।

—गीता

X.11

नीचीनाः स्थुरुपरि बुध्न एषामस्मे अन्तर्निहिताः केतवः स्युः।

...वरुणेह बोध्युरुशंस......॥

अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥

ये रश्मियाँ नीचेकी ओर अभिमुख की हुई हैं, इनका मूल आधार ऊर्ध्वमें है : ये हमारे अन्दर गहराईमें जमें...हे वरुण, यहाँ जाग्रत

होओ, अपना राज्य विस्तृत करो; हम तुम्हारी क्रियाओंके विधानमें निवास करें और अदितिके सामने निष्कलुष रहें।

—ऋग्वेद
I. 24.7,11,15

हंसः शुचिषत्...

ऋतजाः...ऋतं बृहत्।

वह हंस जो शुचितामें निवास करता है...ऋतसे उत्पन्न...वह स्वयं ही ऋत है, बृहत् है।

—कठ उपनिषद्
II.2.2

आध्यात्मिक मनुष्यके क्रमविकासमें यदि प्रकृतिका एकमात्र अभिप्राय यही हो कि वह उसे परम 'सद्वस्तु'की ओर जगाय और अपनी पकड़मेसे, या उसने 'शाश्वत'की 'शक्ति' रहकर जिस अज्ञानका मुखपट धारण किया है उसमेंसे मनुष्यको यहाँसे अन्यत्र कहीं सत्ताकी उच्चतर स्थितिमें प्रस्थान द्वारा मुक्त करे, यदि विकासक्रममें यह डग ही इति और निष्क्रमण-मार्ग हो तो प्रकृतिका कार्य साररूपमें सम्पादित हो चुका है और कुछ भी करना शेष नहीं है। मार्ग निर्मित हो चुके हैं, उनका अनुसरण करनेकी क्षमता विकसित हो चुकी है, सृष्टिका लक्ष्य या अन्तिम शिखर स्पष्ट है, इतना ही काम बाकी है कि प्रत्येक जीव वैयक्तिक रूपसे अपने विकासकी ठीक भूमिका और घुमावपर पहुँचे, आध्यात्मिक मार्गोंमें प्रवेश करे और अपने चुने पन्थसे ही चलकर इस निम्नतर जीवनमेंसे निकल जाय। परन्तु हमने यह कल्पना की है कि एक और आगेका आशय भी है,—अध्यात्म-पुरुषका प्राकट्य ही नहीं, वरन् प्रकृतिका एक आमूल तथा सर्वांगिण रूपान्तर। प्रकृतिमें एक यह संकल्प है कि वह अध्यात्म-पुरुषके शरीरी जीवनकी एक सच्ची अभिव्यक्तिको चरितार्थ करे, उसने जिसे आरम्भ किया है उसे अज्ञानसे ज्ञानकी ओर जाकर पूरा करे, अपना मुखपट उतार फेंके और ऐसी ज्योतिर्मयी चित्-शक्तिके रूपमें प्रकट हो जो शाश्वत सत्को और उसकी सत्ताके सार्वभौम आनन्दको अपने अन्दर वहन कर रही हो। तब यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसा कुछ है जो अभी तक नही किया जा चुका है, अभी भी इतना जो बहुत कुछ करना बाकी है,—भूरि अस्पष्ट कर्त्वम्,—वह आँखोंके सामने स्पष्ट हो जाता है, एक ऐसा शिखर है जहाँ पहुँचना अभी बाकी है, एक ऐसी

विस्तृति है जिसे अन्तर्दृष्टिके चक्षुको, संकल्पकी उड़ानको, भौतिक विश्वमें 'अध्यात्म-पुरुष'के स्व-प्रतिष्ठापनको अपनी व्याप्तिके अन्तर्गत करना अभी बाकी है। क्रमविकासिका शक्तिने जो किया है वह इतना ही है कि उसने थोड़ेसे व्यक्तियोंको उनके अन्तरात्माके प्रति अभिज्ञ बनाया है, उनके आत्माके प्रति सचेतन किया है, वे जो शाश्वत सत्ता हैं उसके प्रति अभिज्ञ बनाया है, वह उन्हें प्रकृतिके बाह्य रूपोंसे प्रच्छन्न 'दिव्य पुरुष' या 'सद्वस्तु'के संस्पर्शमें लायी है : प्रकृतिका एक परिवर्तन तो होता है जो इस ज्योति-निर्झरणको तैयार करता, उसके साथ या उसके पीछे चला आता है, परन्तु यह वह सम्पूर्ण और आमूल परिवर्तन नहीं होता जो पार्थिव प्रकृतिके क्षेत्रमें किसी निश्चित और दृढ़ नये तत्त्वको, किसी अभिनव सृष्टिको, सत्ताकी किसी स्थायी नवव्यवस्थाको प्रस्थापित करता हो। आध्यात्मिक मनुष्यका प्रस्फुटन हुआ है, परन्तु उस अतिमानसिक पुरुषका नहीं जो आगेसे प्रकृतिका नेता होगा।

इसका कारण यह है कि आध्यात्मिकताके तत्त्वका अपने स्वाधिकार तथा प्रभुत्वके समग्र रूपमें अपना प्रतिष्ठापन अभी भी बाकी है; अब तक वह तत्त्व मनोमयी सत्ताके लिये एक ऐसी शक्ति रहा है जिसके द्वारा वह अपने-आपमेंसे बच निकल सके या अपने-आपको एक आध्यात्मिक स्थिति तक उठा सके; मनमेंसे आत्माके निर्मोचन और अध्यात्म-भावापन्न मन तथा हृदयमें सत्ताके विस्तारणके लिये वह काम आया है, परन्तु 'अध्यात्म-पुरुष' मनकी सीमाओं और मनोमय उपकरणोंसे स्वतंत्र होकर अपना स्व-प्रतिष्ठापन अपनी ही क्रियावंत और सम्पूर्ण प्रभुतासे करे, इसके लिये वह काम नहीं आया है या बल्कि अब तक पर्याप्त रूपसे काम नहीं आया है। अन्य साधनोंका विकास शुरू हुआ है, परन्तु इसके अतिरिक्त, उसे एक आद्य अज्ञानके अन्तर्गत केवल वैयक्तिक आत्म-सृष्टि नहीं रह जाना है, पार्थिव जीवनके लिये कोई ऐसी अधिसामान्य वस्तु नहीं रह जाना है जिसकी प्राप्ति कभी भी दुष्कर प्रयाससे वैयक्तिक उपलब्धिके ही रूपमें हो सके। उसे एक नये प्ररूपकी सत्ताकी सामान्य प्रकृति हो जाना होगा; जैसे मन यहाँ अज्ञानके आधारपर प्रतिष्ठित हुआ है जो ज्ञानको खोज रहा और ज्ञानकी ओर बढ़ रहा है, वैसे ही अतिमानसको भी यहाँ ज्ञानके आधारपर स्थापित करना होगा जो अपनी महत्तर स्व-ज्योतिमें वर्द्धित हो रहा है। परन्तु ऐसा तबतक नहीं हो सकता जब तक कि आध्यात्मिक-मनोमयी सत्ता अतिमानस तक पूरी न उठ गयी

हो और उसकी शक्तियोंको इस पार्थिव जीवनमें न ले आयी हो। कारण, मन और अतिमानसके बीच खाईपर सेतुका निर्माण करना है, बन्द मार्ग खोलने हैं और आरोहण तथा अवरोहणकी राहोंकी रचना करनी है, और यह सब वहाँ करना है जहाँ अभी शून्य और नीरवता ही है। ऐसा केवल उस रूपान्तर-त्रयसे किया जा सकता है जिसका संकेत हम सरसरी तौरपर दे चुके हैं : प्रथमतः चैत्य परिवर्तन होना होगा, हमारी समूची वर्तमान प्रकृतिका अन्तरात्माके साधन-रूपमें परिवर्तन; उसके बाद या उसके साथ-साथ आध्यात्मिक परिवर्तन होना होगा, एक महत्तर ज्योति, ज्ञान, बल, शक्ति, आनन्द, शुचिताके अवतरणको समूचे आधारमें, प्राण तथा शरीरकी नीचेसे नीचेकी तहोंमें भी, अवचेतनके अन्धकारमें भी लाना होगा; अन्तमें अतिमानसिक रूपान्तर होना होगा, अतिमानसमें आरोहण और हमारी समूची सत्ता तथा प्रकृतिमें अतिमानसिक चेतनाके रूपान्तरकारी अवरोहणको शीर्ष-गतिके रूपमें आना ही होगा।

प्रकृति-स्थ अन्तरात्मा, चैत्य सत्ता, जिसका उन्मेष आध्यात्मिक परिवर्तन-की ओर पहला डग है, आरम्भमें हमारा एक पूरा ही आवृत भाग होता है, यद्यपि प्रकृतिमें व्यष्टि-जीवोंके रूपमें हमारा अस्तित्व और स्थायित्व उसीके सहारे होता है। हमारे प्राकृतिक संघटनके अन्य भाग परिवर्तन-शील ही नहीं, नश्वर भी हैं; परन्तु हमारे अन्दरका चैत्य पुरुष स्थायी है और मूलतः सदा ही एकसा रहता है : हमारी अभिव्यक्तिकी सारी मूलभूत सम्भावनाएँ उसके अन्दर रहती हैं परन्तु स्वयं वह उनसे निर्मित नहीं होता; वह जिसे अभिव्यक्त करता है उससे सीमित नहीं, अभि-व्यक्तिके अधूरे रूपोंमें अँटनेवाला नहीं, बाह्य सत्ताकी अपूर्णताओं और अशुद्धताओं, त्रुटियों और भ्रष्टताओंसे कलुषित नहीं। वह वस्तुओंमें प्रच्छन्न दिव्यताकी चिर-शुचि ज्वाला है और उसके समीप आनेवाली, हमारे अनुभवमें प्रवेश करनेवाली ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो उसकी शुचिताको दूषित कर सके या उस ज्वालाको बुझा सके। यह आध्या-त्मिक सत्त्व निर्मल एवं ज्योतिर्मय है और चूंकि वह पूर्णतः ज्योतिर्मय है, अतः उसे सत्ताके सत्य और प्रकृतिके सत्यका अव्यवहित, अन्तरंग और प्रत्यक्ष बोध होता है; सत्य, शिव और सुन्दरके प्रति वह गंभीर रूपसे सचेतन है, क्योंकि सत्य, शिव और सुन्दर उसके अपने सहज स्वभावसे सजातीय हैं, ऐसी वस्तुके रूप हैं जो उसकी स्वरूप-धातुमें अन्तर्निहित हैं। जो कुछ इन वस्तुओंका प्रत्याख्यान करता है, जो कुछ उसके

सहजात स्वभावसे विपक्ष है, जो कुछ मिथ्या और अशुभ, कुरूप और अभद्र है, उस सबका भी बोध उसे होता है; परन्तु स्वयं वह ये वस्तुएँ नहीं बनता, अपने इन विरोधियोंसे स्पृष्ट या परिवर्तित भी नहीं होता, जबकि उसके मन, प्राण तथा शरीररूपी बाह्य उपकरणोंपर उनका इतना सबल प्रभाव होता है। कारण, अन्तरात्मा, हमारे अन्दरका चिर-पुरुष, मन, प्राण तथा शरीरको अपने उपकरणोंके रूपमें रचता और व्यवहृत करता है, उनकी अवस्थाओंके आच्छादनको सहता भी है, परन्तु वह अपने अंगोंसे भिन्न और श्रेष्ठतर है।

यदि चैत्य पुरुष किसी प्रच्छन्न कक्षमें बन्द एकान्तवासी राजा न रहकर, आरम्भसे ही अनावृत और अपने मंत्रियोंको ज्ञात होता तो मानव-क्रमविकास अभी जैसा कठिन, उतार-चढ़ाववाला और विरूपित विकास है वैसा न रहकर, अन्तरात्माका एक द्रुत प्रस्फुटन होता; किन्तु आवरण मोटा है और हम अपने अन्दरकी गुप्त ज्योतिको, हृदयके अन्तरतम मन्दिरकी गुप्त गुहामें रहती ज्योतिको जानते नहीं। चैत्यके संकेत हमारे बाह्य तल तक आते हैं किन्तु उनका उद्गम हमारे मनकी दृष्टिमें नहीं आता; वह उन्हें अपनी ही क्रियाएँ मान लेता है, क्योंकि बाह्य तलपर आनेसे पहले ही वे मनःधातुकी पोशाक पहन लेते हैं : इस प्रकार उन संकेतोंके अधिकारको नहीं जाननेवाले मनका उस समय जैसा झुकाव या मोड़ होता है उसीके अनुसार वह उन संकेतोंको मानता या नहीं मानता है। यदि मन प्राणिक अहंकी प्रेरणाके पीछे चल रहा है तो इसकी सम्भावना बहुत अल्प है कि चैत्यपुरुष प्रकृतिको अपने वशमें करे या अपने गुप्त आध्यात्मिक सत्त्व और स्वजातीय गतिकी किसी चीजको हमारे अन्दर अभिव्यक्त करे; या, यदि मनको अपने ही तुच्छतर प्रकाशमें क्रिया करनेमें अति विश्वास हो, यदि वह अपने ही ज्ञानके निर्णय, संकल्प और कर्मसे आसक्त हो, तब भी अन्तरात्मा पर्देमें छिपा और निष्क्रिय रहेगा और मनके दूरतर क्रमविकासकी प्रतीक्षा करेगा। कारण, अन्दरका चैत्य अंग प्राकृतिक क्रमविकासको सहारा देनेको रहता है, और पहला स्वाभाविक विकास-क्रम बारी-बारीसे शरीर, प्राण तथा मनका विकास ही होना चाहिए, और इनमेंसे प्रत्येकको अपने-अपने ढंगसे या साथ-साथ अपनी कुव्यवस्थित साझेदारीमें क्रिया करनी होगी जिससे वे वर्द्धित हों, अनुभव प्राप्त करें तथा विकसित हों। अन्तरात्मा हमारे सारे मानसिक, प्राणिक और शारीरिक अनुभवोंके सारको एकत्र करता और हमारे प्रकृति-स्थ जीवनके

आगेके विकासके लिये उसे आत्मसात् करता है; किन्तु यह क्रिया गुह्य होती है, सतहपर नहीं बढ़ आयी होती। सत्ताके क्रमविकासकी आदिम भौतिक और प्राणिक भूमिकाओंमें अवश्य ही अन्तरात्माकी चेतना नहीं होती; चैत्य क्रियाएँ तो होती हैं पर उन क्रियाओंके साधन, उनके रूप, प्राणिक और भौतिक होते हैं या जब मन सक्रिय होता है तब मानसिक होते हैं। क्योंकि मन भी, जब तक वह अविकसित अवस्थामें रहता या विकसित होने पर भी अति बहिर्मुख होता है, उनके गंभीरतर स्वरूपको नहीं पहचानता। हम शारीरिक सत्ताएँ हैं या प्राणिक सत्ताएँ या प्राण और शरीरका व्यवहार करनेवाली मनोमयी सत्ताएँ, अपने बारेमें ऐसा मानना और अन्तरात्माके अस्तित्वकी बिलकुल उपेक्षा कर देना आसान है। कारण, अन्तरात्माके विषयमें हमारी एकमात्र सुनिश्चित भावना यह है कि वह ऐसा कुछ है जो हमारे शरीरकी मृत्युके बाद भी उत्तरजीवी है; किन्तु वह क्या है यह हम नहीं जानते, क्योंकि यदि हम कभी उसकी विद्यमानताके प्रति चेतन भी हुए तो सामान्यतया उसकी विविक्त सत्ताके प्रति सचेतन नहीं होते, न ही हम अपनी प्रकृतिके अन्दर उसकी साक्षात् क्रियाको स्पष्ट अनुभव करते हैं।

क्रमविकास जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, प्रकृति धीरे-धीरे और परीक्षणके तौरपर हमारे गुह्य अंगोंको व्यक्त करने लगती है; वह हमें अपने अन्तरमें अधिकाधिक देखनेकी ओर प्रवृत्त करती या सतहपर उन गुह्य अंगोंके अधिक स्पष्टतासे पहचानमें आनेवाले संकेतों और रूपायणोंके सूत्रपातमें लग जाती है। हमारा अन्तरात्मा, चैत्य तत्त्व, अब तक गुप्त आकार धारण करना आरम्भ कर चुका है; वह अपने प्रतिनिधिके रूपमें एक आन्तरात्मिक व्यक्तित्वको, एक सुस्पष्ट चैत्य पुरुषको सामने लाता और विकसित करता है। यह चैत्य पुरुष फिर भी, हमारे अन्दर सच्चे मनोमय, सच्चे प्राणमय, सच्चे या सूक्ष्म अन्नमय पुरुषकी तरह, हमारे अवगूढ़ भागमें पर्देके पीछे ही रहता है : किन्तु उन्हींकी तरह, सतही जीवनपर अपनी क्रिया वह अपने प्रभावों और संकेतोंको उस सतह तक उत्क्षिप्त करके ही करता है; ये सतहकी समष्टिका अंग बनते हैं और वह समष्टि आन्तरिक प्रभावों और उत्क्षेपोंका पुंजीभूत परिणाम होती है, वह दृश्यमान रचना तथा ऊपरी इमारत होती है जिसे हम सामान्यतया अपनी सत्ता अनुभव करते और मानते हैं। इस अज्ञानपूर्ण सतहपर हम अस्पष्टतासे एक ऐसी चीजके प्रति सचेतन होते है जिसे मन, प्राण या शरीरसे भिन्न

अन्तरात्मा कहा जा सकता है : हम उसे अपने विषयमें किसी मानसिक भाव या अस्पष्ट सहजबोधके रूपमें ही नहीं, वरन् अपने जीवन, चरित्र और कर्ममें एक गोचर प्रभावके रूपमें भी अनुभव करते हैं। जो कुछ सत्य, शिव एवं सुन्दर, सूक्ष्म, शुचि एवं महान् है, उस सबका एक अन्तर्ग्राह्य अनुभव, उस सबके प्रति एक प्रत्युत्तरशीलता, उस सबके लिये एक चाह, मन और प्राणपर यह दबाव कि वे उसे स्वीकार करें और हमारे विचार, भाव, आचरण, चरित्रमें रूपायित करें,—यह चैत्यके इस प्रभावका एकमात्र तो नहीं, पर सबसे अधिक परिचित, सर्वसामान्य तथा विशिष्ट लक्षण है। जिस मनुष्यमें यह तत्त्व नहीं या जो इस प्रेरणाको बिल्कुल प्रत्युत्तर नहीं देता, उसके बारेमें हम कहते हैं कि उसमें अन्तरात्मा नहीं है। कारण, हम सबसे अधिक सुगमतासे इसी प्रभावको अपने अन्दर एक सूक्ष्मतर या यहाँ तक कि दिव्यतर अंगके रूपमें और अपनी प्रकृतिमें पूर्णताके किसी लक्ष्यकी ओर धीमे मोड़के लिये सबलतम अंगके रूपमें जान सकते हैं।

किन्तु यह चैत्य प्रभाव या क्रिया पूरे शुद्ध रूपमें सतहपर नहीं आती या उसका शुद्ध रूप स्पष्ट नहीं रह जाता। यदि वह शुद्धता या स्पष्टता हो तो हम अपने अन्दरके आन्तरात्मिक तत्त्वको साफ-साफ पहचान सकेंगे और उसके आदेशोंका अनुसरण सचेतन रूपसे और पूरी तरह कर सकेंगे। एक गुह्य मानसिक, प्राणिक और सूक्ष्म-शारीरिक क्रिया हस्तक्षेप करती, उसके साथ मिल जाती, उसे अपने ही लाभके लिये व्यवहृत करने और मोड़नेका प्रयत्न करती, उसकी दिव्यताको खर्व करती, उसकी स्वाभिव्यक्तिको विकृत या क्षुण्ण करती, उसके विच्युत होने और ठोकर खानेका कारण भी बन जाती या उसपर मन, प्राण और शरीरकी अपवित्रता, तुच्छता और भूल-भ्रान्तिका धब्बा लगा देती है। जब यह प्रभाव इस तरह व्यामिश्र और क्षीण होकर सतहपर पहुँचता है तो फिर सतहकी प्रकृति उसे धूमिल ग्रहणशीलतासे पकड़ती और अज्ञानमय रूप दे देती है, और इस कारण आगे और भी विचलन तथा मिश्रण होते या हो सकते हैं। उसे एक मरोड़ दे दिया जाता है, एक गलत दिशा दे दी जाती है; जो अपने-आपमें हमारी आध्यात्मिक सत्ताकी विशुद्ध वस्तु और क्रिया है उसका यह एक गलत प्रयोग, एक गलत रूपायण, एक गलत परिणाम होता है। फलतः चेतनाकी एक ऐसी रचना बनती है जो चैत्य प्रभाव और उसके संकेतोंके साथ मानसिक भावों और सम्मतियों,

प्राणिक कामनाओं और प्रेरणाओं, और अभ्यासजनित शारीरिक प्रवृत्तियोंकी खिचड़ीका मिश्रण होती है। अन्तरात्माके धूमावृत प्रभावके साथ-साथ इन बाह्य अंगोंके एक उच्चतर दिशाकी ओर होनेवाले अज्ञानमय किंतु सदिच्छापूर्ण प्रयास भी सम्मिलित हो जाते हैं; एक बहुत ही विमिश्र प्रकृतिवाला मानसिक भावन जो अपनी आदर्शवादितामें भी प्रायः अन्धकारमय होता है और कभी कभी विनाशकारी रूपसे भी भूल खाता है, भावप्रवण आवेग और आवेश जो अनुभवों, भावनाओं और भावुकताकी फुहारें और फेन उछालता रहता है, प्राणिक भागोंका क्रियाशील उत्साह, शारीरिक सत्ताके उत्सुक प्रत्युत्तर, स्नायु और शरीरकी रोमांचकारिता और उत्तेजना,—ये सारे प्रभाव एक विमिश्र रूपायणमें सम्मिलित हो जाते हैं जिसको प्रायः अन्तरात्मा और जिसकी मिश्रित तथा भ्रमित क्रियाको अन्तरात्माका स्पंदन, चैत्य विकास और क्रिया या सिद्ध आन्तरिक प्रभाव मान लिया जाता है। स्वयं चैत्य पुरुष मिश्रण या धब्बेसे अछूता है, किन्तु जो कुछ उससे आता है उसे इस निरापदताका संरक्षण प्राप्त नहीं है; इसीलिये यह विभ्रान्ति सम्भव हो जाती है।

इसके अतिरिक्त, चैत्य पुरुष, हमारा आन्तरात्मिक व्यक्तित्व, सम्पूर्णतया-विकसित और ज्योतिर्मय होकर आविर्भूत नहीं होता; वह क्रमशः विकसित होता है, एक मन्थर प्रगति तथा रूपायणसे होकर चलता है; उसकी सत्ताका विग्रह आरम्भमें अस्पष्ट हो सकता है, बादमें लम्बे समयतक दुर्बल और अविकसित रह सकता है, मिश्रित नहीं, किन्तु अपूर्ण रह सकता है: कारण, वह अपने रूपायण, अपने सक्रिय आत्मनिर्माणको अन्तरात्माकी उस शक्तिपर आश्रित करता है जो क्रमविकासके दौरान, अविद्या तथा निश्चेतनाके विरोधके बावजूद, कम या अधिक सफलतासे बाह्य तलपर वस्तुतः स्फुरित की गयी है। उसका प्राकट्य प्रकृतिमें आन्तरात्मिक उन्मज्जनका चिह्न है, और यदि वह उन्मज्जन अभी भी अल्प और दोषपूर्ण है तो चैत्य व्यक्तित्व भी खर्व या दुर्बल होगा। हमारी चेतनाके अन्धकारके कारण वह अपनी आन्तरिक सद्वस्तुसे पृथक् भी हो जाता है, सत्ताकी गहराइयोंमें स्थित अपने ही स्रोतके साथ उसका सम्पर्क अपूर्ण रहता है; कारण, मार्ग अभीतक ठीकसे बना नहीं है, उसमें विघ्नबाधाएँ आसानीसे आ जाती हैं, तार प्रायः कट जाते हैं या उनमें दूसरे प्रकारके और अन्य मूलसे आनेवाले संवादोंकी भीड़ होती है : वह जो कुछ पाता है उसकी छाप बाह्य उपकरणोंपर डालनेकी भी उसकी शक्ति

अपूर्ण होती है; अपनी इस दारिद्रयावस्थामें उसे अधिकांश वस्तुओंके लिये इन उपकरणोंपर ही निर्भर करना पड़ता है और अभिव्यक्ति तथा क्रियाकी ओर अपनी प्रेरणाको वह एकमात्र चैत्य सत्ताके निर्भ्रान्त प्रत्यक्ष बोधके अनुसार नही बल्कि इन बाह्य उपकरणोंसे मिले तथ्योंके आधार-पर गठित करता है। इन अवस्थाओंमें वह सच्चे चैत्य प्रकाशको मनमें क्षीण या विकृत होकर एक भाव या सम्मति मात्र बन जानेसे, चैत्य अनुभूतिको हृदयमें भ्रमशील भावावेग या भावुकता मात्र बन जानेसे, चैत्यकी कर्मेच्छाको प्राणिक अंगोंमें एक अन्धा प्राणिक जोश या आवेग-पूर्ण उत्तेजना बन जानेसे नहीं रोक सकता; यहाँ तक कि किसी अन्य श्रेष्ठतर वस्तुके अभावमें वह इन गलत अनुवादोंको ही स्वीकार कर लेता और उनके द्वारा ही अपनी परिपूर्तिका प्रयत्न करता है। वस्तुतः यह अन्तरात्माके कार्यका अंग है कि वह मन, हृदय एवं प्राणसत्ताको प्रभावित करे और जो दिव्य तथा प्रकाशमय है उसकी दिशामें उनके भावों, अनु-भवों, उत्साह और क्रियाशक्तियोंको मोड़े; किन्तु आरम्भमें यह कार्य अपूर्ण रूपसे ही, धीरे-धीरे और अन्य मिश्रणोंके साथ करना होता है। जैसे जैसे चैत्य व्यक्तित्व सबलतर होता जाता है, वह अपने पीछे स्थित चैत्य सत्ताके साथ अपना संस्पर्श बढ़ाने लगता और सतहके साथ अपने सम्पर्कको सुधारने लगता है : तब वह मन, हृदय और प्राणको अपने संकेत अधिक विशुद्धता एवं शक्तिमत्ताके साथ प्रेषित कर सकता है, क्योंकि तब वह एक सबल नियंत्रण लागू करने और मिथ्या मिश्रणोंके विरुद्ध प्रतिक्रिया करनेमें अधिक सक्षम होता है, तब वह अधिकाधिक स्पष्टतासे अनुभव कराने लगता है कि वह प्रकृतिके अन्दर एक शक्ति है। परन्तु ऐसा होनेपर भी यदि इस क्रमविकासको क्रमविकासिका 'ऊर्जा'की कठिन और स्वचलित क्रियापर ही छोड़ दिया जाय तो वह धीमा या लम्बा होगा; जब मनुष्य अन्तरात्माके ज्ञानके प्रति जग जाता और उसे पुरोभागमें लाने और अपने जीवन तथा कार्यका स्वामी बनाने-की आवश्यकता अनुभव करता है, केवल तभी क्रमविकासकी एक द्रुततर सचेतन प्रक्रिया हस्तक्षेप करती है और चैत्य रूपान्तर सम्भव होता है।

यदि मनको यह स्पष्ट बोध हो कि अन्तरमें ऐसा कुछ है जो शरीर-की मृत्युके बाद भी टिका रहता है, उसके लिए मनका आग्रह हो और उसके स्वरूपको जाननेका प्रयास हो, तो इस धीमी प्रगतिमें इनसे सहायता मिल सकती है। किन्तु पहले तो इस ज्ञानमें इस बातसे बाधा पड़ती

है कि हममें ऐसे बहुत सारे तत्त्व हैं, ऐसे बहुत सारे रूपायण हैं जो अन्तरात्मा-तत्त्वोंके रूपमें हमारे सामने प्रकट होते हैं और जिन्हें चैत्य मान लेनेकी भूल की जा सकती है। मरणोत्तर जीवनके बारेमें प्राचीन यूनानी और कुछ अन्य परम्पराओंमें दिये गये वर्णन बहुत स्पष्टतासे यह सूचित करते हैं कि सत्ताके किसी अवचेतन रूपायणको, अवभौतिक संस्कार-काया या छाया-रूपको या नहीं तो व्यक्तित्वके प्रेत-बिम्ब या प्रेतको ही अन्तरात्मा मान लेनेकी भूल की गयी थी। यह प्रेत, जिसे भूलसे 'स्पिरिट' या आत्मा कहा जाता है, कभी तो कोई प्राणिक रूपायण होता है जो उस मनुष्यकी विशेषताओं, उसकी बाह्य जीवन-विधियोंको पुनः प्रस्तुत करता है, कभी वह मनःकोषके ऊपरी आकारकी सूक्ष्म शारीरिक दीर्घायु ही होता है; अच्छीसे अच्छी दशामें, वह प्राणिक व्यक्तित्वका कोष होता है जो शरीरसे विदा होनेके बाद भी कुछ समयतक सामनेके भागमें बना रहता है। मृत्युके बाद व्यक्तित्वके कोषोंके परित्यक्त अवशेषों या कल्पित आकृतियोंसे होनेवाले सम्पर्कसे उत्पन्न इन भ्रान्तियोंके अलावा कठिनाईका कारण यह भी होता है कि हमें अपनी प्रकृतिके अवगूढ़ अंगोंका ज्ञान नहीं, उनकी क्रियाओंका अध्यक्ष जो 'पुरुष' है उसके स्वरूप और शक्तियोंका भी ज्ञान नहीं; इस अनुभवहीनताके कारण हम आन्तरिक मन या प्राणिक सत्ताकी किसी वस्तुको चैत्य मान लेनेकी भूल आसानीसे कर सकते हैं। कारण, जैसे परम 'सत्ता' एक है और बहु भी, वही विधान स्वयं हममें और हमारे अंगोंमें भी प्रयुक्त होता है : पुरुष एक ही है, किन्तु वह अपने-आपको प्रकृतिके रूपायणोंके अनुरूप कर लेता है। हमारी सत्ताके हर स्तरपर पुरुषकी एक-एक शक्ति अध्यक्षता करती है, हममें एक मनोमय आत्मा है, प्राणमय आत्मा है, अन्नमय आत्मा है और जब हम अन्दरकी गहराइयोंमें काफी दूरी तक पैठते हैं तो उनका सन्धान पाते हैं। एक मनोमय पुरुष है जो मनःप्रकृतिके विचारों, प्रत्यक्ष अनुभवों और क्रियाओंमें अपना कोई अंश हमारे बहिस्तलपर व्यक्त करता है, एक प्राणमय पुरुष है जो हमारी प्राणिक प्रकृतिके आवेगों, अनुभवों, संवेदनों, कामनाओं तथा बाह्य जीवनकी क्रियाओंमें अपना कोई अंश व्यक्त करता है, एक अन्नमय पुरुष है, शरीर-पुरुष, जो हमारी शारीरिक प्रकृतिकी सहजप्रवृत्तियों, अभ्यासों, रूपायित क्रियाशीलताओंमें अपना कोई अंश व्यक्त करता है। ये पुरुष अथवा हमारे अन्दर आत्माके ये खंडात्मा 'अध्यात्म-पुरुष'की ही शक्तियां हैं और इस कारण ये अपनी अस्थायी

अभिव्यक्तिसे सीमित नहीं हैं, क्योंकि इस प्रकार जो रूपायित होता है वह उसकी सम्भावनाओंका एक अंश ही होता है; किन्तु यह अभिव्यक्ति एक अस्थायी मनोमय, प्राणमय या अन्नमय व्यक्तित्वकी रचना करती है और यह व्यक्तित्व भी वैसे ही विकसित और वर्द्धित होता है जैसे हमारे अन्दर चैत्य पुरुष या अन्तरात्मा-व्यक्तित्व वर्द्धित और विकसित होता है। इनमेंसे प्रत्येककी अपनी-अपनी सुस्पष्ट प्रकृति है, हमारे समग्र व्यक्तित्वपर हरेकका अपना प्रभाव, हरेककी अपनी क्रिया होती है; किन्तु ये सारे प्रभाव और ये सारी क्रियाएँ जैसे-जैसे हमारे बाह्य तलपर आती है, वहाँ मिलजुल जाती हैं और एक समुच्चयित बाह्य सत्ताकी रचना करती है; यह सत्ता इन सबका एक मिश्रित, एक संयुक्त रूप होती है, इस जीवन और इसके सीमित अनुभवके लिये एक बाह्य और स्थायी, पर साथ ही परिवर्तनशील और सचल रूपायण होती है।

परन्तु यह समुच्चय, अपनी बनावटके कारण, एक विषमांग सम्मिश्रण होता है, कोई एकनिष्ठ, सामंजस्यमय और समांग समग्र नहीं। यही कारण है कि हमारे अंगोंमें एक सतत अस्तव्यस्तता है, एक संघर्ष भी है; हमारी मानसिक बुद्धि और इच्छा इन्हें नियंत्रित करने और इनमें सामंजस्य बैठानेके लिये प्रवृत्त होती हैं, परन्तु इनकी अस्तव्यस्तता या संघर्षमेंसे किसी प्रकारकी व्यवस्था और पथप्रदर्शनकी रचना करनेमें उन्हें प्रायः बहुत कठिनाई होती है। ऐसा होने पर भी, सामान्यतः, हम अपनी प्रकृतिके प्रवाहमें अत्यधिक बह जाते हैं या उससे चालित होते हैं और उस समय जो कुछ उसके सबसे ऊपरी भागमें आता और विचार तथा कर्मके उपकरणोंको पकड़ लेता है उसीके अनुसार कार्य करते हैं,—हमारा सुचिन्तित प्रतीत होनेवाला निर्वाचन भी, हम उसके बारेमें जैसी कल्पना करते हैं उससे अधिक एक स्वतःक्रिया होता है; हमारा बुद्धि और इच्छाके द्वारा अपने बहुविध तत्त्वों और अपने परिणामभूत विचारों, भावनाओं, आवेगों और कर्मोंका सहयोजन अधूरा और अपर्याप्त होता है। पशु-प्राणीमें प्रकृति अपने ही मानसिक और प्राणिक संबोधि-स्फुरणोंसे कार्य करती है; वह अभ्यास और सहज-प्रवृत्तिकी बाध्यता द्वारा एक व्यवस्थाको कार्यान्वित करती है, पशु उस बाध्यताका अनुगमन इतने निर्विवाद भावसे करता है कि उसकी चेतनाके केंद्र-अन्तरणोंका वहाँ कोई प्रभाव नहीं होता। परन्तु मनुष्य अपना मनुष्यत्वका विशेषाधिकार खोये बिना सर्वथा इस तरह कार्य नहीं कर सकता; वह अपनी सत्ताको प्रकृतिकी स्वतःक्रियासे

नियन्ति सहज प्रवृत्तियों और आवेगोंकी अस्तव्यस्तता होनेको नहीं छोड़ दे सकता : उसमें मन चेतन हो गया है, अतः वह स्वतः बाध्य होता है कि उसकी बाह्य सत्ता जिन बहुविध उपादानों, विभिन्न और संघर्षकारी प्रवृत्तियोंसे बनी लगती है, उन्हें देखने और नियंत्रित करनेका और अन्तमें उनमें अधिकाधिक पूर्णतासे सामंजस्य बैठानेका प्रयत्न करे, फिर यह प्रयत्न बहुतोंमें चाहे कितनी ही आरम्भिक अवस्थामें क्यों न हो। अपने अन्दर एक प्रकारकी नियमित अव्यवस्था अथवा व्यवस्थित अस्तव्यस्तता खड़ी करनेमें वह सफल होता भी है, या अन्ततः वह यह सोच लेनेमें सफल होता है कि वह अपने-आपको अपने मन तथा इच्छा द्वारा निर्देशित कर रहा है, भले ही वह निर्देशन वस्तुतः आंशिक ही हो; कारण, अभ्यासगत प्रेरक शक्तियोंका कोई विषम संघ ही नहीं, प्रत्युत नवोदित प्राणिक और शारीरिक प्रवृत्तियाँ और आवेग जो कि सदैव निर्देश्य या नियंत्रणशक्य नहीं रहते और बहुतसे असंबद्ध और असंगत मानसिक तत्त्व भी उसकी बुद्धि और इच्छाको व्यवहृत करते हैं, उसके आत्म-निर्माण, उसके प्रकृति-विकास, उसके जीवन-कर्ममें प्रवेश करते और उनका निर्वारण करते हैं। अपने स्वरूपमें मनुष्य एक अद्वितीय पुरुष है, परन्तु अपने स्वकी अभिव्यक्तिमें वह एक बहु-पुरुष भी है; अपने-आपका स्वामी होनेमें वह कभी भी तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि वह पुरुष उसके बहु-पुरुषत्वपर अपने-आपको आरोपित न करे और उसपर शासन न करे, परन्तु बहिस्तलीय मानसिक इच्छा और बुद्धि ऐसा अपूर्णतः ही कर सकती हैं; पूर्णरूपसे ऐसा केवल तब किया जा सकता है यदि मनुष्य अन्दर पैठे और वहाँ जो भी केन्द्रीय सत्ता अपने सर्वप्रधान प्रभावसे उसकी सारी अभिव्यक्ति तथा कर्मकी अध्यक्षता करती हो, उसका संधान पाये। अन्तरतम सत्य यह है कि उसका अन्तरात्मा ही वह केन्द्रीय सत्ता है, परन्तु बाह्य वास्तविकता यह होती है कि प्रायः उसकी अंश-सत्ताओंमेंसे कोई एक या दूसरी उसका शासन करती है, और वह अन्तरात्माके इस प्रतिनिधिको, इस प्रतिनियुक्त पुरुषको सबसे अन्दरका आन्तरात्मिक तत्त्व मान लेनेकी भूल कर सकता है।

हममें विभिन्न पुरुषोंका यह शासन ही मानव-व्यक्तित्वके विकासके पर्वोंके मूलमें रहता है जिन्हें स्पष्ट करनेका अवसर हमें मिल चुका है, और अब हम प्रकृतिपर आन्तरिक तत्त्वके शासनके दृष्टिकोणसे उनपर पुनर्विचार कर सकते हैं। कुछ मानव-प्राणियोंमें अन्नमय पुरुष, शरीर-

पुरुष ही, मन, इच्छा और कर्मपर प्रधान रहता है; तब अन्नमय मनुष्यका सृजन होता है जो प्रधानतया अपने शारीरिक जीवन और अभ्यासगत आवश्यकताओं, आवेगों, प्राणगत अभ्यासों, मनोगत अभ्यासों, शरीरगत अभ्यासोंमें व्यस्त रहता है और उससे परे बहुत ही थोड़ा या कुछ भी नहीं देखता, अपनी सारी अन्य प्रवृत्तियों और सम्भावनाओंको उस संकीर्ण रूपायणके अधीन और वहीं तक सीमित रखता है। परन्तु अन्नमय मनुष्यमें भी अन्य तत्त्व रहते हैं और वह सर्वथा मानव-पशुकी तरह नहीं जी सकता जिसका केवल जन्म, मृत्यु और प्रजनन, सामान्य आवेगों और कामनाओंकी संतुष्टि और प्राण तथा शरीरके संरक्षणसे ही सम्बन्ध रहता हो : यह उसके व्यक्तित्वका सामान्य प्रकार है, परन्तु उसपर ऐसे प्रभाव गुजरते हैं,—चाहे कितने ही दुर्बल रूपसे सही,—जो यदि वर्द्धित हों तो मनुष्य उनके द्वारा एक उच्चतर मानव-विकासतक जा सकता है। यदि आन्तरिक सूक्ष्म-भौतिक पुरुष आग्रह करता है तो वह एक अधिक सूक्ष्म, अधिक सुन्दर और पूर्ण भौतिक जीवनके भावतक पहुँच सकता और उसे अपने जीवन या सामूहिक अथवा सामुदायिक जीवनमें चरितार्थ करनेकी आशा या प्रयत्न कर सकता है। दूसरे ऐसे मनुष्य होते हैं जिनमें प्राणिक आत्मा ही, प्राणमय पुरुष ही, मन, इच्छा और कर्मका प्रधान और शासक रहता है; तब प्राणिक मनुष्यका सृजन होता है जिसका स्व-प्रतिष्ठापन, स्व-विवर्द्धन और प्राण-संप्रसारणसे, महत्त्वाकांक्षा, राग, आवेग और कामनाकी तुष्टिसे, अपने अहंके दावोंसे, प्रभुता, बल, उत्तेजना, युद्ध और संघर्षसे, आन्तरिक तथा बाह्य साहसिकतासे सम्बन्ध रहता है : बाकी सब कुछ प्राणिक अहंकी इस गतिविधि, निर्माण और अभिव्यक्तिके लिये आनुषंगिक अथवा उसके अधीन रहता है। परन्तु फिर भी, प्राणिक मनुष्यमें भी वर्द्धमान मनोमयी या आध्यात्मिक प्रकृतिके अन्य तत्त्व होते या हो सकते हैं, भले ही वे उसके प्राण-व्यक्तित्व और प्राण-बलकी अपेक्षा कम विकसित मिलते हों। अन्नमय मनुष्य धरतीको पकड़े रखता है और उसका एक विशेष जड़ाश्रित आसन और संतुलन होता है; उसकी अपेक्षा प्राणिक मनुष्यकी प्रकृति अधिक सक्रिय, अधिक सबल, अधिक सचल, अधिक दुर्दान्त और विप्लवी होती है, प्रायः सर्वथा अनियमित अवस्थाके बिन्दु तक भी पहुँच जाती है, परन्तु वह अधिक क्रियाशीला और सृजनात्मिका भी होती है : कारण, प्राण-पुरुषका तत्त्व पृथ्वी नहीं, मरुत है; उसमें गति अधिक है, स्थिति कम। दुर्द्धर्ष प्राणिक मन तथा

संकल्प प्राणकी क्रियामुख ऊर्जाओंको पकड़ सकता और शासित कर सकता है, परन्तु ऐसा वह उस सत्तामें सामंजस्य लानेकी अपेक्षा बलपूर्वक बाध्य और प्रतिबन्धित करके ही अधिक करेगा। तथापि, यदि किसी सबल प्राणिक व्यक्तित्व, मन और संकल्पको एक दृढ़ अवलम्ब और मंत्रीके रूपमें युक्तिधर्मिणी बुद्धि मिल सके, तो एक प्रकारकी सशक्त रचना बनायी जा सकती है जो कम या अधिक सन्तुलित होगी, परन्तु सदैव सबल, सफल और प्रभावी होगी, जो प्रकृति और पर्यावरणपर अपने-आपको आरोपित कर सकेगी और जीवन तथा कर्ममें एक सबल स्व-प्रतिष्ठापन कर सकेगी। प्रकृतिके आरोहणमें सामंजस्यपूर्ण रूपायणका यह दूसरा सम्भव ढग है।

व्यक्तित्वके क्रमविकासकी एक उच्चतर भूमिकामें मनोमय पुरुषका शासन हो सकता है; तब मनोमय मानवका सृजन होता है जो सर्वोपरि रूपसे वैसे ही मनमें रहता है जैसे दूसरे प्राणमयी या अन्नमयी प्रकृतिमें रहते हैं। मनोमय मानवकी प्रवृत्ति अपनी शेष सत्ताको अपनी मानसिक स्वाभिव्यक्ति, मानसिक लक्ष्यों, मानसिक रुचियों या किसी मानसिक भाव अथवा आदर्शके अधीन करनेकी रहती है : उन्हें अधीन करनेकी कठिनाईके कारण और जब अधीन कर लिया गया तो उस अधिकारके प्रभावकी सफलताके कारण मनुष्यके लिये अपनी प्रकृतिके सामंजस्य तक पहुँचना एक साथ ही अधिक कठिन होता है और अधिक सहज भी; अधिक सहज इसलिये कि मानसिक संकल्प एक बार जब नियंत्रण-कर्त्ताके स्थानमें आ जाता है तो युक्तिधर्मिणी बुद्धिके बलसे वह प्राण और शरीरको विश्वास करा सकता है और साथ ही उन्हें और उनकी माँगोंको अधीनस्थ, संकुचित या दमित कर सकता है, उन्हें व्यवस्थित कर सकता और उनमें सामंजस्य ला सकता है, उन्हें अपने उपकरण बन जानेके लिये विवश कर सकता है, उन्हें न्यूनतम परिमाण तक घटा भी दे सकता है जिससे वे मानसिक जीवनमें विघ्न न डालें या उसे उसकी भावों या आदर्शोंकी रचयित्री क्रियासे नीचे न खींच उतारें; और अधिक कठिन इसलिये कि प्राण और शरीर ही पहली शक्तियाँ हैं और वे यदि तनिक भी सबल हुए तो अपने-आपको मनोमय शासकपर लगभग दुर्निवार हठसे आरोपित कर सकते हैं। मनुष्य मनोमय जीव है और मन उसके प्राण तथा शरीरका नेता है; परन्तु वह ऐसा नेता है जो अपने अनुगामियोंसे बहुत ही संचालित होता है और वे जो इच्छा उसपर लादते

हैं, कभी कभी उसे छोड़ कर और कोई इच्छा उसकी नहीं होती। मन अपनी शक्तिके बावजूद भी निश्चेतन और अवचेतनके सामने प्रायः बल-हीन रहता है, वे उसकी स्पष्टताको तमोवृत करते और उसे सहजप्रवृत्ति अथवा आवेगके ज्वारमें वहा ले जाते हैं; अपनी स्पष्टताके बावजूद भी वह प्राण और भावावेगके सुझावोंसे मूर्ख बन जाता है जिससे वह अज्ञान और भूल, गलत विचार और गलत कर्मको अनुमति देता है या वह जिसे गलत, संकटपूर्ण या बुरा समझता है उसका जब प्रकृति अनुसरण करती है तो वह उसे देखते रहनेको विवश होता है। मन जब सबल, स्पष्ट और प्रधान रहता है, तब भी, यद्यपि वह एक निश्चित, एक अनल्प मनोधर्मी सामंजस्य आरोपित करता है, तथापि समूची सत्ता तथा प्रकृतिको एकीबद्ध नही कर सकता। इसके अतिरिक्त, निम्नतर नियंत्रण द्वारा हुए ये सामंजस्य-सम्पादन अनिर्णायक होते हैं, क्योंकि तब प्रकृतिका कोई एक ही भाग आधिपत्यशाली होता है और निजको परिपूर्ण करता है, जबकि अन्य भागोंका दमन और उनकी परिपूर्णताका निषेध किया जाता है। ये सामंजस्य-सम्पादन मार्गके डग हो सकते हैं, परन्तु अन्तिम नहीं; अतएव, अधिकांश मनुष्योंमें कोई ऐसा एकमात्र प्राधान्य और निष्पादित आंशिक सामंजस्य नहीं होता, अपितु केवल कोई एक प्राधान्य होता है और बाकीके लिये तो एक ऐसे व्यक्तित्वकी एक अस्थायी साम्यावस्था होती है जिसकी आधी रचना हो चुकी है और आधी हो रही है, और कभी कभी केन्द्रीय शासनके अभावसे या किसी पूर्वप्राप्त आंशिक साम्यावस्थामें खलल पड़नेसे असाम्यावस्था या असंतुलनकी अवस्था हो जाती है। जबतक हमारे यथार्थ केन्द्रको पाकर एक अन्तिम तो नही किन्तु प्रथम सच्चा सामंजस्य-सम्पादन ही सिद्ध नहीं हो जाता तब तक सब कुछ संक्रमणकालीन रहेगा। कारण, अन्तरात्मा ही सच्चा केन्द्रीय पुरुष है, परन्तु यह पुरुष पीछे खड़ा होता और अधि-कांश मानव-प्रकृतियोंमें केवल गुप्त उपद्रष्टा या, कहा जा सकता है, एक वैधानिक शासक होता है जो अपने बदले अपने मंत्रियोंको शासन करने देता है, उन्हें अपना साम्राज्य सुपुर्द कर देता है, उनके निर्णयोंको मौन अनुमति देता है और केवल यदा-कदा कुछ कहता है जिसका उल्लंघन वे मंत्रीगण कभी भी कर सकते है और वे भिन्नतया कार्य भी कर सकते हैं। परन्तु ऐसा तब तक होता है जब तक कि चैत्य पुरुष द्वारा व्यक्त आन्तरात्मिक व्यक्तित्व पर्याप्त विकसित न हुआ हो; जब वह इतना

पर्याप्त सबल हो जाता है कि आन्तरिक पुरुष उसके द्वारा अपने-आपको आरोपित कर सके तब अन्तरात्मा आगे आ सकता और प्रकृतिको वशीभूत कर सकता है। हमारी सत्ता और हमारे जीवनका यथार्थ सामंजस्य-सम्पादन तभी घटित हो सकता है जबकि यह सच्चा राजा सामने आये और शासनकी बागडोर अपने हाथोंमें लेवे।

अन्तरात्माके सम्पूर्ण उन्मज्जनकी एक पहली शर्त है बहिस्तलीय सत्तामें आध्यात्मिक 'सद्वस्तु' के साथ अपरोक्ष सम्पर्क। चूंकि हमारे अन्दरका चैत्य तत्त्व उन्हींसे आता है, वह दृश्य जगत्‌की प्रकृतिके उस तत्त्व-की ओर मुड़ता है जो एक उच्चतर 'सद्वस्तु'की वस्तु लगता है और उसके चिह्न तथा लक्षणके रूपमें स्वीकार किया जा सकता है। वह इस 'सद्वस्तु'की खोज आरम्भमें सत्य, शिव, सुन्दरके द्वारा, जो कुछ शुचि, सूक्ष्म, उच्च और महान् है उसके द्वारा करता है : परन्तु यद्यपि बाह्य चिह्नों और लक्षणोंके द्वारा यह स्पर्श प्रकृतिमें कुछ संशोधन कर सकता है, प्रकृतिको तैयार कर सकता है, तथापि वह उसे पूराका पूरा या बहुत अन्दर और गहराईमें परिवर्तित नहीं कर सकता। ऐसे अन्तरतम परिवर्त्तनके लिये उसी 'सद्वस्तु'के साथ अपरोक्ष सम्पर्कका होना अपरि-हार्य है, क्योंकि इसके अलावा ऐसा कुछ भी नहीं है जो हमारी सत्ताकी नीवोंको इतनी गहराईमें छू सके और उसे आलोड़ित कर सके या उसके आलोड़नसे उसकी प्रकृतिमें रूपान्तरका उद्वेलन ला सके। मनके बनाए प्रतिरूपोंका, हृदयोच्छ्वास और क्रियावीर्यकी कल्पमूर्तियोंका अपना उपयोग और मूल्य है; सत्य, शिव और सुन्दर अपने-आपमें 'सद्वस्तु'की प्राथमिक और सबल आकृतियाँ हैं, और उनको जिन रूपोंमें मन देखता है, हृदय अनुभव करता है, जीवनमें संसिद्ध किया जाता है, वे भी आरोहणकी रेखाएँ हो सकते हैं : परन्तु उनकी और जिस 'तत्'का वे प्रतिनिधित्व कर रहे हैं उसकी आध्यात्मिक धातु और सत्तामें ही हमें 'तत्'का अनुभव पाना होगा।

विचारधर्मी मनको माध्यम और उपकरण बना कर मुख्यतः उसके [illegible]ारा इस सम्पर्ककी उपलब्धिका प्रयत्न अन्तरात्मा कर सकता है, वह मानस-बुद्धिपर और अन्तर्दृष्टि तथा संबोधिमूलक बुद्धिसे युक्त विशालतर मनपर एक चैत्य छाप डाल देता है और उन्हें उसी दिशामें मोड़ देता है। अपने उच्चतम बिन्दुपर विचारधर्मी मन सदा निर्व्यक्तिककी ओर खिंचता है; अपनी खोजमें वह एक आध्यात्मिक सार, एक निर्व्यक्तिक

'सद्वस्तु'के प्रति चेतन होता है जो इन सारे वाह्य चिह्नों तथा लक्षणोंमें अपने-आपको अभिव्यक्त करती है परन्तु किसी भी रूपायण या किसी भी अभिव्यक्त करती आकृतिसे अधिक कुछ होती है। उसे किसी ऐसी वस्तुका, एक परम सत्य, एक परम शिव, एक परम सौन्दर्य, एक परम शुचिता, एक परम आनन्दका अनुभव होता है जिसके प्रति वह अन्तरंग और अदृश्य रूपसे सचेतन हो जाता है,—वह एक वर्द्धमान स्पर्शको ग्रहण करता है जिसकी अगोचरता और अमूर्त्तता कम होती जाती है और जो आध्यात्मिक रूपसे अधिकाधिक वास्तविक और मूर्त होता जाता है; वह उस 'शाश्वतत्व' और 'आनंत्य'का स्पर्श और दबाव है जो यह सब जो कुछ है वह भी है और उससे अधिक भी। समूचे मनको अपने-आपके किसी रूपमें गढ़ना चाहती इस निर्व्यक्तिकतासे एक दबाव पड़ता है; साथ ही, वस्तुओंका निर्व्यक्तिक रहस्य और धर्म भी अधिकाधिक दिखायी देने लगता है। मन विकसित होकर ज्ञानीका मन हो जाता है, आरम्भमें उच्च मनीषीका, फिर उसी मुनिका मन जो विचारकी भाव-विविक्तियोंसे आगे अपरोक्ष अनुभूतिकी आरम्भिक भूमिकामें पहुँच गया है। परिणाममें मन शुद्ध, विशाल, शान्त, निर्व्यक्तिक हो जाता है, प्राणिक अंगोंपर भी वैसा ही शान्तिदायी प्रभाव पड़ता है : परन्तु इसके अलावा परिणाम अधूरा रह जा सकता है; कारण, मानसिक परिवर्तन अधिक स्वभावतः एक आन्तरिक स्थिति और एक वाह्य अचंचलताकी ओर ले जाता है, किन्तु इस शुद्धिकारी शान्तिभावमें आसीन रहकर, प्राणिक अंगोंकी भाँति नव जीवन-ऊर्जाओंके आविष्कारकी ओर अनाकर्षित रहकर, वह प्रकृतिपर भरपूर सक्रिय प्रभावके लिये दबाव नहीं डालता।

मनके द्वारा यदि उच्चतर प्रयास हो तो उससे भी यह संतुलन नहीं बदलता; कारण, अध्यात्मभावित मनकी प्रवृत्ति उर्ध्वकी ओर चलते जानेकी है और चूँकि अपने-आपसे ऊपर जानेसे मनकी रूपोंपरकी पकड़ छूट जाती है, अतः वह एक बृहत् अरूप और अलक्षण निर्व्यक्तिकतामें ही प्रवेश करता है। उसे बोध होता है अक्षर आत्माका, शुद्ध अध्यात्म-सत्ताका, एक सार सत्की शुद्ध केवलताका, अरूप 'अनन्त' और अनाम 'निर्विशेष' का। इस चरम परिणति तक जानेकी एक अधिक सीधी राह है; वह है सकल रूपों और आकारोंसे परे, शुभाशुभ, सत्य-असत्य या सुन्दर-असुन्दरके सारे भावोंसे परे, सकल द्वन्द्वोंसे अतीत 'तत्'की ओर, एक परम एकत्व, आनंत्य, शाश्वतत्वकी अनुभूति या आत्मा अथवा

अध्यात्म-सत्ताके विषयमें मनके चरम और परम प्रत्ययके किसी अन्य अनिर्वचनीय उन्नयनकी अनुभूतिकी ओर तत्काल प्रवृत्त होनेकी। एक अध्यात्मभावित चेतना उपलब्ध होती है, प्राण शान्त पड़ जाता है, शरीरकी आवश्यकताएँ और माँगें बन्द हो जाती हैं, और अन्तरात्मा, वह तो आध्यात्मिक नीरवतामें विलीन हो जाता है। परन्तु मनके द्वारा यह रूपान्तरण हमें सर्वांगीण रूपान्तर नहीं देता; चैत्य रूपान्तरका स्थान विरल और उत्तुंग शिखरोंपर होनेवाला एक आध्यात्मिक परिवर्तन ले लेता है, परन्तु यह प्रकृतिकी क्रियाशक्तिका सम्पूर्णतः दिव्य हो जाना नहीं।

अपरोक्ष सम्पर्ककी ओर अन्तरात्माका एक दूसरा मार्ग हृदयके द्वारा है। यह उसकी अपनी अधिक घनिष्ठ और द्रुत राह है, क्योंकि उसका गुह्य आसन हृदयमें, हृच्चक्रके ठीक पीछे, हमारे अन्दरकी भावप्रवण सत्ताके घनिष्ठ सम्पर्कमें है; परिणामतया वह आरम्भमें भावोच्छ्वासों द्वारा ही अपनी सहज शक्तिसे, अपनी ठोस अनुभूतिकी जीवन्त शक्तिसे उत्तम रूपमें क्रिया कर सकता है। जो सर्वसुन्दर और सर्वानन्द है, सर्वशिव है, सत्य है, प्रेमकी आध्यात्मिक 'सद्वस्तु' है, उससे प्रेम करना और उसकी भक्ति करना, यही यह मार्ग है; सौन्दर्यरसिक और भाव-प्रवण अंग अपने आराध्यको अन्तरात्मा, प्राण, सारी प्रकृति ही अर्पित कर देनेके लिये साथ मिल जाते हैं। यह भक्ति-मार्ग अपना पूरा बल और प्रवेग केवल तब प्राप्त कर सकता है जब मनको निर्व्यक्तिकतासे परे एक परम पुरुषका बोध होता है : तब सब कुछ तीव्र, जीवन्त, मूर्त हो जाता है; हृदयके भावावेग, अनुभव, अध्यात्मभावापन्न बोध अपना परम पद प्राप्त करते हैं; एक सम्पूर्ण आत्म-प्रदान सम्भव, अनिवार्य हो जाता है। उदीयमान आध्यात्मिक मनुष्य भावप्रवण प्रकृतिमें भक्त बनकर प्रकट होता है; यदि इसके अलावा, वह अपने अन्तरात्मा तथा उसके निर्देशोंकी अपरोक्ष संवित् प्राप्त कर लेता है, अपने भावप्रवण व्यक्तित्वको अपने चैत्य व्यक्तित्वके साथ संयुक्त कर देता है और अपने जीवन तथा प्राणिक अंगोंको शुचिता, दिव्य उल्लास और ईश्वर, मनुष्य तथा सकल प्राणियोंके प्रति प्रेमसे एक आध्यात्मिक सौन्दर्यमयी, और दिव्य ज्योति एवं शुभसे भरी वस्तुमें परिणत कर देता है, तो वह विकसित होकर सन्त हो जाता है और उस सर्वोच्च आन्तरिक अनुभव तक, प्रकृतिके उस अधिकतम परिवर्तन तक पहुँच जाता है जो दिव्य पुरुष तक

ले जानेके इस मार्ग द्वारा प्राप्य है। परन्तु सर्वांगीण रूपान्तरके लिये यह भी पर्याप्त नहीं; इसके लिये तो विचारशील मन और चेतनाके सारे प्राणिक और शारीरिक अंगोंके स्वधर्मका रूपान्तर चाहिए।

यह विशालतर परिवर्तन हृदयके अनुभवोंके साथ व्यावहारिक इच्छा-शक्तिके उत्सर्गको संयुक्त करनेसे कुछ अंशोंमें सिद्ध हो सकता है; यह आवश्यक है कि वह उत्सर्ग अपने साथ उस सक्रिय प्राणिक अंगकी संसक्ति प्राप्त करनेमें सफल हो जो मानसिक क्रियावत्ताको आधार देता है और बाह्य कर्मके लिये हमारा प्रथम उपकरण है, क्योंकि यदि ऐसा नहीं हो तो उत्सर्ग कार्यकर नहीं हो सकता। कर्ममें इच्छा-वृत्तिका यह उत्सर्ग अहंकी इच्छा और उसकी कामनारूपिणी प्रेरिका शक्तिका क्रमशः समापन करता हुआ अग्रसर होता है; अहं अपने-आपको एक महत्तर धर्मके अधीन कर देता और अन्तमें अपने-आपको मिटा देता है, तब उसका अस्तित्व ही नहीं रह जाता या उसका अस्तित्व केवल एक महत्तर शक्ति या महत्तर सत्यकी सेवाके लिये अथवा दिव्य सत्-पुरुषका उपकरण होकर उन्हें अपनी इच्छा और कर्म अर्पित करनेके लिये रहता है। तब साधकको निर्देशित करनेवाला सत्ता तथा कर्मका विधान अथवा सत्यका आलोक ऐसी स्पष्टता या शक्ति या तत्त्व हो सकता है जिसे वह अपने मनकी क्षमताके प्राप्य उच्चतम शिखरपर देखता है; या यह दिव्य 'इच्छा'का सत्य हो सकता है जिसके बारेमें उसे यह अनुभव होता है कि वह उसके अन्दर सक्रिय रहता हुआ विद्यमान है या उसे एक आलोक, एक वाणी, एक शक्ति, एक दिव्य पुरुष या एक दिव्य 'विद्यमानता' द्वारा निर्देशित कर रहा है। अन्तमें इस मार्गसे साधक ऐसी चेतनामें पहुँचता है जिसमें वह उस शक्ति या 'विद्यमानता'को अन्तरमें कार्य करती और सब कर्मोंका प्ररोचन अथवा शासन करती अनुभव करता है और व्यक्तिगत इच्छा उस महत्तर सत्य-इच्छा, सत्य-शक्ति या सत्य-विद्यमानताके प्रति पूरी समर्पित अथवा उसके साथ एकीभूत हो जाती है। मनका मार्ग, इच्छा-वृत्तिका मार्ग, हृदयका मार्ग, इन तीनों मार्गोंका सम्मिलन, बाह्य सत्ता और प्रकृतिकी एक आध्यात्मिक या चैत्य अवस्थाकी रचना करता है जिसमें हमारे अन्दरके चैत्य आलोककी ओर और अध्यात्मपुरुष अथवा ईश्वरकी ओर, अभी जो 'सद्वस्तु' हमारे ऊपर और हमें आच्छादित करती तथा हममें अनुप्रविष्ट होती अनुभूत होती है उसकी ओर एक अधिक संश्लिष्ट उन्मीलितता होती है। प्रकृतिमें एक अधिक

सबल और बहुमुख परिवर्तन, एक आध्यात्मिक निर्माण और आत्म-सृजन होता है, सन्त, निःस्वार्थ कर्मी और अध्यात्मवेत्ताकी एक संयुक्त पूर्णताका प्राकट्य होता है।

परन्तु यह परिवर्तन अपनी विशालतम समग्रता तथा गंभीर सम्पूर्णता तक पहुँच सके इसके लिये चेतनाको अपने केन्द्र और अपनी निष्क्रिय तथा सक्रिय स्थितिको बहिर्सत्तासे हटाकर आन्तरिक सत्तामें ले जाना होगा; अपने विचार, जीवन तथा कर्मकी भित्ति हमें वहीं खोजनी होगी। कारण, अपने बहिस्तलपर बाहर खड़े रहना और आन्तरिक पुरुषसे उसके संकेतोंको ग्रहण करना और उनका अनुसरण करना पर्याप्त रूपान्तर नहीं होता; यह आवश्यक होता है कि हम बहिस्तलीय व्यक्तित्व नहीं रह जायँ, आन्तरिक व्यक्ति हो जायँ, पुरुष हो जायँ। परन्तु यह कठिन है; प्रथमतः इस कारण कि बाह्य प्रकृति इस चेष्टाका विरोध करती और अपनी सामान्य अभ्यस्त स्थिति, अपनी बहिर्वर्ती जीवन-विधिसे चिपकी रहती है, और इसके अलावा, इस कारण कि बाह्य तलसे चलकर उन गहराइयों तक जानेमें जहाँकि चैत्य पुरुष हमसे अवगुंठित रहता है, मार्ग लम्बा है, और यह मध्यवर्ती अन्तराल एक अवगूढ़ प्रकृति से और प्रकृतिकी गतिधाराओंसे भरा रहता है जो सबकी सब तो अन्तर्मुखी गतिधाराकी सम्पूर्णताके लिये अनुकूल नहीं ही होती। बाह्य प्रकृतिको अपनी स्थितिके एक परिवर्तनमेंसे, अपनी उपादान-धातु और ऊर्जाके शान्तिकरण, पवित्रीकरण और सूक्ष्म रूपान्तरमेंसे निकलना होगा जिससे उसमें रहनेवाली इतनी बहुत सारी बाधाएँ क्षीण हो जाती, झड़ जाती या और किसी तरह विलुप्त हो जाती हैं; तब अपनी सत्ताकी गहराइयोंमें चले जाना सम्भव हो जाता है और इस भाँति प्राप्त गहराइयोंमेंसे एक नवचेतनाकी रचना की जा सकती है जो बहिरात्माके पीछे भी और उसके अन्दर भी होगी, गहराइयोंको बाह्य तलसे संयुक्त करेगी। यह आवश्यक है कि हममें एक ऐसी चेतना विकसित या अभिव्यक्त हो जो गंभीरतर और उच्चतर सत्ताकी ओर अधिकाधिक उन्मीलित हो, विश्वात्मा और विश्वशक्तिके सामने और जो विश्वातीतसे आता है उसके सामने अधिकाधिक अनावृत हो, एक उच्चतर शान्तिकी ओर अभिमुख हो, एक महत्तर ज्योति, शक्ति तथा आनन्दसे अनुवेध्य हो, एक ऐसी चेतना हो जो कि तुच्छ व्यक्तित्वका अतिक्रमण करे और सतही मनके सीमित प्रकाश तथा अनुभवको, सामान्य प्राण-चेतनाकी सीमित शक्ति और अभीप्साको,

शरीरकी तमोवृत और सीमित प्रत्युत्तरशीलताको पार कर गयी हो।

बाह्य प्रकृतिकी शान्तिकारिणी शुद्धिके सम्पादित या पर्याप्त होनेके पहले भी, हमारी आन्तर सत्ताको हमारी बाह्य चेतनाकी पहुँचके बाहर छिपाये रखनेवाली दीवारको पुकार तथा अभीप्साकी एक सबल शक्तिसे, एक दुर्द्धर्ष संकल्प या उग्र प्रयास या कार्यकर अनुशासन या प्रक्रियासे तोड़ दिया जा सकता है; परन्तु यह चेष्टा समयपूर्व हो सकती है और गम्भीर संकट भी उत्पन्न कर सकती है। अन्तरमें प्रवेश करनेमें हम अपने-आपको ऐसी अपरिचित और अधिसामान्य अनुभवोंकी अव्यवस्थाके बीच पा सकते हैं जिनके लिये हमारे पास कुंजी नहीं होती, या अपनेको अवचेतन, मानसिक, प्राणिक, सूक्ष्म-भौतिक प्रकारकी ऐसी अवगूढ़ अथवा वैश्व शक्तियोंकी भीड़-भाड़से घिरा पा सकते हैं जो सत्ताको अत्यधिक डुला सकती या अस्तव्यस्त रूपसे चालित कर सकती हैं, उसे अंधकारकी गुहामें बंदी कर सकती या चमक, प्रलोभन, प्रवंचनाके वन्य प्रान्तमे भटकती रख सकती या गुप्त, कपटपूर्ण और अपनिदेशक या प्रकट और उग्र विरोधोंसे भरे तमोवृत रणक्षेत्रमें धकेल दे सकती हैं; आन्तरिक बोधदृष्टि और श्रवणके सामने ऐसी सत्ताएँ, वाणियाँ और प्रभाव प्रगट हो सकते हैं जो यह दावा करें कि वे 'दिव्य पुरुष' या उसके दूत या दिव्य ज्योतिकी शक्तियाँ और देवगण या सिद्धि-मार्गके पथनिर्देशक हैं, जबकि सत्यतः उनका स्वरूप बहुत भिन्न होता है। यदि साधककी प्रकृतिमें अत्यधिक अहंता या कोई सबल राग या अतिशय महत्त्वाकांक्षा, गर्व या और कोई आधिपत्यशालिनी दुर्बलता हो, या मन तमोवृत हो या इच्छा-शक्ति डगमगाती हो या प्राण-शक्ति दुर्बल हो या उसमें कोई अस्थिरता हो या संतुलनका अभाव हो, तो यह सम्भावना है कि वह इन त्रुटियोंके द्वारा पकड़ लिया जाय और विफल कर दिया जाय या आन्तरिक जीवन और खोजके सन्मार्गसे च्युत और भ्रान्त किया जाकर मिथ्या मार्गोंमें ले जाया जाय, या अनुभवोंकी एक मध्यवर्ती अव्यवस्थामें भटकता छोड़ दिया जाय और वह उससे बाहर निकलकर सच्ची उपलब्धिमें जानेका मार्ग नहीं खोज सके। ये संकट भूतकालके आध्यात्मिक अनुभवको सुविदित थे और इनके समाधानके लिये दीक्षा, अनुशासन और शुद्धि-पद्धतियोंकी आवश्यकता प्रतिष्ठित की गयी थी, कठोर परीक्षाओंसे जांच की जाती थी, पथान्वेषक या मार्ग-नेताके निर्देशनोंके

प्रति सम्पूर्ण अधीनताकी माँग की जाती थी और यह अधीनता ऐसे व्यक्तिके प्रति अपेक्षित थी जिसने सत्यको उपलब्ध कर लिया हो, जिसे वह ज्योति, वह अनुभूति आयत्त हो और जो उसका संचार करनेमें समर्थ हो, ऐसा सबल पथप्रदर्शक हो जो राहकी शिक्षा दे सकता हो, राह बता सकता हो और हाथ पकड़कर भी ले चल सकता हो, कठिन राहें पार करा सकता हो। परन्तु ऐसा होने पर भी संकट रहते ही हैं और उनका लंघन केवल तब किया जा सकता है जबकि पूरी सच्चाई हो, शुचिताके लिये संकल्प हो, सत्य-पालनके लिए और 'उच्चतम'के प्रति समर्पणके लिये तत्परता हो, सीमाकारी और स्व-प्रतिष्ठापक अहंको खो देने या एक दिव्य जुएके अधीन कर देनेकी तत्परता हो या ये चीजें विकसित हो रही हों। ये इस बातका चिह्न हैं कि सिद्धिके लिये, चेतना-के परिवर्तनके लिये, रूपान्तरके लिये, सच्ची इच्छा विद्यमान है, क्रम-विकासकी आवश्यक मंजिलतक पहुँचा जा चुका है : ऐसी अवस्थामें मनुष्यकी प्रकृतिगत त्रुटियाँ मानसिकसे आध्यात्मिक स्थितिमें परिवर्तित होनेमें स्थायी विघ्न नहीं हो सकतीं; यह प्रक्रिया सर्वथा सहज तो कभी नहीं हो सकती, परन्तु मार्ग खुल गया होगा और व्यवहार्य बना दिया गया होगा।

आन्तर सत्तामें इस प्रवेशको सुगम करनेके लिये जिस एक प्रभावी मार्गका उपयोग किया जाता है वह पुरुषको प्रकृतिसे, चेतन सत्ताको रूपायित प्रकृतिसे पृथक् करनेका है। यदि हम मन और उसकी क्रियाओं-के पीछे खड़े हो जायें जिससे कि, हम जब चाहें, वे शान्त पड़ जायें अथवा एक सतही गतिकी तरह चलती रहें जिसके हम उदासीन और तटस्थ साक्षी हों, तो अन्तमें यह सम्भव हो जाता है कि हम अपने-आपको मनके आन्तर आत्मा, सच्ची और शुद्ध मनोमयी सत्ता, पुरुषके रूपमें अनुभव करें; उसी भाँति प्राणकी क्रियाओंसे पीछे हटकर खड़े होनेसे यह सम्भव हो जाता है कि हम अपने-आपको प्राणके आन्तर आत्मा, सच्ची और शुद्ध प्राणमयी सत्ता, पुरुषके रूपमें अनुभव करें; शरीरका भी एक आत्मा है, एक सच्चा और शुद्ध शारीरिक या अन्नमय पुरुष है जिसका बोध शरीर और उसकी माँगों और क्रियाबलसे अलग पीछे खड़े होने और उसकी ऊर्जाकी क्रियाकी प्रेक्षिका दैहिक चेतनाकी नीरवतामें प्रवेश करनेसे सम्भव होता है। इसी भाँति, प्रकृतिके इन सारे क्रिया-कलापोंसे बारी-बारीसे अथवा एक साथ सबसे हटकर पीछे खड़े होनेसे

अपनी आन्तरिक सत्ताको नीरव निर्व्यक्तिक आत्माके, साक्षी पुरुषके रूपमें अनुभव करना सम्भव हो जाता है। इससे एक आध्यात्मिक उपलब्धि तथा मुक्ति तो मिलेगी, परन्तु इससे रूपान्तर अवश्यमेव घटित हो, ऐसा नहीं होगा; कारण, स्वतंत्रता और आत्म-स्वरूपसे संतुष्ट रहकर पुरुष प्रकृतिको उसका संचित प्रवेग अपने अवलम्बसे रहित क्रियामें शेष कर डालनेके लिये छोड़ दे सकता है, वह क्रिया तब एक यांत्रिक रूपसे चलते जाना ही होती है जिसे पुनरुज्जीवित करने, नवबल देने या जीवन्त और दीर्घायु करनेके लिये पुरुषकी अनुमति नही है, और पुरुष इस परित्यागका उपयोग सारी प्रकृतिसे हट जानेके साधन-रूपमें भी कर सकता है। पुरुष-को साक्षी ही नहीं, वरन् ज्ञाता और उत्स होना है, सारे विचारों तथा कर्मोंका स्वामी होना है, और जब तक मनुष्य मनोमय स्तरपर रहता है या उसे मन, प्राण और शरीरके सामान्य उपकरणोंको व्यवहृत करना होता है, यह कार्य अंशतः ही किया जा सकता है। एक विशेष स्वा-मित्व अवश्य प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु स्वामित्व रूपान्तर तो नही है; उसके द्वारा किया गया परिवर्तन सर्वांगीण होनेके लिये पर्याप्त नहीं हो सकता : उसके लिये आवश्यक है मनःसत्ता, प्राणसत्ता, शरीर-सत्तासे पीछे, परे, और भी गहरी अन्तर्मुखीनतासे चैत्य सत्ताकी ओर जाना जो हममें अन्तरतम और गंभीरतम है,—या नहीं तो, अतिचेतन उच्चतम प्रदेशोंकी ओर उन्मीलित होना। अन्तरात्माके ज्योतिर्मय गुहा-गृहमें यह पैठ पानेके लिये हमें राहमें आनेवाली सारी प्राणिक वस्तुओंको पार कर चैत्य केन्द्र तक पहुँचना ही होगा, यह प्रक्रिया चाहे कितनी ही लम्बी, क्लान्तिकारिणी या कठिन क्यों न हो। समस्त मानसिक, प्राणिक और शारीरिक दावों, पुकारों और प्रेरणोंके आग्रहसे वियुक्त हो जानेकी पद्धति, हृदयमें एकाग्रता, तपस्याका जीवन, आत्म-शुद्धि, मन तथा प्राणकी पुरानी वृत्तियोंका त्याग, कामनामय अहंका त्याग, मिथ्या आवश्यकताओं और मिथ्या अभ्यासोंका त्याग, ये सब इस कठिन यात्रामें सहायक साधन हैं : परन्तु सबसे सबल मार्ग, सबसे अधिक केन्द्रीय मार्ग है इन सारी या अन्य पद्धतियोंको 'दिव्य पुरुष'के प्रति, ईश्वरके प्रति अपने-आपके समर्पण तथा अपनी प्रकृतिके अंगोंके समर्पणपर अधिष्ठित् करना। फिर किसी गुरुके प्राज्ञ और संबोधिदीप्त निर्देशनका यथावत् पालन भी दो चार विशेष प्रतिभासम्पन्न साधकोंको छोड़कर सबके लिये सामान्य नियम और आवश्यक रहता है।

जैसे-जैसे वाह्य प्रकृतिकी परत फटती है, जैसे-जैसे आन्तरिक पार्थक्य-की दीवारें टूट गिरती हैं, वैसे-वैसे आन्तरिक प्रकाश फूट निकलता है, हृदयमें आन्तरिक अग्नि जल उठती है, प्रकृतिकी धातु और चेतनाका उपादान परिमार्जित होकर अधिक सूक्ष्मता और शुचिता प्राप्त करते हैं, और गंभीरतर चैत्य अनुभूतियाँ, जो एकमात्र आन्तरिक मनोमयी अथवा आन्तरिक प्राणमयी प्रकृतिकी नहीं हों, इस सूक्ष्मतर, शुचितर, उत्कृष्टतर आधारमें सम्भव हो जाती हैं; अन्तरात्मा अपना आवरण हटाना शुरू करता है, चैत्य व्यक्तित्वका पूरा क़द खिल उठता है। तब अन्तरात्मा, चैत्य पुरुप, अपने-आपको केन्द्रीय पुरुपके रूपमें अभिव्यक्त करता है जो कि मन, प्राण और शरीरका भर्त्ता और अध्यात्म-सत्ताकी अन्य सारी शक्तियों और क्रियाओंका धारयिता है; वह प्रकृतिके निर्देशक और शासक-रूपका अपना महत्तर कार्य हाथमें लेता है। अन्दरसे एक निर्देशन, एक शासन शुरू होता है जो प्रत्येक क्रियाको सत्यकी ज्योतिके सामने रखता है, जो मिथ्या है, तमोवृत है, दिव्य सिद्धिका विरोधी है, उसे पीछे धकेलता है: सत्ताका प्रत्येक प्रदेश, उसका कोना-कोना, विचार, इच्छा, भावोच्छ्वास, संवेदनका प्रत्येक स्पन्द, प्रत्येक रूपायण, प्रत्येक दिशा सारे झुकाव, क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ, हेतु, रुचियाँ, प्रवणताएँ, अन्नमयी चेतना या अवचेतनाके अभ्यास, जो अधिकसे अधिक छिपे हुए, छद्मवेशी, मूक, दुरूह हैं, वे भी निर्मूल चैत्य आलोकसे प्रकाशित होते हैं, उनके संभ्रमोंको विच्छिन्न किया जाता, उनके जालोंको खोल दिया जाता, उनकी अँधियाली, प्रवंचनाओं और आत्म-प्रवंचनाओंका ठीक-ठीक संकेत दिया जाता और उन्हें दूर किया जाता है; सब कुछको निर्मल किया जाता, सँवारा जाता है, सारी प्रकृतिको समन्वित किया जाता, चैत्य स्वरग्राममें साध दिया जाता, आध्यात्मिक व्यवस्थामें जँचा दिया जाता है। प्रकृतिमें जो अँधकार और विरोध तब भी बचे रह गये हैं उनके परिमाणके अनुसार यह प्रक्रिया द्रुत या मन्थर हो सकती है, परन्तु जब तक वह पूरी नहीं हो जाती, लड़खड़ाए विना चलती जाती है। अन्तिम परिणाम यह होता है कि सारी चेतन सत्ता प्रत्येक प्रकारके आध्यात्मिक अनुभवके लिये पूर्णतः उपयुक्त बना दी जाती है, विचार, अनुभव, संवेद और कर्मके आध्यात्मिक सत्यकी ओर मोड़ दी जाती है, सही प्रत्युत्तर देनेके लिये सधी रहती है, और अज्ञानके जो लक्षण हैं, तामसिक जड़ता-का अंधकार और हठधर्म, राजसिक आवेग और बेचैन असमन्वित क्रिया-

शीलताकी आविलताएँ, उग्रताएँ और अशुचिताएँ, प्रबुद्ध अनम्यताएँ और सात्विक सीमाएँ या मानव-निर्मित साम्यावस्थाके अनिर्णीत सन्तुलन, इन सबसे वह मुक्त की जाती है।

यह पहला परिणाम है, परन्तु दूसरा परिणाम होता है सब प्रकारके आध्यात्मिक अनुभवोंका मुक्त अन्तर्वाह, आत्माका अनुभव, ईश्वर एवं दिव्य शक्तिका अनुभव, विश्वचेतनाका अनुभव, विश्वशक्तियोंसे और विश्वप्रकृतिकी गुह्य गतियोंसे सीधा सम्पर्क, अन्य सत्ताओं और प्रकृतिसे एक चैत्य सहानुभूति तथा एकत्व, आन्तरिक संसर्ग तथा सब प्रकारके आदान-प्रदान, ज्ञान द्वारा मनके द्योतन, प्रेम और भक्ति, आध्यात्मिक हर्ष और आनन्द द्वारा हृदयके द्योतन, उच्चतर अनुभूति द्वारा इन्द्रिय और शरीरके द्योतन, शुद्धीकृत मन, हृदय और अन्तरात्माके सत्य और विशालतामें सचल क्रियाके द्योतन, दिव्य ज्योति तथा निर्देशनकी निश्चितियाँ, इच्छा तथा आचरणमें क्रियमाण दिव्य शक्तिका हर्ष और बल। ये अनुभव आन्तरिक और अन्तरतम सत्ता तथा प्रकृतिके एक बहिर्मुख उन्मीलनका परिणाम होते हैं; कारण, तब क्रीड़ामें आती है अन्तरात्माकी निर्भूल अन्तर्निहित चेतनाकी शक्ति, अन्तरात्माकी दृष्टि, अन्तरात्माका वस्तुओं पर वह स्पर्श जो किसी भी मानसिक संबोधसे श्रेष्ठ होता है; वहाँ, जैसा कि चैत्य चेतनाकी विशुद्ध क्रियामें उसके लिये सहजात होता है, जगत् और उसकी सत्ताओंका एक अव्यवहित बोध होता है, उनसे एक अपरोक्ष आन्तरिक सम्पर्क होता है, आत्मा और भगवान्से एक अपरोक्ष सम्पर्क होता है, एक प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, 'सत्य'का और सारे सत्योंका साक्षात्कार होता है, एक साक्षात् अन्तर्वेधी आध्यात्मिक भावोच्छ्वास और अनुभव होता है, सम्यक् इच्छा और सम्यक् कर्मकी एक अपरोक्ष संबोधि होती है, बहिरात्माकी अन्धी टटोलों द्वारा नहीं, अपितु अन्दरसे, आत्मा तथा वस्तुओं-के आन्तरिक सत्य और प्रकृतिकी गुह्य सत्यताओंके आधारसे शासन करने और आत्मसत्ताकी एक व्यवस्था रचनेकी शक्ति होती है।

इन अनुभवोंमेंसे कुछ तो अन्तरात्माका, चैत्य पुरुषका पूरा आविर्भाव हुए बिना, आन्तरिक मनोमय और प्राणमय पुरुषके हमारे अन्दर आन्तरिक, विशालतर और सूक्ष्मतर मन, हृदय तथा प्राणके उद्घाटनसे भी आ सकते हैं, क्योंकि वहाँ भी चेतनाके अपरोक्ष सम्पर्ककी एक शक्ति रहती है : परन्तु तब वह अनुभव मिश्र प्रकृतिका हो सकता है; कारण, केवल अवगूढ़ ज्ञानका नहीं अपितु अवगूढ़ अज्ञानका भी उभार हो सकता

है। ऐसा आसानीसे हो सकता है कि सत्ताका विस्तरण अपर्याप्त हो, मनके भाव द्वारा, सकीर्ण और चयनशील भावोच्छ्वास द्वारा या स्वभावकी गठन द्वारा परिसीमित हो जिसके फलस्वरूप केवल एक अपूर्ण आत्म-सृजन और क्रिया हो, अन्तरात्माका मुक्त आविर्भाव नहीं। चैत्य आविर्भाव यदि कुछ भी न हुआ हो या पूरी तरह न हुआ हो तो कई प्रकारके अनुभव, महत्तर ज्ञान और शक्तिके अनुभव, सामान्य सीमाओंका अतिक्रमण, परिवर्द्धित अहंकी ओर ले जा सकते हैं, यहाँ तक कि जो दिव्य या आध्यात्मिक है उसके प्रस्फुटनके बदले दानवी या राक्षसी तत्त्वोंका उभाड़ ले आ सकते हैं, या ऐसे अभिकर्ताओं और शक्तियोंका आवाहन कर सकते हैं जो इस सर्वनाशी प्रकारकी न होकर भी एक बलवती किन्तु निम्नतर वैश्व प्रकृतिकी हों। परन्तु अन्तरात्माका शासन और पथप्रदर्शन समस्त अनुभवमें प्रकाश, समाकलन, सामंजस्य और अन्तरंग सम्यक्ताकी प्रवृत्ति लाता है जो कि चैत्य सत्त्वका स्वभाव-धर्म होती है। इस प्रकारका चैत्य रूपान्तर, या अधिक व्यापक रूपमें कहें तो चैत्यिक-आध्यात्मिक रूपान्तर, हमारी मनोमयी मानवीय प्रकृतिका एक बृहत् परिवर्तन हो चुकना होगा।

परन्तु यह सारा परिवर्तन और यह सारा अनुभव यद्यपि तत्त्वतः और स्वभावतः चैत्य और आध्यात्मिक है, तथापि जीवनपर अपना परिणाम सम्पादित करनेमें वह मानसिक, प्राणिक और शारीरिक स्तरपर ही होगा; उसका क्रियावंत आध्यात्मिक परिणाम[1] मन, प्राण और शरीरमें अन्तरात्माका पुष्पण होगा, परन्तु कर्म और आकृतिमें वह अवर साधन-समूहकी सीमाओंमें नियंत्रित रहेगा, वे सीमाएँ चाहे कितनी ही वर्द्धित, उन्नीत और अघन क्यों न हो जायँ। यह उन वस्तुओंकी एक प्रतिबिम्बित और ह्रसित अभिव्यक्ति होगी जिनके सत्य, शक्ति तथा आनन्दकी पूरी सत्यता, तीव्रता, विशालता, एकता और विविधता हमसे ऊपर, मनसे ऊपर और परिणाम-स्वरूप हमारी वर्तमान प्रकृतिकी भित्तियों या अविरचनाकी मनके सूत्रोंके दायरेमें आनेवाली किसी भी पूर्णतासे ऊपर है। चैत्य

---

[1] चैत्य और आध्यात्मिक उन्मीलन, उनके अनुभव और परिणाम, जीवनसे अलग या निर्वाणकी ओर ले जा सकते हैं; परन्तु यहाँ हम प्रकृति-रूपान्तरमें डग होनेके रूपमें ही उनपर विचार कर रहे हैं।

अथवा चैत्यिक-आध्यात्मिक परिवर्तनके बाद एक उच्चतम आध्यात्मिक रूपान्तरका आना आवश्यक होगा ही; आन्तरिक पुरुषकी ओर, हमारे अन्दरके आत्मा या दिव्यत्वकी ओर अभिमुख अन्तर्मुखी चैत्य गतिधाराका सम्पूरण एक परम आध्यात्मिक स्थिति अथवा एक महत्तर सत्ताकी ओर एक ऊर्ध्वमुख उन्मीलन द्वारा करना ही होगा। यह तब किया जा सकता है जबकि जो हमसे ऊपर है उसकी ओर हमारा उन्मीलन हो, चेतनाका अधिमानसिक और अतिमानसिक प्रकृतिके प्रदेशोंमें आरोहण हो जिनमें परमात्मा और परम पुरुषका बोध सर्वदा अनावृत और नित्य है और जिनमें परमात्मा तथा परम पुरुषके स्वयं-ज्योतिर्मय उपकरण, जैसा हमारी मनःप्रकृतिमें, प्राण-प्रकृतिमें, शरीर-प्रकृतिमें होता है, उस तरह सीमित या विभाजित नहीं होते। चैत्य परिवर्तन इसे भी सम्भव करता है; कारण, जैसे वह हमें विश्वचेतनाकी ओर उन्मीलित करता है जो सीमाकारिणी वैयक्तिकताकी बहुसंख्यक दीवारोंसे अभी हमसे छिपी हुई है, वैसे ही वह हमें उस ओर भी उन्मीलित करता है जो हमारी सामान्यावस्थाके लिये अभी इसलिये अतिचेतन है कि वह मनके,—सीमाकारी, विभाजनकारी, पृथक्कारी मनके—सबल, कठोर और चमचमाते ढक्कनसे हमसे छिपा हुआ है। चैत्यिक-आध्यात्मिक परिवर्तनके चापसे और नयी अध्यात्मभावापन्न चेतना यहाँ जिसकी एक अभिव्यक्ति है उसकी ओर उसकी स्वाभाविक प्रेरणाके चापसे वह ढक्कन पतला पड़ता है, उसमें दरार पड़ती है, वह टुकड़े टुकड़े हो जाता या खुल जाता और विलुप्त हो जाता है। यदि चैत्य आविर्भाव आंशिक ही हुआ हो और वह अध्यात्म-भावापन्न मनकी सामान्य श्रेणियोंमें होनेवाले दिव्य सद्वस्तुके अनुभवसे संतुष्ट रहे तो यह छिद्र और उसके परिणाम बिलकुल नहीं भी घटित हो सकते हैं: परन्तु यदि इन उच्चतर अधिसामान्य स्तरोंके अस्तित्वकी ओर कोई जागरण हो, तो उनकी ओरकी अभीप्सा ढक्कनको तोड़ सकती या उसमें दरार डाल सकती है। चैत्यिक-आध्यात्मिक परिवर्तन सम्पूर्ण हो जाय उससे बहुत पहले ही, या उसका भलीभाँति आरम्भ हो जाय या वह दूर बढ़ जाय, उससे भी बहुत पहले ऐसा हो जा सकता है, कारण, चैत्य व्यक्तित्व चेतन हो गया है और वह अतिचेतनाकी ओर उत्सुकतासे एकाग्र है। अभीप्सा अथवा किसी आन्तरिक उद्यतताके परिणाम-स्वरूप ऊपरसे द्योतन शीघ्र चला आ सकता है या ऊपरी ढक्कन विदीर्ण हो सकता है अथवा वह आह्वानके बिना या मनके किसी भी

चेतन भागके आह्वानके बिना भी हो सकता है,—शायद किसी प्रच्छन्न अवगूढ़ आवश्यकताके कारण या उच्चतर स्तरोंकी किसी क्रिया या चापके कारण, या ऐसे कुछके कारण जो भगवान्‌के स्पर्श, परमात्माके स्पर्शकी नाईं अनुभूत होता है,—और इसके परिणाम अति सबल हो सकते हैं। परन्तु ऐसा यदि नीचेसे डाले गये समयपूर्व चापसे होता है तो इसके साथ ऐसी कठिनाइयाँ और संकट आ सकते हैं जो तब नही होते जबकि हमारे आध्यात्मिक क्रमविकासकी श्रेष्ठतर श्रेणियोंमें इस प्रथम प्रवेशके पूर्व ही चैत्यका पूरा आविर्भाव हुआ रहता है। तथापि चुनाव सर्वदा हमारी इच्छाके हाथों नही रहता, कारण, हमारे अन्दर आध्यात्मिक विकासक्रमकी क्रियाएँ बहुत ही विविध होती हैं, और उसने जिस धारा-का अनुसरण किया है उसीके अनुरूप मोड़ चित्-शक्तिकी क्रिया भी उच्चतर आत्माभिव्यक्तिकी ओर और हमारे जीवनके उच्चतर रूपायणकी ओर अपनी प्रेरणामें हर पर्व-सन्धिमें लेगी।

यदि मनके ढक्कनमें दरार डल जाती हैं तो होता यह है कि हमसे ऊपरकी किसी वस्तुकी ओर हमारी दृष्टि खुलती है या हम उसकी ओर ऊपर उठते हैं या उनकी शक्तियोंका हमारी सत्तामें अवतरण होता है। दृष्टिके उन्मीलन द्वारा हमें जो दीखता है वह है हमारे ऊपर एक आनन्त्य, एक शाश्वत पुरुष अथवा अनन्त सत्, अनन्त चेतना, अनन्त आनन्द,—एक निःसीम आत्मा, एक निःसीम ज्योति, एक निःसीम शक्ति, एक निःसीम आनन्द। हो सकता है कि लम्बे समय तक इतना ही उपलब्ध रहे कि उसका यदा कदा या बहुधा या सतत दर्शन हो और एक स्पृहा और अभीप्सा हो, परन्तु इससे आगे कुछ भी न हो, कारण, यद्यपि मन, हृदय या सत्ताके किसी अन्य भागमें कोई वस्तु इस अनुभवकी ओर खुल गयी है, तथापि निम्नतर प्रकृतिको कुल मिलाकर देखें तो वह इससे अधिक कुछके लिये तब भी अति भारी और तमोवृत है। परन्तु नीचेसे यह प्रथम विशाल बोध होनेके स्थान पर, या उसके बाद, मनका ऊपरकी चोटियोंकी ओर आरोहण हो सकता है : हो सकता है कि इन चोटियोंका स्वरूप हमें ज्ञात न हो या स्पष्ट नहीं दिखाई दे, किन्तु आरोहणका कुछ परिणाम तो अनुभूत होता है; प्रायः अनन्त आरोहण और पुनरागमनका बोध भी होता है परन्तु उस उच्चतर स्थितिका कोई लेखा या अनुवाद नहीं होता। इसका कारण यह है कि वह मनके लिये अतिचेतन रही है, और फलतः जब मन उसमें ऊपर उठता है, तो आरम्भमें वह वहाँ अपनी

सचेतन विवेचन और सविशेष अनुभव या अनुभवके संज्ञा-निर्देशनकी शक्ति बनाई रखनेमें असमर्थ रहता है। परन्तु जब यह शक्ति जगना और कार्य करना आरम्भ करती है, तब जो मनके लिये अतिचेतन था उसमें मन क्रमशः सचेतन होना शुरू होता है, तब अस्तित्वके श्रेष्ठतर स्तरोंका ज्ञान और अनुभव आरम्भ होता है। यह अनुभव, हमें दृष्टिके प्रथम उन्मीलनसे जो मिला था, उससे मेल खाता है : मन उठ जाता है शुद्ध, नीरव, शान्त, असीम्य आत्माके उच्चतर लोकमें, या वह उठ जाता है ज्योति या आनन्दके प्रदेशोंमें, या उन लोकोंमें जिनमें उसे एक अनन्त शक्ति या एक दिव्य 'विद्यमानता' की अनुभूति होती है या एक दिव्य प्रेम अथवा सौन्दर्यके सम्पर्कका, या एक विशालतर, श्रेष्ठतर तथा ज्योतिर्मय ज्ञानके वातावरणका अनुभव होता है। पुनरागमनमें आध्यात्मिक छाप रह जाती है; परन्तु मनका लेखा प्रायः धुंधला हो जाता और एक अस्पष्ट अथवा खंड स्मृतिकी नाईं ही रह जाता है; जिस निम्नतर चेतनासे आरोहण हुआ था वह उस स्थितिमें वापस आ पड़ती है जिसमें वह थी, केवल कोई ऐसा अनुभव जुड़ गया होता है जो अब स्मृत नहीं है या यदि स्मृत है तो क्रियाबल खो चुका है। समय पाकर आरोहण इच्छानुसार किया जा सकता है और 'अध्यात्म-सत्ता'के इन उच्चतर देशोंमें चेतनाका जो अल्पकालीन आवास होता है उसका कुछ प्रभाव या कुछ लाभ चेतना वापस ले आती और संरक्षित रखती है। ये आरोहण बहुतोंके लिये समाधिमें होते हैं, परन्तु जागृत चेतनाकी एकाग्रावस्थामें भी या जहाँ वह चेतना पर्याप्त रूपसे चैत्य हो गयी है वहाँ तो एकाग्रताविहीन क्षणमें भी ऊर्ध्वमुख आकर्षण या बन्धुता के कारण पूर्णतया सम्भव होते हैं। परन्तु अतिचेतनके साथ ये दो प्रकारके सम्पर्क यद्यपि सबल रूपसे दीप्तिदायी, आनन्ददायी या मुक्तिदायी हो सकते हैं, तथापि अकेले उनका प्रभाव अपर्याप्त होता है : सम्पूर्ण आध्यात्मिक रूपान्तरके लिये अधिक कुछकी, निम्नतर चेतनासे उच्चतर चेतनाके चिर-स्थायी रूपमें आरोहण और निम्नतर प्रकृतिमें उच्चतर प्रकृतिके प्रभावी चिरस्थायी अवतरणकी आवश्यकता रहती है।

यह तीसरी गतिधारा है, यह है चिरस्थायी आरोहणके सम्पादनके लिये अपरिहार्य रहनेवाला अवतरण, ऊपरसे एक वर्द्धमान अन्तर्वाह, अव-तरित होती 'अध्यात्म-सत्ता' या उसकी चेतनाकी शक्तियों और तत्त्वोंको ग्रहण और धारण करनेका अनुभव। यह अनुभव अन्य दोनों गतिधाराओं-

के परिणामस्वरूप हो सकता है, या इनमेंसे किसीके भी होनेसे पहले, ढक्कनमें कोई आकस्मिक दरार होने या कोई अनुस्रवण, वर्षण या अन्तर्वाह होनेसे स्वयमेव हो सकता है। एक ज्योति उतरती है और निम्नतर सत्ताको, मन, प्राण या शरीरको स्पर्श करती या उसपर आच्छादित होती या उसमें अनुप्रविष्ट होती है; या ज्ञानकी एक उपस्थिति, एक शक्ति, एक स्रोत लहरों या तरंगोंमें ढलता आता है, अथवा आनन्दका प्लावन या एक आकस्मिक उल्लास होता है; तब अतिचेतनसे सम्बन्ध स्थापित हो गया है। कारण, ये अनुभव तबतक पुनरावर्तित होते रहते हैं जबतक कि वे सामान्य, परिचित और सुविदित न हो जायँ, अपनी उन अन्तर्वस्तुओं और अर्थको प्रगट न कर दें जो आरम्भमें आवरक अनुभवकी आकृतिसे रहस्यमयतामें संवृत और लिपटे रहे हों। कारण, ऊपरसे एक ज्ञान पहले प्रायिक, फिर सतत, फिर अविच्छिन्न रूपसे उतरता है और मनकी अचंचलता या नीरवतामें अभिव्यक्त होना आरम्भ करता है; संबोधि-स्फुरण और प्रेरणाएँ, एक महत्तर दृष्टि, एक उच्चतर सत्य और प्रज्ञासे उत्पन्न उद्भास आधारमें प्रवेश करते हैं, एक ज्योतिर्मय संबोधिमूलक विवेक कार्य करता है जो समझके सारे अंधकार या चका-चौंधकारी संभ्रमोंको तिरोहित करता है, सबको व्यवस्थाबद्ध करता है। रूप लेना आरम्भ करती है एक नयी चेतना,—एक उच्च विशाल स्वयम्भू विचारधर्मी ज्ञानका मन; या एक आलोकित या संबोधिमूलक या अधि-मानसिक चेतना जिसमें विचार या दृष्टिकी नयी शक्तियाँ हैं और प्रत्यक्ष आध्यात्मिक उपलब्धिकी एक महत्तर शक्ति है जो कि विचार या दृष्टिसे अधिक है; हमारी वर्त्तमान सत्ताकी आध्यात्मिक धातुमें एक श्रेष्ठतर संभूति। हृदय और ऐन्द्रिय क्षमताएँ इतनी सूक्ष्म, तीव्र विशाल हो जाती हैं कि वे सारी सत्ताका आलिंगन, ईश्वरका दर्शन, शाश्वतका अनुभव, श्रवण और स्पर्श कर सकें, एवं तुरीय सिद्धिमें आत्मा एवं जगत्का एक गंभीरतर और निकटतर एकत्व उपलब्ध कर सकें। इस मूलभूत परिवर्तनके परिणाम और फल होनेवाले अन्य निर्णायक अनुभव, चेतनाके अन्य परिवर्तन साकार होते हैं। इस क्रान्तिकी कोई सीमा निश्चित नहीं की जा सकती, क्योंकि यह मूलतः अनन्तका आक्रमण है

इसीका अल्प-अल्प करके या महान् और द्रुत निश्चयात्मक अनुभवोंके अनुक्रममें सम्पादन आध्यात्मिक रूपान्तरकी प्रक्रिया है। इस प्रक्रियाकी निष्पत्ति और पराकाष्ठा एक प्रायः पुनरावर्तित होते ऊर्ध्वमुख आरो-

हणमें होती है जिससे चेतना अन्तमें अपने-आपको एक उच्चतर भूमिपर स्थापित कर लेती और वहाँसे मन, प्राण तथा शरीरको देखती और शासित करती है; उसकी निष्पत्ति उच्चतर चैतन्य तथा ज्ञानकी शक्तियों-के एक वर्द्धमान अवतरणमें भी होती है, वह चैतन्य और ज्ञान ही साधकका सारा स्वाभाविक चैतन्य और ज्ञान अधिकाधिक होते जाते हैं। एक ज्योति और बल, एक ज्ञान और शक्तिका अनुभव होता है जो पहले मनको अधिकृत करती हैं, उसे फिरसे गढ़ती हैं, बादमें प्राणिक अंगको अधिकृत करती और उसे फिरसे गढ़ती हैं, अन्तमें तुच्छ शारीरिक चेतनाको अधिकृत करती हैं और उसे तुच्छ न रहने देकर विशाल और नमनीय, और अनन्त भी बना देती हैं। कारण, इस नवचेतनाका स्वरूप ही आनन्त्य है : वह हमें 'अनन्त' तथा 'शाश्वतका' स्थायी आध्यात्मिक बोध और संविन् लाती है, साथ ही प्रकृतिकी एक बड़ी विशालता आती है और उसकी सीमाएँ टूट गिरती हैं; अमरत्व तब केवल कोई विश्वास या अनुभव नहीं, वरन् एक स्वाभाविक आत्म-संवित् हो जाता है; 'दिव्य पुरुष' की सन्निकट अवस्थिति, उनका जगत्पर, हमारे आत्मा और हमारी प्रकृतिके विविध अंगोंपर शासन, उनकी हममें और सर्वत्र क्रिया करती शक्ति, 'अनन्त'की शान्ति, 'अनन्त'का आनन्द, अब आधारमें मूर्त और अविच्छेद हो जाते हैं; सकल दृश्यों और रूपोंमें शाश्वतका, 'सद्वस्तु'का दर्शन, सकल ध्वनियोंमें उसीका श्रवण, सकल स्पर्शोंमें उसीका अनुभव होता है; उसीके रूपों, व्यक्तित्वों और अभिव्यक्तियोंके अलावा अन्य कुछ भी नहीं होती; हृदयका मोद या भक्ति, सकल अस्तित्वका आलिंगन, अध्यात्म-तत्त्वका एकत्व, ये स्थायी वास्तवताएँ होते हैं। मनोमय प्राणीकी चेतना अध्यात्ममय पुरुषकी चेतनामें परिणत हो रही है या पूरी परिणत हो चुकी है। यह रूपान्तर-त्रयमें द्वितीय रूपान्तर है; अभिव्यक्त सत्ताको, जो उससे ऊपर है, उसके साथ संयुक्त करनेवाला यह इन तीनोंके बीचका डग है, अध्यात्मतः विकसित होती प्रकृतिका एक निश्चायक संक्रमण है।

यदि अध्यात्म-पुरुष शुरूसे ही श्रेष्ठतर ऊँचाइयोंपर निरापदतासे निवास कर सकता और मन तथा जड़की कोरी और निष्कलंक उपादान-धातुमें व्यवहार कर सकता, तो परिपूर्ण आध्यात्मिक रूपान्तर द्रुत हो सकता था और आसान भी : परन्तु प्रकृतिकी वास्तविक प्रक्रिया अधिक दुरूह, उसकी गतिकी विधि अधिक बहुविध, मुड़ी-तुड़ी, घुमावदार, व्यापक

होती है; प्रकृतिने जो बीड़ा उठाया है उसके सारे तथ्योंको वह मानती है और निजकी जटिलताओंपर किसी संक्षिप्त विजयसे तुष्ट नहीं होती। हमारी सत्ताके प्रत्येक अंगको उसके अपने स्वरूप और प्रकृतिमें लेना है, अतीतके जो कोई भी सांचे और लेख अभी भी उसमें हैं उनके सहित लेना है : प्रत्येक लघुसे लघु अंश और गतिको भी, उसके अयोग्य होनेकी दशामें, नष्ट करना और उसके स्थानपर कुछ और लाना होगा, या वह यदि योग्य है तो उसे उच्चतर सत्ताके सत्यमें रूपान्तरित करना होगा। यदि चैत्य परिवर्तन पूरा हो गया है तो यह कार्य कष्टहीन प्रक्रियासे किया जा सकता है, किन्तु कार्यक्रम तब भी लम्बा होगा, निष्ठा आवश्यक होगी और प्रगति क्रमिक ही होगी; परन्तु अन्यथा, एक आंशिक फलसे ही तुष्ट रहना होगा, या यदि हममें पूर्णताकी निष्ठा या अध्यात्म-तत्त्वकी क्षुधा अतृप्त हो तो एक कठिन, प्रायः कष्टकर और अन्तहीन प्रतीत होनेवाली क्रियाके लिये सहमत होना होगा। कारण, सामान्यतः चेतना उच्चतम क्षणोंके अलावा शिखरोंपर नहीं चढ़ती; वह मानसिक स्तरपर रह जाती और ऊपरसे आते अवतरण पाती है,—कभी किसी आध्यात्मिक शक्तिका एकाकी अवतरण जो ठहर जाता और आधारको किसी प्रधानतः आध्यात्मिक वस्तुके रूपमे ढाल देता है, कभी ऐसे अवतरणोंका तांता जो उसमें आध्यात्मिक स्थिति और सक्रियता अधिकाधिक ले आते हैं : परन्तु जब तक हम अपने प्राप्त उच्चतम शिखरपर निवास नहीं कर सकते, परिपूर्ण या अधिक सर्वांगीण परिवर्तन नहीं हो सकता। यदि चैत्य रूपान्तरण नहीं हुआ है, यदि उच्चतर शक्तियोंको समयसे पहले खींच उतारा गया है, तो उनका सम्पर्क प्रकृतिकी सदोष और अपवित्र सामग्रीके लिये अति प्रबल सिद्ध हो सकता है और उसका तात्कालिक भाग्य वेदके अपक्व पात्र जैसा हो सकता है जो दिव्य सोम-सुराको रख नहीं सका; या अवतरित होता प्रभाव इसलिये हट या बिखर जा सकता है कि प्रकृति उसे धारण नहीं कर सकती या रख नहीं सकती। फिर, अवतरण यदि शक्तिका हो रहा हो तो अहमात्मक मन या प्राण उसे अपने ही उपयोगके लिये हस्तगत करनेका प्रयत्न कर सकता है और आवर्द्धित अहं या सिद्धाइयों और स्व-वर्द्धनकी प्रभुताओंके शिकारमें लग जाना इसका अशुभ परिणाम हो सकता है। अवतरित होते आनन्दको रखा नहीं जा सकता यदि कामवासनाकी अपवित्रता अत्यधिक हो जिससे कोई मादक या पतनकारी मिश्रण हो रहा हो; शक्ति लौट जाती है

यदि महत्त्वाकांक्षा, मिथ्याभिमान या अवर सत्ताका कोई अन्य आक्रामक रूप हो; ज्योति लौट जाती है यदि अंधकार या अज्ञानके किसी भी रूपके प्रति आसक्ति हो; भागवत 'विद्यमानता' अदृश्य हो जाती है यदि हृदय-कक्षको पवित्र नहीं कर दिया गया हो। या कोई अदिव्य शक्ति उस दिव्य शक्तिको तो नहीं, कारण वह शक्ति हट जाती है, किन्तु आधारमें पीछे छोड़ दिये गये शक्ति-परिणामको हस्तगत करने और विरोधी असुरके प्रयोजनोंके लिये उपयोगमें लानेका प्रयत्न कर सकती है। यदि इन अधिक विनाशकारी दोषों या भूलोंमेंसे कोई भी न हो, तो भी ग्रहण-क्रियाकी बहुसंख्यक भूलें या आधारकी अपूर्णताएँ रूपान्तरमें बाधा दे सकती हैं। शक्तिको कालान्तराल छोड़ छोड़ कर आना होता और इस बीच पर्देके पीछे कार्य करना होता है अथवा प्रकृतिके उद्दंड अंगोंके धूमिल आत्मसात्करण या तैयारीकी लम्बी अवधियोंके बीच अपने-आपको रोके रखना पड़ता है; हममें जो प्रदेश अभी भी रात्रिमें हैं उनपर ज्योतिको अंधकार या अर्ध-अंधकारमें कार्य करना पड़ता है। कार्य किसी भी क्षण रोक दिया जा सकता है, व्यक्तिगत रूपमें इस जीवनके लिये इस कारण कि प्रकृति अधिक ग्रहण या आत्मसात् करनेमें समर्थ नहीं है,—क्योंकि वह अपने सामर्थ्यकी वर्तमान सीमाओंतक पहुँच गयी है,—या इस कारण कि मन तो तैयार हो, किन्तु जब प्राणके सामने पुराने जीवन और नयेके बीचका चुनाव आता है तो वह उसे अस्वीकार कर रहा हो, या प्राण तो स्वीकार कर रहा हो किन्तु शरीर अपनी चेतनाके आवश्यक परिवर्तन और अपने क्रियावंत रूपान्तरके लिये अति दुर्बल, अयोग्य या दोषपूर्ण प्रमाणित होता हो।

इसके अतिरिक्त, परिवर्तनको सत्ताके प्रत्येक अंगमें उसके अपने-अपने स्वरूप और प्रकृतिमें कार्यान्वित करनेकी आवश्यकता चेतनाको बाध्य करती है कि वह प्रत्येकमें बारी बारीसे उतरे और वहाँ उसकी अवस्था और उसकी सम्भावनाके अनुसार कार्य करे। यदि यह कार्य ऊपरसे, किसी आध्यात्मिक ऊर्ध्व स्तरसे किया जाता तो ऊपरसे आते प्रभावकी शक्ति मात्रसे बाध्य होकर एक उदात्तीकरण या उत्थापन या एक नये निर्माण-की रचना हो सकती थी : परन्तु सम्भव था कि अवर सत्ता उसे अपने लिये स्वभावज नहीं मानती; यह कोई समग्र वर्द्धन नहीं, सर्वांगीण विकास नहीं, अपितु एक आंशिक और आरोपित रूपायण ही होगा जो सत्ताके कुछ अंगोंको प्रभावित या मुक्त, दूसरोंको दमित या वे जैसे हैं

वैसे ही छोड़ देता हो; यह परिवर्तन सामान्य प्रकृतिके बाहरसे होनेवाली रचना, उसपर आरोपित रचना होगा, अतः वह अपने अखंडित रूपमें केवल तब तक टिक सकता है जब तक कि रचयिता प्रभावको कायम रखा जा सके। चेतनाका निम्नतर स्तरोंमें अवतरण इस कारण आवश्यक है, परन्तु उच्चतर तत्त्वकी परिपूर्ण शक्तिको इस तरह भी कार्यान्वित करना कठिन है; एक आपरिवर्तन, एक तनूकरण, एक ह्रसन होता है जो परिणामोंमें अपूर्णता और परिसीमनको बनाये रखता है : एक महत्तर ज्ञानकी ज्योति उतरती है परन्तु धुंधली और क्षीण हो जाती है, उसका गलत अर्थ लगाया जाता या उसका सत्य मन और प्राणकी भ्रान्तिसे मिश्रित हो जाता है, या उसकी अपने-आपको परिपूरित करनेकी शक्ति या समर्थता उसके प्रकाशके समानुपातिक नहीं होती। अपने पूरे स्वाधिकार और अपने स्वक्षेत्रमें क्रियारत अधिमानसकी ज्योति और शक्ति एक बात है, किन्तु अन्नमयी चेतनाकी तमोमयतामें और उसकी अवस्थाओंके तले कार्य करती वही ज्योति एक बिलकुल भिन्न बात है और, तनूकरण तथा मिश्रणके कारण, उसका ज्ञान, उसकी शक्ति और उसके परिणाम कहीं हीनतर होते हैं। परिणाम है खंडित शक्ति, आंशिक प्रभाव या बाधाग्रस्त क्रिया।

वस्तुतः, प्रकृतिमें चित्-शक्तिके उन्मज्जनके मन्थर और कष्टसाध्य होनेका कारण यही है : कारण, मन और प्राणको जड़तत्त्वमें उतरना और अपने-आपको उसकी अवस्थाओंके अनुकूल करना पड़ता है; वे जिस धातु और शक्तिमें क्रिया करते हैं उसकी तमिस्रा और अनिच्छुक तामसिकतासे परिवर्तित और ह्रसित होकर वे अपनी सामग्रीको उपयुक्त उपकरणमें और एक वैसी परिवर्तित धातुमें सम्पूर्णतः परिणत नहीं कर पाते जो उनकी सच्ची और सहजात शक्तिको व्यक्त करे। प्राण-चेतना अपने सशक्त अथवा सुन्दर आवेगोंकी महत्ता और आनन्दधाराको भौतिक जीवनमें कार्यान्वित करनेमें असमर्थ है; उसका संवेग साथ नहीं देता, उसकी कार्यसम्पादिका शक्ति उसकी धारणाओंके सत्यके सामने हीनतर रहती है, बाह्य रूप अपने अन्दरकी जिस प्राण-संबोधिको प्राण-सत्ताकी अभिधाओंमें व्यक्त करनेका प्रयत्न करता है उसके लिए पर्याप्त नहीं होता। मन अपने उच्च भावोंको प्राण या जड़ तत्त्वके माध्यममें ऐसे घटाव और समझौते किये बिना संसिद्ध करनेमें असमर्थ होता है जो उन्हें उनके दिव्यत्वसे वंचित कर देते हैं; मनमें उसके ज्ञान और इच्छा-

की स्पष्टताओंके अनुरूप वह शक्ति नहीं जो निम्नतर सत्ताको इस तरह गढ़ दे कि वह मनका अनुसरण करे और उसे व्यक्त करे : इसके विपरीत, प्राणकी आविलताओं और जड़तत्त्वकी मूढ़तासे मनके अपने सामर्थ्य प्रभावित हो जाते हैं, उसका संकल्प विभक्त हो जाता है, उसका ज्ञान भ्रमित और मेघित। न तो प्राण, न मन ही भौतिक जीवनको परिवर्तित करने या पूर्ण बनानेमें सफल होता है, क्योंकि वे इन अवस्थाओंमें अपनी भरपूर स्व-शक्ति नहीं प्राप्त कर सकते; यह आवश्यक होता है कि अपनी मुक्ति और परिपूर्तिके लिए वे एक उच्चतर शक्तिका आवाहन करें। परन्तु जब उच्चतर आध्यात्मिक मानसिक शक्तियाँ प्राण और जड़में उतरती है तो उन्हें भी वही अशक्तता भुगतनी होती है; वे अधिक बहुत कुछ कर सकती हैं, बहुत ज्योतिर्मय परिवर्तन संसिद्ध कर सकती हैं, परन्तु आगत चेतनामे परिवर्तन हो जाता है, वह सीमित हो जाती है और जिस क्रियान्वयन-शक्तिको वह मानसिक और भौतिक रूप दे सकती है वह उसके समान नहीं होती, — ये बातें सदा रहती हैं और परिणाममे एक ह्रसित सृष्टि होती है। जो परिवर्तन किया जाता है, वह प्रायः असाधारण होता है, ऐसा कुछ भी होता है जो चेतनाकी अवस्थाके सम्पूर्ण धर्मान्तर और परावर्तन और उसकी गतियोंके उन्नयनके जैसा दिखायी देता है, परन्तु वह क्रियाबलमें पूर्ण नहीं होता।

केवल अतिमानस ही अपनी क्रिया-शक्तिकी परिपूर्णताको खोये बिना इस भाँति अवतरित हो सकता है; कारण, उसकी क्रिया सर्वदा अन्तरंग और स्वतःस्फूर्त होती है, उसकी इच्छा तथा ज्ञान अभिन्न होते हैं और परिणाम समानुपातिक। उसका स्वभाव है आत्म-सिद्धिप्रद ऋत-चित् और यदि वह अपने-आपको या अपनी क्रियाको सीमित करता है तो बाध्य होकर नहीं, अपितु स्वेच्छासे और किसी अभिप्रायसे; वह जो सीमाएँ चुनता है उनमें उसकी क्रिया और उसकी क्रियाके परिणाम सामंजस्यपूर्ण और अपरिहार्य होते हैं। फिर, अतिमानस तो मनकी भाँति विभाजक तत्त्व है, और उसकी विशिष्ट क्रिया है किसी निर्वाचित सामंजस्यको स्वतंत्र रूपायणमें कार्यान्वित करना; उसकी विश्वमंडलीय क्रिया उसे इसके लिये वस्तुतः सक्षम बनाती है कि वह एक ऐसे सामंजस्यकी सृष्टि करे जो अपने-आपमें अखंड और पूर्ण हो या अपने सामंजस्योंको साथ-साथ संयुक्त करे या उनका संलयन करे, समन्वय करे; परन्तु मन, प्राण तथा जड़के प्रतिबन्धोंके अधीन रहकर क्रिया करनेके कारण, वह ऐसा

विभाग-विभाग करके और विभागोंको जोड़ते हुए करनेको बाध्य होता है। उसकी समग्रातकी प्रवृत्तिमें उसकी चयन-प्रवृत्ति बाधा देती है; वह यहाँ मन और प्राणकी जिस सामग्रीमें कार्य कर रहा है उसकी प्रकृतिके कारण यह चयन-प्रवृत्ति और भी सबल हो जाती है। पूर्ण ज्ञान और उसकी अभिव्यक्ति नही, अपितु पृथक्, सीमित और प्रत्येक अपने-आपमें पूर्ण रहनेवाली आध्यात्मिक सृष्टियाँ ही उसकी उपलब्धि हो सकती है। इस कारण और अपने सहजात प्रकाश और बलके ह्रासके कारण वह, जो आवश्यक है, उसे पूरी तरह नही कर सकता, और उसे अपनी प्रमुक्ति तथा संपूर्तिके लिये एक महत्तर बलका, अतिमानसिक शक्तिका आवाहन करना होता है। जैसे चैत्य परिवर्तनको अपनी पूर्तिके लिये आध्यात्मिक परिवर्तनका आवाहन करना होता है, वैसे ही प्रथम आध्यात्मिक परिवर्तनको अपनी पूर्तिके लिये अतिमानसिक रूपान्तरका, कारण, आगेकी ओर ये सारे डग, अपनेसे पहले आनेवाले डगोंकी भाँति, संक्रमण-कालीन ही हैं; अज्ञानाधारसे ज्ञानाधारकी ओर विकासक्रममें सम्पूर्ण आमूल परिवर्तन केवल अतिमानसिक शक्तिके हस्तक्षेपसे और पृथ्वी-जीवन-में उसकी प्रत्यक्ष क्रियासे ही हो सकता है।

अतः यही तीसरे और अन्तिम रूपान्तरका स्वरूप होगा। यह रूपान्तर ही जीवनकी अज्ञान-मध्य-यात्राका अन्त करता और उसकी चेतना, उसके जीवन, उसकी शक्ति और उसकी अभिव्यक्तिके रूपको एक सम्पूर्ण और सम्पूर्ण-प्रभावी आत्मज्ञानपर आधारित करता है। क्रमविकासिका प्रकृतिको प्रस्तुत पाकर ऋत-चित्‌को उसके अन्दर उतरना और उसे इस योग्य बनाना है कि वह अपने अन्दरके अतिमानसिक तत्त्वको विमुक्त करे। भौतिक विश्वमें परमात्मा एवं परमपुरुषके सत्यकी प्रथम अनावृत अभिव्यक्तिके रूपमें अतिमानसिक और आध्यात्मिक पुरुषका आविर्भाव इसी भाँति होगा।

•

अध्याय छब्बीस

अतिमानसकी ओर आरोहण

ऋतेन यावृतावृधावृतस्य ज्योतिषस्पती।

ऋत-ज्योतिके पति जो ऋतको ऋतसे वर्द्धित करते हैं।

—ऋग्वेद

1. 23. 5.

तिस्रो वाचः ....ज्योतिरग्राः॥

त्रिधातु शरणं शर्म....त्रिवर्तु ज्योतिः॥

तीन वाक्-शक्तियाँ जो ज्योतिको अपने सामने लिये चलती हैं..शान्तिका त्रिधाम, ज्योतिका त्रिमार्ग।

—ऋग्वेद

VII. 101. 1, 2.

चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत॥

जब वह ऋतोंसे वर्द्धित हो जाता है तो सौन्दर्यके अन्य चार भुवनोंकी सृष्टि आत्म-रूपवत् करता है।

—ऋग्वेद

IX. 70. 1.

सं दक्षेण मनसा जायते कविर्ऋतस्य गर्भः...।

... ... गुहा हितं जनिम नेममुद्यतम्॥

वह विवेकशील (दक्ष) मनसे युक्त कविके रूपमें उत्पन्न हुए; ऋतके गर्भसे उत्पन्न, गुहाहित जन्म, अभिव्यक्तिमें अर्ध-उदित।

—ऋग्वेद

IX. 68. 5.

...बृहच्छ्रवसः ...ज्योतिष्कृतः ...प्रचेतसः।

... ... विश्ववेदसः ... ...ऋतावृधः।

वृहत् श्रुत प्रज्ञासे सम्पन्न, ज्योतिके स्रष्टा, सचेतन सर्वज्ञाता, ऋतमें वर्द्धित होते हुए।

—ऋग्वेद
X. 66. 1.

उद् वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

तमसे परे उच्चतर ज्योतिका दर्शन करते हुए हम देवत्वमें स्थित दिव्य सूर्यके पास, उत्तम ज्योतिके पास आये।

—ऋग्वेद
1. 50. 10.

चैत्य रूपान्तरकी धारणा और आध्यात्मिक रूपान्तरकी प्राथमिक भूमिकाओंकी धारणा हम आसानीसे वना सकते हैं; उनकी पूर्णता एक ऐसे ज्ञान और एक ऐसे अनुभवकी पूर्णता, समग्रता, निष्पन्न एकता होगी जो सिद्ध वस्तुओंका अंग हो चुकी हैं, भले ही वह सिद्धि थोड़ेसे ही मानव-प्राणियोंको हुई हो। परन्तु अतिमानसिक परिवर्तन अपने प्रक्रममें हमें अल्प-अन्वेषित प्रदेशोंमें ले जाता है; वह हमारी दृष्टिके सामने चेतनाकी ऐसी उत्तुंगताओंके उन्मेषका आरम्भ करता है जिनकी झाँकी तो अवश्य मिल चुकी है, जहाँ जाया भी जा चुका है, परन्तु जिनके सम्पूर्ण रूपका आविष्कार और मानचित्रण अभी भी वाकी है। चेतनाके इन शिखरों या ऊँचे पठारोंमें सवसे ऊँचा, अतिमानसिक शिखर, इस सम्भावनासे वहुत परे रहता है कि मन उसकी कोई सन्तोषदायी रूपरेखा या चित्र वना सके या मनकी दृष्टि और वर्णना उसे पकड़ सके। सामान्य अनालोकित अथवा अरूपान्तरित मनकी धारणाके लिये किसी ऐसी वस्तुको व्यक्त करना या उसमें प्रवेश करना कठिन होगा जो इतनी भिन्न चेतनापर आश्रित है, जिसका संवित्-धर्म मूलतः इतना भिन्न है। यदि दृष्टिके किसी आलोकन या उन्मीलन द्वारा उन शिखरोंको देख ही लिया जाय या उनकी धारणा वना ली जाय, तो भी उनका तत्त्व हमारे द्वारा सच-मुचमें ग्राह्य हो सके, इसकी उपयुक्त अभिव्यञ्जनाओंमें उसे अनूदित करनेके लिये हमारे मन द्वारा व्यवहृत दरिद्र अमूर्त प्रतीकोंसे भिन्न एक अन्य भाषाकी आवश्यकता होगी। जैसे मानव-मनके शिखर पशु-बोधके परे हैं, वैसे ही अतिमानसकी गतिविधि मनुष्यकी सामान्य मानस-धारणाके परे है। जव हमें एक उच्चतर मध्यवर्तिनी चेतनाका अनुभव हो चुकेगा,

केवल तभी अतिमानसिक सत्ताके वर्णनका प्रयत्न करनेवाले शब्द हमारी बुद्धिको उसका सच्चा अर्थ दे सकेंगे; कारण, तब, जिसका वर्णन किया गया है, उससे सजातीय किसी वस्तुका अनुभव करके हम अपर्याप्त भाषाको अपनी ज्ञात वस्तुकी आकृतिमें अनूदित कर सकेंगे। यदि मन अतिमानसकी प्रकृतिमें प्रवेश नहीं कर सकता, तो भी इन उच्च तथा ज्योतिर्मय उपगमन-मार्गों द्वारा वह उसकी ओर देख तो सकता है और सत्यं, ऋतं, बृहत्का, जो कि मुक्त 'आत्माका' स्वराज्य है, कोई प्रति-बिम्बित रूप पकड़ सकता है।

परन्तु मध्यवर्तिनी चेतनाके बारेमें जो कहा जा सकता है वह भी अपर्याप्त होनेको बाध्य है; केवल कुछ अमूर्त और सामान्य प्रत्यय उपस्थित किये जा सकते हैं जो कि पथ-प्रदर्शनके आरंभिक प्रकाशका काम कर सकते हैं। यहाँ एक सहायक परिस्थिति यह है कि उच्चतर चेतनाका संघटन और तत्त्व चाहे कितने ही भिन्न क्यों न हों, वह चेतना तब भी, अपने क्रमवैकासिक रूपमें, यहाँ हम उसकी जो प्रथम प्राप्ति कर सकते हैं उस रूपमें, ऐसे तत्त्वोंका परम विकास होती है जो हमारी चेतनामें, अपनी आकृति और शक्तिके चाहे कितने ही आरम्भिक और क्षीण भावमें क्यों न हों, पहलेसे वर्तमान हैं। यह भी एक सहायिका वास्तविकता है कि जैसे नीचेके आरम्भोंमें वैसे ही उच्चतम शिखरोंके आरोहणमें भी, क्रमविकासिका प्रकृतिकी प्रक्रियाका वही न्याय-विधान रहता है; उसकी क्रियाके कुछ नियमोंमें बहुत हेरफेर हो जाता है, परन्तु सार-रूपमें क्रिया वही होती है; अतः हम कुछ दूरी तक प्रकृतिकी परम पद्धतिकी रेखाओं-का आविष्कार और अनुसरण कर सकते हैं। कारण, बौद्धिकसे आध्या-त्मिक मनकी ओर संक्रमणके स्वरूप और विधानको हम कुछ देख चुके हैं; उस लब्ध आरम्भ-बिंदुसे हम नवचेतनाकी उच्चतर क्रियावंत कोटिकी ओर और आध्यात्मिक मनसे अतिमानसकी ओर आगेके संक्रमणका मार्ग अंकित करना आरम्भ कर सकते हैं। संकेतोंका बहुत ही अपूर्ण रहना अवश्यम्भावी है, क्योंकि दार्शनिककी गवेषणा-पद्धतिसे एक अमूर्त और सामान्य प्रकारके कुछ आरंभिक प्रतिरूपोंतक ही पहुँचा जा सकता है : सच्चे ज्ञान और वर्णनको रहस्यविद्की भाषा और प्रत्यक्ष तथा मूर्त अनु-भूतिके युगपत अधिक जीवन्त और अधिक गहन रूपकोंपर छोड देना होगा।

अधिमानसमेंसे होकर अतिमानसमें संक्रमण हमारी परिचित प्रकृतिसे

पराप्रकृतिमें चले जाना है। वस्तुतः यही कारण है कि केवल 'मन'के किसी भी प्रयासके लिये इसकी प्राप्ति असम्भव है; हमारी व्यक्तिगत अभीप्सा और प्रयास विना किसी सहायताके वहाँ तक नहीं पहुँच सकते। हमारा प्रयत्न प्रकृतिकी निम्नतर शक्तिकी वस्तु है, और अज्ञानकी शक्ति अपने स्व-बल या अपनी विशिष्ट या उपलब्ध पद्धतियोंसे उसकी प्राप्ति नही कर सकती जो उसके अपने प्रकृति-क्षेत्रसे परे है। सारे पूर्वारोहण पहले निश्चेतनामें और फिर अज्ञानमें क्रिया करती एक गूढ़ चित्-शक्तिसे सम्पादित हुए हैं : उसने अपनी संवृत शक्तियोंको, आवरणके पीछे छिपी और प्रकृतिके अतीत रूपायणोंसे श्रेष्ठतर रहती शक्तियोंको सतहपर बाहर लाते हुए कार्य किया है, किन्तु ऐसा होनेपर भी यह आवश्यक रहा है कि अपने स्व-लोकोंमें अपने परिपूर्ण स्वाभाविक वीर्यमें रूपायित हो चुकी उन्हीं श्रेष्ठतर शक्तियोंका चाप भी पडे; ये श्रेष्ठतर लोक हमारे अवगूढ़ भागोंमें अपनी स्व-भित्तिकी रचना करते हैं और बहिस्तलपर क्रमविकास-की प्रक्रियाको वहाँसे प्रभावित कर सकते हैं। अधिमानस और अति-मानस भी पृथ्वी-प्रकृतिमें संवृत और गुह्य हैं, किन्तु हमारी अवगूढ़ आन्त-रिक चेतनाकी पहुँचमें आनेवाले स्तरोंपर उनका रूपायण नहीं है; अब तक हमारे बहिस्तलपर या हमारे सामान्य अवगूढ़ भागोंमें कोई अधि-मानसिक सत्ता या संगठित अधिमानसिक प्रकृति, कोई अतिमानसिक सत्ता या संगठित अतिमानसिक प्रकृति कार्य नहीं कर रही है : कारण, चेतनाकी ये महत्तर शक्तियाँ हमारे अज्ञानके स्तरके लिये अतिचेतन हैं। अधिमानस तथा अतिमानसके संवृत तत्त्वोंके अपनी अवगुंठित गोपनावस्थामेंसे उन्मज्जनके लिये आवश्यक है कि अतिचेतनकी सत्ता तथा शक्तियाँ हममें अवतरित हों, हमें ऊपर उठाएँ और हमारी सत्ता तथा शक्तियोंमें अपने-आपको रूपायित करें; यह अवतरण इस संक्रमण और रूपान्तरकी अनि-वार्य शर्त है।

निस्संदेह यह कल्पनीय है कि अवतरणके बिना ही, ऊपरके एक निगूढ़ चापसे, एक लम्बे क्रमविकाससे, हमारी पार्थिव प्रकृति अभी अति-चेतन रहनेवाले उच्चतर लोकोंके साथ एक निकटका सम्पर्क प्राप्त करनेमें सफल हो सकती है और अवगूढ़ अधिमानसका कोई रूपायण पर्देके पीछे हो सकता है; परिणामतः इन उच्चतर लोकोंकी स्वीया चेतनाके एक मन्थर उन्मज्जनका हमारे बहिस्तलपर उदय हो सकता है। यह कल्पनीय है कि इस भांति मनोमय जीवोंकी जातिका उद्भव हो सकता है जो

मानस-बुद्धि या युक्ति और चिन्तनधर्मिणी बुद्धिके द्वारा, या प्रमुखतः उसके द्वारा, विचार और कार्य नहीं करेगी, अपितु एक संबोधिमूलिका मानसता द्वारा करेगी जो एक आरोही परिवर्तनका पहला डग होगी; इसके बाद एक अधिमानसीकरण हो सकता है जो हमें उन सीमान्तोंपर ले जायगा जिनके आगे अतिमानस या दिव्य 'विज्ञान' है। परन्तु यह प्रक्रिया अनिवार्यतः प्रकृतिका एक लम्बा और श्रमपूर्ण प्रयास होगी। एक यह सम्भावना भी है कि जो प्राप्त होगा वह एक श्रेष्ठतर किन्तु अपूर्ण मानसीकरण ही हो; नये उच्चतर तत्त्वोंका चेतनापर सबल आधिपत्य तो हो किन्तु उनकी क्रिया फिर भी निम्नतर मानसताके तत्त्व द्वारा बदल जाती हो। एक महत्तर, विस्तृत और आलोकप्रद ज्ञान होगा, एक उच्चतर श्रेणीका संबोध होगा, परन्तु तब भी उसे अज्ञानके विधानके अधीन करनेवाला मिश्रण उसमें वैसे ही आ जायगा जैसे प्राण और जड़के विधानके कारण मनको परिसीमनके वशीभूत होना होता है। यथार्थ रूपान्तरके लिये ऊपरसे एक सीधा और अनावृत हस्तक्षेप होना ही चाहिए; यह भी आवश्यक होगा कि अवर चेतना समग्रतः अधीन हो जाय और समर्पण करे, उसके हठका अन्त हो जाय, उसमें यह इच्छा हो जाय कि उसका पृथक् क्रिया-धर्म रूपान्तरसे पूरा विनष्ट हो जाय और हमारी सत्तापर सारे अधिकार खो दे। ये दो शर्तें यदि आत्मामें एक सचेतन पुकार और इच्छाके होने और अपने परिवर्तन तथा उन्नयनमें हमारी सारी अभिव्यक्त और आन्तरिक सत्ताके भाग लेनेसे अभी भी पूरी कर दी जा सकें, तो क्रमविकास, रूपांतर, एक अपेक्षतया द्रुत चेतन परिवर्तन द्वारा हो सकता है; ऊपरसे अतिमानसिक चित्-शक्ति और पर्देके पीछेसे विकासशीला चित्-शक्ति, मनोमय मानव-जीवकी जागृत संवित् और इच्छापर क्रिया करती हुई, अपनी संयुक्त शक्तिसे यह अति महत्त्वपूर्ण संक्रमण सम्पादित कर देंगी। तब उस धीमे विकासक्रमकी आवश्यकता नहीं रह जायगी जिसके एक-एक डगमें कई हजार वर्ष लगें, उस रुक-रुककर और कठिनाईसे होते क्रमविकासकी आवश्यकता नहीं रह जायगी जिसे अतीतमें अज्ञानके अचेतन जीवोंमें प्रकृतिने सम्पादित किया था।

इस परिवर्तनकी पहली शर्त यह है कि हम अभी जो मनोमय मानव हैं वह मानव अपनी सत्ताके गंभीरतम स्वधर्म और उसकी प्रक्रियाओंके प्रति अन्तरतः चेतन हो जाय और उन्हें अधिकृत करे। उसे वह चैत्य तथा आन्तरिक मनोमय पुरुष हो जाना होगा जो अपनी ऊर्जाओंका स्वामी होगा, निम्नतर प्रकृतिकी गतियोंका दास नहीं रह कर उसका नियन्ता

होगा, प्रकृतिके एक उच्चतर धर्मके साथ एक मुक्त सामंजस्यमें सुरक्षित रूपसे आसीन होगा। व्यक्तिका अपनी प्रकृति-क्रियापर बढ़ता हुआ नियंत्रण, विश्व-प्रकृतिकी क्रियामें एक अधिकाधिक सचेतन भाग-ग्रहण, क्रमविकासके तत्त्व-विधान और प्रक्रियाका एक विशेष लक्षण, वस्तुतः तर्कसंगत परिणाम है। जगत्‌के सारे कर्म, सारे मानसिक, प्राणिक, दैहिक क्रियाकलाप एक विश्व-ऊर्जा, एक चित्-शक्तिका संचालन हैं जो वस्तुओंके विश्वक और वैयक्तिक सत्यको कार्यान्वित करते विश्वात्माकी शक्ति है। परन्तु चूंकि यह सृष्टिशीला चेतना जड़में निश्चेतनाका मुख-पट धारण करती और बहिस्तलपर एक ऐसी अन्धी विश्वशक्तिका रूप धर लेती है जो वस्तुओंकी योजना या संगठनको, ऐसा लगता है कि वह क्या कर रही है उसे जाने बिना, कार्यान्वित करती है, अतः प्रथम परिणाम इसी रूपके जैसा होता है; यह एक निश्चेतन दैहिक व्यष्टिरूपणका व्यापार होता है, यह विषय-वस्तुकी सृष्टि होती है, न कि विषयी सत्ताकी। ये वस्तुएँ रूपायित अस्तित्व होती हैं जिनके अपने गुण, अपने धर्म, अपनी सत्ता-शक्ति, अपना सत्ता-स्वभाव होते हैं; परन्तु उनके अन्दर प्रकृतिकी जो योजना है उसे और उनके संगठनको यंत्रवत् कार्यान्वित करना होता है, वैयक्तिक विषयवस्तुके भाग लेनेका, उसके प्रवर्तन अथवा सचेतन संवित्-का आरम्भ उनमें नहीं होता, वहाँ विषयवस्तु प्रकृतिकी क्रिया और सृष्टिके प्रथम मूक परिणाम और निष्प्राण क्षेत्रकी तरह उद्‌गत होती है। पशु प्राणीमें 'शक्ति' बहिस्तलपर धीमे-धीमे सचेतन होना आरम्भ करती और तब किसी पदार्थका ही नहीं अपितु विषयी व्यष्टि-सत्ताका रूप प्रकट करती है; किन्तु यद्यपि यह अपूर्णतः सचेतन व्यक्ति भाग लेता है, उसे संज्ञा होती है, अनुभूति होती है, तथापि वह केवल उसे क्रियान्वित करता है जिसे 'शक्ति' उसके अन्दर कर रही है और जो किया जा रहा है वह उसकी बुद्धि या दृष्टिमें स्पष्ट नहीं रहता; उसकी गठित प्रकृतिने उसपर जो कुछ आरोपित कर रखा है उसके अलावा कोई चुनाव या इच्छा उसे रहती हो, ऐसा नहीं लगता। मानव-मनमें प्रेक्षिका बुद्धिका प्रथम प्राकट्य होता है जो, जो किया जा रहा है, उसे देखती है, और एक ऐसी इच्छा और चुनावका प्राकट्य होता है जो चेतन हो गये हैं; किन्तु चेतना तब भी सीमित और बहिस्तलीय होती है : ज्ञान भी सीमित और अपूर्ण होता है; वह एक आंशिक बुद्धि, एक टटोलती आधी समझ होता है जो अधिकांशतः अनुभव-सिद्ध ही होती है, या यदि युक्तिशील

हुई भी तो निर्माणों, मतों और सूत्रोंके सहारे ही वैसी होती है। तब तक वह ज्योतिर्मयी दृष्टि नहीं आयी है जो वस्तुओंको अपरोक्ष पकड़से जानती और उन्हें उसी दृष्टिके अनुसार, उनके अन्तर्निहित सत्यकी योजना-के अनुसार, एक स्वतःस्फूर्त, यथातथ्यताके साथ आयोजित करती है। यद्यपि सहज प्रवृत्ति, संबोधि और अन्तर्दृष्टिका कुछ तत्त्व रहता है जिसमें इस शक्तिका कुछ आरम्भ होता है, तथापि मानव-बुद्धिका सामान्य स्वभाव एक गवेषणाशील युक्ति या चिन्तनधर्मिणी विचारशीलताका रहता है जो प्रेक्षण करती, कल्पना और अनुमान करती, निष्कर्ष निकालती, परिश्रम करके एक निर्मित सत्यतक, ज्ञानकी एक निर्मित परिकल्पनातक, अपनी ही स्वैरताकी सुचिन्तित रूपसे सजायी गई क्रियातक पहुँचती है। या बल्कि यह कहें कि वह ऐसा होनेका प्रयत्न करती है और अंशतः है; कारण, उसके ज्ञान और इच्छाको आधारकी वे शक्तियाँ सदा आक्रान्त, अन्धकारावृत या विफल किया करतीं हैं जो कि प्रकृतिकी यंत्रावलीके आधे अन्धे उपकरण हैं।

स्पष्ट है कि यह चेतनाके सामर्थ्यकी अन्तिम सीमा नहीं, उसका अन्तिम विकास और उच्चतम शिखर नहीं। एक महत्तर और अधिक अन्तरंग संबोधि अवश्य ही सम्भव होनी चाहिए जो वस्तुओंके मर्ममें प्रवेश करेगी, जिसका प्रकृतिकी गतिविधिके साथ ज्योतिर्मय तादात्म्य रहेगा, जो जीवका अपने जीवनपर एक स्पष्ट नियंत्रण या, कमसे कम, अपने विश्वके साथ एक सामंजस्य सुनिश्चित करेगी। एक मुक्त और अखण्ड संबोधिमूलिका चेतना ही वस्तुओंको अपरोक्ष सम्पर्क और अन्तर्यौवनी दृष्टिसे, या आधारनिष्ठ एकत्व या तादात्म्यसे उत्पन्न एक स्वतःस्फूर्त्त सत्य-बोधसे देख और पकड़ सकेगी और प्रकृतिके कर्मको प्रकृतिके सत्यके अनुसार आयोजित कर सकेगी। यह विश्वव्यापिनी चत्-शक्तिकी क्रियामें व्यक्तिका यथार्थ भाग लेना होगा; व्यष्टि-पुरुष अपनी कार्य-कारिणी ऊर्जाका स्वामी होगा और साथ ही विश्व-ऊर्जाकी क्रियामें विश्वात्माका सचेतन भागीदार, अभिकर्ता, उपकरण होगा : विश्व-ऊर्जा उसके द्वारा कार्य करेगी, परन्तु वह भी उसके द्वारा कार्य करेगा और संबोधिमूलक सत्यका सामंजस्य इस द्विविध क्रियाको एक ही क्रिया कर देगा। इस उच्चतर और अधिक अन्तरंग प्रकारका चेतन और वर्द्धमान भाग-ग्रहण अवश्य ही अपनी वर्त्तमान सत्ता-स्थितिसे पराप्रकृतिकी स्थितिकी ओर हमारे संक्रमणमें सहगामी होगा।

एक ऐसे सामंजस्यपूर्ण परलोककी कल्पना की जा सकती है जिसमें इस प्रकारकी संबोधिमूलिका मानसिक बुद्धि और उसका शासन ही नियम होंगे; परन्तु हमारे जीवनकी भूमिकामें, क्रमविकासकी योजनाके आद्य अभिप्राय और अतीत इतिहासके कारण, ऐसे नियम और शासनका स्थिर प्रतिष्ठापन कठिनाईसे हो सकेगा और उसके सम्पूर्ण, अन्तिम और निश्चायक होनेकी सम्भावना नहीं। कारण, मिश्रित मानसिक, प्राणिक, शारीरिक चेतनामें हस्तक्षेप करती संबोधिमूलिका मानसता विकसित हो चुकी चेतनाकी निम्नतर धातुके मिश्रणके वशीभूत होनेको सामान्यतः बाध्य होगी, उसपर क्रिया करनेके लिये उसे उसके अन्दर प्रवेश करना होगा, और उसमें प्रवेश करनेसे वह उसके जालमें जा फँसेगी, उससे अनुविद्ध होगी, हमारी मनःक्रियाकी पृथगात्मिका और आंशिक प्रकृति और अज्ञानके परिसीमन तथा प्रतिबन्धित शक्तिसे प्रभावित होगी। संबोधिमूलिका बुद्धिकी क्रिया अज्ञान और निश्चेतनाके पुंजके भीतर प्रवेश करने और उसे संशोधित करनेके लिये पर्याप्त तीक्ष्ण और ज्योतिर्मयी होती है, परन्तु वह इतनी पर्याप्त विशाल और संपूर्ण नहीं होती कि उसे अपने अन्दर कवलित कर ले और उसका अन्त कर दे; समूची चेतनाका अपनी स्वीय धातु और शक्तिमें सम्पूर्ण रूपान्तर वह नहीं कर सकती। तो भी, हमारी वर्तमान अवस्थामें भी, एक प्रकारका भाग लेना विद्यमान रहता है और हमारी सामान्य बुद्धि इतनी जागृत रहती है कि वैश्व चिन्मयी शक्ति उसके द्वारा कार्य कर सके और बुद्धि तथा इच्छा-बलको आन्तरिक तथा बाह्य परिस्थितिका निर्देशन कुछ परिमाणमें करने दे; यह निर्देशन काफी अयोग्य होगा और हर क्षण भूल उसका पीछा करेगी, उसमें केवल एक सीमित प्रभाव और बलकी समर्थता रहेगी जो उस शक्तिके बृहत् क्रिया-संचालनोंकी विशालतर समग्रतासे समानुपातिक नहीं होगी। विश्व-क्रियामें सचेतन भाग लेनेकी यह आरम्भिक शक्ति, पराप्रकृतिकी ओरके विकासक्रममें, व्यक्तिमें वर्द्धित होकर उसमें उस प्रकृतिकी क्रियाओंकी एक अधिकाधिक अन्तरंग और विस्तृत अवलोकनशक्ति हो जायेगी, वह प्रकृति जो मार्ग अपना रही थी उसका संवेदनशील बोध हो जायगी, अधिक द्रुत और अधिक सचेतन आत्मविकासके लिए जिन पद्धतियोंका अनुसरण आवश्यक था उनके बारेमें बढ़ती समझ या संबोधिमूलक भाव हो जायगी। उसका आन्तरिक चैत्य या गुह्य आन्तरिक मनोमय पुरुष जितना अधिक सामने आयगा, चयनकी, अनु-

मतिकी शक्ति उतनी अधिक सबल होगी, सच्ची स्वतंत्र इच्छाका आरम्भ होगा जो कि अधिकाधिक प्रभावशालिनी होती जायगी। परन्तु यह स्वतंत्र इच्छा अधिकांशतः व्यक्तिकी आत्म-प्रकृतिकी क्रियाओंके सम्बन्धमें होगी; इसका अर्थ उसकी अपनी स्वीय सत्ताकी गतिविधिपर एक अधिक स्वतंत्र, अधिक संपूर्ण और अधिक साक्षात् रूपसे सज्ञान नियंत्रण ही होगा : इस क्षेत्रमें भी आरम्भमें वह इच्छा तब तक पूरी नही हो सकती जब तक कि वह अपनी स्व-रचनाओंसे सृष्ट सीमाओंमें वन्दिनी रहे या उसे पुरानी और नयी चेतनाके संमिश्रणसे उत्पन्न अपूर्णतासे लोहा लेना पड़े। फिर भी एक वर्द्धमान आधिपत्य और ज्ञान होगा, उच्चतर सत्ता तथा उच्चतर प्रकृतिकी ओर उन्मीलन होगा।

हमारी स्वतन्त्र इच्छाकी धारणा मानवीय अहंके अतिशय व्यक्तिवाद-से दूषित होनेकी ओर झुकी रहती और एक ऐसी स्वतंत्र इच्छाका आकार लेना चाहती है जो अपने ही अलग हिसाबसे, अपने ही चुनाव और एकाकी पृथक् गतिधाराके अतिरिक्त किसी अन्य निर्धारणके विना पूरी स्वतंत्रतासे कार्य करती हो। इस भावमें इस तथ्यकी अवज्ञा है कि हमारी प्राकृत सत्ता विश्व-प्रकृतिका अंग है और हमारी आध्यात्मिक सत्ताका अस्तित्त्व केवल परम विश्वातीतके सहारे है। वर्त्तमान प्रकृतिकी वस्तुस्थितिके अधीन रहनेकी अवस्थामेंसे हमारी समग्र सत्ता केवल तब बाहर निकल सकती है जबकि एक महत्तर सत्य और एक महत्तर प्रकृतिके साथ उसका तादात्म्य हो गया हो। व्यक्तिकी इच्छा, पूरी स्वतंत्र होनेकी अवस्थामें भी, पृथग्भूत स्वतंत्रतासे कार्य नही कर सकती, कारण, व्यष्टिपुरुष तथा व्यष्टिप्रकृति विश्वपुरुष और विश्वप्रकृतिमें सम्मिलित हैं और सर्वाधिशासक विश्वातीतपर निर्भर हैं। वस्तुतः आरोहणमें एक द्विविध धारा हो सकती है। एक धारामें जीव यह अनुभव और इस भांति आचरण कर सकता है कि वह एक स्वतंत्र स्वयंभू सत्ता है जो अपने-आपको अपनी ही निर्व्यक्तिक 'सद्वस्तु'से युक्त कर रही है; अपने बारेमें ऐसी कल्पना करके वह एक बड़ी शक्तिसे कार्य कर सकता है, किन्तु वह क्रिया या तो फिर भी उसके प्रकृति-शक्तिके विगत और वर्त्तमान आत्म-रूपायणके एक परिवर्द्धित ढांचेमें ही होगी, या नही तो विश्वशक्ति अथवा परमा शक्ति ही उसमें कार्य कर रही होगी और कर्मका कोई व्यक्तिगत प्रवर्त्तन नही होगा, अतएव वहां स्वतंत्र वैयक्तिक इच्छाका कोई बोध नहीं होगा, वरन् केवल अपने कार्में रत किसी निर्व्यक्तिक

विश्वव्यापिनी अथवा परमा इच्छा या ऊर्जाका बोध होगा। दूसरी धारामें जीव अपने-आपको 'परम पुरुष'का आध्यात्मिक उपकरण अनुभव करेगा और इस प्रकार 'परम पुरुष' की एक शक्तिकी तरह कार्य करेगा, उसकी क्रियाएँ 'पराप्रकृति'की अन्तर्निहित शक्तियों ही से—जो कि निःसीम हैं और जिनपर जीवनके स्व-सत्य और स्वधर्मके अतिरिक्त कोई प्रतिबन्ध नहीं है,— और उस प्रकृतिमें रहती परमा 'इच्छा'से सीमित होगी। परन्तु इन दोनों ही धाराओंमें, प्रकृति-शक्तियोंकी यान्त्रिक क्रियाके नियंत्रणसे मुक्ति पानेकी शर्तके रूपमें, एक महत्तर चिन्मयी शक्तिके प्रति अधीनता होगी या व्यष्टि-जीवके अपने और जगत्के जीवनमें उस शक्तिका जो अभिप्राय और उसकी जो गतिधारा है उसके साथ उसका सहमत एकत्व होगा।

कारण, चेतनाके उच्चतर प्रदेशमें सत्ताकी एक नयी शक्तिकी क्रिया, बाह्य प्रकृतिपर अपने प्रशासनमें भी, असाधारण रूपसे प्रभावी हो सकती है, परन्तु ऐसा केवल उसकी दृष्टि-ज्योति और उसके परिणामस्वरूप विश्वगत तथा विश्वातीत 'इच्छा'के साथ सामंजस्य या तादात्म्य होनेके कारण होता है, क्योंकि निम्नतर शक्तिके स्थानपर एक उच्चतर शक्तिका उपकरण हो जानेपर ही जीवकी इच्छा वैश्व मानस-ऊर्जा, प्राण-ऊर्जा, जड़-ऊर्जाकी क्रिया और प्रक्रम द्वारा होते यांत्रिक निर्धारणसे और इस निम्नतर प्रकृतिके संचालनके नीचे अपनी अज्ञानमयी अधीनतासे मुक्त होती है। प्रवर्तनकी, यहाँ तक कि विश्वशक्तियोंके वैयक्तिक पर्यवेक्षणकी भी शक्ति वहाँ हो सकती है; किन्तु यह प्रवर्त्तन उपकरणवत् होगा, यह पर्यवेक्षण प्रतिनिधिवत् होगा : व्यक्तिके वरणको 'अनन्त'की अनुमति इसलिये मिलेगी कि वह स्वयं ही 'अनन्त'के किसी सत्यकी अभिव्यक्ति था। अतएव, व्यष्टि-सत्ता जितना अधिक अपने-आपको विश्वव्यापी और विश्वातीत 'पुरुष' तथा 'प्रकृति'का केन्द्र और रूपायण अनुभव करेगी उसी अनुपातमें वह अधिकाधिक सशक्त और प्रभावी होगी। कारण, परिवर्तनकी प्रगति जितना आगे बढ़ेगी, निर्मुक्त व्यक्ति उतना ही अधिक मन प्राण तथा शरीरकी वह सीमित ऊर्जा न रह जायगा जिससे उसने आरम्भ किया था; जीव चेतनाकी एक महत्तर ज्योति और शक्तिकी एक महत्तर क्रियामें आविर्भूत होगा और उन्हें धारण करेगा,—साथ ही वह महत्तर चेतना-ज्योति और महत्तर शक्ति-क्रिया भी उसमें आविर्भूत होंगी, उसमें उतर आयेंगी, उसे अपने अन्दर

धारण करेंगी : उसका प्राकृत जीवन उपकरण होगा एक श्रेष्ठतर शक्तिका, एक अधिमानसिक और अतिमानसिक चित्-शक्तिका जो आद्या भगवती शक्तिका क्रियाबल है। विकासक्रमकी सारी प्रक्रियाएँ इस भाँति अनुभूत होंगी कि वे एक परमा और विश्वव्यापिनी चेतनाकी, एक परमा और विश्वव्यापिनी शक्तिकी क्रिया हैं जो अपनी इच्छानुसार, जिस किसी भी विधिसे, जिस किसीभी स्तरपर, जिन किन्हीं भी स्वयं-निर्धारित सीमाओंमें कार्य करती है। वे इस भाँति अनुभूत होंगी कि वे विश्वातीत और विश्वव्यापी पुरुषकी सचेतन क्रिया हैं, उन सर्वशक्तिमयी तथा सर्वज्ञा जगन्माताकी क्रिया हैं जो जीवको उन्नीत कर अपने अन्दर, अपनी पराप्रकृतिमें ले जा रही हैं। अज्ञानकी प्रकृतिके बदले, जिसमें व्यक्ति उसका बन्द क्षेत्र और अचेतन या अर्ध-चेतन उपकरण होता है, वहाँ दिव्य विज्ञानकी पराप्रकृति होगी और वैयक्तिक जीव उसका सचेतन, खुला और मुक्त क्षेत्र तथा उपकरण होगा, उसकी क्रियामें भाग ले रहा होगा, उसके उद्देश्य और प्रक्रियाको जान रहा होगा, अपने महत्तर 'आत्मा' और विश्वगत तथा विश्वातीत 'सद्वस्तु'के प्रति भी सचेतन होगा और अपने जीव-स्वरूपका इस रूपमें अनुभव करेगा कि वह उस 'आत्मा' या 'सदवस्तु'के साथ असीम्य रूपसे एक है और फिर भी 'उस'की सत्ताकी एक वैयक्तिक सत्ता है, एक उपकरण और एक आध्यात्मिक केन्द्र है।

पराप्रकृतिकी क्रियामें इस भाँति भाग लेनेकी ओर एक प्रथम उन्मीलन अन्तिम रूपान्तर, अतिमानसिक रूपान्तरकी ओर मोड़की एक शर्त है : कारण, यह रूपान्तर एक अन्धी स्वतःक्रियाके धूमिल सामंजस्यसे चलकर, जहाँसे कि प्रकृति आरम्भ करती है, सच्ची ज्योतिर्मयी स्वतःस्फूर्तता तक 'अध्यात्म-सत्ता'के स्वयंभू सत्यकी अचूक गतिधारा तककी यात्राका पूरा किया जाना है। क्रमविकास जड़की ओर एक अवर प्राणकी स्वतःक्रियासे आरम्भ करता है जिसमें सब कुछ प्रकृतिके चालनका अनुसरण बिना किसी विवादके करता है, अपनी सत्ताके धर्मकी पूर्ति यंत्रकी तरह करता है और फलतः अपने सीमित प्ररूपके जीवन और कर्मका एक सामंजस्य बनाये रखनेमें सफल होता है; वह इस निम्नतर प्रकृतिसे चालित, किन्तु उसके सीमाबन्धोंमेंसे बच निकलने, उसे ही अधीन करने, उसका संचालन और उपयोग करनेके लिए संघर्ष करती मानवजातिके मन और प्राणकी फलगर्भ अस्तव्यस्ततामेंसे गुज़रता हुआ बढ़ता

है; वह सकल वस्तुओंके आध्यात्मिक सत्यपर अधिष्ठित एक महत्तर स्वतःस्फूर्त सामंजस्य और स्वतःक्रिय स्वयं-परिपूर्तिकारी क्रियाधारामें उदित होता है। इस उच्चतर स्थितिमें चेतना उस सत्यका दर्शन करेगी और अपनी ऊर्जाओंकी धाराका अनुसरण एक सम्पूर्ण ज्ञानके साथ, सबल रूपसे भाग लेती हुई, अपने उपकरणोंपर अधिकार रखती हुई, कर्म और जीवनमें सम्पूर्ण आनन्द लेती हुई करेगी। विश्वके नीचे व्यक्तिकी अन्धी और विवश अधीनताके स्थानपर सबके साथ एकत्व-की एक ज्योतिर्मयी पूर्णताका उपभोग होगा और, प्रत्येक क्षण, व्यक्तिमें विश्वकी और विश्वमें व्यक्तिकी क्रिया विश्वातीत पराप्रकृतिके शासनसे आलोकित और शासित होगी।

परन्तु यह उच्चतम अवस्था दुष्कर है और उसे लानेमें स्पष्टतया लम्बा समय लगेगा; कारण, संक्रमणके लिये पुरुषका ही भाग लेना और सहमत होना पर्याप्त नहीं होता, प्रकृतिका भी भाग लेना और सहमत होना आवश्यक रहता है। केन्द्रीय विचार और इच्छाको ही सहमत नहीं होना होगा, अपितु हमारी सत्ताके सारे अंगोंको आध्यात्मिक सत्यके धर्मको स्वीकारना और उसके प्रति समर्पण करना होगा; सब कुछको अंग-अंगमें सचेतन दिव्य शक्तिके शासनकी आज्ञाका पालन करना सीखना होगा। हमारी सत्तामें हठी कठिनाइयाँ होती हैं जो उसकी क्रमवैकासिक गठनसे उत्पन्न होती हैं और इस स्वीकृतिके विरुद्ध विद्रोह करती हैं। कारण, इनमेंसे कुछ अंग तब भी निश्चेतना और अवचेतनाके अधीन, अभ्यासकी निम्नतर स्वतःक्रिया या प्रकृतिके तथाकथित विधानके अधीन रहते हैं,—उन्हें अधीन करते हैं मनके यंत्रवत अभ्यास, प्राणके अभ्यास, सहजप्रवृत्तिके अभ्यास, व्यक्तित्वके अभ्यास, चरित्रके अभ्यास, बद्धमूल मानसिक, प्राणिक, शारीरिक आवश्यकताएँ, आवेग, प्राकृत मनुष्यकी काम-नाएँ, सब प्रकारकी पुरानी क्रियाशीलताएँ जिन्होंने वहाँ इतनी गहरी जड़ ले ली है कि ऐसा लगता है कि उन्हें बाहर निकालनेके लिये हमें अगाध नीवों तक खुदाई करनी होगी। ये अंग निश्चेतनामें प्रतिष्ठित निम्नतर विधानको अपना प्रत्युत्तर देना छोड़नेसे इनकार करते हैं; ये सचेतन मन तथा प्राणको अपनी प्राचीन प्रतिक्रियाएँ निरन्तर भेजते रहते हैं और उन्हें वहाँ प्रकृतिका शाश्वत नियम कहकर पुनः प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। सत्ताके अन्य अंग कम तमोवृत, कम यांत्रिक और निश्चे-तनामें कम जड़बद्ध हैं, किन्तु वे सबके सब अपूर्ण हैं, अपनी अपूर्णतासे आसक्त

हैं और उनकी अपनी हठी प्रतिक्रियाएँ होती हैं; प्राणिक अंग स्व-प्रतिष्ठापन और कामनाके धर्मसे प्रतिबद्ध है, मन अपनी ही निर्मित गतिविधिसे आसक्त है, और दोनों ही अज्ञानके निम्नतर विधानके इच्छुक अनुगामी है। किन्तु फिर भी, भाग लेनेका उपरोक्त विधान और समर्पणका विधान तो अवश्यमान्य होते हैं; संक्रमणके प्रत्येक डगपर पुरुषकी स्वीकृति आवश्यक होती है और प्रकृतिके प्रत्येक अंगकी भी अपने परिवर्तनके लिये उच्चतर शक्तिकी क्रियासे सहमति चाहिए ही। अतः हमारे अन्दरके मनोमय पुरुषका इस परिवर्तनकी ओर, पुरानी प्रकृतिके स्थानपर पराप्रकृतिकी इस स्थापनाकी ओर, इस अतिक्रान्तिकी ओर सचेतन आत्म-निर्देशन होना ही चाहिए। अध्यात्म-तत्त्व के उच्चतर सत्यके प्रति सचेतन आनुगत्यका नियम, पराप्रकृतिसे आनेवाली ज्योति तथा शक्तिके प्रति समूची सत्ताका समर्पण, यह दूसरी शर्त है जिसे, अतिमानसिक रूपान्तरके वस्तुतः सम्भव हो सकनेके पहले, आधारको ही धीरे-धीरे और कठिनाइयाँ झेलते हुए पूरी करनी होगी।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि तीसरे और चरम सिद्धिदायी परिवर्तन, अतिमानसिक परिवर्तनका कोई आरम्भ हो सकनेके पहले यह आवश्यक है कि चैत्य और आध्यात्मिक रूपान्तर दूर तक प्रगति कर चुके हों, यथासम्भव सम्पूर्ण भी हो चुके हों; कारण, इस युगल परिवर्तनसे ही अज्ञानके हठको 'अनन्त'की महत्तर चेतनाके पुनर्गठनकारी सत्य तथा इच्छाके प्रति आध्यात्मिक आनुगत्यमें पूरा परिवर्तित किया जा सकता है। ऐसी अधिक निश्चायिका स्थितितक पहुँच पानेके पूर्व जिसमें परम पुरुष एवं परमा प्रकृतिके प्रति सारी सत्ताकी आत्म-देनकी स्थिति समग्र और पूर्ण हो सके, सामान्यतया, व्यक्तिगत इच्छाके सतत प्रयास, क्रियाशीलता और एकाग्र संयमके, तपस्याके एक लम्बे और कठिन पर्वको पार करना होता है। खोज और प्रयत्नका एक आरम्भिक पर्व आवश्यक होता है जिसमें साथ ही 'सर्वोच्च'के प्रति हृदय, अन्तरात्मा और मनका एक केन्द्रीय अर्पण या आत्म-प्रदान होता है, और बादमें एक मध्यवर्ती पर्व आता है जिसमें वैयक्तिक प्रयासकी सहायिका रहनेवाली उसकी महत्तर शक्तिपर सम्पूर्ण सचेतन निर्भरता होती है; फिर, उस सर्वांगीण निर्भरताको प्रकृतिके अन्दर उच्चतर सत्यकी क्रियाधाराके हाथमें अपने-आपको प्रत्येक अंग और प्रत्येक क्रियामें अन्तिम और सम्पूर्ण रूपसे सौंप डालनेमें परिणत होना होगा। यह सौंप डालना समग्र रूपसे केवल तब हो सकता है

जबकि चैत्य परिवर्तन पूरा हो जाय या आध्यात्मिक रूपान्तर एक बहुत ऊँची स्थिततक सिद्ध हो जाय। कारण, इसका अर्थ यह होता है कि मन अपने सारे साँचों, भावों, मानसिक रूपायणों और अभिमतोंको, अपने बौद्धिक प्रेक्षण और निर्णयके सारे अभ्यासोंको त्याग दे, जिससे उनके स्थानपर पहले तो एक संबोधिमूलिका और बादमें एक अधिमानसिक या अतिमानसिक क्रिया आय जो एक प्रत्यक्ष सत्य-चेतना, सत्य-दृष्टि, सत्य-विवेककी क्रियाका, हमारे मनके वर्तमान स्वभावसे सब प्रकारसे सर्वथा विजातीय एक नयी चेतनाकी क्रियाका सूत्रपात करती है। उसी तरह प्राणसे यह माँग की जाती है कि वह अपनी प्रिय कामनाओं भावोच्छ्वासों, भावनाओं, आवेगों, संवेदन-लीकोंका, क्रिया और प्रतिक्रिया-के सबल यंत्र-विन्यासका परित्याग करे और उनके स्थानपर एक ज्योतिर्मयी, निष्काम, स्वतंत्र और फिर भी स्वतःक्रिय रूपसे स्वयं-निर्देशिका शक्ति, एक केन्द्रीकृत वैश्व और निर्व्यक्तिक ज्ञान, बल तथा आनन्दकी शक्ति आय, जिसका उपकरण और जिसकी अभिव्यक्ति जीवनको होना अवश्य है, परन्तु जिसका न तो उसे कोई आभास है, न जिसके श्रेष्ठतर आनन्द और आत्म-चरितार्थताके बलका कोई भान ही। हमारे शारीरिक भागको अपनी सहज-प्रवृत्तियाँ, आवश्यकताएँ, अन्धी रूढ़ आसक्तियाँ, प्रकृतिकी गतानुगतिक लीकें छोड़ देनी होंगी, उसे अपनेसे जो कुछ परे है उसके प्रति अपने संशय और अविश्वासको छोड़ देना होगा, उसे स्थूल मन, स्थूल प्राण और शरीरकी निर्धारित क्रियाओंकी अनिवार्यतामें जो विश्वास है उसे छोड़ देना होगा ताकि उनके स्थानपर एक नयी शक्ति आ सके जो जड़के विग्रह और शक्तिमें अपने ही श्रेष्ठतर धर्म और क्रियाशीलताकी स्थापना करेगी। निश्चेतन और अवचेतनको भी हमारे अन्दर सचेतन बनना है, उच्चतर ज्योतिका सुग्राही बनना है, चित्-शक्तिकी परिपूर्तिकारिणी क्रियाको बाधा देनेवाले न रह कर, 'अध्यात्म-तत्व'का साँचा और पादपीठ अधिकाधिक होते जाना है। ये चीजें तब तक नहीं की जा सकतीं जब तक मन, प्राण या शारीरिक चेतना सत्ताकी नेतृत्व कारिणी शक्तियाँ हों या उनका कोई भी आधिपत्य हो। ऐसे परिवर्तनकी प्रवेश-स्वीकृति केवल तब हो सकती है जबकि अन्तरात्मा तथा आन्तरिक पुरुषका पूरा आविर्भाव हुआ हो, चैत्य तथा आध्यात्मिक इच्छाका आधिपत्य हुआ हो और आधारके अँगोंपर उनकी ज्योति तथा शक्तिकी लम्बी क्रिया हुई हो, समूची प्रकृतिकी चैत्य तथा आध्यात्मिक नवगठन हुई हो।

आन्तरिक और बाह्य प्रकृतिके बीचकी दीवारको तोड़कर समूचे आधारका एकीकरण,—चेतनाकी स्थिति और केन्द्रको बहिरात्मासे हटाकर उसका आन्तर आत्मामें स्थापन, इस नूतन आधारपर एक दृढ़ भित्ति, इस आन्तर आत्मा और उसकी इच्छा तथा दृष्टिसे कार्य करनेकी अभ्यस्तता, और वैयक्तिक चेतनाका विश्वचेतनामें उन्मेष,—अतिमानसिक परिवर्तनकी दूसरी आवश्यक शर्त है। यह आशा एक मरीचिका होगी कि परम ऋत-चित् अपने-आपको हमारे बहिस्तलीय मन, हृदय और प्राणके संकीर्ण निरूपणमें स्थापित कर सकता है, वे चाहे कितने ही आध्यात्मिकताकी ओर क्यों न अभिमुख हो गये हों। यह आवश्यक है ही कि सारे आन्तरिक चक्र प्रस्फुटित हो जायँ और अपनी क्षमताओंको सक्रिय कर दें, चैत्य पुरुष अनावृत हो जाय और नियन्ता भी बन जाय। सत्ताको यदि आन्तरिक और विशालतर चेतनामें, सामान्य चेतनाके स्थानपर यौगिक चेतनामें स्थापित करनेका यह प्रथम परिवर्तन नहीं किया जा चुका हो तो महत्तर रूपान्तर असम्भव होता है। इसके अतिरिक्त, ऐसे परिवर्तनके लिये समर्थ हो सकनेसे पहले जो वर्त्तमान विश्व-रूपायणका अतिक्रमण करे और व्यक्तिको विश्वसत्ताके अपरार्द्धसे परे उठाकर उसके आध्यात्मिक परार्द्धमें उन्नीत करे, यह आवश्यक है कि व्यक्ति पर्याप्त विश्वभूत हो गया हो, उसने अपने वैयक्तिक मनको विश्व-मानसताकी असीमतामें पुनर्गठित किया हो, अपने वैयक्तिक प्राणको विश्व-प्राणकी क्रियावंत गतिके अव्यवहित बोध और अपरोक्ष अनुभवमें परिवर्द्धित और जीवन्त किया हो, विश्व-प्रकृतिकी शक्तियों और अपने शरीरके बीच सम्पर्कोंका उद्घाटन किया हो। फिर यह भी है कि अभी उसके लिये जो अतिचेतन है उसका उसे बोध हो चुका हो, वह ऐसी सत्ता हो चुका हो जो उच्चतर आध्यात्मिक ज्योति, बल ज्ञान और आनन्दके प्रति सचेतन हो, उसके अवरोही प्रभावोंसे अनुविद्ध हो, एक आध्यात्मिक परिवर्तन द्वारा नवनिर्मित हो। यह सम्भव है कि चैत्य रूपान्तरके दूर बढ़ जाने या पूरे हो जानेसे पहले ही आध्यात्मिक उद्घाटन हो जाय और उसकी क्रिया आगे बढ़े; कारण, ऊर्ध्वका आध्यात्मिक प्रभाव चैत्य रूपान्तरको जगा सकता, सहायता दे सकता और पूरा कर सकता है : आवश्यक केवल यह है कि उच्चतर आध्यात्मिक उद्घाटनके लिये चैत्य पुरुषका पर्याप्त चाप हो। परन्तु जो तीसरा परिवर्तन है, अतिमानसिक परिवर्तन, उसमें उच्चतम ज्योतिके किसी समयपूर्व अवतरणकी सम्भावना नहीं;

कारण, उसका आरम्भ केवल तब हो सकता है जबकि अतिमानसिक शक्ति सीधे क्रिया करना शुरू करती है, और ऐसा वह करती नहीं यदि प्रकृति तैयार न हो। कारण, परमा शक्तिके बल और सामान्य प्रकृतिकी समर्थताके बीच असमानता अत्यधिक है; निम्नतर प्रकृति या तो उसे सहन नहीं कर सकेगी, या यदि सहन करेगी तो उसे प्रत्युत्तर न दे सकेगी और न ही उसे ग्रहण कर सकेगी, या यदि ग्रहण करेगी तो आत्मसात् नहीं कर सकेगी। जब तक प्रकृति तैयार न हो अतिमानसिक शक्तिको परोक्ष रूपसे कार्य करना होता है; वह अधिमानस अथवा संबोधिकी मध्यवर्तिनी शक्तियोंको पुरोभागमें रखती है या अपने-आपके किसी ऐसे परिवर्तित रूपसे कार्य करती है जिसकी ओर अर्ध-रूपान्तरित हो चुकी सत्ता पूरे या आंशिक रूपसे प्रत्युत्तरशील हो सकती है।

आध्यात्मिक क्रमविकास एक उत्तरोत्तर प्रस्फुटनके न्याय-विधानका अनुसरण करता है; वह नया निर्णायक प्रधान डग केवल तब ले सकता है जबकि पिछला प्रधान डग पर्याप्त जीत लिया गया हो; यदि किसी द्रुत और अतर्कित आरोहणसे किन्हीं गौण भूमिकाओंपर छलाँग लगा ली जा सके या उन्हें लील लिया जा सके, तो भी; जिस भूमिको पार कर लिया गया है, वह नयी अवस्थाके साथ सुरक्षित रूपसे संयुक्त हो गयी या नहीं, इस सम्बन्धमें आश्वस्त होनेके लिये चेतनाको पीछेकी ओर मुड़ना होता है। यह सच है कि 'अध्यात्म-तत्त्व'की विजयका अर्थ एक जीवनकाल या थोड़ेसे ही जीवनोंकी अवधिमें ऐसी प्रक्रियाका सम्पादन है जो प्रकृतिके सामान्य प्रवाहमें शताब्दियों या हजारों वर्षोंकी भी एक धीमी और अनिश्चित पद्धति होती : परन्तु यह तो उस वेगका प्रश्न हुआ जिससे कि पैड़ियाँ पार की जाती हैं; अधिक द्रुत वेग या एकाग्र वेग कोई पैड़ियोंकी ही या उन्हें एक-एक करके पार करनेकी आवश्यकताका विलोपन तो नहीं कर देता। बढ़ी हुई द्रुतता केवल इसलिये सम्भव होती है कि आन्तरिक पुरुष सचेतन भाग ले रहा है और अर्ध-रूपान्तरित अपराप्रकृतिमें पराप्रकृतिकी शक्ति सक्रिय हो चुकी है जिससे यह होता है कि जो डग अन्यथा निश्चेतना या अज्ञानकी रात्रिमें प्रयोगात्मक रूपमें भरे जाते, वे डग अब ज्ञानकी एक वर्द्धमान ज्योति एवं शक्तिमें भरे जा सकते हैं। क्रमविकासिका शक्तिकी प्रथम तमोवृत जड़ गतिधारामें एक युग-युगीन क्रमिकताका लक्षण मिलता है; प्राणकी प्रगति-धारा धीमे-धीमे बढ़ती है किन्तु फिर भी अपेक्षतया तेज डग भरती है, वह

कुछ हजार वर्षोंमें ही संहृत हो जाती है; मन कालकी धीमी मन्थरताको और भी कम कर दे सकता और कुछ ही शताब्दियोंमें लम्बे मार्ग तै कर सकता है; किन्तु जब चिन्मय आत्मा हस्तक्षेप करता है तब विकास-क्रमकी द्रुतताका एक सर्वाधिक संहृत वेग सम्भव हो जाता है। फिर भी, क्रमविकासके प्रवाहकी ऐसी अन्तर्लीन द्रुतता जो बीचकी भूमिकाओंको लीलती जाय, केवल तब आ सकती है जबकि चिन्मय अध्यात्म-पुरुषकी शक्तिने क्षेत्र तैयार कर दिया हो और अतिमानसिक शक्तिने अपने अपरोक्ष प्रभावका व्यवहार आरम्भ कर दिया हो। प्रकृतिके सारे रूपान्तर, निस्संदेह, चमत्कारका वेश धारण करते हैं, किन्तु इस चमत्कारकी भी एक पद्धति होती है : प्रकृतिके बड़ेसे बड़े डग आश्वस्त भूमिपर भरे जाते हैं, उसकी तेजसे तेज छलांगें ऐसे आधारसे लगायी जाती हैं जिससे क्रमविकास-की कूदको सुरक्षितता और निश्चितता मिलती है; एक गुप्त सर्व-प्रज्ञा प्रकृतिके अन्दर प्रत्येक वस्तुको , उन डगों और प्रक्रियाओंको भी शासित करती है जो सबसे अधिक अव्याख्येय लगती हैं।

प्रकृतिकी पद्धतिके इस विधानके कारण अन्तिम संक्रमण-प्रक्रियामें एक सोपान-क्रम आवश्यक होता है; कोटि-कोटि करके आरोहण और उन अधिकाधिक उच्च स्थितियोंका उन्मेष आवश्यक होता है जो हमें अध्यात्म-भावापन्न मानससे अतिमानसकी ओर ले जाती हैं,—यह एक खड़ी चढ़ाई-का मार्ग होता है जिसे किसी और तरहसे पूरा नहीं किया जा सकता। हम देख चुके हैं कि हमारे ऊपर सत्ताकी आनुक्रमिक स्थितियाँ, स्तर या श्रेणीबद्ध शक्तियाँ है जो हमारे प्राकृत मनसे ऊपर हैं, हमारे अपने ही अतिचेतन भागोंमें प्रच्छन्न हैं, 'मन'से उच्चतर प्रदेश है, आध्यात्मिक चेतना तथा अनुभवकी कोटियाँ हैं; उनके बिना वे कड़ियाँ नहीं होंगी, वे बीचमें आनेवाले सहायक प्रदेश नहीं होंगे जिनसे वह विपुल आरोहण सम्भव होता है। निगूढ़ आध्यात्मिक शक्ति आधारपर वस्तुतः इन उच्चतर स्रोतोंसे ही क्रिया करती और अपने चापसे चैत्य रूपान्तर या आध्यात्मिक परिवर्तन सिद्ध करती है; परन्तु हमारे विकासके आरम्भिक पर्वोंमें यह क्रिया प्रकट नहीं होती, गोपन और अग्राह्य रहती है। आरम्भमें आवश्यक यह है कि आध्यात्मिक शक्तिका शुद्ध स्पर्श मनोमयी प्रकृतिमें हस्तक्षेप करे ही; वह जागृतिकारी चाप मन, हृदय तथा प्राण-पर अपनी छाप डाले ही और उन्हें ऊर्ध्वकी ओर उन्मुख करे ही; एक सूक्ष्म ज्योति अथवा एक रूपान्तरकर्त्री महाशक्ति उनकी गतिविधियोंको

विशुद्ध, परिमार्जित और उन्नीत करे ही और उन्हें एक उच्चतर चेतनासे परिप्लुत करे ही जो उनके अपने प्राकृत सामर्थ्य और स्वभावकी वस्तु नहीं होती। यह कार्य अन्दरसे, चैत्य सत्ता और चैत्य व्यक्तित्व द्वारा एक अदृश्य क्रियासे किया जा सकता है; इसके लिये ऊर्ध्वसे ऐसा अवतरण अपरिहार्य नहीं जो चेतन रूपसे अनुभूत हो। 'अध्यात्म-सत्ता' प्रत्येक प्राणीमें, प्रत्येक स्तरपर, सकल वस्तुओंमें विद्यमान है, और चूंकि वह है, इसीलिये सच्चिदानन्दका अनुभव, शुद्ध आध्यात्मिक सत्ता एवं चेतनाका अनुभव, एक दिव्य विद्यमानता, सामीप्य, सम्पर्कके आनन्दका अनुभव मन या हृदय या प्राण-बोध द्वारा या शारीरिक चेतना द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है,—यदि अन्तरके द्वार पर्याप्त खोल डाले गये हों, तो अन्तःमन्दिरका प्रकाश बाह्य सत्ताके निकटतम और दूरतम कक्षोंमें व्याप्त हो सकता है। आवश्यक मोड़ या परिवर्तन ऊर्ध्वसे आध्यात्मिक शक्तिके एक ऐसे गोपन अवतरण द्वारा भी संपन्न किया जा सकता है जिसमें उस अन्तःस्रावका, उस प्रभावका, आध्यात्मिक परिणामका अनुभव तो होता है किन्तु उच्चतर उद्‌गम अज्ञात रहता है और अवतरणका वास्तविक भान नहीं होता। इस तरहसे स्पृष्ट चेतनाका इतना अधिक उत्थान हो जा सकता है कि जीव विकासक्रमसे विदा लेकर आत्मा या भगवान्‌के साथ आशु ऐक्य-प्राप्तिकी ओर मुड़ जाय और, यदि इसकी अनुमति प्राप्त हो तो क्रमिकता या पैड़ियों या पद्धतिका प्रश्न ही बीचमें नहीं आता, प्रकृतिसे जो विच्छेद होता है वह निर्णायक हो जा सकता है : कारण, यदि विदा लेना एक बार सम्भव कर दिया गया तो उसका विधान न तो क्रमवैकासिक रूपान्तर और पूर्णताके विधानके सदृश होता है, न उसका वैसा होना आवश्यक है; वह तो एक छलांग भरना, बन्धनों-का द्रुततासे या तुरन्त ही तोड़ा जाना है या हो सकता है,—आध्यात्मिक प्रत्याहार, जीवन-वैराग्य निश्चित हो जाता है और इसके लिये जो एक-मात्र अनुमोदन बचा रह जाता है वह है शरीरका भवितव्य अन्त। परन्तु यदि पार्थिव जीवनका रूपान्तर अभिप्रेत है तो आध्यात्मीकरणके प्रथम स्पर्शके बाद ही उच्चतर उत्सों और ऊर्जाओंके प्रति एक जागरण आना ही चाहिये, उनके लिये एक एषणा आनी ही चाहिए, उनकी विशिष्ट स्थितिमें सत्ताका परिवर्द्धन और उन्नयन और उनके महत्तर धर्म तथा सक्रिय प्रकृतिमें चेतनाका एक धर्मान्तरण होना ही चाहिए। इस परिवर्तनको पैड़ी-पैड़ी करके तब तक चलना होगा जब तक कि

आरोहणका सोपान पार न हो जाय और वेदोंके कहे गये 'उरो अनिबाधे', विशालतम उन्मुक्त व्योममें, परम-ज्योतिर्मयी तथा अनन्त चेतनाके स्वधामोंमें उन्मेष न हो जाय।

कारण, यहाँ भी क्रमविकासकी वही प्रक्रिया है जो प्रकृतिकी गतिविधिके शेष भागमें है; चेतनाका उन्नयन और विशालीकरण होता है, एक नये स्तरपर आरोहण होता है और नीचेके स्तरोंको ऊपर उठाया जाता है, 'सत्ता' की एक श्रेष्ठतर शक्ति जीवनको धारण करती और उसका नूतन समाकलन करती है, वह शक्ति अपनी क्रियाविधि, अपने स्वभाव और अपनी मूलवस्तुगत ऊर्जाकी शक्तिको प्रकृतिके पूर्व-विकसित अंगोंके उतने भागपर आरोपित करती है जिसतक वह पहुँच सकती हो। समाकलनकी माँग प्रकृतिकी क्रियाओंकी इस उच्चतम स्थितिमें अति महत्त्वकी बात हो जाती है। चेतनाके एक उच्चतर तत्त्वमें अभिनव धारण, उसमें समाकलन, आरोहणकी नीचेकी श्रेणियोंमें अधूरा रहता है : प्राण और जड़को मन पूरा मनोधर्मी नहीं कर सकता; प्राण-सत्ता और शरीरके बहुतसे अंग अवमानसिक और अवचेतन अथवा निश्चेतनके प्रदेशमें रह जाते हैं। प्रकृतिकी पूर्णताकी ओर मनके प्रयासमें यह बड़ी बाधा होती है; कारण, अवमानसिक, अवचेतन और निश्चेतनका क्रियाकलापके शासनमें भाग लेते रहना, मनोमयी सत्ताके धर्मसे भिन्न एक अन्य धर्मको प्रविष्ट करके, चेतन प्राण और शारीरिक चेतनाको भी इसके लिए समर्थ करता है कि वे उनपर मन द्वारा प्रयुक्त धर्मको अस्वीकार करें और मनकी युक्ति और विकसित बुद्धिकी युक्तिसंगत इच्छाके विरोधमें अपने ही आवेगों और सहज प्रवृत्तियोंका अनुसरण करें। इससे मनके लिये अपने-आपके परे जाना, अपने स्तरको पार करना और प्रकृतिको अध्यात्म-धर्मिणी बनाना कठिन हो जाता है; कारण, जिसे वह पूरा सचेतन ही नहीं बना सकता, मनोधर्मी और युक्तिधर्मी नहीं बना सकता, उसे वह अध्यात्मधर्मी बना नही सकता, क्योंकि आध्यात्मीकरण एक महत्तर तथा अधिक कठिन समाकलन है। निस्संदेह, आध्यात्मिक शक्तिका आवाहन करके वह प्रकृतिके कुछ अंगोंमें, विशेषतः विचारशील मनमें और हृदयमें जो कि उसके स्व-प्रान्तके समीपतम है, एक प्रभाव और एक आरम्भिक परिवर्तन स्थापित कर सकता है : परन्तु यह परिवर्तन सीमाओंके भीतर भी कोई समग्र पूर्णता विरला ही होता है और वह जो कुछ उपलब्ध करता भी है वह अपवाद-स्वरूप और कठिन होता है। मनका

उपयोग करती आध्यात्मिक चेतना एक अवर साधन व्यवहृत कर रही है, और यद्यपि वह मनमें एक दिव्य ज्योति, हृदयमें एक दिव्य शुचिता, अनुराग, उत्साह लाती या प्राणपर एक आध्यात्मिक विधान आरोपित करती है, इस नूतन चेतनाको प्रतिबन्धोंके अन्तर्गत कार्य करना होता है; अधिकांशतः वह प्राणकी निम्नतर क्रियाको केवल नियमित कर सकती या रोक सकती है और शरीरपर कठोरतासे नियंत्रण रख सकती है, परन्तु ये अंग, परिमार्जित या अधीन हो जाने पर भी, अपनी आध्यात्मिक पूर्ति नहीं पाते, पूर्णता और रूपान्तर नहीं पाते। इसके लिये एक उच्च-तर सक्रिय तत्त्वको लाना आवश्यक होता है जो आध्यात्मिक चेतनामें जन्मजात हो, और अतः जिसके द्वारा, वह चेतना स्वधर्मसे और सम्पूर्णतर स्वाभाविक ज्योति तथा शक्तिसे क्रिया कर सके और उन्हें आधारके अंगोंपर आरोपित कर सके।

परन्तु एक नये सक्रिय तत्त्वके इस हस्तक्षेप और इस सबल आरोपणके भी सफल होनेमें लम्बा समय लग सकता है; कारण, सत्ताके अवर अंगोंके अपने स्वाधिकार है, और उन्हें यदि सत्यतः रूपान्तरित करना है, तो उन्हें उनके अपने रूपान्तरके लिए राजी करना होगा। ऐसा करना कठिन होता है, क्योंकि हमारे प्रत्येक अंगकी स्वाभाविक प्रवणता यह होती है कि उसका स्वधर्म चाहे कितना ही अवर क्यों न हो वह किसी श्रेष्ठतर धर्मकी अपेक्षा, जिसे वह अपना नहीं अनुभव करता, स्वधर्मको ही पसन्द करता है, वह अपनी ही चेतना अथवा अवचेतना, अपने ही प्रेरणों और प्रतिक्रियाओं, अपनी ही सत्ताकी क्रियावत्ता, अस्तित्वके आनन्दकी अपनी ही रीतिके साथ चिपका रहता है। वह उनके साथ और भी हठसे तब चिपकता है जबकि वह रीति आनन्दका खंडन कर रही हो, वह अन्धकार और दुःख कष्ट और वेदनाकी रीति हो, कारण, उसने भी एक अपना विकृत और विपरीत रस, अपना अन्धकार और दुःखका सुख, कष्ट और वेदनामें अपना परपीड़न-रतिक या स्वपीड़न-रतिक स्वाद पा लिया है। हमारी सत्ताका यह अंग यदि श्रेष्ठतर वस्तुओंकी खोज करता है तो भी वह अंग अधिक बुरी वस्तुओंका अनुसरण करनेको इसलिये विवश होता है कि वे उसकी अपनी हैं, उसकी ऊर्जाके लिये स्वाभाविक हैं, उसके सत्त्वके लिये स्वाभाविक हैं। सम्पूर्ण तथा आमूल परिवर्तन सिद्ध करनेके लिये आध्यात्मिक ज्योतिको और आध्यात्मिक सत्य, शक्ति, आनन्दके अन्तरंग अनुभवको अनिच्छुक तत्त्वोंके अन्दर तबतक नित्यानुवृत्त रूपसे

लाते ही रहना होगा जब तक कि वे भी यह न पहचान लें कि उनकी अपनी परिपूर्तिका मार्ग भी वही है और स्वयं वे अध्यात्म-पुरुषकी एक ह्रसित शक्ति है और सत्ताकी इस नयी राहसे अपना स्वीय सत्य तथा अखंड स्वरूप पुनः पा सकते हैं। इस प्रदीपनका सतत विरोध करती हैं निम्नतर प्रकृतिकी शक्तियाँ और उनसे भी अधिक वे आसुरी शक्तियाँ जो जगत्की अपूर्णताओंके सहारे जीती और राज्य करती हैं और जिन्होंने अपनी कराल नींव निश्चेतनाकी काली शिलापर डाल रखी है।

इस कठिनाईको पार करनेमें एक अपरिहार्य डग है आन्तरिक सत्ता और उसके क्रिया-केन्द्रोंका उन्मीलन; कारण, वहाँ वह कार्य अधिक सम्भव होने लगता है जिसे बहिस्तलीय मन नहीं कर सका था। आन्तरिक मन, आन्तरिक प्राण-चेतना और प्राण-मानस, सूक्ष्म-शारीरिक चेतना और उसकी सूक्ष्म-शारीरिक मानसताको जब एक बार क्रियाके लिये मुक्त कर दिया जाता है, तो वे एक विशालतर, सूक्ष्मतर और श्रेष्ठतर माध्यम-संवित्की रचना करती हैं जो विश्वव्यापीके साथ और उन सबसे जो ऊपर है उसके साथ सम्पर्क कर सकती है और सत्ताके समूचे क्षेत्रपर, अवमानसिकपर, अवचेतन मनपर, अवचेतन प्राणपर, शरीर-की अवचेतनापर भी उनकी शक्ति प्रयुक्त करा सकती है। वे यदि मूलभूत निश्चेतनाको सम्पूर्णतया आलोकित नहीं कर सकतीं, तो भी उसे कुछ दूरी तक खोल तो सकती हैं, उसमें अन्तर्वेधन, उसपर क्रिया कर सकती है। तब ऊपरसे आध्यात्मिक ज्योति, शक्ति, ज्ञान एवं आनन्द मन और हृदयसे भी आगे उतर सकते हैं जबकि मन और हृदय तक पहुँचना और उन्हें आलोकित करना सदा सुगमतम रहता है, सारी प्रकृतिमें ऊपरसे नीचेतक भरते हुए वे प्राण और शरीरमें अधिक पूरी तरह व्याप्त हो सकते और एक और भी गहनतर आघातसे निश्चेतनाकी नींवोंको हिला दे सकते हैं। परन्तु अन्दरसे किया गया यह विशालतर मनोमय और प्राणमय परिस्फुरण भी एक अवर आलोकीकरण ही होता है : यह अज्ञानको कम तो कर सकता है, किन्तु उससे छुटकारा नहीं पाता; यह निश्चेतनाके सूक्ष्म और गहन शासनको बना रखनेवाली शक्तियों और विभूतियोंपर आक्रमण करता और उन्हें पीछे हटनेको बाध्य करता है, किन्तु उन्हें पराभूत नहीं कर सकता। इस विशालतर मनोमय और प्राणमय परिस्फुरणके बीच क्रिया करती आध्यात्मिक शक्तियाँ एक उच्चतर ज्योति, बल और मोद ला सकती हैं, किन्तु सम्पूर्ण आध्यात्मी-

करण, चेतनाका सम्पूर्णतम नूतन समाकलन इस भूमिकामें भी असम्भव रहता है। यदि अन्तरतम पुरुष, चैत्य पुरुष, नेता हो जाता है तो निस्संदेह, एक मानसिक नहीं, वरन् गहनतर परिवर्तन, आध्यात्मिक शक्तिके अवतरणको अधिक प्रभावी बना सकता है, कारण, सचेतन सत्ता अपने समग्र रूपमें एक आरम्भिक आन्तरात्मिक परिवर्तनमेंसे गुजर चुकी होगी जो मन, प्राण तथा शरीरका उनकी अपनी अपूर्णताओं और अपवित्रताओंके जालसे उद्धार कर देता है। इस विन्दुपर एक श्रेष्ठतर आध्यात्मिक क्रियावत्ता, आध्यात्मिक मन तथा अधिमानसकी उच्चतर शक्तियोंकी क्रिया पूरा हस्तक्षेप कर सकती है : वस्तुतः ऐसा हो सकता है कि वे शक्तियाँ अपना कार्य पहले ही आरम्भ कर चुकी हों, यद्यपि केवल प्रभावोंकी तरह ही; किन्तु इन नयी परिस्थितियोंमें वे केन्द्रीय सत्ताको अपने स्तरतक उठा दे सकती और प्रकृतिके अन्तिम नूतन समाकलनका आरम्भ कर सकती हैं। मानव-मन जब तक अध्यात्मधर्मी नहीं होता तब भी उसमें ये उच्चतर शक्तियाँ कार्य करती ही हैं, किन्तु परोक्ष, खंडित तथा क्षीण रूपसे करती हैं; वे कार्य कर सकें उसके पूर्व वे मनकी धातु और शक्तिमें परिवर्तित हो जाती हैं, और इस प्रवेशके कारण उस धातु तथा शक्तिके स्पन्दन आलोकित और तीव्र हो जाते हैं, उनकी कुछ गतियाँ उन्नीत और आनन्दपूर्ण हो जाती हैं, किन्तु उनका रूपान्तर नहीं होता। परन्तु जब आध्यात्मीकरण आरम्भ होता है और जैसे-जैसे उसके महत्तर परिणाम, —मनकी नीरवता, हमारी सत्ताका विश्वचेतनामें प्रवेश, तुच्छ अहंका विश्वात्माके प्रत्यक्षानुभवमें निर्वाण, दिव्य सद्वस्तुके साथ सम्पर्क,— अभिव्यक्त होते हैं, उच्चतर क्रियाशक्तिके हस्तक्षेप और उनकी ओर हमारा उन्मीलन वर्द्धित हो सकते हैं, अपनी क्रियाशीलताकी एक अधिक पूरी, अधिक अपरोक्ष, अधिक विशिष्ट शक्ति धारण कर सकते हैं, और यह प्रगति तब तक चलती रहती है जब तक उनकी कोई सम्पूर्ण और परिपक्व क्रिया सम्भव न हो जाय। तभी आध्यात्मिक रूपान्तरका अतिमानसिक रूपान्तरकी ओर मुड़ना आरम्भ होता है; कारण, चेतनाका अधिकाधिक उच्च भूमियोंमें उन्नयन हमारे अन्दर उस दुर्गम तथा महत्तम पथका, अतिमानसकी ओर आरोहणकी सोपानमालाका निर्माण करता है।

यह नहीं मान लेना है कि संक्रमणकी परिस्थितियाँ और धाराएँ सबके लिये एक जैसी होंगी; कारण, यहाँ हम 'अनन्त'के प्रदेशमें प्रवेश करते हैं। किन्तु चूँकि उन सबके पीछे एक मूलभूत सत्यका एकत्व है

अतः आरोहणकी किसी एक धाराकी संवीक्षासे आरोहणकी सारी सम्भावनाओंके तत्त्वपर प्रकाश पड़नेकी आशा की जा सकती है; किसी एक धाराकी ऐसी संवीक्षाका ही प्रयास हम कर सकते हैं। यह धारा, जैसी कि अन्य सब धाराएँ होंगी, आरोहण-सोपानकी प्राकृत आकृतिसे नियंत्रित होती है : उसमें बहुत सारी पैड़ियाँ है, कारण, वह एक अविच्छिन्न पदक्रम है और उसमें कहीं भी कोई अन्तराल नहीं; परन्तु, हमारे मनसे ऊर्ध्वकी ओर चेतनाके आरोहणके दृष्टिकोणसे जो कि उन क्रियावंत शक्तियोंके एक ऊपर उठते धाराक्रमसे होकर चलता है जिनसे चेतना अपना ऊर्ध्वपातन करती जा सकती है, यह पदक्रम चार प्रधान आरोहणोंके सोपानमें रूपित हो सकता है जिनमें प्रत्येककी परिपूर्तिका अपना उच्च स्तर होगा। इन पदक्रमोंका संक्षिप्त विवरण यह कह कर दिया जा सकता है कि ये उच्चतर मन, आलोकित मन और संबोधिसें होकर अधिमानसमें और अधिमानससे परेकी ओर चेतनाके ऊर्ध्वपातनोंका धाराक्रम हैं; आत्म-रूपान्तरणोंका एक अनुक्रम होता है जिसके शिखरपर अतिमानस अथवा 'दिव्य विज्ञान' है। ये सारी कोटियाँ अपने तत्त्व और शक्तिमें विज्ञानमयी है; कारण, आरम्भमें ही हम एक आद्या निश्चेतनापर आधारित और एक व्यापक अज्ञान अथवा मिश्रित ज्ञानाज्ञानमें क्रिया करती चेतनासे ऐसी चेतनामें जाना शुरू कर देते है जो एक गूढ़ स्वयंभू 'ज्ञान' पर आधारित है औप जो पहले उस ज्योति और शक्तिसे निर्देशित और अनुप्रेरित होती, और बादमें स्वयं ही उसी सत्त्वमें परिवर्तित हो जाती और सम्पूर्णतः इस नयी क्रियाविधिका उपयोग करती है। ये कोटियाँ, अपने स्वरूपमें, 'अध्यात्म-तत्त्व'की शक्ति-धातुकी कोटियाँ हैं : कारण, यदि हम इनके प्रधान लक्षण, इनके ज्ञान-साधन और ज्ञान-शक्तिके अनुसार इनमें विभेद करते है, तो इससे अवश्य ही यह नहीं मान लेना चाहिये कि ये केवल ज्ञानकी विधि या राह या संबोधकी क्षमता या शक्ति हैं; ये तो सत्ताके प्रदेश है, आध्यात्मिक सत्ताकी धातु तथा ऊर्जाकी श्रेणियाँ हैं, अस्तित्वके क्षेत्र है जिनमेंसे प्रत्येक उस वैश्व चित्-शक्तिका एक एक स्तर है जो अपने-आपको एक उच्चतर स्थितिमें निर्मित और संगठित कर रही है। जब किसी भी श्रेणीकी शक्तियाँ हममें पूरी उतर आती है तो केवल हमारे विचार और ज्ञानपर ही प्रभाव नहीं पड़ता,—हमारी सत्ता और चेतनाकी धातु, वस्तुतः उसका मर्मकोष, उसकी सारी स्थितियाँ और क्रियाकलाप उनसे स्पृष्ट होते हैं,

उनमें वे शक्तियाँ अनुप्रविष्ट होती हैं और उन्हें फिरसे गढ़ा जा सकता और पूरा रूपान्तरित किया जा सकता है। अतः इस आरोहणमें प्रत्येक पर्व आधारका एक श्रेष्ठतर जीवनकी एक नयी ज्योति तथा शक्तिमें यदि समग्र नही तो एक सामान्य धर्मान्तरण तो अवश्य ही होता है।

स्वयं श्रेणीक्रम मूलतः निर्भर करता है सत्ता, उसकी आत्म-संवित्, उसके अस्तित्व-आनन्द और उसकी अस्तित्व-शक्तिके उच्चतर या निम्नतर सत्त्व, सामर्थ्य और स्पन्दन-तीव्रतापर। हम ज्यों-ज्यों सोपानमें नीचे उतरते हैं, चेतना अधिकाधिक ह्रसित और तरलित होती जाती है,— निस्संदेह, वह अपनी मलिनतर स्थूलताके कारण गाढ़ी रहती है, परन्तु जबकि गाढ़ताकी वह स्थूलता अज्ञानके उपादानको संहत करती है, वह प्रकाशके सत्त्वको अधिकाधिक कम प्रवेश देती है; उसका विशुद्ध चेतना-सत्त्व पतला हो जाता है, उसकी चेतना-शक्ति ह्रसित हो जाती है, उसका प्रकाश पतला हो जाता है, उसका आनन्द-सामर्थ्य पतला और दुर्बल हो जाता है; उसे कुछ भी कर सकनेके लिये अपने ह्रसित उपादानकी अधिक मोटाईका और अपनी अधिक तमसावृत शक्तिके उद्यमपूर्ण व्यवहार-का सहारा लेना होता है, परन्तु प्रयास और परिश्रमकी यह उद्यमशीलता शक्तिका नहीं, दुर्बलताका चिह्न है। इसके विपरीत, हम ज्यों-ज्यों सोपानपर चढ़ते हैं, एक सूक्ष्मतर, किन्तु एक कहीं अधिक सबल और एक अधिक सत्यतः तथा आध्यात्मिकतः ठोस सत्त्व उद्भूत होता है, चेतनाकी एक महत्तर ज्योतिर्मयता और सशक्त उपादानका, आनन्दकी एक सूक्ष्मतर, मधुरतर, शुद्धतर और अधिक सबल उल्लासमयी ऊर्जाका उन्मज्जन होता है। हमपर इन उच्चतर श्रेणियोंके अवतरणमें यह महत्तर ज्योति और शक्ति, सत्ता एवं चेतनाका यह महत्तर सार-तत्त्व, आनन्दकी यह महत्तर ऊर्जा ही मन, प्राण तथा शरीरमें प्रवेश करती हैं और उनके ह्रसित, तरलित तथा असमर्थ सत्त्वको परिवर्तित करती और सुधारती हैं और उसका धर्मान्तरण उसके ही उच्चतर तथा सबलतर क्रियावीर्यमें, 'अध्यात्म-तत्त्व'के क्रियावीर्यमें, उसके अपने सत्यके आन्तरिक रूप और शक्तिमें करती हैं। ऐसा इसलिये हो सकता है कि सब कुछ मूलतः वही सत्त्व, वही चेतना, वही शक्ति है, परन्तु है उसके विभिन्न रूपों और शक्तियों और कोटियोंमें। अतएव, निम्नतरका उच्चतर द्वारा उठाया जाना एक सम्भव और, हमारा जो द्वितीय स्वरूप निश्चेतनाका है वह न हो तो, आध्यात्मिकतः एक स्वाभाविक गति है; जो श्रेष्ठतर स्थितिसे निःसृत

था उसका उसीकी अपनी महत्तर सत्ता और सारतत्वमें परिवेष्टन और पुनर्धारण हो जाता है।

अपनी मानवीय बुद्धि, अपनी सामान्य मानसतामेंसे बाहर जानेका हमारा पहला निश्चायक डग है एक उच्चतर मनमें, ऐसे मनमें आरोहण जो प्रकाश और अन्धकारका सम्मिश्रण या अर्ध-प्रकाश नहीं, वरन् 'अध्यात्म-तत्त्व'की एक विशाल स्वच्छता है। उसका आधारभूत उपादान सत्ताकी एकात्मिका अनुभूति है और उसके साथ एक सबल बहुविध सक्रियता है जिसमें ज्ञानके बहुल रूपभेदों, नाना कार्य-विधियों, संभूतिके असंख्य रूपों और अर्थोंके रूपायणका सामर्थ्य है और उन सभीका एक स्वतः-स्फूर्त अन्तर्निहित ज्ञान है। अतः यह अधिमानससे आयी हुई शक्ति है,—किन्तु इसका अन्तिम मूल अतिमानस है,—वैसे ही जैसे ये सारी महत्तर शक्तियाँ वहीसे आयी हुई हैं; परन्तु इसके विशेष स्वभावपर, इसकी चेतनाकी क्रियाशीलतापर 'विचार'का आधिपत्य रहता है; यह एक ज्योतिर्मय विचारात्मक मन, अध्यात्मजात प्रत्ययात्मक ज्ञानका मन है। मूल तादात्म्यसे उद्गत होती, उस तादात्म्यने जिन सत्योंको अपने अन्दर धारण कर रखा था उन्हें वहन करती, क्षिप्रतासे, विजयी रूपसे, बहुविधतासे धारणा बनाती, अपनी धारणाओंको निरूपित करती और 'भाव'की आत्म-शक्तिसे उन्हें कार्यतः सिद्ध करती एक सर्व-संवित् इस ज्ञानमय महत्तर मनका धर्म है। इस प्रकारका संबोध अज्ञानाधार भेदात्मक ज्ञानके सूत्रपातसे पहले मूल आध्यात्मिक तादात्म्यसे उद्गत होनेमें अन्तिम है; अतः अपने धारणात्मक और तर्क-विचारशील मनसे उठकर, जो हमारी अज्ञानकी उत्तम-संगठित ज्ञान-शक्ति है, जब हम 'अध्यात्म-तत्त्व'के राज्योंमें जाते है तो यही ज्ञान हमें प्रथम मिलता है; वास्तवमें, वह हमारे धारणात्मक मनोमय भावनका आध्यात्मिक जनक है, और यह स्वाभाविक है कि हमारी मानसताकी यह प्रमुख शक्ति जब अपने आपसे परे चली जाती है तो अपने साक्षात् उत्समें चली जाय।

परन्तु यहाँ इस महत्तर 'विचार'में, खोजकी और आत्म-आलोचक युक्ति-विचारकी आवश्यकता नहीं, निष्कर्षकी ओर कोई डग-डग चलने-वाली तार्किक गतिधारा नहीं, प्रगट या अप्रगट निगमन और अनुमानका यंत्र-विन्यास नहीं, ज्ञानके किसी व्यवस्थित समाहार या परिणामतक पहुँचनेके लिये भावोंको लेकर निर्माण नहीं, उनकी विवेचनापर आश्रित शृंखला-रचना नहीं; कारण, हमारी बुद्धिकी यह पंगु क्रिया ज्ञानको

खोजते अज्ञानकी चेष्टा है जो अपने डगोंको मूल-भ्रांतिसे बचाये रखने, एक चयनशील मानसिक निर्माणको अपना सामयिक आश्रय बनाने और उसे ऐसी नीवों पर आधारित करनेको बाध्य है जो डाली जा चुकी हैं और सावधानीसे डाली जा चुकी हैं, किन्तु कभी भी दृढ़ नहीं रहतीं, क्योंकि उसे सहजात संवित्‌की भूमिका अवलम्ब नहीं है, अपितु वह निर्ज्ञानकी एक आद्या मिट्टीपर ही आरोपित है। फिर, मनके तीक्ष्णतम और क्षिप्रतम रूपकी जो अन्य रीति द्रुत और दुस्साहसी अनुमान और अन्तर्दृष्टिकी, अल्प-ज्ञात अथवा अज्ञातमें अन्वेषण करती बुद्धिकी खोज-बत्तीके खेलकी है, यहाँ वह भी नहीं है। यह उच्चतर चेतना वह ज्ञान है जो अपने-आपको स्वयंभू सर्व-संवित्‌के आधारपर रूपायित कर रहा है और अपनी समग्रताके किसी अंगको, विचार-रूपमें रखे गये अपने अर्थोंके सामंजस्यको अभिव्यक्त कर रहा है। यह चेतना अपने-आपको एकाकी भावोंमें मुक्ततासे प्रकट कर सकती है, किन्तु उसकी सबसे विशिष्ट क्रिया है सामग्रिक भावन, एक ही दृष्टिमें सत्य-दर्शनकी पद्धति या समग्रता। भावके साथ भावके, सत्यके साथ सत्यके सम्बन्ध वहाँ तर्क द्वारा स्थापित नहीं होते, वरन् पहलेसे वर्तमान होते और अखण्ड सम्पूर्णके अन्दर आत्म-दृष्ट होकर उद्‌गत होते हैं। वहाँ अभ्यु-पगमों या दत्त सामग्रीसे बने निष्कर्षोंकी पद्धति नहीं होती, अपितु एक सदा-वर्तमान किन्तु तब तक निष्क्रिय रहते ज्ञानके रूपोंमें प्रवेश होता है, यह विचार शाश्वत प्रज्ञाका आत्म-प्राकट्य है, अर्जित ज्ञान नहीं। सत्यके विशाल रूप दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें आरोही 'मन', यदि चाहे तो, सन्तुष्टिके साथ निवास कर सकता और, अपनी पूर्व रीतिके अनुसार, उनमें इस भाँति रह सकता है जैसे कि किसी इमारतमें; परन्तु यदि प्रगति करनी है तो ये इमारतें निरन्तर विशालतर इमारतोंमें विस्तृत हो सकती हैं या इनमेंसे कई सम्मिलित होकर एक अभी भी अप्राप्त रहती सर्वांग-समग्रताके मार्गमें एक अनन्तिम महत्तर सम्पूर्ण हो जा सकती हैं। अन्तमें ज्ञात एवं अनुभूत सत्यकी एक महत्तर समग्रता मिलती है, परन्तु फिर भी उस समग्रताका अनन्त परिवर्द्धन हो सकता है, क्योंकि ज्ञानके रूपभेदोंका कोई अन्त नहीं है, नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।

यह हुआ उच्चतर मन अपने ज्ञानके पहलूमें; परन्तु एक पहलू इच्छाका, सत्यके सक्रिय सम्पादनका भी है : यहाँ हम देखते हैं कि यह महत्तर और अधिक देदीप्यमान् मन सत्ताके शेष भागपर, मानसिक

इच्छापर, हृदय और उसकी भावनाओंपर, प्राण और शरीरपर, सदा विचारके बल द्वारा, भाव-शक्ति द्वारा कार्य करता है। वह ज्ञान द्वारा शुद्धि करना, ज्ञान द्वारा मुक्त करना, ज्ञानकी अन्तर्जात शक्ति द्वारा सर्जन करना चाहता है। भावको हृदय या प्राणमें ऐसी शक्तिकी भाँति रखा जाता है जिसे स्वीकार और कार्यान्वित करना है; हृदय और प्राण उस भावके प्रति सचेतन होते और उसकी क्रियाधाराओंको प्रत्युत्तर देते हैं और उनका सत्त्व अपने-आपको उसीके अनुसार बदलने लगता है जिससे भावना और कर्म इस उच्चतर प्रज्ञाके स्पन्दन हो जाते, उससे अनुप्राणित होते, उसके भावोच्छ्वास और संवेदनसे परिप्लुत हो जाते हैं : इच्छा-शक्ति और प्राणावेग भी उसी भाँति उसके बल और उसकी आत्म-संसाधनकी प्रेरणासे संचारित होते हैं। भाव शरीरमें भी कार्य करता है जिससे, उदाहरण-स्वरूप, शरीरका रोगमें जो विश्वास है और रोगको उसकी जो सहमति है, उसके स्थानपर स्वास्थ्यका सबल विचार और स्वास्थ्यकी सबल इच्छा चली आती हैं, अथवा बलका भाव[1] बलके सत्त्व, वीर्य, संचरण और परिस्पन्दको आमंत्रित करता है। भाव अपने उपयुक्त शक्ति और रूपको उत्पन्न करता और उसे हमारे मन, प्राण या शरीरकी धातुपर आरोपित करता है। क्रियान्वयनका पहला पर्व इसी भाँति चलता है; वह समूची सत्तामें एक नयी और श्रेष्ठतर चेतनाका संचार करता, परिवर्तनकी नींव डालता, उसे जीवनके एक श्रेष्ठतर सत्यके लिये तैयार करता है।

जब उच्चतर शक्तियोंकी श्रेष्ठतर शक्तिका प्रथम बोध या अनुभव होता है तब एक स्वाभाविक भ्रान्त धारणा आसानीसे हो सकती है, और उससे बचनेके लिये यहाँ इस बातपर बल देना है कि ये उच्चतर शक्तियाँ अपने कर्मके स्वधाम और अपने स्वमाध्यममें स्वभावतया जैसी सर्व-शक्तिमती होती हैं वैसी वे अपने अवतरणमें तत्काल ही नहीं होती। जड़में क्रमविकासके दौरान उन्हें एक विजातीय और निकृष्ट माध्यमके अन्दर प्रवेश करना और उसपर कार्य करना होता है; वहाँ उनके सामने हमारे मन, प्राण तथा शरीरकी असमर्थताएँ आती हैं, अज्ञानकी अग्रहण-

---

1. भावको व्यक्त करनेवाला शब्द यदि आध्यात्मिक शक्तिसे व्याप्त हो तो उसमें भी वही बल रहता है; भारतके मंत्र-प्रयोगका युक्तिसंगत आधार यही है।

शीलता या अन्धी अस्वीकृतिसे भेंट होती है, निश्चेतनाके निषेध और विघ्नका अनुभव होता है। अपनी स्वभूमिपर वे ज्योतिर्मयी चेतना और सत्ताके ज्योतिर्मय उपादानके आधारसे कार्य करती है और उनका प्रभाव स्वतःसिद्ध होता है, किन्तु यहाँ तो उन्हें निर्ज्ञानकी एक ऐसी नींवका सामना करना होता है जो गठित हो चुकी है और जिसकी गठन सबल भी है, और यह नींव जड़के सम्पूर्ण निर्ज्ञानकी ही नहीं, अपितु मन, हृदय तथा प्राणके संशोधित निर्ज्ञानकी भी होती है। इस भाँति, जब 'भाव' विकसित मनोबुद्धिमें उतर आता है तब उसे वहाँ भी ज्ञानाज्ञानकी वस्तुएँ रहनेवाले पूर्वगठित भावोंके पुंज या तंत्रके व्यूहको और इन भावोंके स्थायी होने और अपने-आपको चरितार्थ करनेके संकल्पको हराना होता है; कारण, सारे भाव शक्तियाँ हैं और उनमें एक रूपायिणी या स्वतः-परिणामिनी क्षमता होती है जो अवस्थाओंके अनुसार अधिक या कम होती है,—निश्चेतन जड़से व्यवहार पड़नेपर वह घटाकर कार्यतः शून्य भी कर दी जा सकती है, परन्तु फिर भी सम्भाव्य रहती ही है। इस प्रकार एक प्रतिरोध-शक्ति बनी-बनायी तैयार रहती है जो अवतरित होती ज्योतिका विरोध करती या उसके प्रभावोंको न्यूनतम कर देती है; यह प्रतिरोध ज्योतिको अस्वीकार करना, उसका वर्जन करना हो सकता है या उसे अज्ञानके पूर्वकल्पित भावोंके अनुरूप साधनेके लिये उसको क्षुण्ण या दमित करने, पटुतासे परिवर्तित या अनुकूलित करने, दुराग्रहसे विरूपित करनेके प्रयत्नका रूप ले सकता है। यदि पूर्वकल्पित भावों या गठित हो चुके भावोंको विदा कर दिया जाय और उन्हें उनके स्थायित्वके अधिकारसे वंचित कर दिया जाय, तो भी उन्हें बाहरसे, विश्वमनके अन्दर अपनी व्याप्तिके आधारसे प्रत्यावर्तनका अधिकार रहता है, या वे नीचेकी ओर, प्राणिक, शारीरिक अथवा अवचेतन भागोंमें हट जा सकते और अपने खोये प्रदेशको पुनः प्राप्त करनेके लिये अल्पसे अल्प अवसर पाकर वहाँसे फिर उमड़ आ सकते हैं : कारण, अपने डगोंमें पुर्याप्त स्थिरता और ठोसता लानेके लिये क्रमविकासिका प्रकृतिको अपने द्वारा एकबार स्थापित वस्तुओंको स्थयित्वका यह अधिकार देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त, अभिव्यक्तिमें हरेक शक्तिका यह स्वभाव और दावा होता है कि वह, जहाँ कहीं भी सम्भव हो और जितने समयतक सम्भव हो, रहे, अतिजीविनी हो, अपने-आपको चारितार्थ करे, और इसीलिये ऐसा है कि अज्ञानके जगत्‌में सब कुछ शक्तियोंके

जटिल तंत्र द्वारा ही नही, अपितु उनके संघट्ट, संघर्ष और परस्परमिश्रण द्वारा सम्पादित होता है। परन्तु इस उच्चतम विकासक्रमके लिये यह अपरिहार्य है कि ज्ञानके साथ अज्ञानका मिश्रण साराका सारा विनष्ट कर दिया जाय; शक्तियोंके संघर्ष द्वारा कार्य और क्रमविकासके स्थानपर शक्तियोंके सामंजस्य द्वारा कार्य और क्रमविकास हों : परन्तु इस भूमिका-तक केवल तव पहुँचा जा सकता है जबकि एक अन्तिम संघर्ष हो जाय और ज्योति एवं ज्ञानकी शक्तियां अज्ञानकी शक्तियोंको पराभूत कर दें। सत्ताके नीचेके स्तरोंमें, हृदय, प्राण तथा देहमें वही व्यापार फिरसे होता है, और अधिक तीव्र मात्रामें होता है; कारण, यहाँ भावोंसे नहीं, अपितु निम्नतर प्रकृतिके संवेगों, कामनाओं, प्रवृत्तियों, संवेदनों, प्राणिक आवश्यकताओं और अभ्यासोंका सामना करना होता है; चूंकि ये भावों-की अपेक्षा कम सचेतन हैं, अतः इनका प्रत्युत्तर अधिक अन्धा होता है, ये अधिक हठी रूपमें स्व-प्रतिठापक होते हैं : सबमें प्रतिरोध और प्रत्या-वर्तनका वही या अधिक बल रहता है, या वे परिचेतन विश्वप्रकृतिमें, या हमारे ही अवर स्तरोंमें, या अवचेतनमें बीजावस्थामें शरण लेते हैं और वहांसे नया आक्रमण करने या पुनः उमड़ आनेका बल उनमें रहता है। प्रकृतिमें स्थापित वस्तुओंका स्थायित्व, प्रत्यावर्तन और प्रतिरोधका यह बल सदा वह महती बाधा रहा है जिसका सामना क्रमविकासिका शक्तिको करना होता है, जिसकी रचना वस्तुतः उसीने एक अति द्रुत रूपान्तरको रोकनेके लिये की है जबकि साथ ही वह रूपान्तर वस्तुओंके अन्दर उसका अन्तिम अभिप्राय भी है।

यह बाधा यद्यपि प्रगतिशील रूपसे क्षीण होती जा सकती है तथापि वह इस महत्तर आरोहणके प्रत्येक पर्वमें रहेगी। उच्चतर ज्योतिको पर्याप्त प्रवेश और क्रिया-शक्तिका अवकाश देने मात्रके लिये यह आवश्यक है कि प्रकृतिकी प्रशान्तिके लिये सामर्थ्य अर्जित किया जाय, मन और हृदय, प्राण और देहको स्थिर किया जाय, प्रशान्त किया जाय, उनमें एक वशीभूत निष्क्रियता या पूरी नीरवता भी प्रतिष्ठित की जाय : परन्तु ऐसा होने पर भी, विश्वव्यापी अज्ञानकी शक्तिमें प्रकट और अनु-भूत रूपसे, या व्यक्तिकी मानसिक गठनकी सत्त्व-ऊर्जामें, उसके प्राणिक रूपमें, उसके जड़तत्त्वसे बने शरीरमें, अवगूढ़ और अव्यक्त रूपसे विरोध-का चलते रहना सदा सम्भव रहता है, अज्ञानमयी प्रकृतिकी नियंत्रित अथवा दमित ऊर्जाओंका कोई गुह्य प्रतिरोध या विद्रोह या पुनःप्रतिष्ठापनका

प्रयास सदा सम्भव है, और आधारमें कोई भी वस्तु यदि उन्हें सहमति देती हो तो वे ऊर्जाएँ पुनः आधिपत्य प्राप्त कर सकती हैं। अतएव, पहलेसे ही एक चैत्य नियंत्रणका स्थापन बहुत वांछनीय है, क्योंकि वह एक सामान्य संवेदनशीलताकी रचना करता और निम्नतर अंगोंको ज्योतिके विरुद्ध विद्रोह करने या अज्ञानके दावोंको अपनी सहमति देनेसे रोकता है। आरम्भिक आध्यात्मिक रूपान्तर भी अज्ञानके आधिपत्यको कम करेगा; किन्तु इनमेंसे कोई भी प्रभाव उसके विघ्न और परिसीमनका सर्वथा अन्त नहीं कर देता : कारण, ये आरम्भिक परिवर्तन सर्वांगीण चेतना तथा ज्ञान नहीं लाते; निर्ज्ञानका आद्य आधार जो कि निश्चेतनका आत्मीय है वहाँ फिर भी वर्त्तमान रहेगा, और हर मोड़पर उसे परिवर्तित करने, आलोकित करने, उसके प्रसार और उसकी प्रतिक्रिया-शक्तिको खर्व करनेकी आवश्यकता रहेगी। आध्यात्मिक 'उच्चतर मन' और उसकी भाव-शक्तिका बल हमारी मानसतामें प्रवेश करनेसे अवश्य ही परिवर्तित और ह्रसित होता है और वह इन सारे विघ्नोंको हटा डालने और विज्ञानमयी सत्ताकी सृष्टि करनेके लिये अपर्याप्त रहता है, किन्तु वह एक प्रथम परिवर्तन, एक संशोधन कर सकता है जो एक उच्चतर आरोहण और एक अधिक सशक्त अवतरणके लिये सामर्थ्य देगा और, इसके अतिरिक्त, चेतना तथा ज्ञानकी एक महत्तर शक्तिमें सत्ताके समाकलनकी तैयारी करेगा।

यह महत्तर शक्ति 'आलोकित मन'की है जो अब उच्चतर 'विचार'का मन नहीं रह गया है, वरन् आध्यात्मिक ज्योतिका है। यहाँ आध्यात्मिक बुद्धिकी स्वच्छता, उसकी प्रशान्त दिवा-दीप्ति, अध्यात्म-तत्त्वकी एक तीव्र द्युतिको, अध्यात्म-तत्त्वकी एक भास्वरता और ज्योतिको स्थान देती या अपने-आपको उसके अवस्तन कर देती है : आध्यात्मिक सत्य एवं शक्तिके विद्युतोंकी एक क्रीड़ा चेतनामें ऊपरसे आ छूटती और प्रशान्ति तथा व्यापक आलोकीकरण और शान्तिके विशाल अवतरणके अलावा जो कि विशालतर धारणात्मक-आध्यात्मिक तत्त्वकी क्रियाके वैशिष्ट्य या उसके सहचर होते हैं, उपलब्धिका एक ज्वलन्त उत्साह और ज्ञानका एक महा आनन्दोल्लास जोड़ देती है। एक अन्तर्दृश्य ज्योतिका अभिवर्षण बहुत सामान्यतः इस क्रियापर आच्छादित हो जाता है; कारण, यह ध्यान देनेकी बात है कि हमारी सामान्य धारणाओंके विपरीत, ज्योति प्रथमतः कोई भौतिक सृष्टि नहीं है और आन्तरिक आलोकीकरणके साथ ज्योतिका जो बोध

या दर्शन होता है, वह कोई विषयिनिष्ठ दृष्टिमें आता प्रतिरूप या कोई प्रतीकात्मक दृश्य मात्र नही : ज्योति प्रथमतः आलोककारिणी और सृजनशीला 'दिव्य सद्वस्तु'की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति है; भौतिक ज्योति उस ज्योतिका जड़ 'ऊर्जा'के प्रयोजनोंके निमित्त, जड़में बादका एक प्रतिरूपायण या रूपान्तरण है। इस अवतरणमें आन्तरिक शक्ति तथा वीर्यके एक महत्तर क्रियाबल, एक हिरण्मय प्रवेग, एक ज्योतिर्मय उत्साहका आगमन होता है, जिससे 'उच्चतर मन'की अपेक्षतया धीमी और क्रमिक प्रक्रियाका स्थान द्रुत रूपान्तरका एक क्षिप्र, कभी-कभी उग्र, यहाँ तक कि एक रुद्र-संवेग ले लेता है।

'आलोकित मन' प्रमुखतः कार्य करता है दृष्टिशक्ति द्वारा, न कि विचार द्वारा; विचार यहाँ दृष्टिको व्यक्त करनेके लिये केवल एक गौण क्रिया होता है। मानवीय मन प्रधानतः विचारपर निर्भर करता है और उसकी यह धारणा होती है कि विचार ही ज्ञानकी उच्चतम अथवा प्रधान प्रक्रिया है; परन्तु आध्यात्मिक क्रममें विचार एक गौण प्रक्रिया है, अपरिहार्य नहीं। हम उसके उस रूपको लें जिसमें वह वांङमय विचार होता है तो उसका वर्णन लगभग यह कहकर किया जा सकता है कि वह अज्ञानको ज्ञान द्वारा दी गई एक छूट है, क्योंकि वह अज्ञान सार्थक ध्वनियोंकी स्पष्टकारिणी सुनिश्चितिके सहारेके अलावा किसी और विधिसे सत्यको उसके समूचे विस्तारमें और उसके बहुविध गूढ़ार्थों सहित अपने लिये पूरा प्रांजल और बोधगम्य करनेमें असमर्थ है; इस उपायके बिना वह भावोंको ठीक-ठीक रूपरेखा और अभिव्यंजक शरीर नहीं दे सकता। परन्तु यह स्पष्ट है कि यह एक उपाय, एक साधन-यंत्र ही है; विचार अपने-आपमें, चेतनाके उच्चतर स्तरोंपर अपने मूलमें, एक प्रत्यक्ष ज्ञान है, विषयको या वस्तुओंके किसी सत्यको संबोधात्मक पकड़में लेना है, और यह आध्यात्मिक दृष्टिका एक सबल, किन्तु फिर भी एक अप्रधान और गौण परिणाम है, आत्माका आत्मापर, विषयीका अपने-आपपर या अपने-आपके किसी अंशपर विषयरूपमें अपेक्षतया एक बाह्य और अगम्भीर अवलोकन है : कारण, वहाँ सब कुछ आत्माका विविधत्व और बहुत्व है। मनमें किसी दृष्ट या आविष्कृत वस्तु, तथ्य या सत्यके सम्पर्कके सम्बन्धमें प्रत्यक्षणका एक बहिस्तलीय प्रत्युत्तर होता है और परिणाममें उसका एक प्रत्ययात्मक रूपायण होता है; परन्तु आध्यात्मिक ज्योतिमें चेतनाका सत्त्व ही एक गभीरतर प्रत्यक्षणका प्रत्युत्तर देता

है और उस सत्त्वके अन्दर एक अवधारक रूपायण होता है, सत्ताके उपादानमें उसका एक यथातथ्य आकार अथवा प्रकटनकारी भाव-लेखाचित्र आता है,—इस विचारात्मक ज्ञानकी परिशुद्धि और सम्पूर्णताके लिये और कुछ भी आवश्यक नही होता, वाङमय प्रतिरूपायणकी आवश्यकता नहीं होती। विचार सत्यकी एक प्रातिनिधिक प्रतिमाका सृजन करता है; वह उसे मनको ऐसे साधनके रूपमें देता है जिससे वह सत्यको ग्रहण कर सके और उसे ज्ञानका विषय बना सके। परन्तु गभीरतर आध्यात्मिक दृष्टिके सूर्य-प्रकाशमें तो सत्यका शरीर ही पकड़में आ जाता और ठीक-ठीक गृहीत रहता है; विचारकी रची हुई प्रातिनिधिक आकृति उसके सामने गौण और अ-मौल होती है, वह ज्ञानके संचारके लिये तो सबल होती है, किन्तु ज्ञान-ग्रहण अथवा ज्ञान-धारणके लिये अपरिहार्य नही।

दृष्टि द्वारा चालित होनेवाली चेतना, ऋषिकी, द्रष्टाकी चेतना, ज्ञानके लिये विचारककी चेतनासे एक अधिक बड़ी शक्ति है। अन्तर्दृष्टिकी प्रत्यक्ष ज्ञानकी शक्ति विचारकी प्रत्यक्षज्ञानकी शक्तिसे महत्तर और अधिक अव्यवहित है : वह एक आध्यात्मिक इंद्रिय है जो सत्यकी आकृतिको ही नहीं, उसके सत्त्वके किसी अंशको भी पकड़ती है; परन्तु वह उसकी आकृतिकी रूपरेखा भी देती है और साथ ही उस आकृतिका अर्थ भी पकड़ती है, और वह सत्यको विचार-धारणाकी अपेक्षा एक सूक्ष्मतर और स्पष्टतर प्रकटनकारी रूपरेखा और समग्रताके एक विशालतर अवधारण तथा बलके साथ मूर्त कर सकती है। जैसे उच्चतर मन आध्यात्मिक भाव और उसकी सत्यकी शक्तिके द्वारा सत्ताके अन्दर एक नयी चेतना लाता है, वैसे ही आलोकित मन एक सत्य-दृष्टि और सत्य-ज्योति और उसकी दर्शिका तथा ग्राहिका शक्तिके द्वारा एक और भी महत्तर चेतना लाता है। वह एक अधिक सबल और सक्रिय समाकलन सम्पादित कर सकता है; वह विचारात्मक मनको एक सीधी अन्तर्दृष्टि और प्रेरणासे आलोकित करता, हृदयको आध्यात्मिक चक्षु देता और उसके अनुभव तथा भावोच्छ्वासमें एक आध्यात्मिक प्रकाश और ऊर्जा लाता, प्राण-शक्तिको एक आध्यात्मिक प्रेरणा, एक सत्य-प्रेरणा देता है जो कर्मको सबल और जीवन-गतियोंको उन्नीत करती है; वह इन्द्रियोंमें आध्यात्मिक संवेदनकी एक अपरोक्ष और समग्र क्षमता उँडेलता है जिससे हमारी प्राणिक और शारीरिक सत्ताका सकल वस्तुओंमें भगवान्के साथ

सम्पर्क और मिलन ठोस रूपमें हो सकता है, बिलकुल उस तीव्रताके साथ हो सकता है जो मन और हृदयकी धारणा, अनुभूति और भावनाकी हो सकती है; स्थूल मनपर वह एक रूपान्तरकारिणी ज्योति डालता है जो उसकी सीमाओंको, उसकी रूढ़ तामसिकताको भग्न करती, उसकी संकीर्ण विचार-शक्ति और उसके सन्देहोंके स्थानपर दृष्टि-शक्तिको ले आती और शरीरके कोषाणुओंमें भी ज्योतिर्मयता और चेतना उँडेल देती है। उच्चतर मनके द्वारा होनेवाले रूपान्तरमें अध्यात्म-ज्ञानी और मनीषीको अपनी समग्र और क्रियावंत परिपूर्ति मिलेगी, आलोकित मन द्वारा होनेवाले रूपान्तरमें वैसी ही परिपूर्ति ऋषिको, आलोकप्राप्त रहस्य-साधकको मिलेगी, उनको मिलेगी जिनका अन्तरात्मा दृष्टिसम्पन्नता, प्रत्यक्ष बोध तथा अनुभवमें निवास करता है : कारण, उन्हें अपना प्रकाश इन्ही उच्चतर स्रोतोंसे मिलता है और उस ज्योतिमें उठ जाना और वहाँ निवास करना उनका अपने स्वदेश-साम्राज्यमें आरोहण कर जाना होगा।

परन्तु आरोहणके ये दोनों पर्व एक तीसरे स्तरसे सम्बन्ध रखकर ही अपने अधिकारका भोग करते और अपनी स्वीय संयुक्त सम्पूर्णताको पा सकते है; कारण, जिन उच्चतर शिखरोंपर संबोधिमयी सत्ता रहती है वहींसे वे उस ज्ञानका आहरण करते हैं जिसे वे विचार या दृष्टिमें बदल देते और मनके रूपान्तरणके लिये हमारे पास नीचे ले आते हैं। संबोधि चेतनाकी वह शक्ति है जो तादात्म्यजनित आद्य ज्ञानके अधिक समीप और अधिक अन्तरंग है; कारण, वह सदा ही कोई ऐसी वस्तु होती है जो सीधे एक निगूढ़ तादात्म्यमेंसे उच्छलित होती है। जब विषयीकी चेतना विषयके अन्दरकी चेतनासे मिलती, उसमें अन्तःप्रविष्ट होती, और जिसके साथ सम्पर्क किया है उसके सत्यको देखती, अनुभव करती या उससे स्पन्दित होती है, तभी संबोधि उस संगमके आघातसे चिनगारी अथवा विद्युत्-चमककी तरह उच्छलित होती है; या जब चेतना, किसी ऐसे संगमके बिना भी, अपने अन्दर देखती है और वहाँ विद्यमान सत्य या सत्योंका साक्षात् और अन्तरंग अनुभव करती या इस भाँति प्रतीयमान रूपोंके पीछे प्रच्छन्न शक्तियोंके साथ सम्पर्क करती है, तब भी एक संबोधिमूलक प्रकाश फूट उठता है; या, फिर, जब चेतना-का परम सद्वस्तुसे या वस्तुओं और प्राणियोंकी आध्यात्मिक सत्यतासे मिलना होता है और उसके साथ साम्पर्किक ऐक्य होता है, तब सत्यके अन्तरंग प्रत्यक्षणकी चिनगारी, चमक या लपट उसकी गहराइयोंमें प्रज्व-

लित होती है। यह घनिष्ठ प्रत्यक्षण दृष्टिकी अपेक्षा, धारणाकी अपेक्षा अधिक कुछ है : यह एक अन्तर्वेधी और प्रकटनकारी स्पर्शका परिणाम होता है जो दृष्टि और धारणाको अपने ही अंग अथवा अपने स्वाभाविक परिणामकी तरह अपने अन्दर लिये चलता है। एक गुप्त या सुप्त तादात्म्य, जो अभी तक पुनः जागा नहीं है, फिर भी अपनी स्वीय अन्तर्वस्तुओंको और वस्तुओंके प्रति अपनी स्व-भावना और स्व-दृष्टिकी अन्तरंगताको, अपनी सत्य-ज्योतिको, अपने अभिभूतकारी और स्वयंसिद्ध नैश्चित्यको संबोधिके द्वारा स्मरण रखता या संचारित करता है।

मानव-मनमें भी संबोधि ऐसी सत्य-स्मृति या ऐसा सत्य-संचार होती है या ऐसी उद्भासिका चमक या लपट होती है जो अज्ञानके महापुंजमें या निर्ज्ञानके आवरणके बीचसे फूट उठती है। परन्तु हम यह देख चुके हैं कि वहाँ वह आक्रमणकारी मिश्रणके नीचे आ जाती है या उस पर मानसिक लेप लग जाता या उससे बीचमें ही छेड़छाड़ की जाती है और उसके स्थान पर कुछ और बैठा दिया जाता है; वहाँ भ्रान्त अर्थ लगानेकी भी एक बहुविध सम्भावना रहती है जो उसकी क्रियाकी विशुद्धता तथा परिपूर्णतामें बाधा होकर आती है। इसके अतिरिक्त, सत्ताके सारे स्तरोंपर प्रतीयमान संबोधि-स्फुरण होते हैं जो संबोधि न होकर बल्कि संदेश-संचार होते हैं, और उनके उद्गम, मूल्य और स्वभाव बहुत विभिन्न होते हैं। वह अवयौक्तिक व्यक्ति जो अपने-आपको रहस्यपन्थी कहता है,—वस्तुतः सच्चा रहस्यपन्थी होनेके लिए यह पर्याप्त नहीं कि युक्ति-बुद्धिको निषिद्ध किया जाय और विचार अथवा कर्मके ऐसे उत्सोंपर निर्भर किया जाय जो हमारी समझमें न आते हों,—प्रायः प्राणिक स्तर-पर किसी अँधियारे और संकटमय स्रोतसे आनेवाले ऐसे संदेश-संचारोंसे प्रेरित होता है। इन परिस्थितियोंमें हम प्रमुखतः युक्ति-बुद्धिपर निर्भर करनेको बाध्य होते हैं और हम इस ओर भी प्रवण होते हैं कि संबोधिके संकेतोंको,—या कहें मिथ्या-संबोधिके संकेतोंको, क्योंकि वही व्यापार अधिक प्रायः होता है,—प्रेक्षिका और विवेकशीला बुद्धिसे नियंत्रित करें; कारण, हम अपने बौद्धिक भागमें यह अनुभव करते हैं कि हमें अन्यथा यह निश्चय नहीं हो सकता कि सच्ची वस्तु कौन सी है, मिश्रित या खोट-युक्त वस्तु कौन सी है, सच्चीका स्थान ले लेनेवाली मिथ्या वस्तु कौन सी है। परन्तु इससे संबोधिकी उपादेयता हमारे लिये बहुत घट जाती है : कारण, युक्ति-बुद्धि इस क्षेत्रमें विश्वासनीय पंच नहीं है, क्योंकि

उसकी पद्धतियाँ भिन्न हैं, परीक्षणात्मक हैं, अनिश्चित हैं, एक बौद्धिक खोज है। यद्यपि युक्ति-बुद्धि वस्तुतः स्वयं भी अपने निष्कर्षोंके लिये एक छद्मवेशिनी संबोधिपर आश्रित है,—कारण, उस सहायताके बिना वह अपना मार्ग नहीं चुन सकेगी या किसी निश्चित निष्कर्षतक नहीं पहुँच सकेगी,—तथापि वह अपनी इस आश्रितताको एक युक्ति-कृत निष्कर्ष अथवा परीक्षित अनुमानकी प्रक्रियाके तले अपने-आपसे छिपा लेती है। युक्ति-बुद्धिके न्यायालयकी आलोचनासे निकली हुई संबोधि संबोधि नहीं रह जाती और उसे केवल युक्ति-बुद्धिका अधिकार प्राप्त हो सकता है जिसके लिये सीधी निश्चितिका कोई आन्तरिक उत्स नहीं होता। परन्तु मन यदि अपने अन्दर उस उच्चतर क्षमताके अंशपर निर्भर कर प्रमुखतः संबोधिमूलक मन हो भी जाय, तो भी उसके प्रत्ययों और उसकी पृथग्भूत क्रियाओंके बीचका सहयोजन—मनमें सदैव इनके अपूर्ण रूपसे ही संबद्ध चमकोंके धाराक्रमकी तरह प्रकट होनेकी सम्भावना रहनेके कारण—तब तक कठिन रहेगा जब तक कि इस नयी मानसताका अपने अति-यौक्तिक उत्ससे सचेतन सम्पर्क न हो जाय या वह स्वयं ही उत्थित होकर चेतनाकी उस उच्चतर भूमिपर न पहुँच सके जहाँ संबोधिमूलक क्रिया विशुद्ध और सहजात है।

संबोधि सदा ही एक श्रेष्ठतर ज्योतिका किनारा या रश्मि या विच्छु-रण होती है; हममें वह उस दूरवर्तिनी अतिमानसिक ज्योतिकी प्रक्षिप्त होती धार, किनारा या बिन्दु होती है जो हमारे ऊपरके किसी मध्यवर्ती सत्यात्मक मनकी धातुमें प्रवेश करती और उसके द्वारा परिवर्तित होती है, और फिर, इस भाँति परिवर्तित होकर, हमारी सामान्य या अज्ञानमयी मनःधातुमें प्रवेश करती और उससे बहुत ही आच्छन्न हो जाती है। परन्तु उस उच्चतर स्तरपर जो कि उसका स्वधाम है, उसकी ज्योति अमिश्र और फलतः सम्पूर्ण तथा विशुद्ध रूपसे सत्यात्मिका है, और उसकी किरणें पृथक हुई नहीं रहतीं, वरन् हम जिसे संस्कृतके काव्य-रूपकके अनुसार लगभग "स्थिरा सौदामिनी" का पुंज अथवा सिंधु कह सकते हैं उसकी तरंगोंकी क्रीड़ामें संबद्ध या पुंजीभूत रहती हैं। जब इस आद्या अथवा सहजात संबोधिके स्तरतक हमारी चेतनाके आरोहणके प्रत्युत्तर-स्वरूप अथवा हमें उसके साथ विनिमयके एक साफ मार्गकी प्राप्ति होनेके परिणाम-स्वरूप वह संबोधि हमारे अन्दर उतरना शुरू करती है, तो वह इक्की-दुक्की या सतत क्रियाशील विद्युत्-चमकोंकी

क्रीड़ाकी तरह आना चालू रख सकती है; परन्तु इस स्थितिमें बुद्धिका निर्णय सर्वथा अप्रयोज्य हो जाता है, बुद्धि केवल ऐसे दर्शक अथवा पंजीयककी तरह कार्य कर सकती है जो उच्चतर शक्तिके अधिक ज्योतिर्मय संकेतों, निर्णयों और विवेचनाको समझता या लिपिवद्ध करता हो। किसी एकाकी संबोधिकी आपूर्ति या उसके सत्यकी परीक्षा करनेके लिये, या उसके स्वरूप, उसके प्रयोग, उसकी सीमाओंका विवेक करनेके लिये ग्राही चेतनाको एक अन्य आपूरिका संबोधिपर निर्भर करना या एक पुंजीभूत संबोधिको उतरनेके लिये आह्वान करना होगा जो सबको यथास्थान रखनेमें सक्षम हो। कारण, जब एक बार परिवर्तनकी प्रक्रिया शुरू हो गयी, तो मनके उपादान और क्रियाओंका संबोधिके सत्त्व, रूप और शक्तिमें रूपान्तरण अनिवार्य हो जाता है। तब तक और जब तक चेतनाकी प्रक्रिया संबोधिकी सेवा करने या उसे बाहर आनेमें सहायता देने या उसका उपयोग करनेके लिये निम्नतर बुद्धिपर निर्भर करती है, परिणाम केवल मिश्र ज्ञानाज्ञानका टिका रहना हो सकता है जिसके ज्ञान-मार्गोंमें क्रिया करती एक उच्चतर ज्योति तथा शक्ति उसे उन्नीत या प्रशमित करती हो।

संबोधिकी शक्ति चतुर्विध है। एक शक्ति है सत्यके साक्षात्कारकी, सत्य-दर्शनकी, एक शक्ति है अनुप्रेरणा अथवा सत्य-श्रुतिकी, एक शक्ति है सत्य-स्पर्श अथवा अर्थके प्रत्यक्ष ग्रहणकी,—हमारी मानसी बुद्धिमें संबोधिके हस्तक्षेपका सामान्य रूप इसीका सजातीय रहता है,—एक शक्ति है सत्यके साथ सत्यके व्यवस्थित और यथातथ्य सम्बन्धके सच्चे और स्वतःस्फूर्त विवेककी,—ये संबोधिकी चतुर्विध अन्तर्निहित शक्तियाँ हैं। अतएव संबोधि बुद्धिके सारे कार्य सम्पादित कर सकती है—इनमें तार्किक बुद्धिका कार्य भी सम्मिलित है जो कि वस्तुओंका सही सम्बन्ध और भावके साथ भावका सही सम्बन्ध स्थापित करना है,—किन्तु इन्हें वह करती है अपनी ही श्रेष्ठतर प्रक्रिया और अचूक या स्थिर डगोंसे। वह विचारात्मक मनको ही नहीं, हृदय और प्राण, इन्द्रिय और शारीरिक चेतनाको भी ऊपर उठाती और अपनी स्वधातुमें रूपान्तरित करती है। इन सबको निगूढ़ ज्योतिसे निःसृत अपनी-अपनी संबोधिकी विशिष्ट शक्तियाँ पहलेसे प्राप्त हैं; ऊर्ध्वसे अवतरित होती विशुद्ध शक्ति इन सबको अपने अन्दर धारण कर सकती और हृदय तथा प्राणके इन गभीरतर प्रत्यक्षणों और शरीरके स्वतःबोधोंमें एक महत्तर सर्वांगीणता और पूर्णता

ला सकती है। वह इस प्रकार समूची चेतनाको संबोधिकी वस्तुमें परिवर्तित कर दे सकती है; कारण, वह इच्छामें, भावनाओं और भावावेगोंमें, प्राणावेगोंमें, इन्द्रिय और संवेदनकी क्रियामें, वस्तुतः शरीर-चेतनाकी क्रियाओंमें भी अपनी स्वीय, महत्तर, कान्तिमयी गतिविधिको ले आती है; उन्हें वह सत्यकी ज्योति तथा शक्तिमें फिरसे गढ़ती है और उनके ज्ञान तथा उनके अज्ञानको आलोकित करती है। इस प्रकार एक समाकलन घटित हो सकता है, परन्तु वह समाकलन समग्र हुआ या नहीं, यह अवश्य ही इसपर निर्भर करेगा कि वह नयी ज्योति किस दूरीतक अवचेतनको हाथमें ले सकी और मूलभूत निश्चेतनाके अन्तरमें अन्तर्वेधन कर सकी है। यहाँ संबोधिकी ज्योति एवं शक्तिको अपने कार्यमें बाधा मिल सकती है, क्योंकि वह एक प्रातिनिधिक तथा परिवर्तित अतिमानसका किनारा होती है, तादात्म्यजनित ज्ञानके समूचे पुंज या शरीरको अन्दर नहीं लाती। हमारी प्रकृतिमें निश्चेतनाका आधार इतना अधिक बृहत्, गहरा और ठोस है कि वह 'सत्यमयी प्रकृति'की किसी निम्नतर शक्तिसे सर्वथा अनुविद्ध नहीं हो सकता, ज्योतिमें परिणत नहीं हो सकता, रूपान्तरित नहीं हो सकता।

आरोहणका अगला डग हमें अधिमानसतक ले जाता है; संबोधिमय परिवर्तन इस उच्चतर आध्यात्मिक उन्मेषके लिये एक भूमिका ही हो सकता है। परन्तु हम देख चुके हैं कि जब अधिमानस अपनी क्रियामें समग्रात्मक नहीं होकर वरणशील ही होता है, तब भी वह विश्वचेतनाकी ही वह शक्ति, विश्वमंडलीय ज्ञानका ही वह तत्त्व रहता है जिसमें अतिमानसिक विज्ञानकी प्रातिनिधिक ज्योति रहती है। अतः विश्वचेतनामें उन्मीलित होनेसे ही अधिमानसिक आरोहण तथा अवरोहणको सम्पूर्णतया सम्भव किया जा सकता है : ऊर्ध्वकी ओर उच्च और तीव्र वैयक्तिक उन्मीलन ही पर्याप्त नहीं होता,—शिखरकी ज्योतिकी ओर उस ऊर्ध्वाधर आरोहणके साथ 'अध्यात्म-सत्ता'की किसी समग्रतामें चेतनाके एक वृहत् दिगंतव्यापी विस्तारको भी जोड़ना होगा। कमसे कम, यह तो आवश्यक है ही कि आन्तरिक पुरुष बहिस्तलीय मन और उसके परिसीमित दृष्टिकोणके स्थानपर अपनी गभीरतर और बृहत्तर संवित्को प्रतिष्ठित कर चुका हो और एक विशाल विश्वभावमें रहना सीख चुका हो; कारण, अन्यथा, अधिमानसिक दृष्टि और अधिमानसिक क्रियाशक्तिको अन्दर चले आने और अपनी सचल क्रियावलि सम्पादित करनेको ठौर नहीं प्राप्त

होगा। जब अधिमानस अवतरित होता है तब केन्द्रणकारी अहं-भावका प्रधानाधिपत्य पूरा अधीनस्थ हो जाता, सत्ताकी विशालतामें खो जाता और अन्तमें विनष्ट हो जाता है; उसके स्थानपर एक विशाल विश्वदृष्टि और एक असीम विश्वात्मा तथा विश्वगतिधाराकी अनुभूति आती है। बहुत सारी वे गतियाँ जो पहले अहं-केन्द्रित थी फिर भी चालू रह सकती हैं, परन्तु वैश्व वृहत्तामें धाराओं या हल्की तरंगोंकी नाईं आती हैं। तब विचार, अधिकांशतः, शरीर या व्यक्तिमें वैयक्तिक रूपसे उत्पन्न होता नही लगता, अपितु ऊर्ध्वसे अभिव्यक्त होता या वैश्व मानस-लहरोंके साथ अन्दर आता है : तब विषयोंपर व्यक्तिकी सारी आन्तरिक दृष्टि, उसका सारा विषय-अवबोध, जो देखा गया है या जिसे अवधारणामें लिया गया है उसका एक साक्षात्-दर्शन या उद्भास होता है, परन्तु उस साक्षात् दर्शनका उद्गम उसके अपने पृथक् आत्मामें नहीं, वैश्व ज्ञानमें होता है; अनुभव, भावोच्छ्वास और संवेदनका भी वैसे ही इस प्रकार बोध होता है मानों वे उसी वैश्व विपुलतासे आती लहरें हैं जो सूक्ष्म और स्थूल शरीरपर टूटती हैं और विश्वसत्ताका वैयक्तिक केन्द्र उन्हें एक विशिष्ट रूपसे उत्तर देता है; कारण, वृहत् वैश्व साधनकी क्रियाके लिये शरीर एक छोटा सा अवलम्ब या, उससे भी कम, एक सम्बन्ध-बिन्दु ही है। इस असीम वृहत्तामें, पृथक् अहं ही नहीं, अपितु वैयक्तिकताका, एक गौण कर दी गई या उपकरण-रूपिणी वैयक्तिकताका भी सारा बोध पूरा विलुप्त हो जा सकता है; विश्वव्यापिनी सत्ता, विश्वव्यापिनी चेतना, विश्वव्यापी आनन्द, विश्वव्यापिनी शक्तियोंकी क्रीड़ा, केवल ये ही बची रहती हैं। जो पहले व्यक्तिगत मन, प्राण या शरीर था, उसमें यदि आनन्द या शक्ति-केन्द्रका अनुभव होता है तो यह व्यक्तित्व-भावसे नहीं, अपितु अभिव्यक्ति-क्षेत्रके रूपमें अनुभूत होता है, और आनन्द या शक्ति-क्रियाका यह बोध केवल व्यक्ति और शरीरतक सीमित नहीं रहता, अपितु एक सर्वव्यापी असीमित एकत्वकी चेतनामें सभी बिन्दुओंपर अनुभूत हो सकता है।

परन्तु अधिमानसिक चेतना और अनुभवके अनेक रूपायण हो सकते हैं; कारण, अधिमानसमें बड़ी नमनीयता है और वह बहुतेरी सम्भावनाओं-का क्षेत्र है। केन्द्रविहीन और नियत स्थानसे विहीन विसरणके स्थानपर यह बोध हो सकता है कि विश्व हममें है या हम ही विश्व हैं : परन्तु तब भी वह 'हम' अहं नहीं होता; वह एक मुक्त एवं शुद्ध स्वरूपगत आत्म-

चेतनाका विस्तरण अथवा 'सर्व'के साथ एक तादात्म्यकरण होता है—इस विस्तरण अथवा तादात्म्यकरणसे एक विश्वपुरुष, एक विश्वव्यक्ति बनता है। विश्वचेतनाकी एक ऐसी स्थिति है जिसमें व्यक्ति विश्वमें समाविष्ट रहता है, किन्तु वह उसमें सबके साथ, वस्तुओं और प्राणियोंके साथ, दूसरोंके विचार और संवेदन, हर्ष और शोकके साथ एकात्म होता है; एक दूसरी स्थिति है जिसमें अन्य सत्ताओंका हमारे अन्दर समावेश होता है और हमारी स्व-सत्ताके अंगके रूपमें उनके जीवनकी एक सत्यता होती है। प्रायः उस विराट् गतिपर कोई नियम या शासन नहीं रहता, वरन् विश्वप्रकृतिकी मुक्त क्रीड़ा होती है जिसे, जो पहले वैयक्तिक सत्ता थी, वह एक निष्क्रिय स्वीकृति या एक सक्रिय तादात्म्यसे प्रत्युत्तर देती है, जबकि अध्यात्म-पुरुष फिर भी इस निष्क्रियता या इस वैश्व और निर्व्यक्तिक तादात्म्य तथा सहानुभूतिकी प्रतिक्रियाओंके हर बन्धनसे मुक्त और निर्विकार रहता है। परन्तु यदि अधिमानसका प्रभाव सबल हो या उसकी क्रिया परिपूर्ण, तो ऐसा एक बहुत ही सर्वांगीण बोध हो सकता है कि एक शासन है, सर्वाधार या सर्वाधिशासक विश्वात्मा या ईश्वर अन्तरमें स्थित है और निर्देशन कर रहा है, और यह बोध स्वाभाविक बोध बन जा सकता है; या कोई विशेष केन्द्र प्रकट या सृष्ट किया जा सकता है जो शारीरिक उपकरणसे सर्वथा ऊपर रहता हो और उसपर आधिपत्य रख सकता हो, अस्तित्वके तथ्य-रूपमें वैयक्तिक, परन्तु भावनामें निर्व्यक्तिक हो और जिसे निर्बन्ध ज्ञान विश्वातीत तथा विश्वव्यापी पुरुषकी क्रियाके लिए उपकरण मानता हो। अतिमानसकी ओर संक्रमणमें यह केन्द्रणकारी क्रिया मृत अहंका स्थान लेनेवाले सच्चे व्यक्तिका, एक ऐसे जीवका आविष्कार करनेकी ओर प्रवृत्त होती है जो अपने सारमें परमात्माके साथ एक है, विस्तारमें विश्वके साथ एक है और फिर भी 'अनन्त'की विशिष्ट क्रियाका एक वैश्व केन्द्र और परिधि है।

ये प्रथम सामान्य परिणाम हैं और विकसित आध्यात्मिक सत्तामें अधिमानसी चेतनाकी स्वाभाविक नींवकी रचना करते हैं, परन्तु उसके वैविध्य और विकास-परिणाम असंख्य हैं। इस प्रकार क्रिया करती चेतना-के विषयमें यह अनुभूति होती है कि वह ज्योति एवं सत्यकी चेतना है, ज्योति एवं सत्यसे परिपूर्ण वीर्य, शक्ति, क्रिया है, सौन्दर्य तथा आनन्दका सर्वगत और बहुल अंग-प्रत्यंगी रसबोध और संवेदन है, समग्रमें और सकल वस्तुओंमें, उस एक गति और सकल गतियोंमें प्रभासन

है, और उसका प्रसरण अजस्र है, उसकी सम्भावनाओंकी लीला अनन्त है, वह अपनी निर्देशनाओंकी बहुसंख्यकतामें भी अनन्त और अनिर्देश्य है। यदि व्यवस्थाकारी अधिमानसिक विज्ञानकी शक्ति हस्तक्षेप करती है तो चेतना तथा क्रियाकी एक वैश्व निर्मिति होती है, किन्तु वह अनम्य मानसिक निर्मितियों जैसी नहीं होती; वह नमनीय और जैव होती है, एक ऐसी वस्तु होती है जो अनन्ततकमें विकसित, वर्द्धित और विस्तृत हो सके। सारे आध्यात्मिक अनुभवोंका परिग्रहण किया जाता है और वे नवप्रकृतिके लिये अभ्यासगत और सामान्य हो जाते हैं; मन, प्राण और शरीरके सारे सारभूत अनुभव हाथमें लिये जाते और अध्यात्मभावापन्न तथा रूपान्तरित किये जाते हैं और उनका अनुभव अनन्त सत्‌की चेतना, आनन्द, शक्तिके रूपोंकी तरह किया जाता है। संबोधि, आलोकित दृष्टि और विचार परिवर्द्धित होते हैं; उनका सत्त्व अधिक सान्द्रता, संहति और ऊर्जा धारण करता है, उनकी गतिधारा अधिक व्यापक, विश्वमंडलीय, बहुमुखी होती है, उनकी सत्य-शक्ति अधिक विस्तीर्ण और सबल होती है : समग्र प्रकृति, ज्ञान, रसबोध, सहानुभूति, भावना, क्रियाधारा, अधिक सार्वभौम, सर्वबोधी, सर्वग्राही, विश्वव्यापी, अनन्त हो जाती हैं।

अधिमानसिक परिवर्तन सक्रिय आध्यात्मिक रूपान्तरकी अन्तिम सिद्धिकरी गतिधारा है; वह आध्यात्मिक मनकी भूमिपर 'अध्यात्म-तत्त्व'की उच्चतम सम्भव स्थिति-गतिमयता है। उससे नीचेकी तीन पैड़ियोंमें जो कुछ है उस सबको वह हाथमें लेता और उनकी विशिष्ट क्रियाओंको उनके उच्चतम तथा विशालतम वीर्यतक उठाता है, उनमें चेतना और शक्तिकी विश्वव्यापिनी विशालता, ज्ञानका स्वर-सामंजस्य, सत्ताका अधिक बहुविध आनन्द जोड़ता है। परन्तु कुछ ऐसे कारण है जो उसकी अपनी विशिष्ट स्थिति और शक्तिसे उद्भूत होते हैं और उसे आध्यात्मिक विकासधाराकी अन्तिम सम्भावना नहीं होने देते। वह अपरार्द्धकी ही शक्ति है, भले ही वह उसकी उच्चतम शक्ति क्यों न हो; यद्यपि उसका आधार विश्वव्यापी एकत्व है, उसकी क्रिया विभाजन और अन्योन्यक्रियाकी है, बहुत्वकी क्रीड़ापर आधारित क्रिया है। उसकी क्रीड़ा, 'मन' मात्रकी क्रीड़ाकी भाँति, सम्भावनाओंकी क्रीड़ा है और यद्यपि वह अज्ञानमें नहीं, अपितु इन सम्भावनाओंके सत्यके ज्ञानके साथ कार्य करता है, फिर भी उन्हें वह उनकी शक्तियोंके अपने-अपने स्वतंत्र विकास द्वारा कार्या-

न्वित करता है। प्रत्येक वैश्व विधानमें वह उसी विधानके मूलभूत अर्थके अनुसार कार्य करता है और किसी सक्रिय अतिक्रान्तिकी शक्ति नही होता। यहाँ, पृथ्वी-जीवनमे, उसे एक ऐसे वैश्व विधानपर कार्य करना होता है जिसका आधार वह सम्पूर्ण निर्ज्ञान है जो मन, प्राण और जड़का अपने उद्‌गम और परम मूलसे पार्थक्य होनेका परिणाम होता है। उस विभाजनको अधिमानस उस बिन्दुतक पाट सकता है जहाँ पृथक्कारी मन अधिमानसमें प्रवेश करता और उसकी क्रियाका अंग हो जाता है; वह वैयक्तिक मनको विश्वमनके साथ उसकी उच्चतम भूमिपर संयुक्त कर सकता, वैयक्तिक आत्माका विश्वात्माके साथ समीकरण कर सकता और हमारी प्रकृतिमें विश्वात्मकताकी क्रियाको ला सकता है; परन्तु वह मनको अपने-आपसे परे नहीं ले जा सकता, और इस आद्या निश्चेतनाके जगत्‌में वह विश्वातीतको सक्रिय नहीं कर सकता। वस्तुतः एकमात्र अतिमानस ही परमा आत्म-निर्देशिका सत्य-क्रिया है और उस विश्वातीतकी अभिव्यक्तिकी साक्षात् शक्ति है। अतः यदि क्रमविकासिका प्रकृतिका कार्य यही समाप्त हो जाय, तो चेतनाको एक बृहत् ज्योतिर्मयी विश्वात्मकता तक और अखंड सत्, चित्-शक्ति तथा आनन्दकी इस विशाल और सबल आध्यात्मिक संवित्‌की एक संगठित क्रीड़ातक ला चुकनेके बाद अधिमानस और भी आगे केवल तब जा सकता है जबकि 'अध्यात्म-तत्त्व'के द्वार परार्द्धकी ओर खोल दिए जायँ और जीवको अपने वैश्व रूपायणसे कूच कर विश्वातीततामें चले जानेमें समर्थ करनेवाली इच्छा हो।

फिर, पार्थिव क्रमविकासमें अधिमानसका अवतरण निश्चेतनाका समूचा रूपान्तर नहीं कर सकेगा; वह तो इतना ही कर सकेगा कि जिस किसी भी मनुष्यको वह स्पर्श करेगा उसकी समूची—आन्तरिक और बाह्य, व्यक्तिक और विश्वात्मक रूपसे निर्व्यक्तिक,—चेतन सत्ताको अपने स्व-सत्त्वमें रूपान्तरित करेगा और उसे अज्ञानपर आरोपित करेगा जिससे वह आलोकित हो कर वैश्व सत्य तथा ज्ञानमें प्रवेश करे। परन्तु निर्ज्ञान-का आधार रह जायगा; यह ऐसी बात होगी मानों कोई सूर्य और उसका ग्रह-मंडल देशके एक आद्य अन्धकारमें चमक उठें और जहाँतक उनकी किरणें पहुँच सकें प्रत्येक वस्तुको आलोकित कर दें जिससे कि जो कुछ प्रकाशमें रह रहा होगा वह ऐसा अनुभव करे कि उसके अस्तित्वा-नुभवमें अन्धकार कभी रहा ही नही। परन्तु अनुभवके इस क्षेत्र या

विस्तारके बाहर आद्य अन्धकार वहाँ फिर भी होगा, और चूँकि अधिमानसिक निर्मितिमें सब कुछ सम्भव है, वह अन्धकार अपने साम्राज्यके भीतर सृष्ट प्रकाश-द्वीपपर पुनः आक्रमण कर सकेगा। इसके अतिरिक्त, चूँकि अधिमानस विभिन्न सम्भावनाओंसे व्यवहार करता है, उसकी स्वाभाविक क्रिया एक या एकाधिक या बहुसंख्यक क्रियावंत आध्यात्मिक रूपायणोंकी पृथक् सम्भावनाको उनकी चरम सीमातक विकसित करने या कई सम्भावनाओंको एक साथ सम्मिलित या समंजस करनेकी होगी; परन्तु यह आद्या पार्थिव सृष्टिके मध्य एक या ऐसी अनेक सृष्टियाँ करना होगा जिनमें प्रत्येक सृष्टि अपने पृथक् अस्तित्वमे सम्पूर्ण होगी। विकसित आध्यात्मिक व्यक्ति वहाँ होगा; एक या अनेक आध्यात्मिक समुदाय भी मनोमय मानव और पशुकी प्राण-सत्ताके उसी जगत्मे विकसित हो सकते हैं, किन्तु उनमें प्रत्येक अपने-अपने स्वतंत्र अस्तित्वको पार्थिव सूत्रके अन्तर्गत एक शिथिल सम्बन्धमें कार्यान्वित कर रहा होगा। एकत्वके तत्त्वकी वह परम शक्ति, जो सारी विविधताओंको अपने अन्दर लिये होगी और उन्हें एकत्वके अंगोंकी भाँति नियंत्रित करेगी और जिसे नूतन विकास-चेतनाका धर्म होना ही चाहिये, वहाँ तब तक भी नहीं होगी। फिर, यह भी है कि इतने ही विकाससे निश्चेतनाके उस अधोमुख खिंचाव या गुरुत्वाकर्षणके सामने कोई सुरक्षितता नहीं हो सकेगी जो उसके अन्दर प्राण तथा मनकी निर्मित सारी रचनाओंका विलय कर देता है, उससे जो वस्तुएँ उद्‌गत होती या उसपर आरोपित की जाती हैं उन सबको निगल जाता और उन्हें उनकी आद्य वस्तुमें विघटित कर देता है। निश्चेतनाके इस खिंचावसे मुक्ति और अनवरत दिव्य या विज्ञानात्मक विकासक्रमके लिए एक सुरक्षित आधारकी प्राप्ति तभी हो सकेगी जबकि पार्थिव व्यवस्थाके अन्दर अतिमानसका अवतरण हो जो कि 'अध्यात्म-तत्त्व' के परम प्रकाश, धर्म और क्रियाबलको उसके अन्दर ले जाय और उसके साथ जड़ आधारकी निश्चेतनाके अन्दर प्रविष्ट हो जाय और उसे रूपान्तरित करे। अतः अधिमानससे अतिमानसकी ओर अन्तिम संक्रमण और अतिमानसका अवतरण क्रमविकासिका प्रकृतिके इस पर्वमें घटित होने ही चाहिए।

अधिमानस और उसकी प्रातिनिधिक शक्तियाँ मनको और मनपर निर्भर रहते प्राण तथा शरीरको हाथमें लेकर और उनमें अन्तर्प्रविष्ट होकर सबको एक उन्नयनकारिणी प्रक्रियाके अधीन करेंगी। इस प्रक्रिया-

के प्रत्येक डगपर 'विज्ञान'की एक महत्तर शक्ति और उच्चतर तीव्रता मनकी शिथिल, परिकीर्ण, ह्रासकारी और तनूकारी वस्तुसे अधिकाधिक कम मिश्रित होकर अपने-आपको स्थापित कर सकेगी; परन्तु, चूंकि 'विज्ञान' मात्र अपने मूलमें अतिमानसकी शक्ति है, अतएव इसका अर्थ एक अर्ध-अवगुंठित और परोक्ष अतिमानसिक ज्योति तथा शक्तिका ही प्रकृतिके अन्दर एक अधिकाधिक अन्तःस्राव होगा। यह तब तक चलता रहेगा जबतक कि वह बिन्दु न आ जाय जहाँ अधिमानसका ही अतिमानस में रूपान्तरण आरम्भ हो जायगा; अतिमानसिक चेतना और शक्ति रूपान्तरको सीधे अपने हाथोंमें ले लेगी, पार्थिव मन, प्राण एवं देहके सामने उनका अपना आध्यात्मिक सत्य तथा दिव्यत्व प्रकट करेगी और, अन्तमें, अतिमानसिक सत्ताके पूर्ण ज्ञान, बल और सार्थक्यको समूची प्रकृतिमें उँड़ेलेगी। जीव अज्ञानकी सीमाओंसे आगे चला जायगा और जहाँ वह परम ज्ञानसे अलग हुआ था उस आद्य रेखाको पार कर जायगा; वह अतिमानसिक विज्ञानकी सर्वांगीणतामें प्रवेश कर जायगा और विज्ञान-ज्योतिका अवतरण अज्ञानका एक सम्पूर्ण रूपान्तर सम्पादित करेगा।

इसे या इन रेखाओंपर अधिक विस्तारसे अंकित किसी योजनाको आध्यात्मिक रूपान्तरका पद्धतिबद्ध युक्ति-संगत या भावमूलक विवरण माना जा सकता है, और अतिमानसिक शिखरके आरोहणको यदि पृथक् डगोंके ऐसे अनुक्रमके रूपमें देखा जाय जिसमें प्रत्येक डग अगलेकी ओरके संक्रमणके आरम्भके पहले पूरा किया जाता हो तो इसे उसका संरचनात्मक रेखाचित्र माना जा सकता है। बात ऐसी होगी मानों जीव, एक संगठित प्राकृत वैयक्तिकताको व्यक्त करता हुआ, एक यात्री है जो विश्व-प्रकृतिमें लक्षित चेतना-कोटियोंपर चढ़ता चला जा रहा है, और प्रत्येक आरोहण उसे एक निश्चित समग्रकी भाँति, चेतन पुरुषके एक पृथक् शरीरकी भाँति, उसकी सत्ताकी एक अवस्थामेंसे क्रमकी परवर्तिनी अवस्था-में समग्र रूपसे ले जाता है। यह बात यहाँ तक तो ठीक है कि ऊपरकी अगली मंजिलकी ओर का आरोहण पूर्णतया सुरक्षित करनेके लिये उसके पहलेकी स्थितिका पर्याप्त समाकलन पूरा कर दिया जाय: सम्भव है कि यह स्पष्ट अनुक्रम इस क्रमविकासकी आरम्भिक भूमिकाओंमें भी थोड़ेसे लोगों द्वारा अनुसरण किया गया मार्ग हो, और क्रमविकासकी सारी सोपान-माला पूरी निर्मित और सुरक्षित कर दी जानेपर वह एक स्वाभाविक प्रक्रिया भी बन जाय। परन्तु क्रमविकासिका प्रकृति पृथक् खंडोंका युक्ति-

संगत सिलसिला नहीं, अपितु सत्ताकी आरोहिणी शक्तियोंकी समग्रता है और वे शक्तियाँ परस्पर अन्तर्प्रविष्ट और अन्तर्ग्रथित होती हैं और एक दूसरीपर अपनी क्रियामें एक पारस्परिक परिवर्तनकी शक्ति प्रयुक्त करती हैं। जब उच्चतर चेतना निम्नतरमें अवतरित होती है, वह निम्न-तरको परिवर्तित करती है, किन्तु वह भी उसके द्वारा परिवर्तित और ह्रसित होती है; जब निम्नतर चेतना आरोहण करती है, वह उन्नीत हो जाती है किन्तु वह साथ ही उन्नायिका धातु तथा शक्तिको म्लान करती है। यह अन्योन्यक्रिया सत्ताकी शक्ति एवं चेतनाकी विभिन्न मध्यवर्ती और परस्पर-गुम्फित श्रेणियोंकी रचना प्रचुर संख्यामें करती है, किन्तु किसी एक शक्तिके पूरे नियंत्रणके नीचे सारी शक्तियोंका पूरा समाकलन सम्पादित करना कठिन भी कर देती है। यही कारण है कि व्यक्तिके क्रमविकासमें वस्तुतः कोई सरल, साफ कटी-छँटी, एकके बाद एक आनेवाली भूमिकाओंकी शृंखला नहीं होती; इसके बदले एक संश्लिष्ट गतिधारा, एक अंशतः निर्दिष्ट, अंशतः अस्तव्यस्त व्यापकतावाली गतिधारा होती है। जीवका वर्णन फिर भी इस रूपमें किया जा सकता है कि वह एक यात्री और आरोही है जो अपने उच्च लक्ष्यकी ओर बल लगाता हुआ डगडग बढ़ता है, जिसे प्रत्येक डगको एक सम्पूर्णके रूपमें निर्मित करना होता है किन्तु अति बहुधा फिरसे उतर आना पड़ता है जिससे कि वह अवलम्बदायी सोपानको पुनर्निर्मित और सुरक्षित कर सके ताकि वह सोपान उसके नीचे ढह न जाय : परन्तु समूची चेतनाके क्रमविकासमें प्रकृतिकी गतिधारा बल्कि एक ऊपर उठते सागर जैसी होती है; उसकी तुलना ज्वारसे अथवा एक ऊपरकी ओर उठते प्रवाहसे की जा सकती है जिसका अग्रभाग किसी चट्टान या पहाड़ीके उच्चतर अंशोंको छू रहा हो और बाकी भाग फिर भी नीचे ही हो। प्रत्येक पर्वमें प्रकृतिके उच्चतर भागोंको नयी चेतनामें समय विशेषके लिये किन्तु अधूरे रूपसे संगठित किया जा सकता है जब कि निम्नतर भाग सतत परिवर्तनकी अवस्थामें रहते या गढ़े जा रहे होते हैं, अंशतः प्राचीन पंथपर चलते हैं किन्तु परिवर्तनके लिये प्रभावित हुए होते और परिवर्तित होना आरम्भ भी करते हैं, अंशतः नए प्रकारकी वस्तु होते है, किन्तु वह परिवर्तन फिर भी अपूर्ण हुआ होता है और दृढ़ नहीं होता। दूसरी उपमा एक ऐसी सेनाकी हो सकती है जो पंक्तियाँ बाँधकर नयी भूमिको जीतती हुई बढ़ती है जबकि उसका प्रधान भाग तब भी पीछे उस प्रदेशमें रहता है जिसे

हो जाय, या उसे अपनी पकड़में लेने, अवनत करने और अपनी ही क्रियाविधि और अवर प्रयोजनके अधीन करनेके लिये अपने-आपको उसपर फेंकती भी है। प्रकृतिकी इस कठिन धातुको धारण और आत्मसात् करनेके अपने कार्यमें उच्चतर शक्तियाँ, सामान्यतः, पहले मनमें उतरती और मनके केन्द्रोंमें व्याप्त होती हैं, क्योंकि वे बुद्धि और ज्ञान-बलमें उनके समीपतम हैं। वे यदि पहले हृदयमें अथवा शक्ति और संवेदनकी स्थली प्राण-सत्तामें उतर आयें, जैसा कि वे कभी-कभी करती भी हैं क्योंकि कुछ व्यक्तियोंमें वे अंग अधिक उन्मीलित मिलते हैं और पहले वे ही उन शक्तियोंको पुकार करते हैं, तो यदि वस्तुएँ युक्तिसंगत क्रममें घटित होतीं तबकी अपेक्षा ये परिणाम अधिक मिश्रित और संदिग्ध, अपूर्ण और असुरक्षित होते हैं। परन्तु अपनी सामान्य क्रियामें भी, जब अवतरित होती शक्ति अवतरणके स्वाभाविक क्रममें सत्ताके अंगोंको एक-एक करके हाथमें लेती है, तब भी वह आगे जानेके पहले प्रत्येक अंगमें अपनी व्याप्ति और उस अंगका रूपान्तर समग्र रूपसे सम्पादित नहीं कर पाती है। वह केवल एक सामान्य और अधूरी व्याप्ति ही संसिद्ध कर पाती है; फलतः प्रत्येककी क्रियाएँ तब भी अंशतः नये उच्चतर स्तरकी, अंशतः एक मिश्रित स्तरकी, अंशतः प्राचीन अपरिवर्तित निम्नतर स्तरकी रहती हैं। समूचे मनको उसके सारे प्रसारमें तुरन्त रूपान्तरित नहीं कर दिया जा सकता, क्योंकि मनके चक्र सत्ताके शेष अंगोंसे विलग प्रदेश नहीं होते; मनकी क्रिया प्राणिक तथा शारीरिक भागोंकी क्रियासे अनुविद्ध होती है और स्वयं उन भागोंमें मनके अवर रूपायण होते हैं, एक प्राणिक मन होता है, एक स्थूल मन होता है, और मनोमयी सत्ताका सम्पूर्ण रूपान्तर हो सकनेके पूर्व इनको भी परिवर्तित करना होगा। अतएव रूपान्तरकारिणी शक्तिको, जितना शीघ्र हो सके उतना शीघ्र और मनके सर्वांगीण परिवर्तनकी प्रतीक्षा किये बिना ही, हृदयमें उतरना होता है जिससे वह भावात्मिका प्रकृतिमें व्याप्त होवे और उसे परिवर्तित करे, और बादमें निम्नतर प्राण-चक्रोंमें उतरना होता है जिससे वह सारी प्राणिक, क्रियामुखी और संवेदनात्मिका प्रकृतिमें व्याप्त होवे और उसे परिवर्तित करे, और अन्तमें शारीरिक चक्रोंमें उतरना होता है जिससे वह सारी शारीरिक प्रकृतिमें व्याप्त होवे और उसे परिवर्तित करे। परन्तु यह अन्तिमता भी अन्तिम नहीं है, क्योंकि अवचेतन भाग और निश्चेतन नींव तब भी बची रहती हैं। जीवकी इन शक्तियों और अंगोंका

जाटिल्य, उनकी क्रियाका परस्पर-गुम्फन इतना अधिक है कि लगभग यह कहा जा सकता है कि इस परिवर्तनमें जब तक सब कुछ सिद्ध न हो जाय तब तक कुछ भी सिद्ध नहीं होता। एक ज्वार आता है, एक भाटा आता है; पुरानी प्रकृतिकी शक्तियाँ पीछे हटती हैं और फिर अपने पुरातन प्रदेशोंमें अंशतः व्याप्त होती हैं; वे धीरे-धीरे पीछे हटती हैं, उनकी टुकड़ियाँ पृष्ठ-रक्षक युद्ध करती हैं, प्रत्याक्रमण करती हैं और आक्रमण भी; उच्चतर अन्तःस्राव प्रत्येक बार अधिक विजित प्रदेशमें व्याप्त होता है किन्तु उसकी प्रभुताकी निश्चिति तब तक अपूर्ण रहती है जब तक कि ऐसा कुछ भी बचा रह जाय जो उसके ज्योतिर्मय राज्य-का अंग न हो गया हो।

एक तीसरी जटिलता चेतनाकी एक ही समय एकसे अधिक स्थितियों-में रहनेकी क्षमतासे आती है। विशेषतः एक कठिनाईकी रचना हमारी सत्ताके आन्तरिक और बाह्य या बहिस्तलीय प्रकृतिमें विभाजनसे और उस निगूढ़ परिचेतन या पर्यावारिक चेतनाकी और भी जटिलतासे होती है जिसमें अपनेसे बाहरके जगत्के साथ हमारे अदृष्ट सम्बन्धोंका निर्धारण होता है। आध्यात्मिक उन्मीलनमें, जागृत आन्तर पुरुष ही उच्चतर प्रभावोंको सरलतासे ग्रहण और आत्मसात् करता और उच्चतर प्रकृतिको धारण करता है; परन्तु सतहका बाहरी आत्मा जो कि अज्ञान तथा निश्चेतनाकी शक्तियोंसे अधिक पूरी तरह गढ़ा हुआ होता है, जागनेमें मन्दतर, ग्रहण करनेमें मन्दतर, आत्मसात् करनेमें मन्दतर होता है। अतः एक ऐसा लम्बा पर्व आता है जिसमें आन्तर सत्ता पर्याप्त रूपान्तरित होती है, परन्तु एक बाह्य किन्तु फिर भी अपूर्ण परिवर्तनकी मिश्रित और कठिन गतिधारामें उलझी रहती है। यह वैषम्य आरोहणके प्रत्येक डगपर पुनरावृत्त होता है; कारण, प्रत्येक परिवर्तनमें आन्तर सत्ता अधिक स्वेच्छासे अनुसरण करती है, बाह्य अपनी अभीप्सा और कामनाके बावजूद, यदि अनिच्छुक नहीं भी तो अयोग्य रहती हुई, लँगड़ाती चलती है। इस कारण अंगीकरण, अनुकूलन और दिशा-परिवर्तनके निरन्तर पुनरावृत्त परिश्रमकी आवश्यकता होती है; वह परिश्रम सदा नये पदोंमें पुनरुत्पन्न होता, किन्तु तत्त्वतः सदा वही रहता है। परन्तु व्यक्तिकी बाह्य प्रकृति तथा आन्तरिक प्रकृति जब सामंजस्यपूर्ण आध्यात्मिक चेतनामें एकीबद्ध हो जाती हैं, उसका वह अधिक बाह्य किन्तु गुह्य भाग जिसमें उसकी सत्ताका बाह्य जगत्की सत्तासे मिलना होता है और जिसके द्वारा बाह्य

जगत् उसकी चेतनापर आक्रमण करता है, अपूर्णताका क्षेत्र रह जाता है। यहाँ विषम प्रभावोंके बीचसे आदान-प्रदान होता ही है : आन्तरिक आध्यात्मिक प्रभावका बिलकुल विपरीत प्रभावोंसे सामना होता है जो वर्तमान जगत्-व्यवस्थापर अपना अधिकार मजबूत बनाये रखते हैं; नयी आध्यात्मिक चेतनाको अज्ञानकी उन आधिपत्यपूर्ण और स्थापित शक्तियोंका आघात सहना होता है जो अध्यात्मभावापन्न नहीं हुई हैं। इससे जिस कठिनाईकी रचना होती है वह आध्यात्मिक विकासक्रम और उसकी प्रकृति-परिवर्तनकी ओर प्रेरणाके सारे पर्वोमें बहुत ही महत्त्वकी होती है।

एक आत्मनिष्ठ आध्यात्मिकता स्थापित की जा सकती है जो जगत्के साथ संसर्ग रखना अस्वीकार करती हो या कमसे कम रखती हो या उसकी क्रियाको साक्षीभावसे देखनेमें, उसके आक्रमणकारी प्रभावोंके प्रति कोई प्रतिक्रिया या उनका बलात्प्रवेश होने दिये बिना उन्हें वापस या बाहर फेंक देनेमें संतुष्ट रहती हो। परन्तु यदि आन्तरिक आध्यात्मिकता-को स्वच्छंद जगत्-क्रियामें बहिर्व्यक्त करना है, यदि व्यक्तिको अपने-आपको जगत्में प्रक्षिप्त करना है और एक अर्थमें जगत्को अपने अन्दर लेना है, तो यह अपने-आपकी परिचेतन अथवा पर्यावारिक सत्ता द्वारा जगत्के प्रभावोंको ग्रहण किये बिना सक्रिय रूपसे नहीं किया जा सकता। तब आध्यात्मिक अन्तश्चेतनाको इन प्रभावोंके साथ इस तरह व्यवहार करना होता है कि वे ज्यों ही समीप आयें या प्रवेश करें, उसमें प्रवेश-मात्रके कारण वे या तो अभिलुप्त और निष्फल हो जायँ या उसकी रीति और धातुमें रूपान्तरित हो जायें। या वह चेतना उन्हें आध्यात्मिक प्रभाव ग्रहण करने और जिस लोकसे वे आये हैं उसपर रूपान्तरकारी बल लेकर वापस जानेके लिये बाध्य कर सकती हैं क्योंकि निम्नतर विश्वप्रकृतिको इस प्रकार बाध्य करना पूर्ण आध्यात्मिक क्रियाका अंग है। परन्तु इसके लिये परिचेतन अथवा पर्यावारिक सत्ताको आध्या-त्मिक ज्योति तथा आध्यात्मिक धातुमें इतना ओतप्रोत कर देना ही होगा कि जो कुछ भी उसमें प्रवेश करे उसका यह रूपान्तर हो कर रहे; आक्रमणकारी बाह्य प्रभावोंको अपनी अवर संवित्, अपनी अवर दृष्टि, अपनी अवर क्रियाधाराको तनिक भी अन्दर नही लाने देना होगा। परन्तु यह सिद्धि दुष्कर है, क्योंकि सामान्यतया परिचेतन सत्ता पूरापूरी हमारी अपनी रूपायित और सिद्ध सत्ता नहीं, अपितु हमारी सत्ता और

बाह्य जगत्-प्रकृति दोनोंका जोड़ होती है। यही कारण है कि बाह्य कर्मको रूपान्तरित करनेकी अपेक्षा आन्तरिक आत्म-पर्याप्त भागोंका आध्यात्मीकरण सदा ही अधिक आसान है; जगत्‌से अलग अथवा उसके विरुद्ध आत्म-रक्षित रहनेवाली अन्तःप्रेक्षिका, अन्तर्निवासिनी या आत्म-निष्ठ आध्यात्मिकताकी पूर्णता जगत्‌का आलिंगन करनेवाली, उसके पर्यावरणकी स्वामिनी होनेवाली, जगत्-प्रकृतिके साथ अपने संसर्गमें प्रभुता-सम्पन्न होनेवाली, जीवनमें बहिर्व्यक्त, क्रियावंत एवं गतिवंत होनेवाली आध्यात्मिकतामें समूची प्रकृतिकी पूर्णताकी अपेक्षा सहज है। परन्तु चूंकि सर्वांगीण रूपान्तरको सारी ही सक्रिय सत्ताको ग्रहण करना और कर्मी जीवनको तथा हमारे बाहरके जगदात्माको अपने अन्दर समाविष्ट करना होगा, अतः विकासशीला प्रकृतिसे इस अधिक सम्पूर्ण परिवर्तनकी माँग की जाती है।

मूल कठिनाई इस तथ्यसे आती है कि हमारी सामान्य सत्ताकी धातु निश्चेतनासे घड़ी हुई है। हमारा अज्ञान सत्ताकी एक ऐसी धातुमें ज्ञान-का वर्द्धन है जो निर्ज्ञान है; वह जिस किसी चेतनाका उन्मेष, जिस किसी ज्ञानकी स्थापना करता है, यह निर्ज्ञानिता सर्वदा उनका पीछा करती, उनमें अनुप्रविष्ट होती और उन्हें आवृत करती है। निर्ज्ञानिता-की इसी धातुको अतिचेतनाकी धातुमें, एक ऐसी धातुमें रूपान्तरित करना है जिसमें चेतना और एक आध्यात्मिक संवित् वहाँ तब भी सदा रहती हैं जबकि वे सक्रिय न हों, व्यक्त न हों, ज्ञानके रूपमें न रखी गयी हों। जब तक यह नहीं हो जाता, जो कुछ निर्ज्ञानके अन्दर प्रवेश करता है निर्ज्ञान उस सबपर आक्रमण करता है, उस सबको घेर लेता या अपने विस्मृतिकारी अन्धकारमें कवलित और आत्मसात् भी कर लेता है; वह अवतरित होती ज्योतिको, जिस न्यूनतर प्रकाशमें वह प्रवेश कर रही है, उसके साथ सुलह करनेके लिये बाध्य करता है। अतः उस ज्योतिमें ही एक मिश्रण आ जाता है, वह क्षुण्ण और तरलित हो जाती है, उसके सत्य और बलमें एक ह्रास, एक परिवर्तन होता है, उसकी प्रामाणिकता सम्पूर्ण नहीं रह जाती। या, अन्ततः, निर्ज्ञान उसके सत्यको सीमित और उसकी शक्तिको सीमाबद्ध करता है, उसकी व्यवहार्यता और व्याप्तिको खंडित करता है; उसके मूल सत्यको वैयक्तिक सिद्धिका परिपूर्ण सत्य होने या विश्व व्यवहारका संसिद्ध सत्य होनेसे रोक दिया जाता है। इस प्रकार, जीवन-धर्मके रूपमें प्रेम अपनी स्थापना व्यवहारतः

एक आन्तरिक सक्रिय तत्त्वकी तरह कर सकता है, परन्तु जब तक वह सत्ताकी सारी ही धातुमें व्याप्त न हो जाय, तबतक सम्पूर्ण वैयक्तिक भावना और कर्मको प्रेम-धर्मसे नहीं गढ़ा जा सकता; यदि व्यक्तिके अन्दर उसे पूर्ण कर ही दिया जाय, तो भी उसके प्रति अन्धा और प्रति-रोधी रहनेवाला व्यापक निर्ज्ञान उसे एकपक्षीय और निष्प्रभाव बना दे सकता है, या उसे अपनी वैश्व व्यवहार्यताके परासको सीमाबद्ध करनेके लिये बाध्य किया जाता है। सत्ताके किसी नूतन धर्मके साथ पूरा सामंजस्य रखकर क्रिया करना मानव-प्रकृतिके लिए सदा ही कठिन है; कारण, निश्चेतनाकी धातुमें अन्धी और अनुल्लंघ्य नियतिका एक आत्म-रक्षक धर्म है जो उसमेसे उन्मज्जित होती अथवा उसमें प्रवेश करती सम्भावनाओंकी क्रीड़ाको सीमित करता और उन्हें अपनी स्वच्छन्द क्रिया और परिणाम स्थापित करने या अपने परम रूपकी तीव्रता उपलब्ध करनेसे रोकता है। एक मिश्र, सापेक्ष, प्रतिबद्ध और ह्रसित क्रीड़ासे अधिक कुछकी छूट उन्हें नहीं दी जाती : अन्यथा वे निश्चेतनाके ढाँचेको रद्द कर देंगी और विश्व-व्यवस्थाके आधारको परिवर्तित किये बिना हिंस्र रूपसे अव्यवस्थित कर देंगी; कारण, अपनी मनोमयी या प्राणमयी क्रीड़ामें उनमें किसीमें भी वह दिव्य शक्ति नहीं है जो इस आद्य तमोमय तत्त्वका स्थान ले सके और एक समग्रतः नूतन जगत्-व्यवस्था संगठित कर सके।

मानव-प्रकृतिका रूपान्तर केवल तब सिद्ध हो सकता है जबकि आधारकी धातु आध्यात्मिक तत्त्वमें इतनी ओतप्रोत हो जाय कि उसकी सारी गतिविधि 'अध्यात्म-सत्ता'की स्वतःस्फूर्त क्रियावत्ता और सामंजस्यपूर्ण प्रक्रिया हो जायँ। परन्तु जब उच्चतर शक्तियाँ और उनकी तीव्रताएँ निश्चेतनाकी धातुमें प्रवेश कर जाती हैं तब भी उन्हें इस अन्धी विरोधिनी नियतिका सामना करना होता और निर्ज्ञान धातुके इस सीमाबद्धकारी और ह्रासकारी विधानके नीचे आना होता है। वह उनका विरोध सदा ही अपने एक स्थापित और अटल विधानके सबल स्वामित्वाधिकार खड़े करके करती है, सदा ही जीवनके दावेका सामना मृत्युके विधानसे, प्रकाशकी मांगका सामना छायाके उभार और अन्धकार की पृष्ठभूमिकी आवश्यकतासे, अध्यात्म-सत्ताके प्रभुत्व, स्वातंत्र्य एवं क्रियाबलका सामना अपनी उस शक्तिसे करती है जो परिसीमित करके समंजन करती है, असामर्थ्यसे सीमा अंकित करती है, और उनका सामना

एक आद्य तमस्‌की विश्रान्तिकी भित्तिपर ऊर्जाकी स्थापनासे करती है। उसके नकारोंके पीछे एक गुह्य सत्य है; अतिमानस ही आद्या 'सद्वस्तु'के अन्दर विपरीतताओंमें मेल बैठानेकी अपनी क्रियासे इस सत्यका परिग्रहण कर सकता और इस भाँति इस रहस्यके व्यावहारिक समाधानका आविष्कार कर सकता है। मूलभूत निर्ज्ञानकी इस कठिनाईपर अतिमानसिक शक्ति ही पूर्ण विजय पा सकती है, कारण, उसके साथ एक विपरीत तथा ज्योतिर्मयी अनुल्लंघ्य नियति प्रवेश करती है जो सकल वस्तुओंके आधारमें रहती है और स्वयंभू 'अनन्त'की आद्या एवं अन्तिम आत्म-निर्धारिका सत्य-शक्ति है। केवल यह महत्तर ज्योतिर्मयी आध्यात्मिक नियति और उसकी प्रभुताशालिनी अनुल्लंघ्य शक्ति ही निश्चेतनाकी इस अंधी 'नियति'को विस्थापित या पूरी अनुविद्ध कर सकती है, उसे अपने-आपमें रूपान्तरित कर सकती और इस भाँति उसका स्थान ले सकती है।

जब प्रकृतिमें अन्तःसंवृत अतिमानस पराप्रकृतिसे अवतरित होती अतिमानसिक ज्योति तथा शक्तिसे मिलने और संयुक्त होनेके लिये उन्मिषित होता है, तब सत्ताकी सारी धातुका और फलतः अवश्य ही उसके सारे गुणों, शक्तियों और गतिविधिका अतिमानसिक परिवर्तन होता है। व्यक्ति ही रूपान्तरका उपकरण और प्रथम क्षेत्र होगा; परन्तु एकाकी वैयक्तिक रूपान्तर पर्याप्त नहीं है, और हो सकता है कि वह सर्वशः साध्य भी न हो। वैयक्तिक परिवर्तन यदि साधित हो ही जाय तो भी उसका चिरस्थायी और वैश्व सार्थक्य केवल तब होगा जबकि व्यक्ति प्रकृतिकी पार्थिव क्रियाओंके मध्य एक प्रकट-सक्रिय शक्तिके रूपमें अतिमानसिक चित्-शक्तिकी स्थापनाके लिए एक केन्द्र और चिह्न हो जाय,—उसी तरह हो जाय जैसे कि मानव-विकासकी धारामें विचार-धर्मी मन प्राण और जड़में एक प्रकट-सक्रिय शक्तिके रूपमें स्थापित हो गया है। इसका अर्थ क्रमविकासमें विज्ञानमय पुरुष और विज्ञानमयी प्रकृतिका आविर्भाव होगा। पार्थिव समग्रके अन्दर निर्मुक्त और सक्रिय अतिमानसिक चित्‌शक्तिका उन्मेष और प्राण तथा शरीरमें 'अध्यात्म-पुरुष'के अतिमानसिक साधनविनियोगका संगठन होने ही चाहिये,—कारण, शारीरिक चेतनाको भी नयी अतिमानसिक शक्तिकी क्रियाओं और उसकी नयी व्यवस्थाका उपयुक्त करण होनेके लिये पर्याप्त जागृत होना होगा। तबतक जो भी मध्यवर्ती परिवर्तन होगा, वह आंशिक या असुरक्षित ही हो सकेगा; प्रकृतिके अधिमानसिक या संबोधिमय उपकरणोंका विकास किया जा

सकेगा, परन्तु यह वह ज्योतिर्मय रूपायण ही होगा जो एक मूलभूत और पर्यावारिक निश्चेतनापर आरोपित होगा। यदि अतिमानसिक तत्त्व और उसकी विश्वक्रिया अपने स्वीय आधारपर चिरस्थायी रूपसे स्थापित हो जायँ तो अधिमानस और आध्यात्मिक मनकी मध्यवर्ती शक्तियाँ उसपर सुरक्षित रूपसे अधिष्ठित हो सकेंगी और अपनी स्वीय पूर्णता पा सकेंगी; वे पृथ्वी-जीवनमें मन तथा स्थूल प्राणसे उठकर परम आध्यात्मिक स्तरकी ओर जाती चेतनाकी स्थितियोंका सोपान-क्रम होंगी। मन और मनोमय मानव आध्यात्मिक क्रमविकासमें डगके रूपमें रहेंगे; परन्तु इनसे ऊपर अन्य कोटियाँ होंगी, वे गठित और अभिगम्य होंगी और शरीरी मनोमय जीव, जब वह तैयार हो जायगा, इन कोटियोंसे चढ़कर विज्ञानमें पहुँच सकेगा और शरीरी अतिमानसिक तथा आध्यात्मिक जीवमें परिवर्तित हो सकेगा। इसी आधारपर पार्थिव प्रकृतिमें दिव्य जीवनका तत्त्व अभिव्यक्त होगा; अज्ञान और निश्चेतनाका जगत् भी अपने निमज्जित रहस्यका आविष्कार कर सकेगा और प्रत्येक निम्नतर कोटिमें उसका दिव्य तात्पर्य संसिद्ध करना आरम्भ कर सकेगा।

•

अध्याय सत्ताईस

विज्ञानमय पुरुष

अभूदु पारमेतवे पन्था ऋतस्य साधुया।
अदर्शि वि स्रुतिर्दिवः।।

हमारी अन्धकारसे परे उस अन्य तटकी यात्राके लिये सत्यका एक परम पथ खुल गया है।

—ऋग्वेद
I. 46 11

ऋतं चिकित्व ऋतमिच्चिकिद्ध्यृतस्य धारा अनु तृन्धि पूर्वीः।।

हे ऋत-चेतन, ऋतके प्रति चेतन होओ, ऋतकी बहुधाराएँ निकाल बहाओ।

—ऋग्वेद
V. 12.2

अग्नीषोमा चेति तद् वीर्यं वाम्,...अविन्दतं ज्योतिरेकं बहुभ्यः।।

हे अग्नि, हे सोम, तुम्हारी शक्ति चेतन हो गयी है; तुमने बहुके लिये उस एक ज्योतिका आविष्कार किया है।

—ऋग्वेद
I.93.4

एषा व्येनी भवति द्विबर्हा......।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति।।

शुद्ध-धवला, अपनी विपुलतामें द्विधा, वह ऋतके पथपर ज्ञानवतीकी भाँति सिद्ध गतिसे चलती जाती है और उसकी दिशाओंको संकीर्ण नहीं करती।

—ऋग्वेद
V. 80.4

ऋतेन ऋतं धरुणं धारयन्त यज्ञस्य शाके परमे व्योमन्।

वे ऋतके द्वारा ऋतको धारण करते हैं जो सबको यज्ञ-शक्तिसे परम व्योममें धारण करता है।

—ऋग्वेद
V. 15.2

अजीजनो अमृत मर्त्येष्वाँ ऋतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः ॥

... ...

ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे राजा देव ऋतं बृहत् ॥

हे अमर, मर्त्योंमें तू ऋत, अमृत, एवं चारुताके धर्ममें उत्पन्न हुआ है। .. ऋतसे जन्म लेकर वह ऋतके द्वारा वर्द्धित होता है—वह राजा, वह देव, वह ऋत, वह बृहत्।

—ऋग्वेद

IX. 110.4;108.8

अपनी विचारधारामें जब हम उस रेखापर पहुँचते हैं जहाँ मनका अधिमानसकी ओर होनेवाला क्रमविकास अतिमानसकी ओर अधिमानसके क्रमविकासमें बदल जाता है, तब हम अपने सामने एक लगभग असम्भवता जैसी कठिनाई पाते हैं। कारण, अज्ञान-लोकमें क्रमविकासिका प्रकृति जिस अतिमानसिक या विज्ञानमय जीवनको जन्म देनेका आयास कर रही है, हम उसका कोई ठीक भाव, कोई स्पष्ट मानसिक विवरण पानेकी ओर प्रेरित होते हैं; किन्तु, मनके ऊर्ध्वायणकी इस चरम रेखाको पार कर जानेपर चेतना मानस-प्रत्यक्षण और मानस-ज्ञानके प्रदेशसे बाहर, उसकी विशिष्ट क्रियासे परे और उसकी पकड़से बाहर चली जाती है। यह तो पूरा स्पष्ट है कि अतिमानसिक प्रकृति आध्यात्मिक प्रकृति तथा अनुभवका पूर्ण समाकलन और उत्कर्ष होगी ही : क्रमविकास-तत्त्वकी प्रकृति ही ऐसी है कि उसमें सांसारिक प्रकृतिका समग्र आध्यात्मीकरण भी अन्तर्विष्ट होगा, किन्तु यह परिवर्तन ही उसकी सीमा नहीं होगा। हमारे क्रम-विकासके इस डगमें हमारे जगत्-अनुभवको हाथमें लिया जायगा और वह अपने दिव्यांशोंके रूपान्तर द्वारा, अपनी अपूर्णताओं और छद्मवेशोंके सर्जनशील वर्जन द्वारा, किसी दिव्य सत्य तथा पूर्णतातक पहुँच जायगा। परन्तु ये सामान्य सूत्र हैं और इनसे हमें परिवर्तनका कोई सुनिर्दिष्ट भाव नहीं मिलता। आध्यात्मिक वस्तुओं और जागतिक वस्तुओं दोनोंके सम्बन्धमें सामान्यतः हमारा प्रत्यक्षण या कल्पना या रूपायण मानसिक ही होता है, किन्तु विज्ञानमय परिवर्तनमें क्रमविकास उस रेखाको पार कर जाता है जिसके आगे चेतनाका एक परम और आमूल परावर्तन हो जाता है और मनोमय ज्ञानके मानदंड और रूप पर्याप्त नहीं रह जाते। अतिमानसिक प्रकृतिको समझना या उसका वर्णन करना मानसिक विचारके लिये दुःसाध्य है।

मानसिक प्रकृति और मानसिक विचार सान्तकी चेतनापर आधारित हैं; अतिमानसिक प्रकृतिकी तो धातु ही अनन्तकी चेतना और शक्ति है। अतिमानसिक प्रकृति प्रत्येक वस्तुको एकत्वके दृष्टिकोणसे देखती है और सारी वस्तुओंका, अधिकतम बहुत्व और विविधत्वका भी, जो मनको अनपनेय द्वन्द्व प्रतीत होते हैं उनका भी, उसी एकत्वके प्रकाशमें अवलोकन करती है; उसकी इच्छा, भाव, अनुभव और संवेद एकत्वकी धातुसे बनते हैं, उसकी क्रियाएँ उसी आधारपर अग्रसर होती हैं। इसके विपरीत, मनोमयी प्रकृतिका विचारना और देखना, उसकी इच्छा, अनुभव और संवेद विभाजनको आरम्भ-स्थल बनाते हैं और उसकी एकत्वकी समझ एक बनायी हुयी वस्तु ही होती है; वह प्रकृति यदि एकत्वका अनुभव करती भी है तो भी उसे परिसीमन और भिन्नतापर ही आधारित एकत्व-भावसे कार्य करना होता है। परन्तु अतिमानसिक जीवन, दिव्य जीवन, एक मूलस्थ, स्वतःस्फूर्त और अन्तर्निहित एकत्वका जीवन है। अतिमानसिक परिवर्तन अपने जीवन-कर्म और बाह्य व्यवहारके क्षेत्रमें कैसा होगा इसे पहलेसे ब्योरेवार जानना या जिन रूपोंकी सृष्टि वह वैयक्तिक अथवा सामूहिक जीवनके लिये करेगा उन्हें नियत करना मनके लिये असम्भव है। कारण, मन कार्य करता है बौद्धिक नियम या साधनसे, या इच्छाके युक्तिसिद्ध वरणसे, या मानसिक आवेगसे या प्राणिक आवेगके अनुगमनसे; परन्तु अतिमानसी प्रकृति मानसिक भाव या नियमसे या किसी अवर प्रेरणाके अधीन होकर कार्य नहीं करती। अतिमानसी प्रकृतिका प्रत्येक डग एक अन्तर्जात आध्यात्मिक दृष्टिसे, सर्वके सत्यमें और प्रत्येक वस्तुके सत्यमें एक व्यापक और ठीक-ठीक अन्तःप्रवेशसे निर्देशित होता है; वह सर्वदा अन्तर्निष्ठ सत्यताके अनुसार कार्य करती है, न कि मानसिक भावसे, न कि आचरणके किसी आरोपित विधान या किसी मानस-निर्मित विचारके अनुसार या इन्द्रियबोधके उपायसे ही। उसकी क्रिया प्रशान्त, स्वप्रतिष्ठ, स्वतःस्फूर्त और नमनीय होती है; वह स्वाभाविक और अनिवार्य रूपसे उद्गत होती है सत्यके समस्वर तादात्म्यसे जिसका अनुभव सचेतन सत्ताकी तो धातुमें ही होता है, और यह आध्यात्मिक धातु सर्वगत होती है और फलतः उसके अस्तित्व-ज्ञानमें जो कुछ सम्मि-लित होता है उसके साथ अन्तरंग रूपसे एक होती है। अतिमानसी प्रकृतिका मानसिक वर्णन या तो अति अमूर्त शब्दोंमें या ऐसी मानसिक आकृतियोंमें ही व्यक्त हो सकेगा जो उसे उसकी सत्यतासे सर्वथा भिन्न

वस्तुमें वदल दे सकती हैं। सुतरां, यह असम्भव लगता है कि मन इसका पूर्वानुमान कर सके या यह जता सके कि अतिमानसिक पुरुष कैसा होगा या कैसे कार्य करेगा; कारण, वहाँ मानसिक भाव और निरूपण कोई भी निर्णय नहीं कर सकते, किसी ठीक-ठीक परिभाषा या निर्धारणपर नही पहुँच सकते, क्योंकि वे अतिमानसी प्रकृतिके धर्म और आत्म-दृष्टिके पर्याप्त समीप नहीं हैं। साथ ही, प्रकृतिकी इस भिन्नताके तथ्यसे ही कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं जो, कमसे कम, अधिमानससे अतिमानसतकके संक्रमणके सामान्य विवरण-रूपमें प्रामाणिक हो सकते या हमारे लिये क्रमविकासगत अतिमानसिक जीवनकी पहली स्थितिका एक अस्पष्ट भाव वना सकते हैं।

यह संक्रमण ही वह पर्व है जिसमें अतिमानस-विज्ञान विकासक्रमका नेतृत्व अधिमानसके हाथोंसे ले ले सकता और अपनी विशिष्ट अभि-व्यक्ति तथा अनावृत क्रियाकलापकी पहली नीवोंका निर्माण कर सकता है। अतएव, अज्ञानमें हो रहे विकाससे ज्ञानमें होनेवाले नित्य-प्रगतिशील विकासकी ओर एक निर्णायक, किन्तु लम्वी तैयारीके वाद आनेवाला, संक्रमण वहाँ अवश्य मिलेगा। यह, पूर्ण अतिमानस तथा अतिमानसी सत्ता अपने स्वधाममें जिस रूपमें हैं, उनका आकस्मिक आविर्भाव और कार्यान्वियन नहीं होगा, नित्य स्वतः-परिपूर्ण और संपूर्ण आत्मज्ञानमयी एवं ऋत-चिन्मयी सत्ताका द्रुत प्रकटन नही होगा; वास्तविक घटना यह होगी कि अतिमानसी सत्ता क्रमवैकासिकी संभूतिके जगत्‌में अवतरित होगी, वहाँ अपने-आपको गठित करेगी और पार्थिव प्रकृतिके भीतर विज्ञानकी शक्तियोंका उन्मेप करेगी। वस्तुतः सारी पार्थिव सत्ताकी यही रीति है; कारण, पृथ्वी-जीवनकी प्रक्रिया एक अनन्त 'सद्वस्तु'की क्रीड़ा है जो पहले तो उन अन्धकारमय रूपसे सीमित, धूमिल और अधूरी अर्ध-आकृतियोंकी परम्परामें छिपती है जो जिस सत्यको जन्म देनेका यत्न कर रही हैं, उसे अपनी अपूर्णता और अपने छद्मवेशके स्वभाव-के कारण विकृत कर देती हैं, परन्तु वादमें अपनी उन अर्ध-भास्वर आकृतियोंतक अधिकाधिक पहुँचती है जो, यदि अतिमानसिक अवतरण हो चुका हो तो, एक सच्चा प्रगतिशील उद्‌भासन हो जा सकती हैं। आद्य अतिमानससे अवतरण, क्रमविकासमें अतिमानसका रूपग्रहण, यह ऐसा डग है जिसे अतिमानसिक विज्ञान अपने स्वरूप-स्वभावको परिवर्तित किये विना ही वहुत भली भाँति उठा सकता और पूरा कर सकता है।

वह उस ऋत-चिन्मय जीवनकी विधिको अपना सकता है जो अन्तर्निहित आत्म-ज्ञानमें प्रतिष्ठित हो परन्तु, साथ ही साथ, मानस-प्रकृति, प्राण-प्रकृति और भौतिक शरीरको भी उठाकर आत्मसात् कर लेता हो। कारण, अनन्तके ऋत-चित्के रूपमें, अतिमानसके अपने सक्रिय तत्त्वमें मुक्त आत्म-निर्धारणका अनन्त सामर्थ्य है। उसके लिये यह सम्भव है कि वह समस्त ज्ञानको अपने अन्दर धारण किये रखकर भी रूपायणमें केवल उसे व्यक्त करे जो क्रमविकासके प्रत्येक पर्वमें आवश्यक हो; जो कुछ अभिव्यक्तिगत दिव्य इच्छा और अभिव्यक्त की जानेवली वस्तुके सत्यके अनुरूप है, उसे वह रूपायित करता है। वह इसी सामर्थ्यसे अपने ज्ञानको पीछेकी ओर रोके रख सकता, अपने स्वरूप और क्रिया-धर्मको छिपाये रख सकता और अधिमानसको और अधिमानसके नीचे उस अज्ञान-जगत्को अभिव्यक्त कर सकता है जिसमें जीव, अपने वहिस्तलपर, यह इच्छा रखता है कि उसे ज्ञान न हो, यहाँ तक कि अपने-आपको एक व्यापी निर्ज्ञानके अधिकारके नीचे डाल देता है। परन्तु इस भाँति ओढ़े गये अवगुण्ठनको इस नूतन पर्वमें हटा दिया जायगा; क्रमविकास प्रत्येक डगपर ऋत-चित्की शक्तिमें गतिमान् होगा और उसके प्रगतिशील निर्धारण चेतन ज्ञान द्वारा होंगे, न कि अज्ञान अथवा निश्चेतनाके रूपोंमें।

जैसे पृथ्वीपर एक मनोमयी चेतना और शक्ति स्थापित हुई है जो कि मनोमय जीवोंकी जातिको घड़ती है और पार्थिव प्रकृतिमें जो कुछ परिवर्तनके लिये तैयार है उस सवको अपने अन्दर उठा ले जाती है, वैसे ही अव पृथ्वीपर एक विज्ञानमयी चेतना तथा शक्ति स्थापित होगी जो विज्ञानमय आध्यात्मिक जीवोंकी जातिको घड़ेगी और पार्थिव प्रकृतिमें इस नूतन रूपान्तरके लिये जो कुछ तैयार है उस सवको अपने अन्दर उठा ले जायगी। साथ ही, वह ऊपरसे, प्रगतिशील रूपसे, अपने पूर्ण ज्योति, शक्ति तथा सौन्दर्यके स्वधामसे उस सवको ग्रहण करेगी जो उस प्रदेशसे पार्थिव सत्तामें अवरोहणके लिए तैयार है। कारण, भूतकालमें क्रमविकासके आगे वढ़नेके लिये, प्रत्येक क्रान्तिक विन्दुपर, प्रच्छन्न शक्तिका निश्चेतनामें अपनी संवृत अवस्थामेंसे उत्क्षेप हुआ है, और अपने उच्चतर स्वाभाविक प्रान्तमें आत्म-सिद्ध वही शक्ति ऊर्ध्वसे, अपने स्वलोकसे उतरी भी है। इन सारे पूर्व-पर्वोमें वहिस्तलीय आत्मा और चेतना तथा अवगूढ़ आत्मा और चेतनाके वीच एक विभाजन रहा है; वहिस्तलका निर्माण प्रधानतः नीचेसे उत्क्षिप्त होती शक्तिके धक्केसे, 'निश्चेतन' द्वारा 'अध्यात्म-

पुरुष'की प्रच्छन्न शक्तिके एक धीमे उन्मिषन्त रूपायणके विकाससे हुआ, और अवगूढ़का निर्माण अंशतः इसी भाँति, किन्तु प्रधानतः ऊर्ध्वसे उसी शक्तिकी विशालताके युगपत् अन्तःस्रावसे हुआ: अवगूढ़ भागोंमें एक मनोमय पुरुष या प्राणमय पुरुष उतर आया और उसने अपने वहाँके गुप्त पीठस्थानसे वहिस्तलपर एक मनोमय अथवा प्राणमय व्यक्तित्वकी रचना की। परन्तु अतिमानसिक परिवर्तन आरम्भ हो सके उसके पूर्व यह आवश्यक है कि अवगूढ़ और वहिस्तलीय भागोंके बीचका आवरण भंग कर दिया जा चुका हो; वह अन्तःस्राव, वह अवतरण, आवरणके पीछे अंशतः घटित नहीं होगा, अपितु सम्पूर्ण चेतनामें उसके समग्र रूपमें होगा। वहाँ प्रक्रिया कोई निगूढ़, अस्पष्ट और द्विधासंकुल रीति न रह जायगी; वह तो एक मुक्त प्रस्फुटन होगी जिसका अनुभव और अनुसरण समग्र आधार अपने रूपान्तरमें चेतन रूपसे करेगा। अन्य दिशाओंमें वह प्रक्रिया अभिन्न होगी,—ऊर्ध्वसे अतिमानसिक अन्तःस्राव, प्रकृतिमें विज्ञानमय पुरुषका अवतरण, और नीचेसे निगूढ़ अतिमानसिक शक्तिका उन्मज्जन; यह अन्तःस्राव और अनावरण, दोनों मिलकर, अज्ञान-प्रकृतिका जो कुछ भी अवशेष बचा होगा उसे दूर कर देंगे। तब निश्चेतनका शासन विलुप्त हो जायगा: कारण, निश्चेतना अपने अन्दरकी महत्तर निगूढ़ चेतनाके प्रस्फोटसे, प्रच्छन ज्योतिके प्रस्फोटसे अपने उस सच्चे तत्त्वमें जो कि वह सदा ही थी, निगूढ़ अतिचेतनाके सिन्धुमें परिवर्तित हो जायगी। विज्ञानमयी चेतना एवं प्रकृतिका प्रथम रूपायण इसका परिणाम होगा।

पृथ्वीपर अतिमानसिक सत्ता, प्रकृति एवं जीवनकी सृष्टि ही इस क्रमविकासका एकमात्र परिणाम नहीं होगी; इसमें वहाँ तक ले जानेवाले डगोंका चरम उत्कर्ष भी साथ आयगा: कारण, वह अधिमानस, संबोधि और आध्यात्मिक प्रकृति-शक्तिकी अन्य श्रेणियोंपर पार्थिव जन्मकी अविकार-प्राप्तिको पुष्ट करेगा और पार्थिव प्रकृतिके भीतर विज्ञान पुरुषोंकी एक जाति और साथ ही विज्ञानमयी ज्योति एवं शक्तिकी ऊपर उठती भूमिकाओं और क्रमानुगत उपादान-रचनाओंका एक श्रेणी-क्रम, एक देदीप्यमान् सोपान प्रतिष्ठित करेगा। कारण, जो भी चेतना सत्ताके सत्यपर अधिष्ठित है, न कि अज्ञान अथवा निर्ज्ञानपर, उसके लिये विज्ञानका यह विवरण प्रयुक्त होता है। जो भी जीवन और प्राणी मनोमय अज्ञानसे परे उठनेको तो तैयार होंगे, परन्तु फिर भी अतिमानसिक उत्तुंगताके

लिए तैयार नहीं, उन्हें एक प्रकारका सोपान या परस्परव्यापी पैड़ियोंवाला क्रम मिलेगा जिसमें उन्हें परम 'सद्वस्तु' की ओरके मार्गमें अपना आश्वस्त आधार, अपने आत्म-रूपायणके मध्यवर्ती डग मिलेंगे, आध्यात्मिक जीवनके लिये अपनी क्षमताकी चरितार्थताकी अभिव्यक्ति मिलेगी। परन्तु जब अति-मानसिक ज्योति तथा शक्ति प्रमुक्त हो जाती, पूर्ण प्रभुता प्राप्त कर लेती और क्रमविकासिका प्रकृतिके शिरोभागमें आ जाती है, तब यह आशा भी की जा सकती है कि उसके परिणाम समूचे क्रमविकासमें होंगे। क्रमविकासकी निम्नतर भूमिकाओंपर भी एक स्पर्श, एक निर्णायक चापका प्रभाव पड़ेगा; ज्योतिका कोई अंश, शक्तिका कोई अंश, नीचेकी ओर अन्तःप्रविष्ट होगा और प्रकृतिमें सर्वत्र निगूढ़ ऋत-वीर्यको एक महत्तर क्रियामें जागृत करेगा। सामंजस्यका एक प्रबल तत्त्व अपने-आपको अज्ञान-जीवनपर आरोपित करेगा; वैषम्य, अन्धी खोज, संघर्षकी टक्कर, अतिशयता और अवसादके अपसामान्य उलटफेर, अपने मिश्रण और संघर्षमें क्रियारत अन्धी शक्तियोंका अस्थायी सन्तुलन,—इन्हें उस प्रभावका अनुभव होगा और ये सत्ताके विकासकी एक अधिक व्यवस्थित गतिधारा और सामंजस्यपूर्ण डगोंके लिये, प्रगतिशील प्राण और चेतनाके एक अधिक उद्भासक आयोजनके लिये, एक श्रेष्ठतर जीवन-व्यवस्थाके लिए स्थान खाली करेंगे। मानव-जीवनमें संबोधि, सहानुभूति और अवबोधकी एक अधिक मुक्त क्रीड़ाका प्रवेश होगा, आत्मा और विषयोंके सत्यका एक अधिक स्पष्ट बोध और जीवनके अवसरों और कठिनाइयोंके साथ एक अधिक दीप्त व्यवहार होगा। तब विकासक्रम चेतनाके वर्द्धन और निश्चेतनाकी शक्तिके बीच, ज्योतिकी शक्तियों और अन्धकारकी शक्तियोंके बीच एक सतत परस्पर-मिश्रित और भ्रमित संघर्ष नहीं रहकर न्यूनतर ज्योतिसे महत्तर ज्योतिकी ओर एक क्रमबद्ध प्रगति हो जायगा; उसके प्रत्येक पर्वमें उस पर्वके चेतन जीव आन्तरिक चित्-शक्तिको प्रत्युत्तर देंगे और विश्वप्रकृतिमें उनका जो अपना धर्म है उसे उस प्रकृतिकी एक उच्चतर कोटिकी प्राप्तिकी ओर विकसित करेंगे। कमसे कम यह एक बलवती सम्भावना तो है, और इसे क्रमविकासपर अतिमानसकी सीधी क्रियाके स्वाभाविक परिणामके रूपमें देखा जा सकता है। यह हस्तक्षेप क्रमविकासके तत्त्व-विधानको रद्द नहीं करेगा, क्योंकि अतिमानसमें यह सामर्थ्य है कि वह अपनी ज्ञान-शक्तिको निगृहीत अथवा आरक्षित रखे या उसे परिपूर्ण अथवा आंशिक क्रियामें चालू करे; बल्कि यह हस्तक्षेप

क्रमविकामिक उन्मज्जनकी कठिन और आक्रान्त प्रक्रियाको सामंजस्य, स्थिरता, सुविधा और प्रशान्ति देगा और वहुत दूरीतक सुखमयी भी करेगा।

फिर, अतिमानसकी प्रकृतिमें ही ऐसा कुछ है जो इस महान् परिणामको अनिवार्य कर देगा। अतिमानस, मूलतः अद्वैतात्मक, सर्वांगपूर्णकारी और सामंजस्यकारी चैतन्य है, और अपने अवतरणमें और 'अनन्त'की विविधताको क्रमविकासमें कार्यान्वित करनेमें वह अपनी अद्वैत प्रवृत्ति, अपनी सर्वांगपूर्णकारिणी प्रेरणा या अपना सामंजस्यकारी प्रभाव नहीं खो देगा। अधिमानस विविधताओं और विभिन्न सम्भावनाओंका अनुसरण उनकी अपनी अपनी विभिन्नताओंकी धाराओंमें करता है; वह विरोधों और वैषम्योंकी अनुमति दे सकता है, परन्तु वह उन्हें एक वैश्व समग्रके तत्त्व बना देता है; फलतः, चाहे कितने ही अनजाने रूपसे और अपने-आपके वावजूद क्यों न हो, वे उसकी समग्रतामें अपना अपना भाग देनेके लिये वाध्य हो जाते हैं। या हम कह सकते हैं कि वह विरोधोंको स्वीकार करता, यहाँ तक कि प्रोत्साहित करता है, परन्तु उन्हें वाध्य करता है कि वे एक दूसरेके अस्तित्वको सहारा दें जिससे कि सत्ता, चेतना और अनुभवके भिन्न-भिन्न मार्ग हो सकें जो उस 'एक'से और परस्पर एक दूसरेसे अलग ले जाते हों, परन्तु फिर भी अपने-आपको उस 'एकत्व' पर संरक्षित रखते हों और प्रत्येकको उसके अपने-अपने मार्गसे पुनः उस 'एकत्व'की ओर ले जा सकते हों। हमारे अपने अज्ञान-जगत्का गूढ़ अर्थ भी यही है; वह कार्य तो निश्चेतनाके आधारसे करता है परन्तु अधिमानसिक तत्त्वका विश्वत्व उसमें अन्तर्निहित है। किन्तु ऐसी सृष्टिमें व्यष्टि-जीवको न तो इस गुप्त तत्त्वका ज्ञान अधिकारमें रहता है और न वह अपना कर्म ही उसपर आधारित करता है। दूसरी ओर, अधिमानसिक जीवको यहाँ यह रहस्य तो प्रत्यक्ष रहेगा, किन्तु ऐसा होने पर भी सम्भव है कि वह अपने अन्तःस्थ परमात्मा या भगवान्की प्रेरणा, सक्रिय नियंत्रण या आन्तरिक शासनके अनुसार, अपने स्वभाव, अपने स्वधर्मकी गतिधाराओंमें ही कार्य करे और वाकीको समष्टिमें अपनी-अपनी गतिधारामें छोड़ दे। सुतरां, अज्ञानमें अधिमानसकी ज्ञान-सृष्टि अपने चारों ओरके अज्ञान-जगत्से कोई पृथक् वस्तु हो सकती और अपने स्वीय तत्त्वके ज्योतिर्मय परिवेष्टन और पृथक्कारिणी दीवारसे उसकी ओरसे संरक्षित रह सकती है। इसके विपरीत, अतिमानसिक विज्ञानपुरुष

अपने सारे जीवनको अपने आन्तरिक और बाह्य जीवन या समुदाय-जीवनमें सामंजस्यपूर्ण एकत्वके अन्तरंग बोध और प्रभावी चरितार्थतापर अधिष्ठित करनेके अलावा उस समयतक अवशिष्ट रहते मनोमय जगत्के साथ भी सामंजस्यपूर्ण एकत्वकी रचना करेगा, भले ही वह जगत् सर्वथा अज्ञान-जगत् क्यों न रह रहा हो। कारण, उसके अन्दरकी विज्ञानमयी चेतना अज्ञानके रूपायणोंमें छिपे और विकसित होते सत्य और सामंजस्य-तत्त्वको देखेगी और बाहर लायगी; उसके अखंडता-बोधके लिये यह स्वाभाविक होगा और उन्हें अपने विज्ञान-तत्त्वके साथ और अपनी महत्तर जीवन-सृष्टिके विकसित सत्य एवं सामंजस्यके साथ एक सच्ची व्यवस्थामें संयुक्त करना उसके सामर्थ्यके अन्तर्गत होगा। जगत्के जीवनमें एक बड़ा परिवर्तन हुए बिना यह असम्भव हो सकता है, परन्तु ऐसा परिवर्तन प्रकृतिमें एक नूतन शक्तिके आविर्भाव और उसके विश्वव्यापी प्रभावका एक स्वाभाविक परिणाम ही होगा। पार्थिव प्रकृतिमें एक अधिक सामंजस्यपूर्ण क्रमविकास-व्यवस्थाकी आशा विज्ञान-पुरुषके उद्भवमें ही है।

अतिमानसिक अथवा विज्ञानमय पुरुषोंकी जाति किसी एक ही प्रकारकी बनी, एक ही निर्धारित प्रतिमानमें ढली जाति नहीं होगी; कारण, अतिमानसका धर्म विविधतामें परिपूरित होता एकत्व है। अतएव, विज्ञानचेतनाकी अभिव्यक्तिमें अनन्त विविधता आयगी, किन्तु एकत्व ही उस चेतनाका आधार और उपादान होगा और वह चेतना अपनी सबको प्रकट और सबको संयुक्त करनेवाली व्यवस्थामें एक ही होगी। यह स्पष्ट है कि अतिमानसकी त्रिपुटी इस नयी अभिव्यक्तिमें उसके तत्त्वके रूपमें वहाँ पुनः उपस्थित होगी। उसके नीचे अधिमानस और संबोधि-विज्ञानकी कोटियाँ होंगी जो फिर भी उसीकी होंगी, वहाँ वे जीव होंगे जिन्होंने ऊर्ध्वगामिनी चेतनाकी ये कोटियाँ उपलब्ध कर ली हैं। फिर, ज्यों-ज्यों ज्ञानगत क्रमविकास बढ़ेगा, शिखरपर ऐसे व्यष्टि-जीव भी होंगे जो अतिमानसरूपायणसे आगे आरोहण कर जायँगे और अतिमानसके उच्चतम शिखरसे शरीरमें ही अद्वैतघना आत्म-सिद्धिकी उन चोटियोंपर पहुँच जायँगे जो अवश्य ही सृष्टिके देवाविर्भावकी अन्तिम और परम अवस्था होंगी। परन्तु वस्तुतः अतिमानसिक जातिमें, उसकी कोटियोंकी विविधतामें, व्यक्तियोंको वैयक्तिकताके किसी एक ही प्रकारके अनुसार नहीं ढाला जायगा; प्रत्येक व्यक्ति दूसरेसे भिन्न होगा, परम

सत्-पुरुषका एक अद्वितीय रूपण होगा, किन्तु साथ ही आत्म-अधिष्ठान और एकत्व-बोधमें और आत्म-सत्ताके तत्त्वमें बाकी सबके साथ एक रहेगा। अतिमानसिक जीवनके इस सामान्य सिद्धान्तका ही एक प्रत्यय बनानेका प्रयत्न हम कर सकते हैं, वह चाहे मनके विचार और मनकी भाषाकी सीमाओंके कारण कितना ही क्षीण क्यों न हो जाता हो। विज्ञानमय पुरुषका अधिक जीवन्त चित्र अतिमानस ही बना सकेगा; मनके लिये तो उसकी कुछ अमूर्त रूपरेखाएँ मात्र सम्भव हैं।

विज्ञान है परमात्माका कार्यंकर तत्त्व, आध्यात्मिक जीवनका सर्वोच्च क्रियावीर्य। विज्ञानमय व्यक्ति आध्यात्मिक मनुष्यका चरमोत्कर्ष होगा; उसकी रहने, विचारने, जीने और करनेकी सारी विधि बृहत् विश्वव्यापिनी आध्यात्मिकताकी शक्तिसे शासित होगी। परमात्माके सारे त्रित्व उसकी आत्म-संवित्के लिये वास्तव और उसके आन्तरिक जीवनमें संसिद्ध होंगे। उसकी समग्र सत्ताका विश्वातीत एवं विश्वव्यापी आत्मा एवं पुरुषके साथ एकत्वमें संलयन हुआ होगा; उसका सारा कर्म प्रकृतिपर परमात्मा एवं परम पुरुषके दिव्य शासनसे उद्गत और उसके अनुगत होगा। सकल जीवनमें उसे यह बोध होगा कि चिन्मय सत् ही, अन्तःस्थ पुरुष ही, प्रकृतिमें अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है; उसका जीवन और उसके जीवनके सारे विचार, भावनाएँ और कार्य उसके लिये उसी अर्थसे भर जायेंगे और जीवनकी सत्यताकी उसी भित्तिपर निर्मित होंगे। वह अपनी चेतनाके केन्द्र-केन्द्रमें, अपनी प्राण-शक्तिके स्पन्दन-स्पन्दनमें, अपने शरीरके कोषाणु-कोषाणुमें भगवान्को विराजमान अनुभव करेगा। अपनी प्रकृति-शक्तिकी सारी क्रियाओंमें उसे परमा जगन्माता पराप्रकृतिकी क्रियाकी संवित् होगी; वह अपनी प्राकृतिक सत्ताको जगन्माताकी शक्तिकी संभूति और अभिव्यक्तिके रूपमें देखेगा। इस चेतनामें उसका निवास और उसका कर्म सम्पूर्ण विश्वोत्तर स्वातंत्र्यमें, 'अध्यात्म-तत्त्व'के परिपूर्ण आनन्दमें, विश्वात्माके साथ समग्र तादात्म्यमें और विश्वमें सबके साथ स्वतःस्फूर्त सहानुभूतिमें होंगे। सकल भूत उसके लिये उसीके आत्म-स्वरूप होंगे, चेतनाकी सारी विधियाँ और शक्तियाँ उसे अपनी विश्वात्मकताकी विधियाँ और शक्तियोंके रूपमें अनुभूत होंगी। परन्तु उस सर्वग्राही विश्वात्मभावमें निम्नतर शक्तियोंकी दासता न होगी, उसके अपने सर्वोच्च सत्यमें कोई स्खलन न होगा: कारण, वह सत्य सकल वस्तुओंके सत्योंको आच्छादित करेगा और प्रत्येकको विशिष्टतम सामंजस्यके

सम्बन्धमें, अपने-अपने स्थानमें रखेगा,—उसमें सीमान्तोंका कोई भ्रम, संघर्ष या उल्लंघन न हो सकेगा, समग्र सामंजस्यके उपादान-रूपी विभिन्न सामंजस्योंकी कोई विकृति न हो सकेगी। उसका अपना जीवन और विश्वका जीवन उसके लिये एक उत्कृष्ट कला-कृतिकी तरह होंगे; वे मानों एक विश्वव्यापी और स्वतःस्फूर्त प्रतिमाकी सृष्टि होंगे जो बहुत्वपरक व्यवस्थाको क्रियान्वित करनेमें अचूक है। विज्ञानमय व्यक्ति जगत्‌में और जगत्‌का होगा, परन्तु अपनी चेतनामें वह उसका अतिक्रमण भी करेगा और उससे ऊपर अपने विश्वातीत आत्मामें निवास भी; वह विश्वात्मक होगा किन्तु विश्वमें स्वतंत्र भी होगा, वह व्यक्ति तो होगा, किन्तु किसी पृथगात्मिका वैयक्तिकतासे सीमित नहीं होगा। सच्चा पुरुष कोई विलग सत्ता नहीं है, उसकी वैयक्तिकता विश्वात्मिका है; कारण, वह पुरुष विश्वका व्यष्टिरूप होता है। साथ ही वह वैय-क्तिकता मेघोंसे ऊपर उठते उत्तुंग शिखरकी भाँति, विश्वातीत आनन्त्यके आध्यात्मिक वायुमंडलमें, दिव्य रूपसे उन्मिषन्त होती है; कारण, वह पुरुष दिव्य विश्वातीतका व्यष्टिरूप होता है।

हमारे जीवनके सामने उसके रहस्यकी तीन कुंजियोंके रूपमें जो तीन शक्तियां उपस्थित होती हैं, वे हैं व्यक्ति, विश्वसत्ता और वह 'सद्‌वस्तु' जो उन दोनोंमें वर्तमान है और उनसे परे भी। अतिमानसिक पुरुषके जीवनमें जीवनके इन तीनों रहस्योंके सामंजस्यकी एक संयुक्त परिपूर्ति मिलेगी। वह पुरुष पूर्णता-सम्पन्न और षोडशकल होगा, उसे अपने विकास और स्वाभिव्यक्तिकी परिपूर्ण तुष्टि होगी; कारण, उसके सारे तत्त्व एक उच्चतम कोटितक ले जाये जायँगे और एक प्रकारकी व्यापक विशालतामें उनका समाकलन होगा। हमारा उद्योग हो रहा है सम्पूर्णता और सामंजस्यके लिये; हमारी प्रकृतिकी अपूर्णता और असमर्थता या विसंगति ही वह वस्तु है जिससे हम आन्तरिक रूपसे अधिकतम पीड़ित हैं; परन्तु इसका कारण है हमारी सत्ताकी असम्पूर्णता, हमारे आत्म-ज्ञानकी अपूर्णता, अपने आत्मा और अपनी प्रकृतिपर हमारे अधिकारकी अपूर्णता। सारी वस्तुओंमें और हर क्षण सम्पूर्ण आत्मज्ञानका होना अतिमान-सिक विज्ञानकी देन है और उसके साथ एक पूरी आत्म-प्रभुता आती है, केवल प्रकृतिपर नियंत्रणके अर्थमें नहीं, अपितु प्रकृतिके अन्दर पूर्ण आत्माभिव्यक्तिकी शक्तिके अर्थमें। वहाँ जो कोई भी आत्मज्ञान होगा, आत्माकी इच्छामें पूर्णतः मूर्त होगा, इच्छा आत्माकी क्रियामें पूर्णतः मूर्त

होगी; परिणाम होगा आत्माका स्वीय प्रकृतिमें सम्पूर्ण एवं सक्रिय आत्म-रूपायण। विज्ञानमयी सत्ताकी निम्नतर कोटियोंमें प्रकृतिके विभेदके अनुसार आत्माभिव्यक्तिका सीमायन होगा, किसी दिव्य समग्रताके किसी पार्श्व, तत्त्व अथवा तत्त्वोंके सम्मिलित सामंजस्यको रूपायित करनेके लिये एक सीमित पूर्णता होगी, उस अनन्ततया बहुविध 'एक'के विश्व-रूपमेंसे कुछ शक्तियोंका एक सीमित चयन होगा। परन्तु अतिमानसिक सत्तामें पूर्णताके लिये सीमायनकी यह आवश्यकता विलुप्त हो जायगी; वहाँ विविधताका सम्पादन सीमायन द्वारा नहीं, अपितु पराप्रकृतिके बल और आभाकी विविधता द्वारा होगा। पुरुषकी वही अखंडता और प्रकृतिकी वही अखंडता अपने-आपको अनन्त विविधताकी रीतिसे व्यक्त करेगी; कारण, प्रत्येक पुरुष वहाँ उस अद्वय परम पुरुषका एक नवीन समग्रत्व, सामंजस्य, आत्मसमीकरण होगा। किसी क्षण पुरोभागमें किसे प्रकट किया जायगा या पीछेकी ओर किसे खींचे रखा जायगा, यह किसी सामर्थ्य या असामर्थ्यपर नहीं, अपितु परमात्माके क्रियावंत आत्म-वरणपर, उसके आत्माभिव्यक्तिके आनन्दपर, व्यक्तिके अन्दर भगवान्‌की इच्छा और आत्मानन्दके सत्यपर, और गौण रूपसे उस वस्तुके सत्यपर निर्भर करेगा जिसे समग्रताके सामंजस्यमें व्यक्तिके द्वारा करना था। कारण, सम्पूर्ण व्यक्ति विश्वव्यक्ति होता है; वस्तुतः, जब हम विश्वको अपने अन्दर ले लेते है,—और उसका अतिक्रमण कर जाते है,—केवल तभी हमारी वैयक्तिकता सम्पूर्ण हो सकती है।

अतिमानसिक पुरुष, अपनी विश्वचेतनामें सबको आत्मवत् देखता और अनुभव करता हुआ, उसी भावसे कार्य करेगा; वह सार्वभौम संवित्‌से, और समग्र आत्माके साथ अपने वैयक्तिक आत्माके, समग्र इच्छाके साथ अपनी वैयक्तिक इच्छाके, समग्र कर्मके साथ अपने वैयक्तिक कर्मके सामंजस्यमें कार्य करेगा। कारण, अपने बाह्य जीवनमें और अपने आन्तरिक जीवनपर उसकी प्रतिक्रियाओंमें हम जिस वस्तुसे अधिकतम बाधित होते हैं वह है जगत्‌के साथ हमारे सम्बन्धोंकी अपूर्णता, दूसरोंके विषयमें हमारा अज्ञान, वस्तुओंकी समग्रताके साथ हमारा असामंजस्य, जगत्‌से हमारी माँग और हमसे जगत्‌की माँग,—इनका समीकरण करनेमें हमारी अक्षमता। एक ओर हमारा स्व-प्रतिष्ठापन, दूसरी ओर वह जगत् जिसपर हमें उस प्रतिष्ठापनको आरोपित करना है, वह जगत् जो हमें हमारे लिये अत्यधिक विशाल लगता है और अपने लक्ष्यकी ओर गति-प्रवाहमें हमारे अन्तरात्मा, मन,

प्राण तथा शरीरपरसे उदासीन भावसे निकल जाता प्रतीत होता है,—इनके बीच एक संघर्ष रहता है, ऐसा संघर्ष जिसका अन्तिम समाधान जगत् और अपनी सत्ता दोनोंसे ही निष्क्रमणके अतिरिक्त और कोई नहीं लगता। जगत्‌के गतिपथ और लक्ष्यसे हमारे गतिपथ और लक्ष्यका सम्बन्ध हमारे लिये अप्रकट है, और उसके साथ अपना सामंजस्य बैठानेके लिये हमें या तो अपने-आपको उसपर बलात् लादना और उसे हमारे अपने अनुगत करना होता है या हमें अपना ही दमन करना और उसके अनुगत हो जाना होता है, या फिर, व्यक्तिकी अपनी नियति और वैश्व समग्र तथा उसके गूढ़ उद्देश्यके बीच सम्बन्धकी इन दोनों आवश्यकताओंके मध्य एक कठिन सन्तुलन साध लेना होता है। परन्तु विश्वचेतनामें निवास करनेवाले अतिमानसिक पुरुषके लिये यह कठिनाई होगी ही नहीं; कारण, उसमें कोई अहं नहीं होता। उसका वैश्व व्यक्तित्व वैश्व शक्तियों और उनकी गतिविधि और उनके तात्पर्यको अपने ही अंगके रूपमें जानेगा, और उसके अन्दरका ऋत-चित् प्रत्येक डगपर सही सम्बन्धको देखेगा और उस सम्बन्धकी सही क्रियाशील अभिव्यक्तिको पा लेगा।

कारण, वस्तुतः, व्यक्ति और विश्व, दोनों उसी विश्वातीत सत्-पुरुषकी युगपत् और परस्पर-सम्बन्धित अभिव्यक्तियाँ हैं। यद्यपि अज्ञानमें और उसके विधानके नीचे कुसंमजन और संघर्ष है, तो भी कोई एक सही सम्बन्ध, एक समीकरण होना ही चाहिये जिस तक सब कुछ पहुँचता है, परन्तु जो हमारी अहमान्धताके कारण, सबमें एक रहनेवाले 'आत्मा'के बदले हमारे अहंके प्रतिष्ठापनके प्रयत्नके कारण, हमसे छूटा रहता है। अतिमानसिक चेतनामें सम्बन्धोंका वह सत्य उसके स्वाभाविक स्वत्व और विशेषाधिकारके रूपमें उसके अन्दर रहता है, क्योंकि अतिमानस ही वैश्व सम्बन्धों और विश्वके साथ व्यक्तिके सम्बन्धोंको निर्धारित करता है, विश्वातीतकी शक्तिके रूपमें वह उसका निर्धारण स्वच्छन्दता और प्रभुतासे करता है। मनोमय पुरुषमें अहंको अभिभूत करनेवाली विश्वचेतनाका चाप और विश्वातीत सद्वस्तुकी संवित्, ये दोनों भी अपनेसे ही कोई क्रियावंत समाधान नहीं भी ला सकती हैं; कारण, उसकी विमुक्त आध्यात्मिक मानसता और वैश्व अज्ञानके अन्धकारमय जीवनके बीच फिर भी एक असंगति रह सकेगी जिसके समाधान या अतिक्रमणका सामर्थ्य मनको नहीं होगा। परन्तु यह सामर्थ्य अति-मानसिक पुरुषमें,—जो स्थैतिक रूपसे सचेतन ही नहीं होगा, अपितु

विश्वातीतकी सृष्टिशीला ज्योति और शक्तिके क्रियाबलसे पूरा सम्पन्न होगा और उस ज्योति तथा शक्तिसे कार्य कर रहा होगा,—अतिमानसिक ज्योतिको, सत्य-ज्योतिको, "ऋतं ज्योतिः" को प्राप्त रहेगा। कारण, वहाँ विश्वात्माके साथ एकत्व तो होगा, परन्तु विश्व-प्रकृतिके निम्नतर रूपायणगत अज्ञानकी दासता न होगी; इसके विपरीत, वहाँ सत्यकी ज्योतिसे उस अज्ञानपर क्रिया करनेका सामर्थ्य होगा। स्वाभिव्यक्तिकी एक विशाल सार्वभौमता, जगत्-सत्ताकी एक विशाल सौपम्यपूर्ण सार्वभौमता, ये विज्ञानमयी स्वप्रकृतिमें अवस्थित अतिमानसिक पुरुषका लक्षण ही होंगी।

अतिमानसिक पुरुषका जीवन अद्वय सत्ताके आनन्दके लिये अद्वय सत्ता और अद्वय चेतनाकी एक बहुविध और बहुल रूपोंसे अभिव्यक्त होती ऋत-शक्तिकी लीला होगा। परमात्माका अपनी सत्ताके सत्यमें अभिव्यक्तिका आनन्द विज्ञान-जीवनका अर्थ होगा। उसकी सारी गतिविधि परमात्माके सत्यका रूपायण होगी और परमात्माके आनन्दका रूपायण भी,—वह होगी आध्यात्मिक सत्ताका प्रतिष्ठापन, आध्यात्मिक चेतनाका प्रतिष्ठापन, आध्यात्मिक आनन्दका प्रतिष्ठापन। परन्तु यह प्रतिष्ठापन अहंकेन्द्रिक या पृथक्कारी या दूसरोंके आत्म-प्रतिष्ठापन या उनकी जीवनसे की गयी माँगके प्रति विरोधी या उदासीन या अपर्याप्त जीवन्त रहनेवाला नहीं होगा, जैसा कि, अन्तर्निहित एकत्वके बावजूद भी, आत्मप्रतिष्ठापन हमारे अन्दर होनेको प्रवण रहता है। आत्मतः सबके साथ एक रहकर अतिमानसिक पुरुष अपने अन्दर परमात्माकी स्वाभिव्यक्तिके आनन्दकी खोज करेगा, परन्तु समान रूपसे सबके अन्दर भगवान्के आनन्दकी खोज भी। उसे विश्वका आनन्द होगा और वह दूसरोंके लिये परमात्माका आनन्द, सत्ताका आनन्द लानेके निमित्त एवं शक्ति होगा; कारण, उनका आनन्द उसके अपने अस्तित्वके आनन्दका भाग होगा। सकल भूतोंके हितमें रत रहना, दूसरोंके हर्ष और शोकको अपना ही बना लेना, विमुक्त और सिद्ध आध्यात्मिक मानवका लक्षण कहा गया है। अतिमानसिक पुरुषको, इसके लिये, किसी परहित भावसे जनित आत्मविलोपनकी आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि यह कार्य उसकी आत्मपरिपूर्तिके लिये, सबके अन्दर उस 'एक'की परिपूर्तिके लिये अन्तरंग होगा, और उनके स्व-हित तथा परहितके बीच कोई विरोध या संघर्ष नहीं होगा। फिर, विश्वव्यापिनी सहानुभूति कर सकनेके लिये अज्ञानमें

पड़े जीवोंके सुख-दुःखके अधीन होना भी उसके लिये आवश्यक नहीं होगा; उसकी विश्वव्यापिनी सहानुभूति उसकी सत्ताके अन्तर्जात सत्यका अंग होगी, न कि न्यूनतर हर्ष और कष्टमें व्यक्तिगत भाग लेनेपर निर्भर करेगी; वह जिसका आलिंगन करती है उसका अतिक्रमण करेगी और उस अतिक्रमणमें ही उसकी शक्ति होगी। उसका विश्वभावमय अनुभव, उसका विश्वभावमय कर्म सदा ही एक स्वतःजात स्थिति और स्वाभाविक परिस्पन्द, सत्यकी एक स्वतःस्फूर्त अभिव्यक्ति होगा, परमात्माकी स्वयम्भू सत्ताके आह्लादका कार्य होगा। उसमें सीमित आत्मा या कामनाके लिये, या सीमित आत्माकी तुष्टि या निराशा, कामनाकी तुष्टि या निराशाके लिये कोई स्थान नहीं होगा, हमारी सीमित प्रकृतिमें आनेवाले और उसे संतप्त करनेवाले सापेक्ष तथा पराश्रित सुख-दुःखके लिये कोई स्थान नहीं होगा; कारण, ये वस्तुएँ अहं और अज्ञानकी हैं, परमात्माके स्वातंत्र्य तथा सत्यकी नहीं।

विज्ञानपुरुषको कर्मकी इच्छा तो होती है, किन्तु किसकी इच्छा करनी चाहिये इसका ज्ञान और अपने ज्ञानको कार्यान्वित करनेका बल भी उसे रहता है, और जो नहीं करना चाहिये उसे करनेके लिये वह अज्ञान द्वारा प्रवृत्त भी नहीं होता। इसके अतिरिक्त, उसका कर्म किसी फल अथवा परिणामकी खोज नहीं होता; उसे सत्ता और कर्मका शुद्ध आनन्द है, अध्यात्म-सत्ताकी विशुद्ध स्थितिमें, अध्यात्म-सत्ताके विशुद्ध कर्ममें, अध्यात्म-सत्ताके विशुद्ध आनन्दमें ही उसका आनन्द है। जैसे उसकी स्थैतिक चेतना सबको अपने अन्दर समाये रखेगी और, फलतः, नित्य आत्म-परिपूर्ण होगी, वैसे ही उसकी चेतनाकी क्रियाधारा भी प्रत्येक डग और प्रत्येक कर्ममें आध्यात्मिक स्वतंत्रता और आत्म-परिपूर्ति पायगी। वहाँ प्रत्येकको उसके समग्रत्वके साथके सम्बन्धमें देखा जायगा; तब प्रत्येक डग, अपने-आपमें ज्योतिर्मय, आनन्ददायी और तुष्टिदायी होगा, क्योंकि प्रत्येक एक ज्योतिर्मयी समग्रतासे संयुक्त होगा। यह चेतना, आध्यात्मिक समग्रतामें यह निवास और उसी आधारसे कर्म करनेकी यह रीति, सत्ताके सार तत्त्वमें आत्मतृप्त समग्रता और सत्ताकी सक्रिय गतिधारामें आत्मतृप्त समग्रता, प्रत्येक डगपर उस समग्रताके सम्बन्धोंका साथ-साथ बोध,—यह सब वस्तुतः अतिमानसिक चेतनाका लक्षण ही है और उसका हमारी अज्ञान-कवलित चेतनाके असंबद्ध डगोंसे विभेद करना है जिनका क्रम अज्ञानसे ही चलता है। विज्ञानमयी सत्ता

और अस्तित्वका विज्ञानमय आनन्द सार्वभौम तथा समग्र सत्ता एवं आनन्द हैं, और वह समग्रता तथा सार्वभौमता प्रत्येक पृथक् गतिधारामें वर्तमान होगी: प्रत्येकके अन्दर आत्माका कोई आंशिक अनुभव या उसके आनन्दका कोई आंशिक खंड नहीं, अपितु एक सर्वांगीण सत्ताकी समग्र गतिधाराका बोध होगा और सत्ताका अखंड तथा सर्वांगीण आनन्द विद्यमान होगा। विज्ञानपुरुषका कर्ममें स्वतःसंसिद्ध ज्ञान भावपरक ज्ञान नही, अपितु अतिमानसका सत्-भाव होगा, चेतनाकी स्वरूपगत ज्योतिका साधन होगा; वहाँ सत्ता तथा संभूतिकी सारी ही सत्यताकी आत्म-ज्योति होगी जो निरन्तर उमड़ आ रही होगी और प्रत्येक विशेष डग तथा क्रियाको अपनी स्वयम्भू सत्ताके शुद्ध तथा सम्पूर्ण आनन्दसे भर रही होगी। अनन्त चेतनाको, जिसे कि तादात्म्य-ज्ञान रहता है, प्रत्येक भिन्न रूपणमें उस 'अभिन्न'का आनन्द और अनुभव मिलता है, प्रत्येक सान्तमें अनन्तका ही अनुभव होता है।

विज्ञानमयी चेतनाके आविर्भावके साथ हमारी जागतिक चेतना और जागतिक कर्मका रूपान्तर आता है: कारण, वह आविर्भाव आन्तरिक जीवनको ही नहीं, अपितु हमारी बाह्य सत्ता और हमारी जागतिक सत्ताको भी नयी संवित्-शक्तिमें ऊपर उठाता है; उन दोनोंका एक पुनर्निर्माण होता है, आध्यात्मिक जीवनके अर्थ और शक्तिमें उनका समाकलन होता है। इस परिवर्तनमें हमारी वर्तमान जीवनविधिका परावर्तन और परित्याग, और साथ ही, उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति तथा धाराकी परिपूर्ति अवश्य ही घटित होंगी। कारण, हम अभी इन दो प्रान्तोंके बीच खड़े हैं, एक तो प्राण और जड़का बाह्य जगत् जिसने हमें बनाया है, और दूसरा, विकसित हो रही 'अध्यात्म-सत्ता'के मर्मार्थमें हमारे द्वारा उस जगत्का पुनर्निर्माण। हमारी वर्तमान जीवन-विधि प्राण-शक्ति तथा जड़के नीचे अधीनता है और साथ ही प्राण तथा जड़के साथ संघर्ष भी। अपने प्रथम प्राकट्यमें बाह्य जीवन आन्तरिक या मानसिक जीवनकी रचना हमारी उन प्रतिक्रियाओं द्वारा करता है जो बाह्य जीवनके सम्बन्धमें होती हैं; यदि हम अपने-आपको गढ़ ही रहे हों, तो यह काम अधिकांश मनुष्योंमें अन्दरसे किसी मुक्त अन्तरात्मा अथवा बुद्धिके सचेतन चाप द्वारा कम, हमपर क्रिया करनेवाले पर्यावरण और जगत्-प्रकृतिको दिये गये हमारे प्रत्युत्तर द्वारा अधिक होता है। परन्तु अपनी चेतन सत्ताके विकासमें हम यथार्थमें एक ऐसे आन्तरिक जीवनकी ओर बढ़ते

हैं जो अपने ज्ञान तथा बलसे जीवनके अपने ही बाह्य रूप और जीवनके उस परिवेशकी रचना करता है जो उसे अभिव्यक्त करे। विज्ञानमयी प्रकृतिमें इस गतिधाराने अपना चरम उत्कर्ष प्राप्त कर लिया होगा; वहाँ जीवनका स्वरूप वह सिद्ध आन्तरिक जीवन होगा जिसकी ज्योति और शक्ति बाह्य जीवनमें पूर्ण देह धारण करेगी। विज्ञानपुरुष प्राण और जड़के जगत्को हाथमें लेगा परन्तु उसे वह स्वीय सत्य और जीवनोद्देश्यकी ओर मोड़ेगा और उसके अनुकूल बनायगा; वह तो जीवनको ही अपनी आध्यात्मिक प्रतिमामें ढाल देगा, और ऐसा वह इस कारण कर सकेगा कि उसे आध्यात्मिक सृष्टिका रहस्य प्राप्त है और उसे अपने अन्तःस्थ स्रष्टाका संस्पर्श और उसके साथ एकीभाव रहता है। इसकी प्रथम प्रभावशालिता उसके अपने आन्तरिक तथा बाह्य वैयक्तिक जीवनको आकार देनेमें होगी, परन्तु हर विज्ञानमय सामूहिक जीवनमें वही शक्ति और तत्त्व क्रियमाण होंगे; विज्ञानपुरुषके साथ विज्ञानपुरुषके सम्बन्ध उनके अद्वय विज्ञानात्मा एवं पराप्रकृतिकी अभिव्यक्ति होंगे, वह पराप्रकृति सारे सामूहिक जीवनको इस भाँति गढ़ रही होगी कि वह उसकी सार्थक शक्ति और उसका सार्थक रूप हो जाय।

आध्यात्मिक जीवनमें आन्तरिक जीवन प्रथम महत्त्वकी वस्तु होता है। आध्यात्मिक मनुष्य सदा अन्तरमें रहता है, और परिवर्तित होना अस्वीकार करनेवाले अज्ञानजगत्में उसे एक अर्थमें उससे पृथक् रहना और अपने आन्तरिक जीवनको अज्ञानकी अन्धकारमयी शक्तियोंके बलात्प्रवेश और प्रभावकी ओरसे रक्षित रखना होता है। वह जगत्में रहकर भी उससे बाहर रहता है; यदि वह उसपर क्रिया करता भी है तो अपनी आन्तरिक आध्यात्मिक सत्ताके दुर्गमेंसे जिसमें अन्तरतम देवकक्षमें वह परम सत्के साथ एक होता है या ईश्वर और जीव अकेले साथ-साथ होते हैं। विज्ञानजीवन ऐसा आन्तरिक जीवन होगा जिसमें आन्तरिक और बाह्य, आत्मा और जगत्के विरोधका उपचार और अतिक्रमण हो गया होगा। वस्तुतः विज्ञानपुरुषका एक अन्तरतम जीवन होगा जिसमें वह ईश्वरके साथ अकेला रहेगा,—शाश्वतके साथ एकीभूत, अनन्तकी गहराइयोंमें आत्म-निमग्न, उसके शिखरों और उसके ज्योतिर्मय निगूढ़ गह्वरोंके साथ अन्तर्युक्त। कोई भी वस्तु इन गहराइयोंमें विक्षोभ न ला सकेगी, उनपर आक्रमण न कर सकेगी, उस पुरुषको इन शिखरोंसे नीचे न उतार सकेगी; जगत्में जो कुछ है या उस पुरुषका कर्म या उसके

चारों ओर जो कुछ भी है, इनमेंसे कुछ भी ऐसा न कर सकेगा। यह आध्यात्मिक जीवनका विश्वातीतताका रूप है और 'अध्यात्म-पुरुष'की स्वतंत्रताके लिये आवश्यक है; कारण, अन्यथा, प्रकृतिमें जगत्के साथ तादात्म्य एक बन्धनकारी परिसीमन होगा, मुक्त तादात्म्य नहीं। परन्तु, साथ ही, ईश्वरप्रेम और ईश्वरानन्द हृदयके द्वारा उसी आन्तरिक संस्पर्श तथा एकत्वकी अभिव्यक्ति होगा और वह आनन्द एवं प्रेम समूचे अस्तित्वका आलिंगन करनेके लिये विस्तृत होगा। अन्तरकी भागवत शान्ति विश्वके विज्ञानमय अनुभवमें समताकी एक सर्वव्यापिनी प्रशान्तिमें परिणत हो जायगी जो केवल निष्क्रिय ही नहीं, सक्रिय होगी; वह एकत्वगत स्वतंत्रताकी प्रशान्तिमें विस्तृत हो जायगी जो, उसके सामने जो कुछ आयगा, उसपर प्रवाह रहेगी, जो कुछ उसके अन्दर आयगा उसे प्रशान्त करेगी, अतिमानसिक पुरुष जिस जगत्में रह रहा है उसके साथके उस पुरुषके सम्बन्धोंपर अपना शान्तिका धर्म आरोपित करेगी। उसके सारे कर्मोंमें आन्तरिक एकत्व, आन्तरिक संस्पर्श उसका संगी होगा और उसके दूसरोंके साथके सम्बन्धोंके अन्दर प्रवेश करेगा जो उसके लिये दूसरे नहीं, अपितु उस अद्वय जीवनमें, उसके अपने विश्वजीवनमें उसके अपने ही आत्मा होंगे। 'अध्यात्म-सत्ता' के अन्दर यह स्थिति और स्वतंत्रता ही उसे इस योग्य करेगी कि वह आध्यात्मिक पुरुष रहकर भी सकल जीवनको अपने अन्दर ले ले और अज्ञानमें स्वयं प्रवेश किये विना अज्ञान-जगत्का आलिंगन भी करे।

उसका विश्व-जीवनका अनुभव, अपने प्रकृतिरूपके कारण और वैयक्तिकीकृत संकेन्द्रणके कारण, उस किसीका अनुभव होगा जो विश्वमें जीवन-यापन कर रहा है, परन्तु साथ ही साथ, एकत्वमें आत्म-प्रसृति तथा विस्तरणके कारण, उस किसीका अनुभव होगा जो विश्व और उसके सकल भूतग्रामको अपने अन्दर लिये चलता है। सत्ताकी यह विस्तृत अवस्था केवल आत्माके एकत्वमें विस्तरण या धारणात्मक भाव और दृष्टिका विस्तरण नहीं, अपितु हृदयमें, इन्द्रिय-संवेदनोंमें, संहृत शारीरिक चेतनामें एकत्वका विस्तरण होगी। उसकी चेतना, उसका संवेदन, उसकी अनुभूति विश्वात्मक होंगी और फलतः सारा बहिर्व्यंक्त जीवन उसके आत्मपरक जीवनका अंग हो जायगा और वह सभी रूपोंके अन्दर भगवान्को उपलब्ध करेगा, उनका प्रत्यक्ष बोध और अनुभव पायगा, उनका दर्शन और श्रवण करेगा। सारे ही रूपों और गतिविधिमें उसे ऐसा ही

अनुभव और बोध होगा, उन्हें वह इसी रूपमें देखेगा, सुनेगा और अनुभव करेगा मानों वे उसकी अपनी ही वृहत् सत्ताके अन्दर घटित हो रहे हों। जगत्का सम्बन्ध केवल उसके वाह्य जीवनके साथ नहीं, अपितु आन्तरिक जीवनके साथ भी होगा। जगत्से उसकी भेंट केवल किसी वाह्य सम्पर्क द्वारा किसी वाह्य रूपमें नहीं होगी; वह आन्तरिक रूपसे वस्तुओं तथा जीवोंके आन्तर आत्माके सम्पर्कमें रहेगा : उनकी वाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रकारकी प्रतिक्रियाओंका सामना वह चेतन रूपसे करेगा; उसे उनके अन्दर उसकी संवित् होगी जिसके प्रति वे स्वयं अवगत नहीं है, वह सवपर एक आन्तरिक अवबोधके साथ क्रिया करेगा, वह सबका सामना एक पूर्ण सहानुभूति तथा एकत्व-बोधके साथ करेगा किन्तु साथ ही उसे एक स्वतंत्रता रहेगी जो किसी भी सम्पर्क द्वारा अभिभूत नहीं होगी। जगत्पर उसकी क्रिया प्रधानतः एक आन्तरिक क्रिया होगी जो 'अध्यात्म-पुरुष'की शक्ति द्वारा, जगत्में अपने-आपको रूपित कर रही आध्यात्मिक-अतिमानसिक भाव-शक्ति द्वारा, अकथित गूढ़ शब्द द्वारा, हृदयकी शक्ति द्वारा, क्रियावंत प्राण-शक्ति द्वारा, निखिल वस्तुओंके साथ एक रहते आत्माकी परिव्यापिनी और अंतःप्रवेशिनी शक्ति द्वारा होगी। वाह्य, प्रकट और दृश्य क्रिया इस अद्वय, वृहत्तर और समग्र क्रियाशीलताका एक किनारा ही, एक अन्तिम प्रक्षेप ही होगी।

साथ ही, व्यक्तिका विश्वमय आन्तरिक जीवन केवल भौतिक जगत्में अन्तर्व्याप्ति और केवल उसी जगत्को अपनी परिधिमें लेनेवाले सम्पर्कतक सीमित नहीं रहेगा। वह सत्ताके अन्य लोकोंके साथ अवगूढ़ आन्तरिक पुरुषके स्वाभाविक सम्बन्धकी पूरी उपलब्धि द्वारा उससे भी आगे विस्तृत होगा; उनकी शक्तियों और प्रभावोंका ज्ञान आन्तरिक अनुभवका स्वाभाविक तत्त्व बन गया होगा, और इस जगत्की घटनाओंको एकमात्र उनके वाहरी पहलूमें नहीं, अपितु भौतिक तथा पार्थिव सृष्टि और गति-विधिके पीछे जो कुछ गुप्त है उसके प्रकाशमें भी देखा जा रहा होगा। विज्ञानपुरुषको केवल अपने भौतिक जगत्पर 'अध्यात्म-सत्ता'की सिद्ध शक्तिका ऋत-चिन्मय नियंत्रण ही उपलब्ध नहीं रहेगा, उसे मनःलोकों और प्राणलोकोंकी पूरी शक्तिपर और भौतिक जीवनकी पूर्णताके निमित्त उनकी महत्तर शक्तियोंके उपयोगपर भी अधिकार होगा। सकल सत्ताका यह महत्तर ज्ञान और उसपर यह अधिकार विज्ञानघन पुरुषकी अपने परिवेश और भौतिक प्रकृतिके जगत्पर क्रिया करनेकी शक्तिमें वहुत अधिक वृद्धि करेगा।

स्वयंभू सत्‌में, अतिमानस जिसका सक्रिय ऋत-चित् है, सत्ताका लक्ष्य 'होने' मात्रके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता, चेतनाका लक्ष्य सत्ताके प्रति सचेतन होनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता, सत्ताके आनन्दका लक्ष्य सत्ताके आनन्दके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता, सबकुछ एक स्वयंभू और स्वयंसम्पूर्ण नित्यता है। अभिव्यक्तिका, संभूति-का, अपनी मूल अतिमानसिक गतिधारामें यही स्वभाव है; स्वयंभू और स्वयंपूर्ण छन्दमें वह सत्ताकी एक ऐसी क्रियाशीलताको धारे रखती है जो अपने-आपको बहुविध संभूतिवत् देखती है, चेतनाकी एक ऐसी क्रियाशीलताको धारे रखती है जो बहुविध आत्मज्ञानका रूप लेती है, चेतन सत्ताकी शक्तिकी एक ऐसी क्रियाशीलताको धारे रखती है जो अपनी ही बहुविध सत्ताकी शक्तिकी महिमा और सौन्दर्यके लिये अस्तित्वमें रहती है, आनन्दकी एक ऐसी क्रियाशीलताको धारे रखती है जो आनन्दके असंख्य रूप लेती है। यहाँ 'जड़'में अतिमानसिक पुरुषकी सत्ता और चेतनाका स्वरूप मूलतः वैसा ही होगा, परन्तु उसके कुछ ऐसे गौण लक्षण होंगे जो अपने स्वधाममें रहते अतिमानस और पार्थिव जीवनमें अपने अभिव्यक्त बलमें कार्य करते अतिमानसके बीचका भेद दरशाएँगे। कारण, यहाँ एक विकसनशील सत्ता होगी, एक विकसनशील चेतना होगी, सत्‌का एक विकसनशील आनन्द होगा। विज्ञानपुरुषका प्राकट्य इस बातका प्रतीक होगा कि क्रमविकास अज्ञान-चेतनासे चलकर सच्चिदानन्द-चेतनामें आ गया है। अज्ञानमें हमारा निवास प्रधानतः होता है विकसित होनेके लिये, जाननेके लिये और करनेके लिये, या अधिक ठीक-ठीक कहें तो विकसित होकर कुछ हो जानेके लिये, ज्ञानके द्वारा किसी वस्तु तक पहुँच जानेके लिये, कुछ करा डालनेके लिये। हम अपूर्ण हैं, अतः हमें अपनी सत्तासे सन्तोष नहीं होता, हमें विवश होकर कठिनाई झेलते हुए श्रमसाध्य उद्योग करना होता है कि हम विकसित होकर ऐसे कुछ हो जायँ जो हम नहीं हैं; हम अज्ञ हैं और अपने अज्ञानकी चेतनाके भारके नीचे हैं, अतः हमें किसी ऐसी वस्तुतक पहुँचना होता है जिससे हम यह अनु-भव कर सकें कि हम जानते हैं; हम असमर्थताकी चहारदीवारीमें घिरे हैं, अतः हमें बल और सामर्थ्यकी खोज करनी होती हैं; हम कष्टकी चेतनासे आक्रान्त है, अतः हमें ऐसा कुछ करा डालनेका प्रयास करना होता है जिससे कोई सुख हमारी पकड़में आ सके अथवा हम जीवनकी कोई सन्तोषप्रद सत्यता हस्तगत कर सकें। अस्तित्वको बनाये रखना

निस्संदेह हमारा प्रथम व्यवसाय और आवश्यकता है, परन्तु यह एक आरम्भ-विन्दु ही है : कारण, दुःख-जर्जरित अपूर्ण अस्तित्वको वनाये रखना ही हमारी सत्ताका पर्याप्त लक्ष्य नही हो सकता; अस्तित्वकी सहजप्रवृत्तिगत इच्छा, अस्तित्वका सुख ही वह सारी वस्तु है जिसे अज्ञान अन्तःस्थ गूढ़ शक्ति तथा आनन्दमेंसे निकाल पाता है,—इसका सम्पूरण करना होता है करनेकी और कुछ बन जानेकी आवश्यकतासे। परन्तु क्या करें और क्या वनें, इसका हमें स्पष्ट ज्ञान नहीं रहता; हम जो ज्ञान पा सकते हैं, उसे पाते है, जो शक्ति, वल, शुचिता पा सकते हैं, उसे पाते हैं, जो आनन्द पा सकते हैं, उसे पाते हैं, जो वन सकते हैं, वह वन जाते हैं। परन्तु हमारे लक्ष्य और उनकी प्राप्तिके लिये हमारे प्रयत्न और उपलब्धिके रूपमें हम जो थोड़ासा धृत रख पाते हैं, ये सब हमें बाँधनेवाले पाशमें वदल जाते हैं; ये ही हमारे लिये जीवन-लक्ष्य हो जाते हैं। अपने अन्तरात्माको जानना और आत्म-स्वरूप हो जाना, जिसे ही हमारी सत्ताकी सच्ची रीतिकी भित्ति होना है, एक ऐसा रहस्य है जो हमारे वाह्य ज्ञानार्जन, ज्ञानके वाह्य निर्माण, वाह्य कर्मके निष्पादन, बाह्य आनन्द और सुखमें अभिनिविष्ट रहनेके कारण हमसे छूटा रहता है। आध्यात्मिक मनुष्य वह है जिसने अपने अन्तरात्माका आविष्कार कर लिया है : उसने अपने आत्माको पा लिया है और वह उसमें निवास करता, उसके प्रति चेतन रहता, उसका आनन्द पाता है; अपने जीवनकी सम्पूर्णताके लिए उसे किसी भी वाहरी वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती। विज्ञानपुरुष इस नूतन आधारसे आरम्भ कर हमारी अज्ञानमयी संभूतिको हाथमें लेता और उसे ज्ञानकी ज्योतिर्मयी संभूति और सत्ताकी सिद्ध शक्तिमें परिणत कर देता है। अतएव अज्ञानमें हमारा जो कुछ भी होनेका प्रयत्न है, उसे वह ज्ञानमें परिपूरित करेगा। वह सकल ज्ञानको सत्ताके आत्मज्ञानकी अभिव्यक्तिमें, सकल वल और कर्मको सत्ताकी आत्म-शक्तिके वल और कर्ममें, सकल आनन्दको आत्म-सत्ताके सार्वभौम आनन्दमें परिवर्तित कर देगा। आसक्ति और बन्धन विलुप्त हो जायँगे, क्योंकि प्रत्येक पगपर और प्रत्येक वस्तुमें आत्म-सत्ताकी पूरी तुष्टि होगी, अपने-आपको परिपूरित करती चेतनाकी ज्योति होगी, अपने-आपको पाते सत्के आनन्दका उल्लास होगा। ज्ञानगत क्रमविकासका प्रत्येक पर्व सत्ताकी इस शक्ति और इच्छा और 'होने'के इस आनन्दका एक-एक अनावरण होगा, अनन्तके वोधपर,

ब्रह्मानन्दपर, विश्वातीत सत्ताके ज्योतिर्मय अनुमोदनपर आश्रित एक मुक्त संभूति होगा।

अतिमानसिक रूपान्तर, अतिमानसिक विकासक्रम, अवश्य ही मन, प्राण और शरीरको उनके स्वमेंसे उठाकर सत्ताकी महत्तर रीतिमें लायगा जिनमे फिरभी उनकी अपनी रीतियों और शक्तियोंको दमित या विनष्ट नही, वरन् स्वातिक्रमण द्वारा पूर्ण तथा परिपूरित किया जायगा। कारण, अज्ञानमें सारे ही मार्ग 'अध्यात्म'के उस समयके मार्ग होते हैं जब वह अपने-आपको अन्धतासे अथवा वर्द्धमान प्रकाशसे खोजता है; परन्तु विज्ञान-पुरुष तथा विज्ञान-जीवन होंगे 'अध्यात्म'का आत्माविष्कार और उसका इन सारे मार्गोंके लक्ष्योंको देखना और उनतक पहुँचना और साथ ही उसका सत्ताके अपने ही प्रकट तथा सचेतन सत्यकी महत्तर रीतिसे ऐसा करना। मन खोज करता है आलोककी, ज्ञानकी, — एक सर्वाधार सत्यके ज्ञानकी, आत्मा और वस्तुओंके सारभूत सत्यके ज्ञानकी; किन्तु साथ ही वह उस एकत्वकी विविधता, उसके सारे ब्योरों, परिस्थितियों, बहुविध कर्म-विधियों, रूपों, गतियों और घटनाओंके विधान, विविध अभिव्यक्ति और सृष्टिके सकल सत्यके ज्ञानकी खोज करता है। विचारधर्मी मनके लिये सत्ताका आनन्द है आविष्कारमें और सृष्टि-रहस्यके भेदनमें जिसकी प्राप्ति ज्ञानके आनेसे होती है। विज्ञानमय परिवर्तन इसे प्रचुर परिणाममें परि-पूरित करेगा, परन्तु एक नूतन लक्षण दे देगा। वह अज्ञातका आविष्कार करते हुए नहीं, वरन् ज्ञातको प्रकट करते हुए कार्य करेगा; सब कुछ "आत्माके द्वारा आत्मामें आत्माकी प्राप्ति" होगा। कारण, विज्ञानमय पुरुषका आत्मा मनोमय अहं नहीं, वरन् वह परमात्मा होगा जो सबमें एक है; वह जगत्को परमात्माके ही विश्वके रूपमें देखेगा। सकल वस्तुओंके आधारमें रहते अद्वय सत्यका आविष्कार 'अभिन्न' के द्वारा सर्वत्र अभिन्नता और अभिन्न सत्यका आविष्कार और उसी अभिन्नताकी शक्ति और क्रियाओं और सम्बन्धोंका आविष्कार होगा। अभिव्यक्तिके ब्यौरों, परिस्थितियों, प्रचुर रीतियों और रूपोंका प्राकट्य उसी अभिन्नताके सत्यके अपार वैभवका, उसके आत्माके रूपों और शक्तियोंका, उसके एकत्वको अन्तहीन रूपसे प्रकट करती उसके रूपोंकी विलक्षण बहुविधता और बहुसंख्यकताका अनावरण होगा। यह ज्ञान सबके साथ तादात्म्य द्वारा, सबके अन्दर प्रवेश द्वारा, ऐसे सम्पर्क द्वारा अग्रसर होगा जो अपने साथ आत्माविष्कारकी छलांग और पहचानकी लौ लायगा, मनकी पहुँचसे

आगेके सत्यकी महत्तर और अधिक विश्वस्त संबोधि लायगा। जिस सत्यको देखा है उसे मूर्त करने और उपयोगमें लानेके साधनकी भी एक संबोधि आयगी, उसकी क्रियार्वत प्रक्रियाओंकी एक संचालिका संबोधि आयगी, एक प्रत्यक्ष अन्तरंग संवित् आयगी जो, जब प्राण और जड़मे इस प्रक्रियाको कार्यान्वित करनेके लिये प्राण और शारीरिक इन्द्रियोंको उपकरणोंके रूपमें लानेकी आवश्यकता होगी, उनको उनकी क्रिया और परमात्माकी सेवाके प्रत्येक डगमें निर्देशित करेगी।

बौद्धिक खोजके स्थानपर अतिमानसिक तादात्म्य और उस तादात्म्य-की अन्तर्वस्तुओंकी विज्ञानमयी संबोधिकी प्रतिष्ठा, 'अध्यात्म'की सर्वव्याप्ति जिसका प्रकाश ज्ञानकी सारी प्रक्रिया और उसके सारे उपयोगमे प्रविष्ट हो रहा हो,—जिससे कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयके बीच, सक्रिय चेतना, उपकरण और कृत वस्तुके बीच एकीकरण होगा, जबकि अद्वय आत्मा समूची एकीकृत गतिधारापर निगरानी कर रहा होगा और अपने-आपको उसमें अन्तरंग रूपसे परिपूरित कर रहा होगा, उसे आत्म-सिद्धिकी एक दोषरहित इकाई बना रहा होगा,—यह ज्ञान और ज्ञान-कर्मकी प्रत्येक विज्ञानमयी गतिधाराका लक्षण होगा। मन प्रेक्षण और युक्ति-विचार करता हुआ, अपने-आपको वियुक्त करने और उसे जो जानना है उसे विषयरूपमें और सच्चे रूपमें देखनेका उद्योग करता है; उसे वह अनात्म-वत्, व्यक्तिगत विचारणाकी प्रक्रिया अथवा किसी भी आत्मभावसे अप्रभा-वित रहकर एक स्वतंत्र अन्य वस्तुवत् जाननेकी कोशिश करता है। परन्तु विज्ञानमयी चेतना अपने विषयको उसके साथ अवधारक और अन्तर्वेधक तादात्म्य द्वारा तुरन्त ही अन्तरंग रूपसे और ठीक-ठीक जान लेगी। जिसे जानना है उसे वह पार कर जायगी, किन्तु उसे वह अपने अन्दर सम्मिलित कर लेगी; वह विषयको उसी तरह अपने अंगवत् जानेगी जैसे वह अपनी निज सत्ताके किसी भी अंग या स्पन्दको जान सकती है, और ऐसा वह न तो तादात्म्य द्वारा अपने-आपको संकु-चित करके, न उसके अन्दर अपनी विचारणाको पाशबद्ध करके करेगी जिससे कि उसका ज्ञान आबद्ध अथवा सीमित हो जाता हो। वहाँ अपरोक्ष आन्तरिक ज्ञानकी अन्तरंगता, यथातथ्यता, सम्पूर्णता होगी, परन्तु व्यक्तिगत मन द्वारा वह भ्रान्त निर्देशन नहीं होगा जिसके कारण हम निरंतर भूल करते हैं; क्योंकि तब चेतना किसी प्रतिबन्धित और अहं-बद्ध व्यक्तिकी नहीं, विश्वात्मक व्यक्तिकी होगी। वह सर्व-ज्ञानकी ओर

बढ़ेगी; ऐसा करनेमें वह सत्यको सत्यके सामने यह देखनेको खड़ा नहीं करेगी कि उनमेसे कौनसा जयी होता और टिका रहता है, वरन् सत्यको सत्य द्वारा उस एक सत्यके प्रकाशमें सम्पूरित करेगी जिसके पहलू ही वे सब होते हैं। सकल भाव, दृष्टि और प्रत्यक्षणका स्वरूप यही, एक आन्तरिक अवलोकन, एक अन्तरंग विस्तृत आत्म-प्रत्यक्षण, एक विशाल आत्म-समाकलनकारी ज्ञान, एक अविभाज्य संपूर्णका होगा जो सत्यमयी सत्ताके स्वकृत सामंजस्यमें प्रकाशपर प्रकाशकी क्रिया द्वारा क्रियान्वित हो रहा होगा। एक उन्मेष होगा, किन्तु अन्धकारमेंसे प्रकाशके निःसरणकी तरह नहीं, वरन् प्रकाशके अपने-आपमेंसे निःसरणकी तरह; कारण, यदि उन्मिषन्त अतिमानसिक चेतना अपनी आत्म-संवित्की अन्तर्वस्तुओंके किसी भागको अपने अन्दर पीछेकी ओर खींचे रखती है, तो ऐसा वह अज्ञानके ढगके रूपमें या अज्ञानकी क्रिया द्वारा नहीं, अपितु कालाभिव्यक्तिकी प्रक्रियामें अपने कालातीत ज्ञानको स्वेच्छासे बाहर लानेकी क्रियाके रूपमें करती है। आत्म-ज्योति, प्रकाशका प्रकाशमेंसे उद्भास,—यही इस क्रमवैकासिकी अतिमानसी प्रकृतिकी ज्ञान-रीति होगी।

जैसे मनको आलोककी, ज्ञानके आविष्कारकी और ज्ञान द्वारा प्रभुताकी खोज है, वैसे ही प्राणको भी अपनी स्व-शक्तिके वर्धनकी और शक्ति द्वारा प्रभुताकी खोज है। उसकी खोज वृद्धि, बल, विजय, अधिकार, तुष्टि, सृजन, हर्ष, प्रेम, सौन्दर्यके लिये है; उसका अस्तित्वका आनन्द एक सतत स्वाभिव्यंजना और विकासमें, कर्म, सृजन और भोगके बहुविध बाहुल्यमें, अपने-आपकी और अपने बलकी प्रचुर तथा सबल तीव्रतामें है। विज्ञानमय क्रमविकास उसे उसकी उच्चतम और परिपूर्णतम अभिव्यक्तितक ऊपर उठायगा, परन्तु वह मनोमय या प्राणमय अहंके बल, तुष्टि या भोगके लिये उसके अपने-आपपर संकीर्ण अधिकार पाने और दूसरों और वस्तुओंको अपनी उत्कण्ठित और महत्वाकांक्षिणी पकड़में लेनेके लिये या उसके गुरुतर स्व-प्रतिष्ठापन और विवर्धित रूपणके लिये कार्य नहीं करेगा, कारण, वैसा करनेसे कोई भी आध्यात्मिक सिद्धि और पूर्णता नहीं आ सकती। विज्ञानमय जीवनका अस्तित्व और कार्य अपने और जगत्के अन्दरके भगवान्के लिये, सबके अन्दरके भगवान्के लिये होगा; भागवत सत्ता, ज्योति, शक्ति, प्रेम, आनन्द एवं सौन्दर्यका व्यष्टि-सत्ता और जगत्पर बढ़ता हुआ अधिकार विज्ञान-पुरुषके लिये जीवनका अर्थ होगा। व्यक्तिकी तुष्टि उस प्रगतिशील

अभिव्यक्तिकी अधिकाधिक पूर्ण तुष्टिमें होगी : उसकी शक्ति उस महत्तर जीवन तथा प्रकृतिको ले आने और विस्तृत करनेके लिये पराप्रकृतिकी शक्तिका उपकरण होगी; वहाँ जो भी विजय और साहसिकता होगी, केवल उसीके लिये होगी, किसी वैयक्तिक अथवा सामूहिक अहंके राज्यके लिये नहीं। प्रेम उसके लिये आत्माका आत्माके साथ, अध्यात्म-सत्ताका अध्यात्म-सत्ताके साथ सम्पर्क, मिलन और ऐक्य होगा, सत्ताका एकीकरण होगा, अन्तरात्माके साथ अन्तरात्माकी, उस 'एक'के साथ उस 'एक'की अन्तरंगता और समीपता, आनन्दधारा और शक्ति होगा, तादात्म्यका आनन्द और विविध तादात्म्यके परिणाम होगा। उस 'एक'के अन्तरंग आत्म-प्रकटनकारी विविधत्वका यह आनन्द, उस 'एक'का बहुविचित्र ऐक्य और उस तादात्म्यमें सुखद पारस्परिक क्रिया, ये ही उसके लिये जीवनका पूरा प्रकटित अर्थ होंगे। सौन्दर्यरसिक अथवा क्रियावंत सृष्टि, मानसिक सृष्टि, प्राणिक सृष्टि, जड़ सृष्टि, इन सबका उसके लिये वही अर्थ होगा। वह सृष्टि होगी शाश्वत शक्ति, ज्योति, सौन्दर्य, सद्वस्तुके सार्थक रूपोंकी,—उसके रूपों और कायाओंके सौन्दर्य और सत्यकी, उसकी शक्तियों और गुणोंके सौन्दर्य और सत्यकी, उसके अध्यात्म-तत्त्वके सौन्दर्य और सत्यकी, उसकी स्व-सत्ता और सारकी अरूप सुषमाकी।

चेतनाका यह समग्र परिवर्तन तथा परावर्तन मन, प्राण और जड़के साथ 'अध्यात्म-सत्ता'का एक नया सम्बन्ध स्थापित करेगा, और उस सम्बन्धमें एक नयी सार्थकता और पूर्णता आयगी; इसके परिणाममें अध्यात्म-तत्त्व और वह जिस शरीरमें रहता है उसके बीच सम्बन्धोंमें भी एक परावर्त्तन होगा, एक नयी पूर्णता लानेवाली सार्थकता आयगी। हमारी वर्तमान जीवन-रीतिमें अन्तरात्मा अपने-आपको मन तथा प्राण-शक्तिके द्वारा ही, या तो यथासम्भव अधिकसे अधिक अच्छी तरह या, जैसा होना अनिवार्य है, अधिकसे अधिक बुरी तरह व्यक्त करता है या, अधिक प्राय: वह मन और प्राण-शक्तिको अपने सहारे क्रिया करनेकी अनुमति देता है : शरीर इस क्रियाका उपकरण होता है। परन्तु शरीर, आज्ञापालन करनेमें भी, मन तथा प्राणकी स्वाभिव्यक्तिको अपने स्थूल साधन-विनियोगकी सीमित सम्भावनाओं और अर्जित स्वभाव द्वारा सीमित तथा निर्धारित करता है; इसके अतिरिक्त उसका एक अपने स्व-कर्मका धर्म है, उसकी अपनी ही सत्ताकी अवचेतन अथवा अर्ध-उन्मज्जित चेतन शक्तिकी गतिधारा और उस गतिधाराकी इच्छा या शक्ति या प्रेरणा

है जिन्हें मन और प्राण केवल अंशतः ही प्रभावित और परिवर्तित करते हैं,—और उस अंशमें भी प्रत्यक्ष क्रियाकी अपेक्षा परोक्ष क्रिया द्वारा अधिक, या यदि सीधी क्रिया द्वारा ही तो इच्छित तथा सचेतन क्रियाकी अपेक्षा अवचेतन क्रिया द्वारा अधिक करते है। परन्तु सत्ता और जीवनकी विज्ञानमयी विधिमें 'अध्यात्म-सत्ता'की इच्छा शरीरकी गतिविधि तथा धर्मको अवश्य ही सीधे नियंत्रित और निर्धारित करेगी। कारण, यद्यपि शरीरका धर्म अवचेतन अथवा निश्चेतनमेंसे उद्भूत होता है, तथापि विज्ञानघन पुरुषमें अवचेतन सचेतन हो गया होगा, अतिमानसिक नियंत्रणके अधीन और उसकी ज्योति एवं क्रियासे अनुविद्ध हुआ होगा; अतिमानसिक आविर्भावके कारण निश्चेतनाका आधार, अपनी अन्धकार-मयता और अस्पष्टता, अपनी बाधा या विलम्बित प्रत्युत्तरशीलताके सहित, एक निम्नतर अथवा आधारदायिनी अतिचेतनामें रूपान्तरित हो गया होगा। वस्तुतः, उच्चतर मनकी सत्ताकी सिद्धिमें और संबोधिमयी तथा अधिमानसी सत्तामें ही शरीर 'भाव' और 'इच्छा-शक्ति'के प्रभावको उत्तर देनेके लिए पर्याप्त सचेतन हो चुका होगा जिससे कि शारीरिक अंगोंपर मनकी क्रिया, जो कि हमारे अन्दर आरम्भिक अस्तव्यस्त और अधिकतर अनचाहे होती है, एक महत्वपूर्ण बल प्राप्त कर चुकी होगी : परन्तु अतिमानसिक पुरुषमें सब कुछका शासन वह चेतना करेगी जिसके अन्दर 'सत्-भाव' रहता है। यह 'सत्‌भाव' ऐसा सत्य-प्रत्यक्षण है जो स्वतः-कार्यकर है; कारण, वह 'अध्यात्म-सत्ता' का वह भाव और 'अध्यात्म-सत्ताकी वह इच्छा है जो सीधे क्रिया करते हैं, और वह सत्ताके उपादान-की एक ऐसी गतिधाराका प्रवर्तन करता है जो सत्ताकी स्थिति तथा क्रियाशीलतामें अपने-आपको अनिवार्य रूपसे चरितार्थ करेगी। अपनी उच्चतम कोटिमें अवस्थित ऋत-चित्‌की यह सक्रिय और अप्रतिरोध्य आध्यात्मिक वास्तवता ही यहाँ, विकसित विज्ञानमय पुरुषमें, सचेतन हुई होगी और सचेतन रूपसे समर्थ भी। वह अभीकी भाँति प्रतीयमान निश्चेतनामें आवृत और यांत्रिक विधानसे सीमित रहकर नहीं, वरन् स्वतः-सिद्धिकरी क्रिया करनेवाली प्रभुताशालिनी 'सद्वस्तु'की भाँति कार्य करेगी। वही जीवनका शासन एक सम्पूर्ण ज्ञान तथा बलके साथ करेगी और शरीरकी वृत्ति और क्रियाको अपने शासनमें सम्मिलित करेगी। आध्यात्मिक चेतनाकी शक्तिसे शरीर 'अध्यात्म'के एक सच्चे, योग्य और पूर्णतया अनुगामी उपकरणमें परिवर्तित हो जायगा।

अध्यात्म और शरीरका यह नया सम्बन्ध, भौतिक प्रकृतिके वर्जनके स्थानपर उस सारीकी सारी प्रकृतिके मुक्त स्वीकरणको अंगीकार करता और सम्भव बनाता है: प्रकृतिसे पीछे हट जाना, उसके सम्बन्धमें समस्त तादात्म्य या स्वीकरणका वर्जन करना, जो कि आध्यात्मिक चेतनाको विमुक्त करनेके लिये प्रथम स्वाभाविक आवश्यकता है, अब अपरिहार्य नहीं रह जाता। चाहे आध्यात्मिक मुक्तिकी बात हो, चाहे आध्यात्मिक पूर्णता और प्रकृतिपर अधिकारकी, शरीरके साथ एकात्म न रह जाना, अपने-आपको शरीर-चेतनासे पृथक् करना, एक माना हुआ और आवश्यक डग है। परन्तु यह उद्धार जब एक बार सम्पादित हो जाता है तो आध्यात्मिक ज्योति और शक्तिका अवतरण शरीरपर भी धावा कर सकता और उसे भी हाथमें ले सकता है, और जड़ प्रकृतिका एक नया, विमुक्त और प्रभुताशाली स्वीकरण भी हो सकता है। निस्संदेह यह तभी सम्भव है यदि आत्मा और जड़के अन्तरंग संबंधमें परिवर्तन आय, आत्मा और जड़की परस्पर-क्रियाके वर्तमान सन्तुलनपर नियंत्रण लाया जाय, उसे पलट दिया जाय, क्योंकि वर्तमान सन्तुलन तो भौतिक प्रकृतिको आत्माको आवृत करने और अपनी ही प्रधानताका प्रतिष्ठापन करने देता है। एक विशालतर ज्ञानके प्रकाशमें देखा जा सकता है कि जड़ भी ब्रह्म है, ब्रह्मके द्वारा निर्गत उसीकी आत्म-शक्ति है, ब्रह्मका ही रूप, ब्रह्मकी ही धातु है। जड़ वस्तुमें अन्तःस्थ गूढ़ चेतनाको जानती हुई, इस विशालतर ज्ञानमें सुरक्षित रहती विज्ञानमयी ज्योति तथा शक्ति इस रूपमें देखे गये जड़के साथ संयुक्त हो सकती और उसे आध्यात्मिक अभिव्यक्तिके उपकरणके रूपमें स्वीकार कर सकती है। यहाँ तक कि जड़के प्रति आदरभाव और उसके साथ सारे व्यवहारोंमें एक श्रद्धात्मक भाव अपनाना भी सम्भव है। जैसे गीतामें भोजन करनेको एक भौतिक पूजन, एक यज्ञ, ब्रह्मका ब्रह्म द्वारा ब्रह्मको अर्पण कहा गया है, विज्ञानघन चेतना तथा इंद्रियबोधको भी जड़के सम्बन्धमें अध्यात्म-तत्त्वकी सकल क्रियाएँ उसी रूपमें प्रकट हो सकती हैं। अध्यात्म-तत्त्वने अपने-आपको इसलिये जड़तत्त्व बना दिया है जिससे कि वहाँ वह अपने-आपको सृष्ट भूतोंके मंगल और आनन्द, "योगक्षेम"के लिये, सार्वभौम भौतिक उपयोग और सेवामें आत्मार्पणके लिये एक उपकरणकी तरह रख सके। विज्ञानपुरुष जड़वस्तुका उपयोग करेगा किन्तु भौतिक या प्राणिक आसक्ति या कामनाके बिना; उसमें वह यह अनुभव करेगा कि वह 'अध्यात्म-तत्त्व'को

हो, उसीके इस रूपमें, उसकी सहमति और अनुमोदनसे, उसीके उद्देश्यके लिये उपयोगमें ला रहा है। उसे जड़ वस्तुओंके प्रति एक निश्चित आदरभाव होगा; उसे उनमें अन्तःस्थ गुह्य चेतनाकी, उपयोगिता और सेवाके लिये उस चेतनाकी मूक इच्छाकी अनुभूति होगी; जिसे वह उपयोगमें लेता है उसमें वह भगवान्‌की, ब्रह्मकी आराधना करेगा; अपनी दिव्य सामग्रीके आदर्श और दोषहीन उपयोगके लिये, जड़के जीवनमें, जड़के उपयोगमें एक सच्चे छन्द, व्यवस्थित सामंजस्य, सौन्दर्यके लिये वह सावधान रहेगा।

अध्यात्म-तत्त्व और शरीरके बीच इस नये सम्बन्धके परिणाम-स्वरूप विज्ञानमय क्रमविकास शारीरिक सत्ताका आध्यात्मीकरण, उसकी पूर्णता एवं परिपूर्ति संपादित करेगा; जैसे मन और प्राणके लिये, वैसे ही वह शरीरके लिये भी करेगा। शारीरिक चेतनाकी तमोमयता, दुर्बलताएँ और सीमाएँ हैं और उन्हें यह परिवर्तन जीतेगा; परन्तु दूसरी ओर शारीरिक चेतना धैर्यवती सेविका होती है और अपनी सम्भावनाओंके विशाल आरक्षित भण्डारके सहारे वैयक्तिक जीवनका एक सबल उपकरण हो सकती है, और अपने लिये उसकी माँग अल्प होती है: आयु, स्वास्थ्य, बल, शारीरिक पूर्णता, शारीरिक सुख, कष्ट-मुक्ति और आरामके लिये ही उसकी लालसा होती है। ये माँगें अपने-आपमें अस्वीकार्य नहीं, हीन या अवैध नहीं, कारण, ये बाह्यरूप और उपादानकी उस पूर्णताको, उस शक्ति और आनन्दको जड़तत्त्वमें अनूदित करती हैं जिन्हें अध्यात्मका स्वाभाविक निःस्राव, उसकी अभिव्यंजिका अभिव्यक्ति होना चाहिये। जब विज्ञान-शक्ति शरीरमें क्रिया कर सकेगी, ये वस्तुएँ स्थापित की जा सकेंगी, कारण, इनकी विरोधिनी वस्तुएँ स्थूल मनपर, स्नायविक तथा भौतिक प्राणपर, देह-संस्थानपर बाह्य शक्तियोंका चाप पड़नेसे आती हैं, एक ऐसे अज्ञानसे आती हैं जो इन शक्तियोंका सामना करना नहीं जानता या इनका सामना ठीक रीति या सबलतासे करनेमें अक्षम है, और किसी तमोमयतासे आती हैं जो स्थूल शारीरिक चेतनाके उपादानमें व्याप्त है, उसके प्रत्युत्तरोंको विकृत करती है और इन शक्तियोंके प्रति गलत रीतिसे प्रतिक्रिया करती है। इस अज्ञानका स्थान लेती हुई एक अतिमानसिक, स्वयं-कर्त्री, स्वयं-संसाधिका संवित् और ज्ञानशक्ति शरीरकी तमोवृत और विभ्रष्ट संबोधिमूलिका सहजवृत्तियोंको मुक्त तथा पुनः प्रतिष्ठित करेगी और उन्हें एक श्रेष्ठतर सचेतन क्रियासे आलोकित तथा

अनुपूरित करेगी। यह परिवर्तन शरीरके द्वारा विषयोंके सही प्रत्यक्ष बोधका, पदार्थों और ऊर्जाओंके साथ सही सम्बन्ध और सही प्रतिक्रियाका, मन, स्नायु तथा दैहिक संघटनके एक सही छन्दका आरम्भ करेगा और उन्हें बनाये भी रखेगा। वह शरीरके अन्दर एक महत्तर आध्यात्मिक शक्तिको और वैश्व प्राणशक्तिसे संयुक्त और उससे आहरण कर सकने-वाली एक महत्तर प्राणशक्तिको लायगा, जड़ प्रकृतिके साथ एक दीप्ति-वान् सामंजस्य स्थापित करेगा और शाश्वत विश्रांतिका विशाल तथा प्रशान्त स्पर्श लायगा जो उसे उसका दिव्यतर बल और सुख दे सकता है। इन सबके ऊपर,—कारण, यह सबसे अधिक आवश्यक और मूल-भूत परिवर्तन है,—वह संपूर्ण आधारको चित्-शक्तिकी एक परमा ऊर्जासे प्लावित कर देगा जो शरीरको घेरनेवाली और उसपर चाप डालनेवाली विश्व-जीवनकी सारी शक्तियोंका सामना करेगी, उन्हें आत्मसात् करेगी या अपने साथ समंजस करेगी।

मनोमयी, प्राणमयी एवं अन्नमयी सत्तामें अभिव्यक्त चित्-शक्तिकी असम्पूर्णता और दुर्बलता, उसपर डाले गये विश्वऊर्जाके सम्पर्कोंको इच्छानुसार ग्रहण या अस्वीकार करने, या यदि ग्रहण किया तो उन्हें आत्मसात् अथवा समंजस करनेमें उसकी अक्षमता,—यही दुःख और कष्टका कारण है। जड़ प्रदेशमें प्रकृति पूरी ही असंवेदनशीलतासे आरम्भ करती है, और यह एक दर्शनीय तथ्य है कि प्राणके प्रारम्भमें, पशुमें, आदिम अथवा कम विकसित मनुष्यमें या तो एक अपेक्षाकृत असंवेदन-शीलता या न्यून संवेदनशीलता या, अधिक प्रायः, कष्टके प्रति एक अधिक सहनशक्ति और दृढ़ता मिलती है। मानव-प्राणी जैसे-जैसे विकासक्रममें बढ़ता है, उसकी संवेदनशीलता बढ़ती है और वह मन, प्राण तथा शरीरमें अधिक तीक्ष्ण कष्ट पाता है। कारण, चेतनामें जो वृद्धि होती है उसे शक्ति-वृद्धिका पर्याप्त अवलम्ब नहीं मिलता : शरीर अधिक सूक्ष्म हो जाता है, उसका सामर्थ्य अधिक परिमार्जित हो जाता है, पर उसकी बाह्य ऊर्जामें उसकी निपुणता भी कम ठोस हो जाती है : मनुष्यको अपनी स्नायविक सत्ताको सक्रिय, संशोधित और नियंत्रित करनेके लिये, अपने उपकरणोंसे वह जिन श्रमसाध्य कार्योंकी माँग करता है उनके हेतु उसे विवश करनेके लिये, उसे कष्ट और अनर्थके सामने फौलाद-की तरह कर देनेके लिये, अपने इच्छाबल, अपने मनोबलका सहारा लेना पड़ता है। आध्यात्मिक आरोहणमें उपकरणोंपर चेतना और उसकी

इच्छाका यह बल, बाह्य मानसता और स्नायविक सत्ता तथा शरीरपर आत्मा तथा आन्तरिक मनका नियंत्रण, विपुल रूपसे वर्द्धित हो जाता है; सारे आघातों और सम्पर्कोंके प्रति आत्माकी एक प्रशान्त तथा विशाल समताका प्रवेश होता है और वह समता ही अभ्यस्त स्थिति हो जाती है, और वह मनसे प्राणिक भागोंमें चली जा सकती और वहाँ भी एक विपुल तथा स्थायी शान्तिकी विशालता स्थापित कर सकती है; यह अवस्था शरीरमें भी रूपित हो सकती है और शोक, वेदना और सब प्रकारके दुःखके आघातोंका सामना आन्तरिक रूपसे कर सकती है। यहाँ तक कि इच्छा-बलसे शरीरको असंवेदनशील करनेका सामर्थ्य भी चला आ सकता है, या समस्त आघात और चोटकी ओरसे मानसिक विलगावका सामर्थ्य भी अर्जित किया जा सकता है; इससे यह प्रदर्शित होता है कि सामान्य प्रतिक्रियाएँ और जड़ प्रकृतिके सामान्य प्रत्युत्तर-अभ्यासोंके प्रति दैहिक सत्ताकी निःशक्त अधीनता बाध्यकारी या अपरिवर्तनीय नहीं है। और भी अधिक महत्वपूर्ण वह शक्ति होती है जो वेदनाके स्पन्दनोंको आनन्दके स्पन्दनोंमें परिवर्तित करनेके लिये आध्यात्मिक मन अथवा अधिमानसके स्तरपर आती है : ऐसा यदि किसी विशेष बिन्दुतक ही हो, तो भी इससे प्रतिक्रियाकारिणी चेतनाके सामान्य विधानको पूराका पूरा पलट देनेकी सम्भावनाका संकेत होता है, इसे आत्म-रक्षणकी एक ऐसी शक्तिके साथ भी संयुक्त किया जा सकता है जो उन आघातोंको दूसरी ओर मोड़ देती है जिन्हें रूपान्तरित करना या सहना अधिक कठिन होता है। विज्ञानमय विकासको एक विशेष पर्वमें इस परिवर्तनको और इस आत्म-रक्षणकी शक्तिको अवश्य ही उसके सम्पूर्ण रूपमें सिद्ध करना होगा जिससे कि शरीरकी अपनी सत्ताके लिये निरापदता, प्रशान्ति और दुःख-निर्मुक्तिकी माँग पूरी होगी, और उसे उसमें अस्तित्वके समग्र आनन्दकी शक्तिका निर्माण करना होगा। एक आध्यात्मिक आनन्द शरीरमें प्रवाहित होता आ सकता और उसके कोषाणु और ऊतकको प्लावित कर सकता है; इस उच्चतर आनन्दका ज्योतिर्मय जड़-रूपण अकेला ही भौतिक प्रकृतिकी त्रुटिपूर्ण या प्रतिकूल संवेदनशीलताओंका निरवशेष रूपान्तर घटित कर सकेगा।

शुद्ध अस्तित्वके परम एवं अखंड आनन्दके लिये एक अभीप्सा, एक माँग, हमारी सत्ताकी सारी गठनमें गुप्त रूपसे रहती है, परन्तु वह हमारे प्रकृति-अंगोंके पार्थक्य और उनकी असदृश प्रवृत्तियोंमें छिप जाती है

और उपरितलीय सुखसे अधिक कुछकी कल्पना करने या उसे हस्तगत करनेमें उनकी असमर्थताके कारण ढँक जाती है। यह माँग शरीर-चेतनामें शारीरिक सुखकी आवश्यकताका, हमारे प्राणिक अंगोंमें प्राणिक तृष्णाका, नाना प्रकारके हर्ष और आह्लाद और सकल तुष्टि-विस्मयके प्रति एक तीक्ष्ण स्पन्दनशील प्रतिक्रियाका रूप लेती है; मनमें वह मानसिक आनन्दके सकल रूपोंके प्रति उद्यत ग्रहणशीलताका रूप लेती है; एक उच्चतर स्तरपर वह शान्ति एवं दिव्य उल्लासके लिये आध्यात्मिक मनकी पुकारमें प्रकट होती है। यह प्रवृत्ति सत्ताके सत्यमें अधिष्ठित है; कारण, आनन्द तो ब्रह्मका सार तत्त्व ही है, आनन्द सर्वगत 'सद्वस्तु'-की परमा प्रकृति है। अतिमानस भी अभिव्यक्तिके अवरोह-क्रमकी कोटियों-में आनन्दमेंसे निर्गत होता और क्रमवैकासिक आरोहणमें आनन्दमें विलीन हो जाता है। अवश्य ही, वह निर्वापित या विनष्ट होनेके अर्थमें विलीन नहीं होता, वरन् वह वहाँ आनन्दमें अन्तर्निष्ठ है और शुद्ध सन्मात्रके आनन्दकी आत्म-संवित् और स्वयं-सम्पादिका शक्तिसे अविभेद्य है। जैसे क्रमवैकासिक पुनर्गमनमें, वैसे ही संवृतिके अवरोहणमें भी अतिमानसको शुद्ध सत्के आद्य आनन्दका अवलम्ब रहता है और वह उसे अपनी सारी क्रियाओंमें उनके आधारभूत सारतत्त्वके रूपमें अपने अन्दर लिये चलता है; कारण, चेतना, हम कह सकते हैं, 'आत्मा'में उसकी जननी शक्ति है, परन्तु आनन्द वह आध्यात्मिक गर्भाशय है जिसमेंसे वह अभिव्यक्त होता है और वह पालक स्रोत है जिसमें वह जीवको 'आत्मा'की स्थितिकी ओर उसके पुनर्गमनमें वापस ले जाता है। अतिमानसिक अभिव्यक्तिके आरोहणमें उसके आत्म-परिणामका अगला क्रम और शिखर होगा ब्रह्मानन्दका अभिव्यक्त होना : विज्ञानमय पुरुषके विकासके बाद आनन्दमय पुरुषका विकास आयगा; विज्ञानमयी सत्ताके देहधारणका परिणाम आनन्द-मयी सत्ताका देहधारण होगा। विज्ञान-सत्तामें, विज्ञान-जीवनमें, आनन्दकी कोई शक्ति सदा ही अतिमानसिक आत्मानुभवके एक अविच्छेद्य और व्यापक सार्थक्यकी तरह विद्यमान होगी। अज्ञानमेंसे जीवकी मुक्तिकी पहली नींव है शान्ति, स्थिरता, 'शाश्वत' एवं 'अनन्त'की नीरवता और प्रशान्ति, किन्तु आध्यात्मिक आरोहणका एक उत्कृष्ट बल और उसका श्रेष्ठतर रूपायण मुक्तिकी इस शान्तिको शाश्वत आनन्दमयताकी पूर्णा-नुभूति एवं पूर्णोपलब्धिके आनन्दमें, 'शाश्वत' एवं 'अनन्त'के आनन्दमें उन्नीत कर देता है। यह आनन्द विज्ञानमयी चेतनामें सार्वभौम आनन्दके

रूपमें अन्तर्निष्ठ होगा और विज्ञानमयी प्रकृतिके क्रमविकासके साथ-साथ वर्धित होगा।

ऐसा माना गया है कि उल्लास एक निम्नतर और अस्थायी मार्ग है, 'परम'की शान्ति ही परमोपलब्धि, उत्कृष्ट एवं स्थायी अनुभूति है। यह बात आध्यात्मिक मानसके स्तरपर सत्य हो सकती है : वहाँका अनुभूत प्रथम उल्लास निस्संदेह एक आध्यात्मिक रभस होता है, परन्तु वह 'आत्मा'के द्वारा ऊपर उठाये गये प्राणिक अंगोंके एक परम सुखके साथ मिश्रित हो सकता और बहुत सामान्यतः हो जाता है; एक हर्षोद्रेक, एक हर्षोन्मादना, एक उत्तेजना आती है, हृदयके हर्ष और अन्तरके शुद्ध आन्तरात्मिक संवेदनकी एक उच्चतम तीव्रता आती है, यह सब एक भव्य मार्ग या उन्नायिका शक्ति तो हो सकता है, किन्तु यह अन्तिम चिरस्थायी भित्ति नहीं है। परन्तु आध्यात्मिक आनन्दके उच्चतम शिखरोंपर यह उग्र हर्षोद्रेक और उत्तेजना नहीं होती; उसके बदले शाश्वत सत्पर और फल-स्वरूप शाश्वत शान्तिकी आनन्दमयी प्रशान्तिपर अधिष्ठित शाश्वत उल्लासमें भाग लेनेकी एक असीम्य तीव्रता होती है। शान्ति एवं उल्लास भिन्न नहीं रह जाते, एक हो जाते हैं। अतिमानस, सारी भिन्नताओं और सारे विरोधोंका समन्वय और संलयन करता हुआ, इस एकत्वको प्रकट करता है; सर्व-सत्ताकी एक विशाल प्रशान्ति और एक गंभीर आह्लाद उसकी आत्मोपलब्धिके प्रथम डगोंमें होते हैं, परन्तु यह प्रशान्ति और यह आह्लाद, एक ही स्थितिकी भांति, साथ-साथ उठते हुए, एक बढ़ती हुई तीव्रतामें प्रकट होते और अपनी अन्तिम परिणति शाश्वत उल्लासमें, उस आनन्दमें प्राप्त करते हैं जो वह 'अनन्त' है। विज्ञानमयी चेतनाकी प्रत्येक भूमिकामें यह मूलभूत, आध्यात्मिक, सचेतन एवं सहज आनन्द सत्ताकी समूची गहराईमें किसी न किसी मात्रामें सदा ही रहेगा; परन्तु इसके अलावा वह प्रकृतिकी सारी गतिविधिमें व्याप्त होगा, वहाँ आनन्दके धर्मसे कुछ भी नहीं बचा रह सकेगा। विज्ञानमय परिवर्तनके पूर्व भी, सत्ताके इस मूलभूत उल्लासका आरम्भ एक बहुविध सौन्दर्य एवं आह्लादमें अनूदित होकर हो सकता है। वह मनमें आध्यात्मिक बोध, दर्शन एवं ज्ञानके तीव्र आह्लादकी शान्तिमें अनूदित होता है, हृदयमें विश्वव्यापी ऐक्य, प्रेम तथा सहानुभूतिके एक विशाल या गम्भीर या अनुरागपूर्ण आह्लादमें, जीवोंके हर्ष और वस्तुओंके हर्षमें। इच्छा-संकल्प और प्राणिक अंगोंमें वह एक क्रियारत दिव्य

प्राण-वीर्यके आह्लादकी ऊर्जाकी तरह या उन इन्द्रियोंके आनन्दकी तरह अनुभूत होता है जो सर्वत्र उस 'एक'का साक्षात्कार करती हैं, अपने सामान्य सौन्दर्यबोधमें सृष्टिका एक विश्वव्यापी सौन्दर्य और गूढ़ सामंजस्य देखती हैं जिसकी अपूर्ण झाँकियाँ या विरल अधिसामान्य संवेदन ही मनके लिये प्राप्य हैं। शरीरमें वह प्रकट होता है 'आत्मा'के शिखरोंसे निर्झरित उल्लास और एक विशुद्ध तथा आध्यात्मीकृत भौतिक जीवनकी शान्ति एवं आनन्दकी नाईं। सत्ताकी एक सार्वभौम सुन्दरता और महिमा अभिव्यक्त होनी आरम्भ होती है; सकल पदार्थ सामान्य मन और शारीरिक इन्द्रियोंसे अगोचर रहनेवाली प्रच्छन्न रेखाएँ, स्पन्दन, शक्ति, सामंजस्यमय सार्थक्य प्रकट करते हैं। विश्वरूपणमें प्रकट होता है शाश्वत आनन्द।

ये हैं आध्यात्मिक रूपान्तरके प्रथम मुख्य फल जो अतिमानसकी प्रकृतिके अनिवार्य परिणामके रूपमें आते हैं। परन्तु यदि केवल अन्तः-सत्ताकी, चेतनाकी, अस्तित्वके आन्तरिक आनन्दकी ही पूर्णता नहीं, जीवन तथा कर्मकी भी पूर्णता चाहिए, तो हमारे मानसिक दृष्टिकोणसे दो अन्य प्रश्न खड़े होते हैं जिनका हमारे जीवन और उसकी क्रियाधाराओं-के सम्बन्धमें हमारे मानवीय विचारके लिये बहुत ही, यहाँ तक कि प्रथम महत्त्व होता है। पहला प्रश्न विज्ञानमयी सत्तामें व्यक्तित्वके स्थानका है; यह कि जिसे हम व्यक्तिका रूप और जीवन कहकर जानते हैं, क्या विज्ञानपुरुषकी स्थिति, उसकी निर्मिति उससे सर्वथा भिन्न होगी या सदृश। फिर, यदि व्यक्तित्व है और वह अपने कार्योंके लिये किसी भी प्रकार उत्तरदायी है, तो विज्ञान-प्रकृतिमें नैतिक तत्त्व और उसकी पूर्णता तथा परिपूर्तिके स्थानका प्रश्न उठता है। साधारणतः, सामान्य धारणामें, पृथक्कारी अहं हमारा आत्मा होता है, और यदि अहंको किसी विश्वातीता अथवा विश्वव्यापिनी चेतनामें विलुप्त हो जाना है तो वैयक्तिक जीवन तथा कर्मका अवसान होगा ही; कारण, व्यक्तिका विलोप होनेपर केवल एक निर्व्यक्तिक चैतन्य, एक विश्वात्मा ही रह सकता है : परन्तु यदि व्यक्तिका सर्वथा निर्वापण हो गया तो फिर व्यक्तित्व या उत्तरदायित्व या नैतिक पूर्णताका कोई प्रश्न नहीं उठ सकता। एक अन्य विचार-धाराके अनुसार आध्यात्मिक व्यक्ति तो रह जाता है, किन्तु वह मुक्त और विशुद्ध होकर, पूर्ण बना दी गई प्रकृतिके साथ, किसी स्वर्गीय जीवनमें रहता है। परन्तु यहाँ, हम अभी भी पृथ्वीपर ही हैं, और

फिर भी यह अनुमान किया जाता है कि विश्वभावसे युक्त आध्यात्मिक व्यक्ति अहं-व्यक्तित्वका निर्वापण करता और उसके स्थानपर आता है और यह आध्यात्मिक व्यक्ति विश्वातीत 'सत्-पुरुष'का एक केन्द्र और उसीकी एक शक्ति है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह विज्ञानमय अथवा अतिमानसिक व्यक्ति एक व्यक्तित्वरहित आत्मा, एक निर्व्यक्तिक पुरुष है। विज्ञानमय व्यक्ति अनेक हो सकते हैं, परन्तु कोई व्यक्तित्व नहीं होगा, सभीकी सत्ता और प्रकृति एकसम होगी। और, इससे यह भाव उत्पन्न होता है कि वहाँ शुद्ध सत्ताका एक शून्य या रिक्तत्व होगा जिसमेंसे अनुभवकारिणी चेतनाकी वृत्ति और क्रियाका उदय होगा, परन्तु कोई वैसा विभेदित व्यक्तित्व निर्मित नहीं होगा जिसे हम अभी अपने बहिस्तलपर देखते और अपना स्व मानते हैं। परन्तु अहंके बाद बचे रहने और अनुभवमें स्थायी रहनेवाले आध्यात्मिक व्यक्तित्वकी समस्याका यह समाधान अतिमानसिक न होकर बल्कि मानसिक होगा। अति-मानस-चेतनामें व्यक्तित्व और निर्व्यक्तित्व विरोधी तत्त्व नहीं, अपितु एक ही और अभिन्न सद्वस्तुके अवियोज्य प्रान्त हैं। यह सद्वस्तु अहं नहीं, प्रत्युत वह पुरुष है जो अपने प्रकृति-स्वरूपमें निर्व्यक्तिक और विश्वात्मक है, किन्तु उसमेंसे एक अभिव्यंजक व्यक्तित्वका निर्माण करता है जो प्रकृतिके परिवर्तनोंके बीच उसका आत्म-रूप होता है।

निर्व्यक्तित्व अपने उद्गममें एक मूलगत और विश्वगत वस्तु है; वह एक सत्ता, एक शक्ति, एक चेतना है जो अपनी सत्ता तथा ऊर्जाके नाना आकार लेती है; ऊर्जा, गुण, बल या शक्तिका ऐसा प्रत्येक आकार यद्यपि अपने-आपमें सर्वसामान्य, निर्व्यक्तिक तथा विश्वव्यापी होता है, तथापि व्यष्टि-जीव उसे अपने व्यक्तित्वके निर्माणकी सामग्रीकी भाँति लेता है। निर्व्यक्तित्व, इस प्रकार, वस्तुओंके आद्य अविभेदित सत्यमें परम सत्ताका, 'पुरुष'का शुद्ध उपादान है; वस्तुओंके सक्रिय सत्यमें वह अपनी शक्तियोंको विभेदित करता और उन्हें उनकी विविधताओं द्वारा व्यक्तित्वकी अभिव्यक्तियाँ रचनाके लिये प्रयुक्त होने देता है। प्रेम प्रेमीकी प्रकृति है, साहस योद्धाकी; प्रेम और साहस निर्व्यक्तिक तथा विश्वव्यापिनी शक्तियाँ या वैश्व शक्तिके निरूपण हैं, वे 'आत्मा'की विश्वसत्ता एवं विश्वप्रकृतिकी शक्तियाँ हैं। 'व्यक्ति' है वह सत् जो, इस भाँति जो निर्व्यक्तिक है, उसका धारयिता है, उसे अपने अन्दर अपनेकी तरह, अपनी आत्म-प्रकृतिकी तरह धारण किये रखता है; वही

वह है जो प्रेमी और योद्धा है। जिसे हम 'व्यक्ति'का व्यक्तित्व कहते हैं वह प्रकृति-स्थिति और प्रकृति-क्रियामें उसकी अभिव्यक्ति ही है, जबकि वह 'व्यक्ति' अपनी आत्म-सत्तामें तो, आद्यत: और अन्ततः, उसकी अपेक्षा बहुत अधिक है; वह उसका वह रूप है जिसे वह अपनी विकसित हो चुकी अभिव्यक्त प्रकृति-सत्ता या प्रकृति-स्थ आत्माकी तरह व्यक्त करता है। सीमित और रूपायित व्यक्तिमें वह उसकी उस तत्त्वकी व्यक्तिगत अभिव्यक्ति है जो निर्व्यक्तिक है या, कह सकते हैं, वह उसके द्वारा उस तत्त्वका व्यक्तिगत विनियोग है ताकि उसे ऐसी सामग्री मिले जिससे वह अभिव्यक्तिमें अपनी एक सार्थक आकृति निर्मित कर सके। अपने निराकार और निःसीम स्वरूपमें, अपनी सच्ची सत्तामें, सच्चे 'व्यक्ति' या पुरुष-रूपमें वह वैसा नहीं होता, वरन् अपने अन्दर निःसीम और विश्वव्यापिनी सम्भावनाएँ समाए रखता है; परन्तु दिव्य व्यक्तिके रूपमें वह उन्हें अभिव्यक्तिमें एक अपना मोड़ देता है जिससे बहुके बीच प्रत्येक उन एक भगवान्‌का एक-एक अद्वितीय आत्मा होता है। भगवान्, शाश्वत, प्रकट होते हैं सत्ता, चेतना, आनन्द, प्रज्ञा, ज्ञान, प्रेम, सौंदर्यके रूपमें; भगवान् या शाश्वतके बारेमें हम ऐसा सोच सकते हैं कि वह अपनी ही ये निर्व्यक्तिक और विश्वव्यापी शक्तियाँ हैं और इनको हम भगवान् और शाश्वतकी प्रकृति मान सकते हैं; हम कह सकते हैं कि ईश्वर प्रेम-स्वरूप है, ईश्वर प्रज्ञा-स्वरूप है, ईश्वर सत्य-स्वरूप या ऋत-स्वरूप है: परन्तु वह स्वयं न तो कोई निर्व्यक्तिक अवस्था है, न अवस्थाओं अथवा गुणोंका सारांश ही; वह है परम पुरुष, एक साथ ही निर्विशेष, विश्वव्यापी तथा वैयक्तिक। यदि हम उसे इस आधारसे देखें तो बहुत स्पष्ट होगा कि न तो निर्व्यक्तिक और व्यक्तिके सह-अस्तित्वमें, और न उनका अस्तित्व एक ही होनेमें कोई विरोध, कोई असंगति, कोई असम्भवता है; वे परस्पर एक-दूसरे हैं, एक-दूसरेमें रहते हैं, एक-दूसरेमें घुलमिल जाते हैं, और फिर भी एक प्रकारसे इस तरह प्रकट हो सकते हैं मानों वे उस एक ही 'सद्वस्तु'के विभिन्न छोर, पार्श्व, पुरोभाग और पृष्ठभाग हैं। विज्ञानपुरुषकी प्रकृति भागवत प्रकृति है, अत: अस्तित्वका यह स्वाभाविक रहस्य उसमें पुनरावृत्त होता है।

अतिमानसिक विज्ञानमय व्यक्ति आध्यात्मिक 'व्यक्ति' तो होगा, परन्तु वह निर्धारित गुणोंके निश्चित सम्मिलनके लक्षणोंवाला प्रतिमान या एक निर्धारित चरित्र होनेके अर्थमें व्यक्तित्व न होगा; ऐसा वह हो

भी नहीं सकता, क्योंकि वह विश्वव्यापी और विश्वातीतकी विश्वाजीतको अचेतन अभिव्यक्ति है। परन्तु न ही उसकी सत्ता कोई सनकसे चलता निर्व्यक्तिक प्रवाह हो सकती है जो, कालमें वह आता हुआ, विविध रूपकी लहरोंको, व्यक्तित्वकी लहरोंको निरुद्देश्य उत्क्षिप्त कर रहा हो। इस तरहकी किसी बातका अनुभव उन मनुष्योंके सम्बन्धमें हो सकता है जिनकी गहराइयोंमें कोई सबल केन्द्रणकारी 'व्यक्ति' नहीं है और जो, क्षण विशेषमें जो कोई तत्त्व उनके अंदर प्रधान हो जाता है, उसके अनुसार एक प्रकारके अस्तव्यस्त बहुव्यक्तित्वसे कार्य करते हैं; परन्तु विज्ञानमयी चेतना सामंजस्य, आत्मज्ञान तथा आत्माधिकारकी चेतना है और वह कोई ऐसी अव्यवस्था नहीं उपस्थित करेगी। व्यक्तित्व किस उपादानसे बनता है और चरित्र किससे, इसके बारेमें निस्सन्देह विभिन्न धारणाएँ हैं। एक दृष्टिके अनुसार व्यक्तित्वको इस भाँति देखा जा सकता है कि वह पहचानमें आनेवाले गुणोंकी एक सुनिश्चित निर्मिति है जो सत्ताकी किसी शक्तिको व्यक्त करती है; परन्तु एक दूसरा विचार है जो व्यक्तित्व और चरित्रके बीच भेद करता है और उसके अनुसार व्यक्तित्व है अपने-आपको व्यक्त करनेवाली या संवेदिनी और प्रति-संवेदिनी सत्ताका प्रवाह, चरित्र है प्रकृतिकी निर्मितिमें रूपित स्थिरता। परन्तु प्रकृतिकी प्रवहमानता और प्रकृतिकी स्थिरता सत्ताके दो पहलू हैं जिनमेंसे किसी एकसे ही, वस्तुतः दोनोंको साथ मिलानेसे भी, व्यक्तित्वकी परिभाषा नहीं हो सकती। कारण, सारे मनुष्योंमें एक द्वितय तत्त्व है: सत्ता या प्रकृतिका अरूपित और फिर भी सीमित प्रवाह जिसमेंसे व्यक्तित्व गढ़ा जाता है, और उस प्रवाहमेंसे वैयक्तिक रूपण। वह रूपण अनमनीय और दृढ़ हो जा सकता है, या वह सतत परिवर्तन तथा विकासके लिये पर्याप्त नमनीय रह सकता है; परन्तु उसका विकास रूपायणकारी प्रवाहमेंसे, व्यक्तित्वके परिवर्तन या अभिवर्द्धन या पुनर्गठन द्वारा होता है, न कि, सामान्यतः, प्रस्तुत किये जा चुके रूपायणको विनष्ट कर उसके स्थानपर सत्ताका एक नया रूप लाकर,—ऐसा केवल किसी असामान्य मोड़ अथवा अधिसामान्य संपरिवर्तनसे ही हो सकता है। परन्तु इस प्रवहमानता और इस स्थिरताके अतिरिक्त एक तीसरा और गुह्य तत्त्व भी है, वह है पीछे स्थित वह 'व्यक्ति' जिसकी एक स्वाभिव्यक्ति ही व्यक्तित्व है; 'व्यक्ति' व्यक्तित्वको अपने अभिव्यक्त जीवनके लम्बे नाटकके वर्तमान अंकमें अपने भाग, चरित्र, भूमिकाके रूपमें आगे

रखता है। परन्तु व्यक्ति अपने व्यक्तित्वकी अपेक्षा विशालतर है, और ऐसा हो सकता है कि यह आन्तरिक विशालता बाह्य रूपायणमें वह निकले; इसके परिणाममें सत्ताकी ऐसी स्वाभिव्यक्ति होती है जिसका वर्णन हम तब यह कहकर नहीं कर सकते कि अमुक उसके निर्धारित गुण हैं, अमुक उसकी सामान्य भावदशाएँ, अमुक उसकी आकृति-रेखाएँ, न ही हम उसे किन्ही निर्माणसीमाओंसे चिह्नित पाते हैं। परन्तु वह कोई ऐसा प्रवाह भी नहीं है जो बस अप्रभेद्य हो, सर्वथा अनियताकार और अग्राह्य हो: यद्यपि उसकी प्रकृतिके कार्योंका ही वैशिष्ट्य जाना जा सकता है, न कि स्वयं उसका, फिर भी, उसे स्पष्ट रूपसे अनुभूत किया जा सकता, उसकी क्रियाधारामें उसका अनुधावन किया जा सकता, उसे पहचाना जा सकता है, किन्तु उसका वर्णन आसानीसे नहीं किया जा सकता; कारण, वह निर्मिति न होकर बल्कि सत्ताकी एक शक्ति है। सामान्य प्रतिबन्धित व्यक्तित्व अपने जीवन, विचार तथा कर्मपर, अपनी बहुत ही सुनिश्चित बाह्य निर्मिति और स्वाभिव्यक्तिपर मुद्रित लक्षणों द्वारा पकड़में आ सकता है; जो कुछ इस भाँति प्रकट नहीं हुआ है वह यदि हमसे छूटा भी रह जाये तो भी इससे हमारी समझकी सामान्य पर्याप्ततामें शायद ही अभाव दीख सकता है, क्योंकि जो तत्त्व छूटा रह गया है वह, सामान्यतः, एक ऐसी अनियताकार कच्ची सामग्री, प्रवाहका एक ऐसा अंग होनेकी अपेक्षा शायद ही अधिक होता है जिसे व्यक्तित्वके किसी सार्थक भागके रूपायणके लिये काममें नहीं लिया गया है। परन्तु ऐसा वर्णन 'व्यक्ति'की अभिव्यंजनाके लिये तब दयनीय रूपसे अपर्याप्त होगा जब उसकी अन्तःस्थ आत्मभूत-शक्ति अधिक प्रचुरतासे अभिव्यक्त होती और अपने प्रच्छन्न देववीर्यको बाह्य संरचना तथा जीवनमें सामने लाती है। हम अपने-आपको एक चेतना-ज्योति, एक शक्ति, एक ऊर्जा-सागरकी उपस्थितिमें पाते हैं, हम उसके कर्म और गुणकी मुक्त लहरोंको पहचान सकते हैं, उनका वर्णन कर सकते है, परन्तु स्वयं उसे निर्दिष्ट नहीं कर सकते; और फिर भी हमें एक व्यक्तित्वका भान होता है, एक सशक्त सत्ता, पहचानमें आनेवाले एक सबल, उच्च या सुन्दर 'किसी'की उपस्थितिका भान होता है जो कि 'व्यक्ति' है, प्रकृतिका सीमित जीव नहीं, वरन् 'आत्मा' या 'अन्तरात्मा' है, पुरुष है। विज्ञानमय 'व्यक्ति' एक ऐसा ही अनावृत आन्तरिक 'व्यक्ति' होगा जो, एक एकीभूत आत्म-संवित्‌में, अब अपने-

आपको छिपाए न रखती गहराइयोंमें और वहिस्तलपर युगपत् व्याप्त होगा; वह वह वहिस्तलीय व्यक्तित्व नहीं होगा जो एक विशालतर गूढ़ सत्ताकी आंशिक व्यंजना हो; वह लहर नहीं, सागर होगा: वह होगा पुरुष, आत्म-प्रगटित, आन्तर चिन्मय सत्, और उसे किसी सुकृत और अभिव्यंजक मुखौटे या भूमिकाकी आवश्यकता नही होगी।

अतः विज्ञानमय 'व्यक्ति'का स्वरूप यही होगा: एक अनन्त तथा विश्वमय पुरुष जो एक वैयक्तिक तथा कालिक स्वाभिव्यक्तिके सार्थक रूप और अभिव्यंजिका शक्ति द्वारा अपने शाश्वत स्वरूपको प्रकट कर रहा होगा या हमारे मानसिक अज्ञानके लिये संकेतित। परन्तु वैयक्तिक प्रकृति-अभिव्यक्ति चाहे अपनी रूपरेखामें सवल और विविक्त हो, चाहे बहुल और नित्य नव-परिवर्तनशील और साथ ही सामंजस्यमय हो, वह उस पुरुषकी संकेतिकाके रूपमें होगी, सम्पूर्ण पुरुषके रूपमें नहीं: वह सम्पूर्ण पुरुष पीछेकी ओर अनुभूत होगा, पहचानमे आयगा, किन्तु वह होगा अनिर्वाच्य, अनन्त। विज्ञानघन 'व्यक्ति'की चेतना भी एक अनन्त चेतना होगी जो स्वाभिव्यक्तिके रूपोंको उत्क्षिप्त कर रही होगी, परन्तु जिसे सर्वदा अपने अवन्धन आनन्त्य और विश्वात्मकताकी संवित् रहेगी और जो अपने आनन्त्य तथा विश्वात्मकताका वल और वोध अभिव्यक्तिकी ससीमतामे भी संचरित करेगी,—और इसके अतिरिक्त, वह आगेके आत्मप्राकट्यकी अगली गतिमें इससे आवद्ध भी नहीं होगी। परन्तु यह गतिविधि फिर भी अनियमित और पहचानमें न आनेवाला प्रवाह नहीं, वरन् आत्म-प्राकट्यकी प्रक्रिया होगी जो उसकी सत्ताकी शक्तियोंके अन्त-र्निष्ठ सत्यको 'अनन्त'की सकल अभिव्यक्तिके स्वाभाविक सौपम्यपूर्ण विधानके अनुसार गोचर करा देगी।

विज्ञानमय पुरुषके जीवन तथा कर्मका सारा स्वरूप उसकी विज्ञान-मयी वैयक्तिकताके इस स्वभावसे आत्म-निर्वारित होकर उद्भूत होगा। उसमें नैतिक अथवा किसी सदृश भावकी पृथक् समस्या, शुभ तथा अशुभ-का कोई द्वन्द्व न रह सकेगा। वस्तुतः, वहाँ कोई समस्या ही न रह सकेगी, कारण, समस्याएँ ज्ञानको खोजनेवाले मानसिक अज्ञानकी रचनाएँ होती हैं और जिस चेतनामें ज्ञान स्वतः उत्पन्न होकर उदित होता है और कर्म स्वतः उत्पन्न होता है ज्ञानमेंसे, सत्ताके एक पूर्व-विद्यमान चिन्मय एवं आत्म-सचेतन सत्यमेंसे, उसमें समस्याओंका अस्तित्व नही हो सकता। सत्ताका एक स्वरूपगत और सार्वभौम आध्यात्मिक सत्य जो अपने-आपको अभिव्यक्त

कर रहा है, अपने-आपको आत्म-प्रकृति और स्वयं-संपादिका चेतनामें स्वाधीनतासे परिपूरित कर रहा है, सत्ताका वह सत्य जो सबमें, अपने सत्यकी अनन्त विविधतामें भी एक है और सबको एकवत् अनुभूत कराता है, स्वभावतः ही, एक स्वरूपगत और सार्वभौम शुभ भी होगा जो अपने-आपको अभिव्यक्त कर रहा है, अपने-आपको आत्म-प्रकृति और स्वयं-संपादिका चेतनामें परिपूरित कर रहा है, और वह उस शुभका सत्य भी होगा जो सबमें और सबके लिये, अपने शुभकी अनन्त विविधता-में भी एक होगा। शास्वत स्वयंभू सत्ताकी शुचिता विज्ञानमय पुरुष-की सारी क्रियाशीलताओंमें स्रवित होगी, सारी वस्तुओंको शुद्ध करेगी और शुद्ध रखेगी; वहाँ गलत इच्छा और मिथ्या डगोंकी ओर ले जाने-वाला कोई अज्ञान न हो सकेगा, कोई पृथक्कारी अहंभाव नहीं रह सकेगा जो अपने अज्ञान तथा पृथक् विपरीत इच्छासे अपने-आपको या दूसरोंको क्षति पहुँचाता हो, अपने अन्तरात्मा, मन, प्राण या शरीरके साथ गलत व्यवहार करनेको स्वतःप्रवृत्त होता हो, जो कि व्यवहारतः समस्त मानव-अमंगलका अर्थ है। पाप-पुण्य और शुभाशुभसे परे उठना वैदान्तिक मुक्तिका आवश्यक अंग है, और इस सहसम्बन्धमें एक स्वतःस्पष्ट परिणामधारा है। कारण, मुक्तिका अर्थ है सत्ताकी सच्ची आध्यात्मिक प्रकृतिमें उदित होना जिसमें सारा कर्म उसी सत्यकी स्वचलित स्वाभिव्यक्ति होता है और इसके अलावा कुछ भी नहीं हो सकता। हमारे अंगोंकी अपूर्णता और संघर्षमें आचरणके एक सही मान-दण्डको पाने और उसका पालन करनेका प्रयत्न होता है; यही नीति है, सगुण है, पुण्य है, इससे भिन्न आचरण दुर्गुण है, पाप है। नैतिक बुद्धि प्रेम-विधानकी, न्याय-विधानकी, सत्य-विधानकी, असंख्य विधानों-की घोषणा करती है जिनका पालन कठिन है, जिनका समन्वय कठिन है। परन्तु यदि दूसरोंके साथ एकत्व, सत्यके साथ एकत्व, सिद्ध आध्या-त्मिक प्रकृतिका सारतत्व ही होकर हो, तो किसी सत्य-विधान अथवा प्रेम-विधानकी आवश्यकता नहीं रह जाती; वस्तुतः उस विधान, उस मानदण्डको हमपर अभी इसलिये आरोपित करना होगा कि हमारी प्राकृत सत्तामें पार्थक्यकी एक विपरीत शक्ति है, विरोधकी सम्भावना है, एक वैषम्य, दुर्भावना, संघर्षकी शक्ति है। सारा ही नीति-शास्त्र एक ऐसी प्रकृतिमें शुभका निर्माण है जो, जैसा कि वेदान्तकी प्राचीन कथामें भी व्यक्त किया गया है, अज्ञानमेंसे उत्पन्न अन्धकारकी शक्तियोंसे आहत

है। किन्तु जहाँ सब कुछ चेतनाके सत्य और सत्ताके सत्यसे स्वतः निर्धारित है, वहाँ कोई मानदण्ड नहीं हो सकता, उसके पालनके लिये कोई संघर्ष नहीं हो सकता, हमारी प्रकृतिका कोई सुगुण-दुर्गुण या पाप-पुण्य नहीं हो सकता। प्रेमकी, सत्यकी, न्यायकी शक्ति वहाँ होगी, मनके बनाये विधानके रूपमें नहीं, अपितु वस्तुतः हमारी प्रकृतिके सत्त्व और गठनके रूपमें, और सत्ताके समाकलन द्वारा वह अवश्य ही कर्मका उपादान और कर्मकी गठन-प्रकृति भी होगी। हमारा अपनी सच्ची सत्ताकी इस प्रकृतिमें, आध्यात्मिक सत्य और एकत्वकी प्रकृतिमें विकसित होना आध्यात्मिक सत्ताके क्रमविकास द्वारा प्राप्त मुक्ति है : विज्ञानमय क्रमविकास हमें अपने स्वरूपतक उस वापसीकी पूरी क्रियाशक्ति देता है। और जब ऐसा किया जा चुकता है तो पुण्यके मानदण्डोंकी, धर्मोंकी आवश्यकता विलुप्त हो जाती है; वहाँ अध्यात्म-सत्ताकी स्वतंत्रताका विधान और आत्म-व्यवस्था है, वहाँ आचरणका कोई आरोपित या बनाया हुआ विधान या धर्म नहीं हो सकता। सब कुछ हमारी आध्यात्मिक प्रकृतिका ही एक आत्म-प्रवाह, स्वभावका स्वधर्म ही हो जाता है।

मानसिक अज्ञानगत जीवन और विज्ञानमयी सत्ता एवं प्रकृतिगत जीवनके बीच क्रियाशील भेदका मर्म यहीं मिलता है। इस भेदको देखें तो एक ओर है और सर्वांगपूर्ण पूर्णतः चिन्मय पुरुष जिसे अस्तित्वका स्वीय सत्य पूरा आयत्त है और जो उस सत्यको आत्म-स्वतंत्रतामें, सारे कृत्रिम-निर्मित विधानोंसे मुक्त रहकर कार्यान्वित करता है जब कि उसका जीवन फिर भी संभूतिके सारे सच्चे विधानोंके सारार्थमें उनकी परिपूर्ति होता है, दूसरी ओर है अज्ञानी और आत्म-विभक्त सत्ता जो स्वीय सत्यकी खोज करती और अपनी प्राप्तियोंको विधान बना देने और अपने जीवनको इस भाँति बनाये गये प्रतिमानके अनुसार निर्मित करनेका प्रयत्न करती है। हर सच्चा विधान एक सद्वस्तुकी सच्ची चाल और प्रक्रिया है, सत्ताकी जो अन्तर्निष्ठ गतिधारा उसके अस्तित्वके सत्यमें स्वरूपगत है उसे पूरी करती सक्रिय सत्ताकी ऊर्जा या शक्तिकी सच्ची चाल और प्रक्रिया है। यह विधान निश्चेतन हो सकता है और इसकी क्रिया यांत्रिक प्रतीत हो सकती है,—जड़ प्रकृतिमें विधानका यही स्वरूप या, कमसे कम, उसका प्रतीयमान रूप है: वह एक सचेतन ऊर्जा भी हो सकता है, जिसकी क्रियाका निर्धारण पुरुषकी चेतना स्वतंत्रतासे करती हो, जिसे यह संवित् हो कि स्वयं उसके लिये सत्यकी क्या अनुज्ञा

है, जिसे उस सत्यकी स्वाभिव्यक्तिकी नमनीय सम्भावनाओंकी संवित् हो और जिसे, जो वास्तविकताएँ संसिद्ध करनी हैं उनकी, सदा ही उनके समग्र रूपकी और हर क्षण ब्यौरोंकी संवित् रहती हो : यह 'आत्मा'के विधानका चित्र है। 'आत्मा'की एक सम्पूर्ण स्वतंत्रता, एक सम्पूर्ण स्वयंभू व्यवस्था जो स्वयं-स्रष्ट्री है, स्वयं-सम्पादिका है, अपनी स्वाभाविक तथा अनिवार्य गतिधारामें स्व-प्रतिष्ठ है,—यह विज्ञानमयी पराप्रकृतिकी इस क्रियाशक्तिका स्वभाव है।

सत्ताके शिखरपर वह 'निर्विशेष' है जिसके साथ उसके आनन्त्यकी पूर्ण स्वतंत्रता रहती है और साथ ही उसका अपने-आपका निर्विशेष सत्य और सत्ताके उस सत्यकी शक्ति भी; ये दोनों वस्तुएँ पराप्रकृतिमें 'आत्मा'के जीवनमें पुनरावृत्त होती हैं। वहाँ सारी क्रिया पराप्रकृतिके सत्यमें परमात्माकी, परमेश्वरकी क्रिया है। प्रत्येक वैयक्तिक विज्ञान-पुरुषमें एक द्विदल सत्य,—एक साथ ही आत्माकी सत्ताका सत्य और उस सत्यके साथ एक रहती ईश्वरकी इच्छाका सत्य,—उसकी परा-प्रकृतिके अनुसार व्यक्त होता है। विज्ञानमय व्यक्तिकी स्वतंत्रता उसकी सत्ताके सत्यको और उसकी ऊर्जाओंकी शक्तिको जीवनमें क्रियाशील रूपसे परिपूरित करनेके लिये उसके आत्माकी स्वतंत्रता है; परन्तु इसका अर्थ उसके जीवनमें अभिव्यक्त 'आत्मा'के सत्यके प्रति और उसके अन्दर-की तथा सबके अन्दरकी भगवदिच्छाके प्रति उसकी प्रकृतिका सम्पूर्ण आनुगत्य है। यह सर्वेच्छा प्रत्येक विज्ञानमय व्यक्तिमें और विज्ञान-मय व्यक्तियोंके समुदायमें और उन्हें अपने अन्दर धारण करने और समाये रखनेवाले सचेतन सर्वमें एक ही है; वह प्रत्येक विज्ञानपुरुषमें अपने प्रति सचेतन है और वहाँ उसकी स्वेच्छाके साथ एक है, और साथ ही विज्ञानपुरुषमें यह चेतना रहती है कि सबके अन्दर वही 'इच्छा', वही 'आत्मा' और 'ऊर्जा' विविध रूपसे क्रियाशील है। एक ऐसी विज्ञान-मयी चेतना और ऐसी विज्ञानमयी इच्छा जिसे बहुसंख्यक विज्ञानमय व्यक्तियों-के मध्य अपने एकत्वकी संवित् होगी, अपनी सुसंगत समग्रता और अपनी विविधताओंके अर्थ और मिलन-स्थलकी संवित् होगी, अवश्य ही समष्टि-की क्रियामें एक समस्वर गतिधाराका, एकता, सामंजस्य और पार-स्परिकताकी गतिधाराका आश्वासन देती है। साथ ही वह व्यक्तिमें उसकी सत्ताकी सारी शक्तियों और गतिविधिकी एकता और समस्वर संगति आश्वस्त करती है। सत्ताकी सारी ऊर्जाएँ अपनी स्वाभिव्यक्ति

खोजती है और अपने उच्चतम बिन्दुपर अपना परम पद खोजती है; इसकी प्राप्ति उन्हें परमात्मामें होती है, और साथ ही उन्हें अपने परम एकत्वकी, संयुक्त तथा सर्वसामान्य स्वाभिव्यक्तिके सामंजस्य और पारस्परिकताकी प्राप्ति परमात्माकी आत्म-निर्धारण तथा आत्म-संसाधनकी सर्व-द्रष्ट्री और सर्व-संयुक्तकारिणी शक्तिमें, अतिमानसिक विज्ञानमें होती हैं। पृथक् स्वयंभू सत्ता अन्य पृथक् सत्ताओंसे वैषम्य-भाव रखकर रह सकती है, जिस विराट् 'सर्व'में वे साथ-साथ अतित्ववान् हैं उससे विस्वरता रखती हुई रह सकती है, जो कोई परम सत्य विश्वमें अपनी स्वाभिव्यक्तिकी इच्छा कर रहा है उसका प्रतिवाद करनेकी अवस्थामें रह सकती है; अज्ञानमें व्यक्तिके साथ यही होता है, कारण वह पृथक् वैयक्तिकताकी चेतनापर खड़ा होता है। एक वैसा ही द्वन्द्व, वैसी ही विस्वरता, वैसी ही विषमता, व्यक्ति और विश्वमें पृथक् शक्तियोंके रूपमें क्रियमाण सत्यों, सत्ताकी ऊर्जाओं, गुणों, सामर्थ्यों और विधियोंके बीच हो सकती है। द्वन्द्व-संकुल जगत्, हमारे अपने अन्दर द्वन्द्व, व्यक्तिका अपने चारों ओरके जगत्के साथ द्वन्द्व,—ये अज्ञानकी पृथगात्मिका चेतना और हमारे सामंजस्यहीन जीवनके सामान्य और अनिवार्य लक्षण हैं। परन्तु विज्ञानमयी चेतनामें ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि वहाँ प्रत्येकको अपने समूचे स्वरूपकी प्राप्ति होती है और सबको स्वीय सत्यकी और अपनी विभिन्न गतियोंके सामंजस्यकी प्राप्ति उसके अन्दर होती है जो उनसे अतीत है और जिसकी वे अभिव्यक्ति हैं। अतएव, विज्ञान-जीवनमें जीवकी मुक्त स्वाभिव्यक्ति और वस्तुओंके परम तथा विश्वव्यापी 'सत्य'के अन्तर्निष्ठ विधानके प्रति उसके स्वयंवह आनुगत्यके बीच पूरी संगति होती है। ये उसके लिये एक ही सत्यके परस्पर-संबद्ध पार्श्व हैं; यह उसकी सत्ताका स्वीय परम सत्य ही है जो एक ही पराप्रकृतिमें उसके अपने और वस्तुओंके सम्पूर्ण संयुक्त सत्यमें अपने-आपको क्रियान्वित करता है। वहाँ जीवकी सारी विभिन्न और बहुतेरी शक्तियों और उनकी क्रियाके बीच भी एक सम्पूर्ण संगति होती है; कारण, जो अपनी प्रतीयमान चालमें विपरीत हैं और जिनमें हमारे उनके मानसिक अनुभवके अनुसार द्वन्द्व होता लगता है वे भी और उनके क्रियाकलाप भी स्वाभाविक रूपसे एक दूसरेमें जँच जाते हैं, क्योंकि प्रत्येकका अपना आत्म-सत्य और दूसरोंके साथ अपने सम्बन्धका सत्य है और वह सत्य विज्ञानमयी पराप्रकृतिमें स्वयं-लब्ध और स्वयं-कृत है।

अतएव अतिमानसिक विज्ञान-प्रकृतिमें मनकी अनम्य विधि और कठोर व्यवस्था-शैलीकी, सीमाकारी मानकीकरणकी, सिद्धान्तोंके किसी निर्धारित तंत्रके आरोपणकी, जीवनको किसी एक ऐसी प्रणाली अथवा प्रतिमानके लिये वाध्य करनेकी आवश्यकता नहीं होगी जो इसलिये एकमात्र प्रामाणिक हो कि मन उसे सत्ता और आचरणके एकमात्र सही सत्यके रूपमें देख रहा है। कारण, न तो कोई ऐसा मानदण्ड सम्पूर्ण जीवनको अपने अन्दर समाविष्ट कर सकता है, न कोई ऐसा निर्माण उसे अपने अन्दर ही कर ले सकता है, न ही वह मानदण्ड या निर्माण अपने-आपको सर्व-जीवनके चाप अथवा क्रमविकासिका 'शक्ति'की आवश्यकताओंके प्रति स्वाधीनतासे अनुकूलित कर सकता है; उसे अपनी ही मृत्यु द्वारा, विघटन द्वारा या एक तीव्र संघर्ष और क्रान्तिकारी विक्षोभ द्वारा अपने-आपमेंसे या अपनी स्व-निर्मित सीमाओंमेंसे वच निकलना होता है। मनको इस भाँति जीवनके लिये अपने एक सीमित नियम और विधिका चुनाव करना होता है, कारण, स्वयं उसकी दृष्टि और क्षमता वद्ध और सीमित हैं; परन्तु विज्ञानमय पुरुष सम्पूर्ण जीवन तथा अस्तित्वको अपने अन्दर उठा लेता है जो एक वृहत्, अद्वय और विविध, अनन्ततया एक तथा अनन्ततया वहुरूप 'सत्य'की सामंजस्यमयी स्वाभिव्यक्तिमें परिपूरित होता रूपान्तरित होता है। विज्ञानपुरुषके ज्ञान और कर्ममें अनन्त स्वातंत्र्यकी विशालता और नमनीयता होगी। यह ज्ञान जैसे-जैसे समग्रकी विशालतामें जाता जायगा, अपने विषयोंको ग्रहण करेगा; वह तो वस समग्रके सर्वांगीण सत्य और विषयके सम्पूर्ण तथा अन्तरतम सत्यसे वँधा होगा, परन्तु गठित भाव या निर्धारित प्रतीकोंसे नहीं जिनकी पकड़में मन आ जाता और रहता है और जिनमें वह वन्दी रहता है जिसके फलस्वरूप मनकी ज्ञानकी स्वतंत्रता चली जाती है। विज्ञानपुरुषकी समूची क्रियाशीलता भी किसी अलचीले नियमके वन्धनसे मुक्त होगी, उसपर किसी भूतकालकी स्थिति या करनी अथवा उसके परिणामका, कर्मका वन्धन नहीं होगा; उसमें अपने ही सान्तोंपर सीधे क्रिया करनेवाले 'अनन्त'की व्यवस्थित किन्तु स्वयं-निर्देशित तथा स्वयं-विकसनशील नमनीयता होगी। यह गतिधारा किसी प्रवहमानता अथवा अस्तव्यस्तताकी नहीं, अपितु विमुक्त और समस्वर सत्याभिव्यक्तिकी रचना करेगी; वहाँ आध्यात्मिक पुरुषका एक सुनम्य और सम्पूर्ण सचेतन प्रकृतिमें स्वतंत्र आत्म-निर्धारण होगा।

'अनन्त'की चेतनामें वैयक्तिकता वैश्वताको खंडित या परिसीमित नहीं करती, वैश्वता विश्वातीतताका प्रत्याख्यान नहीं करती। 'अनन्त'की चेतनाका निवासी विज्ञानपुरुष व्यक्ति-रूपमें अपनी ही स्वाभिव्यक्तिका सृजन करेगा, परन्तु ऐसा वह एक विशालतर विश्वात्मकताका केन्द्र और साथ ही विश्वातीतका केन्द्र रहकर करेगा। वह विश्वात्मक व्यक्ति होगा, अतः उसके सारे क्रियाकलापका विश्वक्रियासे सामंजस्य होगा, किन्तु अपनी विश्वातीतताके कारण वह किसी अल्पकालीन निम्नतर रूपायणसे सीमित नहीं होगा, न ही वह हर किसी या किसी भी विश्वशक्तिकी दयापर रहता होगा। उसकी विश्वात्मकता अपने चारों ओरके अज्ञान तकका भी अपनी विशालतर सत्तामें आलिंगन करेगी, किन्तु उसकी अन्त-रंग संवित् रखकर भी वह उससे प्रभावित नहीं होगा : वह अपनी विश्वातीत वैयक्तिकताके महत्तर विधानका अनुसरण करेगा और उसके विज्ञान-सत्यको अपनी सत्ता और कर्मकी अपनी विधिमें व्यक्त करेगा। उसका जीवन आत्माकी एक स्वतंत्र सौपम्यपूर्ण अभिव्यक्ति होगा; परन्तु, चूंकि उसका उच्चतम आत्मा ईश्वरकी सत्ताके साथ एक होगा, अतः उसकी स्वाभिव्यक्तिपर ईश्वरका, उसके उच्चतम आत्माका, और उसकी अपनी ही परमा प्रकृति पराप्रकृतिका एक स्वाभाविक दिव्य शासन होगा जो स्वतः ही ज्ञान, जीवन तथा कर्ममें एक विशाल तथा अनाबद्ध किन्तु साथ ही पूर्ण व्यवस्था ले आयगा। ईश्वर एवं पराप्रकृतिके प्रति उसकी वैयक्तिक प्रकृतिका आनुगत्य एक स्वाभाविक स्वर-संगति और वस्तुतः आत्माके स्वातंत्र्यकी आवश्यक अवस्था ही होगा, क्योंकि वह उसका अपनी ही परम सत्ताके प्रति आनुगत्य होगा, अपनी सारी सत्ताके 'उत्स'को दिया गया उत्तर होगा। व्यष्टि-प्रकृति कोई पृथक् वस्तु नहीं होगी; वह होगी पराप्रकृतिकी एक धारा। पुरुष तथा प्रकृति-का सारा विरोध, आत्मा और प्रकृतिके बीच वह विलक्षण विभाजन और असंतुलन जिससे अज्ञान आक्रान्त है, पूरा दूर कर दिया जायगा; कारण, प्रकृति पुरुषकी, 'व्यक्ति'की आत्म-शक्तिका परिप्लावन होगी, और 'व्यक्ति' परमा प्रकृतिका, ईश्वरकी सत्ताकी अतिमानसिक शक्तिका परिप्लावन होगा। उसकी सत्ताका यह परम सत्य ही, एक अनन्त रूपसे सामंजस्यपूर्ण तत्त्व ही उसकी आध्यात्मिक स्वतंत्रताकी व्यवस्थाका, एक सच्ची, स्वयंक्रिय एवं सुनम्य व्यवस्थाका सृजन करेगा।

निम्नतर सत्तामें व्यवस्था स्वयंक्रिय है, प्रकृतिका बंधन सम्पूर्ण है,

उसकी लीक पक्की और अनुल्लंघ्य है। वैश्व चित्-शक्ति प्रकृतिका एक नक्शा और उसका अभ्यस्त साँचा या कर्मका निर्धारित वृत्त प्रस्तुत करती है और जिस सत्तामें बुद्धिका उदय नहीं हुआ है उसे उसके लिये बनाये गये नक्शेके अनुसार और उसके साँचे या वृत्तमें रहने और कार्य करनेको बाध्य करती है। मनुष्यमें मन इस पहलेसे आयोजित नक्शे और परिपाटीसे आरम्भ करता है, परन्तु जैसे-जैसे उसका विकास होता है, वह नक्शेको बड़ा करता, साँचेको चौड़ा करता और स्वयंक्रियाशीलताके इस निर्धारित अचेतन अथवा अर्ध-चेतन विधानके स्थानपर भावों और सार्थकताओं और स्वीकृत जीवन-हेतुओंपर आधारित व्यवस्था बैठानेका प्रयत्न करता है, या वह एक बुद्धिमत्तापूर्ण मानकीकरण और एक युक्तियुक्त उद्देश्य, उपादेयता और सुविधा द्वारा निर्धारित ढाँचेके लिये प्रयत्न करता है। मनुष्यकी ज्ञान-निर्मितियोंमें, उसकी जीवन-निर्मितियोंमें कुछ भी यथार्थतः बाध्यकारी अथवा चिरस्थायी नहीं है; परन्तु फिर भी वह विचार, ज्ञान, व्यक्तित्व, जीवन और आचरणके मानदण्डोंकी रचना किये बिना नहीं रह सकता, और उनपर वह अपने जीवनको अत्यधिक चेतना और सम्पूर्णतासे आधारित करेगा ही या, कमसे कम, अपने निर्वाचित या स्वीकृत धर्मोंके भावमूलक ढाँचेमें अपने जीवनको गढ़नेका प्रयत्न यथाशक्ति करेगा ही। इसके विपरीत, आध्यात्मिक जीवनकी ओर संक्रमणमें जिस परम आदर्शको सामने रखा जाता है वह विधानका नहीं, 'आत्मा'में निष्ठ स्वतंत्रताका है; 'आत्मा' अपनी आत्मताकी प्राप्तिके लिये सारे सिद्धान्तोंको तोड़ डालता है, और यदि उसे फिर भी अभिव्यक्तिसे सम्बन्ध रखना है तो उसे कृत्रिम अभिव्यक्तिके स्थानपर स्वतंत्र और सच्ची अभिव्यक्तिके स्वातंत्र्यमें, एक सच्ची और स्वतःस्फूर्त आध्यात्मिक व्यवस्थामें पहुँचना होता है। "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज", "सारे धर्मोंका, सत्ता और कर्मके सारे मानदण्डों और नियमोंका परित्याग कर एक मुझमें ही शरण लो", यही उत्तम जीवनका वह सर्वोच्च नियम है जिसे दिव्य पुरुषने साधकके सामने रखा है। इस स्वतंत्रताकी खोजमें, निर्मित विधानमेंसे मुक्त होकर आत्मा और अध्यात्म-सत्ताके विधानमें प्रवेशमें, मानसिक नियंत्रणके स्थानपर आध्यात्मिक 'सद्वस्तु' का नियंत्रण लानेके लिये मानसिक नियंत्रणके परित्यागमें, सत्ताके उच्चतर सार-सत्यके लिये मनके निम्नतर निर्मित सत्यको छोड़ डालनेमें एक ऐसे पर्वमेंसे गुजरनेकी सम्भावना होती है जिसमें एक आन्तरिक स्वतंत्रता

उसके 'सर्व' के साथके तादात्म्यसे स्वतःस्फूर्त रूपसे उद्भूत होंगे। उसका जीवन मानसिक भावके विधान और प्राणिक तथा शारीरिक आवश्यकता और कामनाके विधान और पारिवेशिक जीवनकी बाध्यताका स्थानलेनेवाली एक आध्यात्मिक स्वतंत्रता और विशालताके डगोंमें चलना होगा; उसपर और उसके अन्दर दिव्य प्रज्ञा और इच्छाकी अपने ऋत-चित्के अनुसार क्रिया होगी, इनके अतिरिक्त अन्य किसीसे भी उसका जीवन और उसका कर्म बँधे नही होंगे। मानव-अज्ञानके जीवनमें विधानका कोई आरोपित निर्माण अनुपस्थित हो तो इससे यह आशंका रहती है कि संघर्ष, उच्छृंखलता और अहमात्मक अव्यवस्थाकी अस्तव्यस्तता आ जायगी, क्योंकि वहाँ मानवीय अहंकी पृथक्कारिता और तुच्छता रहती है, उसे यह आवश्यकता अनुभव होती है कि वह अन्य जीवनपर आघात करे, उसे अधिकृत करे और उपयोगमें लाय। परन्तु विज्ञानमय पुरुषके जीवनमें ऐसा नहीं हो सकेगा, क्योंकि अतिमानसिक पुरुषकी विज्ञानमयी ऋत-चेतनामें सत्ताके समस्त अंगों और गतिविधिके सम्बन्धका सत्य अवश्यमेव रहेगा,—चाहे व्यक्तिकी सत्ताको लें, चाहे किसी भी विज्ञानमयी गोष्ठीको,—वहाँ चेतनाकी सारी गतिविधि और जीवनके सारे कर्ममें एक स्वतःस्फूर्त एवं ज्योतिर्मयी एकता और सम्पूर्णता होगी। वहाँ अंगोंका कोई संघर्ष नहीं हो सकेगा; कारण, केवल ज्ञान तथा इच्छाकी चेतना नहीं, अपितु हृत्चेतना, प्राण-चेतना और दैहिक चेतना भी, जो कि हममें प्रकृतिके भावुक, प्राणिक अथवा दैहिक अंग हैं, सम्पूर्णता और एकताके इस एकीबद्ध सामंजस्यमें सम्मिलित की जायँगी। अपनी भाषामें हम कह सकते हैं कि विज्ञानमय पुरुषकी अतिमानसिक ज्ञानेच्छाको मन, हृदय, प्राण तथा शरीरपर पूर्ण नियंत्रण होगा, किन्तु यह वर्णन केवल संक्रमणलीन पर्वमें प्रयुक्त हो सकेगा जबकि पराप्रकृति इन अंगोंको अपने स्वरूपके अनुसार नये रूपमें घड़ रही होगी : वह संक्रमण जब एक बार पूरा हो जाता है तो नियंत्रणकी आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि तब सब कुछ एक एकीकृत चेतना होगा और परिणामतः एक स्वतःस्फूर्त सर्वांगीणता और एकतामें एक सम्पूर्णकी भाँति कार्य करेगा।

विज्ञानमय पुरुषमें अहंताकी स्व-प्रतिष्ठा और पराहंता द्वारा नियंत्रणके बीच कोई द्वन्द्व नही हो सकेगा; कारण, चूंकि विज्ञानमय व्यक्ति अपने जीवन-कर्ममे एक साथ ही अपने-आपको, अपने स्वरूप-सत्यको व्यक्त करेगा और दिव्य इच्छाको कार्यान्वित भी, और चूंकि वह यह जानता होगा

कि भगवान् ही उसका सच्चा आत्मा हैं और उसकी आध्यात्मिक वैयक्तिकताका उत्स तथा उपादान भी, अत: उसके आचरणके ये दो स्रोत एक अद्वय क्रियामें साथ-साथ ही नहीं होंगे, अपितु वे एक ही और अभिन्न प्रेरिका शक्ति होंगे। यह प्रवर्तिका शक्ति प्रत्येक परिस्थितिमें उस परिस्थितिके सत्यके अनुसार, प्रत्येक जीवके साथ उसकी आवश्यकता, प्रकृति और सम्बन्धके अनुसार, प्रत्येक घटनामें उस घटनासे दिव्य इच्छाकी क्या माँग थी उसीके अनुसार कार्य करेगी : कारण, यहाँ सब कुछ एक ही शक्तिकी अनेकानेक शक्तियोंके जटिल जाल और निकट सम्बन्धका परिणाम होता है, और विज्ञानमयी चेतना तथा सत्यात्मिका इच्छा इन शक्तियोंके सत्यको, प्रत्येकके सत्यको और इनकी समष्टिके सत्यको देखेंगी, और शक्तियोंके व्यूहपर आवश्यक आघात अथवा हस्तक्षेप प्रयुक्त करेंगी ताकि उसके द्वारा जो कुछ किया जाना इच्छित था उसे किया जाय, बस उतना ही, अधिक कुछ नहीं। सर्वत्र-विद्यमान, सर्वशासक और सकल विविधताओंमें सामंजस्य-स्थापक 'तादात्म्य'के परिणाम-स्वरूप वहाँ अपनी ही पृथक् स्व-प्रतिष्ठाके लिये तुले किसी पृथक्कारी अहंकी क्रीड़ा नहीं होगी; विज्ञानमय पुरुषके आत्माकी इच्छा ईश्वरकी इच्छाके साथ एक होगी, वह इच्छा पृथगात्मिका अथवा विपरीत स्वैरता नहीं होगी। उस पुरुषको कर्म और परिणामका आनन्द तो होगा किन्तु वह अहंके सारे दावेसे, कर्मासक्ति अथवा फलकी माँगसे मुक्त होगा; वह वही करेगा जिसे वह देख चुका है कि करना है और जिसे करनेको वह संचालित हुआ था। मनोमयी प्रकृतिमें आत्म-प्रयास और उच्चतर इच्छाके अनुगमनके बीच विरोध या वैषम्य हो सकता है, क्योंकि वहाँ आत्मा या प्रतीयमान व्यक्ति अपने-आपको परम सत्ता, इच्छा या व्यक्तिसे भिन्न देखता है; परन्तु यहाँ तो व्यक्ति उस परम 'सत्ता'की सत्ता होता है और विरोध अथवा वैषम्यकी उत्पत्ति नहीं होती। यहाँ व्यक्तिका कर्म व्यक्तिके अन्दर ईश्वरका कर्म, बहुके अन्दर एकमेवका कर्म होता है, और स्वैरताके पृथगात्मक प्रतिष्ठापन या स्वातंत्र्य-अभिमानके लिये कोई कारण नहीं हो सकता।

दिव्य ज्ञान एवं शक्ति, परात्पर प्रकृति, विज्ञानमय पुरुषके द्वारा क्रिया करेगी और वह पुरुष इसमें पूरा भाग लेगा,—विज्ञानपुरुषकी स्वतंत्रता इसी तथ्यपर अधिष्ठित है; यह एकत्व ही उसे उसकी स्वतंत्रता देता है। आध्यात्मिक पुरुषके बारेमें कितनी ही बार यह प्रतिपादित

किया जाता है कि वह सारे ही विधानोंसे—जिनमें नैतिक विधान भी सम्मिलित है,—स्वतंत्र है; इस स्वतंत्रताका आधार उस पुरुषकी इच्छाका 'शाश्वत' की इच्छाके साथ एकत्व है। सारे मानसिक मानदण्ड विलुप्त हो जायँगे, क्योंकि उनकी सारी आवश्यकता समाप्त हो जायगी; उनके स्थानपर दिव्यात्माके साथ तादात्म्य और सकल भूतोंके साथ तादात्म्य-का उच्चतर सच्चा विधान आ गया होगा। वहाँ स्वार्थपरता या परार्थ-परताका, अपने-आपका और दूसरोंका प्रश्न नही रह जायगा, क्योंकि वहाँ सबको एक ही आत्मावत् देखा और अनुभव किया जाता है और केवल वही किया जायगा जिसका निश्चय परम सत्य एवं शिवने किया हो। कर्ममें एक स्वयंभू विश्वव्यापी प्रेम, सहानुभूति, एकत्वकी विस्तीर्ण भावना होगी, किन्तु वह भावना कर्मपर प्रधान ही नहीं होगी, उसे निर्धा-रित ही नही करेगी, अपितु कर्म उससे अनुविद्ध, अनुरंजित और अनु-प्राणित होगा : वह भावना वस्तुओंके विशालतर सत्यके विरोधमें अपने-आपके लिये नही खड़ी होगी, भगवान्‌की इच्छित सच्ची गतिधारासे विच-लित करनेवाली व्यक्तिगत प्रवृत्तिका आदेश भी नहीं देगी। यह विरोध और विचलन अज्ञानमें तो हो सकता है जिसमें कि प्रेमका या प्रकृतिके किसी अन्य सबल तत्त्वका बुद्धिमत्तासे विच्छेद वैसे ही हो सकता है जैसे कि उसका शक्तिसे विच्छेद हो सकता है; परन्तु अतिमानस-विज्ञानमें सारी शक्तियाँ एक-दूसरीसे अन्तरंग हैं और एकवत् कार्य करती हैं। विज्ञानमय व्यक्तिमें सत्य-ज्ञान नेता और निर्धारक होगा और आधारकी सारी अन्य शक्तियाँ कर्ममें सहमत होंगी; वहाँ प्रकृतिकी शक्तियोंके बीच असामंजस्य अथवा संघर्षके लिये कोई अवकाश नहीं होगा। कर्म मात्रमें सत्ताकी एक अनुल्लंघ्य प्रेरणा होती है जो परिपूरित होना चाहती है; सत्ताके किसी ऐसे सत्यको अभिव्यक्त करना होता है जो अभीतक अभिव्यक्त नही हुआ है, या अभिव्यक्त होते सत्यको विकसित और सम्पन्न और अभिव्यक्तिमें पूर्ण करना होता है, या यदि वह सम्पन्न हो चुका है तो उसे अपनी सत्ता तथा आत्म-संसाधनका आनन्द लेना होता है। अज्ञानके अर्ध-आलोक और अर्ध-शक्तिमें वह अनुल्लंघ्य प्रेरणा गुप्त अथवा अर्ध-व्यक्त रहती है और परिपूर्तिकी ओरका प्रवेग एक अपूर्ण, संघर्षरत, अंशतः विफल गतिधारा होता है : किन्तु विज्ञानमय पुरुष एवं जीवनमें सत्ताकी अनुल्लंघ्य प्रेरणाएँ अन्तरमें अनुभूत होंगी, अन्तरंग रूपसे प्रत्यक्ष होंगी और सक्रिय कर दी जायँगी; वहाँ उनकी सम्भावनाओंकी

मुक्त क्रीड़ा होगी; वहाँ निष्पादन परिस्थितिके सत्य और पराप्रकृतिके अभिप्रायके अनुसार होगा। यह सब ज्ञानमें देखा जायगा और कर्ममें विकसित होगा; क्रियारत शक्तियोंका अनिश्चित संघर्ष या क्लेश नहीं होगा; सत्ताके किसी असामंजस्यके लिए, चेतनाकी प्रतिकूल क्रियाके लिए कोई अवकाश नही रह सकेगा : जहाँ सत्य इस भाँति अन्तर्निष्ठ है और प्रकृतिके कार्यमें उसकी स्वतःस्फूर्त क्रियावत्ता है, वहाँ यांत्रिक विधानके किसी बाह्य मानकीकरणका आरोपण सर्वथा अनावश्यक होगा। सौपम्यपूर्ण क्रिया, दिव्य उद्देश्यका कार्यान्वयन, वस्तुओंके अनुल्लंघ्य सत्यका निष्पादन,—यह सारे जीवनका धर्म और उसकी स्वाभाविक क्रियाधारा होगा।

अतिमानसिक जीवनका तत्त्व वह तादात्म्यजनित ज्ञान होगा जो सर्वांगपूर्ण सत्ताकी शक्तियोंको अभिव्यक्तिके साधनोंकी समृद्धिके लिये उपयोगमें ला रहा होगा। विज्ञानमयी सत्ताकी अन्य कोटियोंमें यद्यपि आध्यात्मिक सत्ता एवं चेतनाका सत्य अपनी पूर्ति पायगा, तथापि अभिव्यक्तिके साधन भिन्न श्रेणीके होंगे। उच्चतर-मनोमय पुरुष विचारके सत्य द्वारा, भावके सत्य द्वारा कार्य करेगा और उसे जीवन-क्रियामें निष्पन्न करेगा : परन्तु अतिमानसिक विज्ञानमें विचार एक गौण वृत्ति है, सत्य-दर्शनका एक निरूपण है, न कि निर्धारिका या प्रमुख चालिका शक्ति; वह ज्ञान तक पहुँचने या कर्मके लिये साधन होनेकी अपेक्षा ज्ञानको व्यक्त करनेके लिये ही एक साधन होगा,—या कर्ममें उसका प्रवेश केवल तादात्म्य-जनित इच्छा और तादात्म्य-जनित ज्ञानके शरीरके वेधक विन्दुकी भाँति होगा। इसी तरह, आलोकमय विज्ञानपुरुषमें सत्य-दर्शन और संबोधिमय विज्ञानपुरुषमें अपरोक्ष सत्य-सम्पर्क और सत्यका प्रत्यक्ष-स्वरूपीय बोध कर्मका प्रमुख स्रोत होगा। अधिमानसमें वस्तुओंके सत्य और प्रत्येक वस्तुकी सत्ताके तत्त्व और उसके सारे क्रियात्मक परिणामोंपर एक व्यापक और अपरोक्ष धृति होगी जो विज्ञानदृष्टि तथा विज्ञानमय विचारकी एक बड़ी विस्तीर्णताको उत्पन्न और एकत्र करेगी और ज्ञान तथा कर्मकी एक नींवकी रचना करेगी; होने और देखने और करनेकी यह विशालता एक अन्तःस्थित तादात्म्य-चेतनाका विविक्तामय परिणाम होगी, परन्तु स्वयं वह तादात्म्य चेतनाका उपादान या क्रियाकी शक्ति होकर पुरोभागमें नहीं रहेगा। परन्तु अतिमानसिक विज्ञानमें वस्तुओंके सत्यपर यह ज्योतिर्मयी अपरोक्ष धृति, यह सत्य-बोध, सत्य-दर्शन, सत्य-

विचार, अपने उस तादात्म्य-चेतनामें वापस चले जायेंगे और उसके ज्ञानके एक ही शरीरकी भाँति बने रहेंगे।[1] तादात्म्य-चेतना प्रत्येक वस्तुका नेतृत्व करेगी और उसे समाये रखेगी; वह सत्ताकी स्वरूपधातुके अणु-अणुमें एक संवित्‌के रूपमें अभिव्यक्त होगी जो अपनी आत्म-सम्पूर्ति-की अन्तर्निष्ठ शक्तिको व्यक्त कर रही होगी और अपने-आपको चेतनाके रूपमें तथा कर्मके रूपमें सक्रिय रूपसे निर्धारित कर रही होगी। यह अन्तर्निहित संवित् अतिमानसिक विज्ञानकी क्रियाका मूल और तत्त्व है; निरूपणके लिये या शरीरी होनेके लिए किसी भी वस्तुकी आवश्यकताके विना वह स्वयंपूर्ण रह सकती थी : परन्तु आलोकित दृष्टिकी क्रीड़ा, दीप्तिमान् विचारकी क्रीड़ा, आध्यात्मिक चेतनाकी सारी अन्य गतिविधिकी क्रीड़ा भी अनुपस्थित नहीं होगी; उनकी अपनी तेजस्वी क्रियाके लिये, दिव्य समृद्धि तथा विविधताके लिये, स्वाभिव्यक्तिके बहुविध प्रमोदके लिये, 'अनन्त'की शक्तियोंके हर्षके लिये, साधनोंके रूपमें उनका मुक्त विनियोग होगा। विज्ञानकी मध्यवर्तिनी भूमिकाओं या श्रेणियोंमें दिव्य पुरुष एवं प्रकृतिके रूपोंकी विविध और पृथक् व्यंजनाओंकी अभिव्यक्ति प्रेममय जीव एवं जीवनमें, दिव्य ज्योतिसे युक्त और दिव्य ज्ञानमय जीव एवं जीवनमें, दिव्य शक्तिसे युक्त और प्रभुताशाली रूपसे क्रियाकारी तथा सर्जनशील जीव एवं जीवनमें और दिव्य जीवनके अन्य असंख्य रूपोंमें हो सकती है; अतिमानसिक ऊँचाईपर सब कुछको एक बहुविध एकत्वमें, सत्ता और जीवनके एक परम समाकलनमें उठा लिया जायगा। सत्ताकी अवस्थाओं और शक्तियोंके ज्योतिर्मय और आनन्दमय समाकलनमें सत्ताकी संपूर्ति और उनकी सचल क्रियाकी तुष्टि विज्ञान-जीवनका अर्थ होगी।

सारा अतिमानसिक विज्ञान एक द्वितयी ऋत-चेतना है,—अन्तर्निष्ठ आत्मज्ञानकी चेतना और, आत्मा तथा जगत्‌के तादात्म्य द्वारा, अन्तरंग जगत्-ज्ञानकी चेतना; यह ज्ञान विज्ञानकी कसौटी, उसकी विशिष्ट शक्ति है। परन्तु यह कोई निरा भावमूलक ज्ञान नहीं है, यह वह चेतना नहीं है जो प्रेक्षण करती, भावोंकी रचना करती और उन्हें चरितार्थ करनेका प्रयत्न करती है; यह ज्ञान चेतनाकी स्वरूपभूत ज्योति है, सत्ता

---

1. इस वाक्यपर श्रीमाँने कहा, "इसमें एक परम सारल्यका बोध आता है, क्योंकि उलझनोंका जन्म तो सदैव नीचे उतरनेपर ही हुआ करता है।"—अनु०

और संभूतिके सारे सत्योंकी आत्म-ज्योति है, अपने-आपको निर्धारित, रूपायित और चरितार्थ करती सत्ताका आत्म-सत्य है। हो उठना, न कि जानना, अभिव्यक्तिका लक्ष्य है; ज्ञान सत्ताकी क्रियमाण चेतनाका साधन मात्र है। ऐसा ही होगा पृथ्वीपर विज्ञानमय जीवन,—ऋत-चिन्मयी सत्ताकी अभिव्यक्ति अथवा क्रीड़ा, उस सत्ताकी क्रीड़ा जिसे सकल वस्तुओंमें अपने-आपकी संवित् हो गयी है, जो कभी अपने-आपकी चेतना नहीं खोती है, जो रूप और कर्ममें निमग्न होनेसे उत्पन्न आत्म-विस्मृति या अपने सच्चे जीवनकी अर्ध-विस्मृतिमें फिर डूबी नहीं रह जाती, बल्कि रूप तथा कर्मको अपनी अबाध तथा पूर्ण स्वाभिव्यक्तिके लिये विमुक्त आध्यात्मिक शक्तिसे व्यवहृत करती है, अपने खोये या विस्मृत या अव-गुण्ठित और प्रच्छन्न सार्थक्य या सर्थक्योंको अब खोज नहीं रही है, आबद्ध नहीं रह गयी है, बल्कि निश्चेतना तथा अज्ञानसे उद्धार पा चुकी है, अपने स्व-सत्यों तथा शक्तियोंके प्रति संविद् है, अपनी अभिव्यक्तिका, अपने सत्त्वकी क्रीड़ाका, अपनी चेतनाकी क्रीड़ाका, अपनी अस्तित्वशक्ति-की क्रीड़ाका, अपनी सत्ताके आनन्दका निर्धारण अपनी परम तथा विश्व-गत 'सद्वस्तु'के साथ सदा ही समवर्तिनी और प्रत्येक ब्यौरेमें उससे सम-स्वरा रहती गतिधारामें मुक्त रूपसे करती है।

विज्ञानमय क्रमविकासमें चेतना, शक्ति और आनन्दकी स्थिति, भूमिका और समस्वरित क्रियाओंकी बड़ी विविधता होगी। विकसनशील अतिमानसके अपने शिखरोंकी ओर आगेके आरोहणमें बहुत सारी कोटियाँ कालक्रममें स्वभावतः आयेंगी; परन्तु आधार और तत्त्व सबमें एक ही होंगे। अभिव्यक्तिमें 'अध्यात्म-पुरुष', 'सत्-पुरुष' अपने-आपको सर्वतः जानता हुआ भी, इसके लिये बाध्य नहीं है कि वह अपने-आपको रूपा-यण और कर्मके वास्तविक पुरोभागमें, जो कि उसकी स्वाभिव्यक्तिकी साक्षात् शक्ति और कोटि होता है, सर्वतः व्यक्त करे : ऐसा हो सकता है कि वह पुरोभागमें अपनी अभिव्यक्तिका कोई पाद प्रकट करे और अपने-आपके बाकी सब कुछको आत्म-सत्ताके अव्यक्त आनन्दमें पीछेको ओर धृत रखे। पीछे रहनेवाला वह 'सर्व' और उसका आनन्द अपने-आपको पुरोभागमें पायगा, अपने-आपको उसके अन्दर जानेगा, उस अभि-व्यक्तिको, विसृष्टिको, अपनी विद्यमानतासे और समग्रता तथा आनन्त्यके बोधसे संरक्षित और परिप्लुत रखेगा। पुरोभागका यह रूपायण, बाकी सब कुछ जिसके पीछे रहेगा और जिसके अन्दर सत्ताकी शक्तिमें धारित

रहेगा, आत्मज्ञानका कार्य होगा, न कि अज्ञानका; वह अतिचेतनाकी ज्योतिर्मयी स्वाभिव्यक्ति होगा, न कि निश्चेतनामेंसे किया गया उत्क्षेप। पूर्णविराम इस भाँति एक महती और सामंजस्यमंडित विविधता विज्ञानचेतना तथा विज्ञानजीवनके क्रमविकासकी सुषमा तथा सम्पूर्णतामें एक तत्त्व होगी। जैसे विज्ञानमय क्रमविकासकी और भी निम्नतर श्रेणियोंके साथ व्यवहार करनेमें, वैसे ही अपने चारों ओरके अज्ञानाच्छन्न मनके साथ व्यवहार करनेमें भी अतिमानसिक जीवन अपनी सत्ताके 'सत्य'की इस अन्तर्निष्ठ शक्ति और गतिधाराको व्यवहृत करेगा : उसी सर्वांगपूर्ण 'सद्वस्तु'के प्रकाशमें वह अपनी सत्ताके सत्यको अज्ञानके पीछे स्थित सत्ताके सत्यके साथ सम्बद्ध करेगा; वह सारे सम्बन्धोंको सर्वसामान्य आध्यात्मिक एकत्वपर अधिष्ठित करेगा, अभिव्यक्तिके भेदोंको स्वीकार करेगा और उनमें सामंजस्य लायगा। विज्ञान-ज्योति प्रत्येक परिस्थितिमें प्रत्येकका प्रत्येकके साथ सही सम्बन्ध और प्रत्येकपर प्रत्येककी सही क्रिया या प्रतिक्रिया आश्वस्त करेगी; विज्ञान-बल या विज्ञान-प्रभाव सदा ही एक समस्वर कार्यान्वयन प्रतिष्ठित करेगा, अधिक विकसित तथा कम विकसित जीवनका सही सम्बन्ध स्थापित करेगा और निम्नतर जीवनपर अपने प्रभावसे एक महत्तर सामंजस्य स्थापित करेगा।

क्रमविकास जिस बिन्दुपर अधिमानसमेंसे बाहर आयगा और वहाँकी सीमाको पारकर अतिमानसिक विज्ञानमें प्रवेश करेगा, वहाँ तक अपनी मानस-धारणासे हम क्रमविकासका जितना अनुसरण कर सकते है, विज्ञानमय व्यक्तिकी सत्ता, जीवन तथा कर्मका स्वरूप यही होगा। यह स्पष्ट है कि विज्ञानका यह स्वरूप विज्ञानमय पुरुषोंके जीवन या गोष्ठी-जीवनके सारे सम्बन्धोंका निर्धारण करेगा; कारण, जैसे विज्ञानमय व्यक्ति ऋत-चित्की वैयक्तिक आत्मशक्ति होगा, वैसे ही विज्ञानघन समुदाय ऋत-चित्की सामुदायिक आत्मशक्ति होगा। उसमें जीवन तथा कर्मका पूरे मेलमें वही समाकलन होगा, सत्ताका वही सिद्ध और सचेतन एकत्व होगा, वही स्वतःस्फूर्त्तता, अन्तरंग एकत्व-भावना होगी, अपने और एक दूसरेके विषयमें वही अद्वय और पारस्परिक सत्य-दृष्टि और सत्य-बोध होंगे, प्रत्येकके साथ प्रत्येकके और सबके साथ सबके सम्बन्धमें वही सत्य-क्रिया होगी; यह समुदाय यांत्रिक समग्र नहीं, आध्यात्मिक समग्र होगा और उसी भाँति कार्य करेगा। इसी प्रकार स्वतंत्रता और नियमका अनिवार्य मिलन सामूहिक जीवनका विधान होगा; वह स्वतंत्रता

दिव्य जीवोंमें अनन्तकी विविध क्रीड़ाकी स्वतंत्रता होगी, वह नियम जीवोंके सचेतन एकत्वका नियम होगा जो कि अतिमानसिक अनन्तका विधान है। हमारा एकत्वका मानसिक अनुवाद उसके अन्दर एकरूपताका नियम ले आता है; मानसिक बुद्धि द्वारा लाया गया सम्पूर्ण एकत्व सर्वांगीण मानकीकरणको अपना अद्वितीय कार्यकर साधन मानकर उसकी ओर प्रवृत्त होता है,—वहाँ विभेदकी केवल गौण छायाओंको कार्य करने दिया जायगा : परन्तु विज्ञानजीवनका विधान होगा एकत्वकी स्वाभि-व्यक्तिमें विविधताका विशालतम वैभव। विज्ञानचेतनामें भिन्नता विस्वरताकी ओर नहीं, प्रत्युत एक स्वतःस्फूर्त और स्वाभाविक अनुकूली-करणकी ओर, एक पूरक बाहुल्यके बोधकी ओर, जिसे सामुदायिक रूपसे जानना है, करना है, जीवनमें क्रियान्वित करना है उसके एक समृद्ध और बहुमुख कार्यान्वियनकी ओर ले जायगी। कारण, मन और प्राणमें कठि-नाईकी रचना अहंसे होती है, समग्रोंको घटक अंगोंमें पृथक्-पृथक् करनेसे होती है जो विपरीत, विरोधी, विषम प्रतीत होते हैं : जिस जिसमें वे एक दूसरेसे पृथक् होते हैं वह सब आसानीसे अनुभूत होता और प्रतिष्ठित किया जाता है और उसपर बल दिया जाता है; जिसमें उनका मिलना होता है, जो कुछ उनकी विभिन्नताओंको एक साथ धृत रखता है, वह अधिकतया अज्ञात ही रह जाता या कठिनाईसे मिलता है; हरेक चीज भेदको सर करते हुए या उसमें कुछ समायोजन करके, एक निर्मित एकत्व द्वारा ही करनी होती है। निस्संदेह, एकत्वका एक अन्तःशायी तत्त्व है और एकताकी निर्मितिमें प्रकृति उसीके उन्मज्जनपर आग्रह करती है; कारण, प्रकृति वैयक्तिक तथा अहमात्मक होनेके साथ-साथ सामूहिक और सामुदायिक भी है और उसे अपने एकत्वके अपेक्षाकृत अधिक नृशंस साधनोंके साथ-साथ सहचारिता, सहानुभूति, सर्वसामान्य आवश्यकताओं, स्वार्थों, आकर्षणों और बन्धुताके साधन भी हैं : परन्तु उसका अहमात्मक जीवन तथा अहमात्मिका प्रकृतिका जो गौण, आरोपित और अति प्रमुख आधार है वह एकत्वको आच्छादित कर देता और उसके सारे निर्माणोंको अपूर्णता तथा असुरक्षासे आक्रान्त करता है। एक और कठिनाईकी रचना होती है जिसका कारण संबोधि और प्रत्यक्ष आन्तरिक सम्पर्कका अभाव या बल्कि उसकी अपूर्णता है जो प्रत्येकको ऐसी पृथक् सत्ता बनाती है जिसे दूसरोंकी सत्ता तथा प्रकृतिको कठिनाईसे जाननेके लिये, समझ, पारस्परिकता और सामंजस्यतक अन्तरके प्रत्यक्ष

बोध और सीधी पकड़ द्वारा पहुँचनेके बदले बाहरसे पहुँचनेके लिये बाध्य किया जाता है, जिससे सारा मानसिक और प्राणिक विनिमय बाधा पाता, अहंकारमें रंग जाता या पारस्परिक अज्ञानके अवगुण्ठनके कारण अपूर्ण और अधूरा रहनेको अभिशप्त होता है। सामूहिक विज्ञान-जीवनमें समाकलनकारी सत्य-बोध, विज्ञान-प्रकृतिका स्वरसंगतिकारी एकत्व सारी विभिन्नताओंको अपने अन्दर अपनी स्व-सम्पदाकी भाँति लिये चलेगा, और बहुविचित्र विचारणा, क्रिया, अनुभूतिको एक ज्योतिर्मय जीवन-समग्रके एकत्वमें बदल देगा। यह ऋत-चित्के तो स्वरूपका ही और उसकी सकल सत्ताके आध्यात्मिक एकत्वकी सक्रिय सिद्धिका स्पष्ट तत्त्व, अनिवार्य परिणाम होगा। इस सिद्धिको, जो कि जीवनकी पूर्णताकी कुंजी है, मनोमय स्तरपर पाना कठिन है, और वह यदि वहाँ प्राप्त हो भी गयी तो उसे सक्रिय या संगठित करना कठिन है, परन्तु सारी ही विज्ञान-सृष्टि और सारे ही विज्ञान-जीवनमें वह स्वाभाविक रूपसे सक्रिय और स्वतःस्फूर्त रूपसे आत्म-संगठित होगी।

यदि हम विज्ञानमय पुरुषोंको किसी अज्ञान-जीवनके साथ कोई भी सम्पर्क रखे बिना अपना स्व-जीवन व्यतीत करते देखें, तो इतना भर समझ लेना आसान है। परन्तु क्रमविकास यहाँ हो रहा है, इसी बातके कारण, विज्ञानमयी अभिव्यक्ति समग्रके अन्दर एक परिस्थिति ही होगी, भले ही वह निश्चायिका परिस्थिति क्यों न हो : चेतना तथा जीवनकी निम्नतर कोटियाँ चालू रहेंगी, उनमेंसे कुछ तो अज्ञानगत अभिव्यक्तिको बनाये रखेंगी, कुछ उसके और विज्ञानगत अभिव्यक्तिके बीच मध्यवर्तिनी होंगी; सत्ता और जीवनके ये दो रूप या तो अगल-बगल अस्तित्वमें रहेंगे या परस्पर अन्तर्प्रविष्ट होंगे। दोनों ही दशाओंमें यह आशा की जा सकती है कि विज्ञान-तत्त्व, यदि तुरन्त नहीं भी तो अन्तमें, सम्पूर्णपर आधिपत्य प्राप्त कर लेगा। तब उच्चतर आध्यात्मिक-मानसिक कोटियों-को अतिमानसिक तत्त्व प्रत्यक्ष रूपसे अवलम्ब दे रहा होगा और साथ-साथ धृत रख रहा होगा और वे कोटियाँ उस तत्त्वके स्पर्शमें रहेंगी और अज्ञान तथा निश्चेतनाके कभी परिव्यापी रहनेवाले अधिकारमेंसे उद्धार प्राप्त करेंगी। सीमित और परिवर्तित रूपमें ही सही, किन्तु सत्ताके सत्यकी अभिव्यक्तियाँ रहकर, वे अपने सारे प्रकाश और अपनी सारी ऊर्जाका आहरण अतिमानसिक विज्ञानसे करेंगी और उसकी उपकरणरूपिणी शक्तियोंके साथ प्रचुर सम्पर्क रखेंगी, स्वयं वे 'अध्यात्म-पुरुष' की सचेतन

चालिका शक्तियाँ होंगी, और यद्यपि तब तक उन्होंने अपने आध्यात्मिक सत्त्वकी परिपूर्ण शक्ति पूरी उपलब्ध नहीं की होगी, वे उन न्यूनतर उपकरणोंके अधीन न होंगी जो 'निर्ज्ञान'के सत्त्व द्वारा खण्डित, मिश्रित, ह्रसित, तमोवृत हों। जो भी अज्ञान अधिमानस, संबोधिमानस, आलोकित मानस अथवा उच्चतर मानसकी सत्तामें उठेगा या प्रवेश करेगा अज्ञान नहीं रह जायगा; वह ज्योतिमें प्रवेश करेगा, उस ज्योतिमें उस सत्यको उपलब्ध करेगा जिसे उसने अपने अन्धकारसे आवृत कर दिया था और एक मुक्ति, एक रूपान्तरण, चेतना तथा सत्ताकी एक नूतन स्थितिमेंसे गुजरेगा जो उसे इन उच्चतर स्थितियोंके अनुरूप बनायगी और अतिमानसिक स्थितिके लिये तैयार करेगी। साथ ही विज्ञानका सवृत तत्त्व तब केवल ऐसी प्रच्छन्न शक्तिके रूपमें कार्य करना छोड़कर जिसका प्रवर्तन गुप्त हो या वस्तुओंको अवगुंठित अवलम्ब देना या यदाकदा हस्तक्षेप करना ही जिसका एकमात्र कार्य हो, एक प्रकट, उदित और निरन्तर सक्रिय शक्तिके रूपमें कार्य करेगा और तब भी अस्तित्वमें रहती निश्चेतना और अज्ञानपर अपने सामंजस्य-विधानका कुछ अंश बैठा सकेगा। कारण, जो निगूढ़ विज्ञानशक्ति उनमें प्रच्छन्न है वह अपने अवलंब और प्रवर्तनकी एक महत्तर शक्तिसे, एक अधिक स्वच्छन्द और अधिक सबल हस्तक्षेपके साथ कार्य करेगी; अज्ञानके जीव विज्ञानपुरुषोंके संस्पर्शसे और पार्थिव प्रकृतिमें अतिमानसिक 'सत्-पुरुष' तथा 'शक्ति'की निरन्तर तथा प्रभावी विद्यमानताके परिणामस्वरूप विज्ञानकी ज्योतिसे प्रभावित होकर अधिक सचेतन तथा संवेदनशील होंगे। स्वयं मानव-जातिके अरूपान्तरित भागमें मनोमय मानव-जीवोंकी एक नयी और श्रेष्ठतर श्रेणी उदित हो जा सकती है; कारण, ऐसे मनोमय पुरुषका उन्मेष होगा जो अपरोक्ष संबोधिसे युक्त या आंशिक रूपसे संबोधिचालित होगा, परन्तु अभी भी विज्ञानमय न हुआ होगा, ऐसे मनोमय पुरुषका उन्मेष होगा जो अपरोक्ष या आंशिक रूपसे आलोकित हुआ होगा, ऐसे मनोमय पुरुष-का उन्मेष होगा जो उच्चतर विज्ञानके स्पर्शसे अपरोक्ष या आंशिक संस्पर्शसे होगा : इनकी संख्या बढ़ती जायगी, उनका प्रकार अधिकाधिक विकसित तथा सुरक्षित होता जायगा और वे उच्चतर मानसताकी एक वर्धित [illegible] [illegible] भी [illegible] [illegible] [illegible] निर्मित [illegible] [illegible] [illegible] अन्दर उन एक सत्तामूर्ति अभिव्यक्तिके [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] कर रही होंगी। इस भाँति [illegible] [illegible] [illegible]

यह भी हो सकता है कि जिसे तब भी नीचे ही रहना है उसकी अपनी श्रेणीमें एक न्यूनतर संसिद्धि हो। क्रमविकासके उच्चतर सिरेपर अतिमानसकी ऊपर उठती श्रेणियाँ और चोटियाँ सच्चिदानन्दकी शुद्ध आध्यात्मिक सत्ता, चेतना एवं आनन्दकी किसी परमाभिव्यक्तिकी ओर उठना आरम्भ करेंगी।

एक प्रश्न यह उठ सकता है, क्या विज्ञानमय परावर्तनका अर्थ, विज्ञानमय क्रमविकासमें और उससे परे जानेका अर्थ, शीघ्रतासे हो या देरीसे, निश्चेतनामेंसे होनेवाले क्रमविकासकी समाप्ति नहीं होगा,—कारण, वस्तुओंके यहाँके उस तमोवृत आरम्भका कारण समाप्त हो जायगा? यह इस आगेके प्रश्नपर निर्भर करता है, क्या सत्ताके दो ध्रुवोंके रूपमें अतिचेतना तथा निश्चेतनाके बीच संचरण भौतिक अभिव्यक्तिका स्थायी धर्म है या कि एक अस्थायी परिस्थिति ही? इस पिछले अनुमानको स्वीकार करना कठिन होता है, क्योंकि हम देखते हैं कि सारे भौतिक विश्वके लिए व्यापकता और स्थायिताकी किस भीमा शक्तिसे निश्चेतन नींव डाली गयी है। क्रमविकासके आदि तत्त्वको पूरा पलट देने या समाप्त कर देनेका अर्थ होगा इस वृहत् विश्वव्यापिनी निश्चेतनाके प्रत्येक अंगमें निगूढ़ और संवृत चेतनाका साथ-साथ अभिव्यक्त हो जाना; प्रकृतिकी किसी विशेष धारामें, उदाहरणके लिये पार्थिव धारामें परिवर्तन होनेका कोई ऐसा सर्वव्यापी प्रभाव नहीं हो सकेगा : पार्थिव प्रकृतिमें जो अभिव्यक्ति है उसका एक अपना गति-वृत्त है और उस गति-वृत्तकी पूर्ति ही हमारे विचारका समूचा विषय है। यहाँ शायद इतना भर कहा जा सकता है कि अपरार्द्धकी त्रयीमें चेतन सत्ताके परार्द्धकी उद्भासिका सृष्टि अथवा प्रतिकृतिके अन्तिम परिणाममें यहाँके विकासक्रमकी कोटियाँ और भूमिकाएँ यद्यपि वही रहेंगी, वह क्रमविकास सामंजस्यके विधान, विविधताके अन्दर एकत्वके विधान और एकत्वको कार्यान्वित करती विविधताके विधानके अनुगत कर दिया जायगा : वह संघर्षके द्वारा होता क्रमविकास नहीं रह जायगा; वह एक-एक भूमिकासे दूसरी भूमिकाकी ओर, न्यूनतरसे महत्तर ज्योतिकी ओर, आत्मोन्मीलनशील सत्‌की शक्ति और सौन्दर्यके एक-एक प्रतिरूपसे उच्चतर प्रतिरूपकी ओर सामंजस्यपूर्ण विकास हो जायगा। इससे भिन्न तभी हो सकता है यदि 'अनन्त'की उस रहस्यमयी सम्भावनाको कार्यान्वित करनेके लिये जिसका मूल तत्त्व 'निश्चेतना'में निमज्जित हो जानेके आधारमें है संघर्ष और कष्टका

विधान किसी कारण फिर भी आवश्यक रह जाय। परन्तु पार्थिव प्रकृतिके लिये ऐसा प्रतीत होता है कि एक बार अतिमानसिक विज्ञान निश्चेतनामेंसे उन्मज्जित हो जाय तो यह आवश्यकता समाप्त हो जायगी। अतिमानसिक विज्ञानके दृढ़ आविर्भावके साथ एक परिवर्तनका आरम्भ होगा, और वह परिवर्तन अपना चरमोत्कर्ष तव प्राप्त करेगा जब अतिमानसिक विकासक्रम सम्पूर्ण हो जायगा और सच्चिदानन्दकी परमाभिव्यक्तिकी महत्तर परिपूर्णतामें उदित हो जायगा।

●

अध्याय अट्ठाईस

दिव्य जीवन

त्वमग्ने वृजिनवर्तनिं नरं सक्मन् पिपर्षि विदथे विचर्षणे........।

हे द्रष्टा अग्नि तुम कुटिल राहोंपर चलनेवाले मनुष्यको स्थायी सत्यमें, ज्ञानमें ले जाते हो।

—ऋग्वेद
1. 31. 6.

उभे पुनामि रोदसी ऋतेन.....।

मैं भूलोक और द्युलोक, दोनोंको ऋतके द्वारा पवित्र करता हूँ।

—ऋग्वेद
1. 133. 1

सो ....मदः.............. ।
द्वा जना यातयन्नन्तरीयते नरा च शंसं दैव्यं च धर्तरि॥

उसका आनन्द-मद अपने धारकमें मानवीय स्वाभिव्यक्ति और दिव्य स्वाभिव्यक्ति, इन दो जन्मोंको प्रस्फुरित करता और इनके बीच विचरण करता है।

—ऋग्वेद
IX. 86. 42

ते अस्य सन्तु केतवोऽमृत्यवोऽदाभ्यासो जनुषी उभे अनु।
येभिर्नृम्णा च देव्या च पुनते............॥

उसकी संबोधिकी अजेय किरणें अमरत्वकी खोज करती हुई, दोनों जन्मोंमें व्याप्त होती हुई वहाँ हों; कारण, उनके द्वारा वह मानवीय शक्तियों और दिव्य वस्तुओंको एक ही गतिधारामें प्रवाहित करता है।

—ऋग्वेद
IX. 70. 3

आदित् ते विश्वे क्रतुं जुषन्त
शुष्काद् यद् देव जीवो जनिष्ठाः।

भजन्त विश्वे देवत्वं नाम
ऋतं सपन्तो अमृतमेवैः ॥

जब तुम शुष्क वृक्षसे जीवन्त देवके रूपमें जन्म लेते हो तब सब कोई तुम्हारी इच्छाको स्वीकार करें, जिससे कि वे देवत्व प्राप्त कर सकें और तुम्हारी गतियोंके वेगसे ऋत एवं अमृतपर अधिकार कर सकें।

—ऋग्वेद
1. 68. 2

हमारा यह जाननेका प्रयत्न रहा है कि जड़ विश्वमें हम चेतन जीवोंके अस्तित्वका सत्य और सार्थक्य क्या है और उस सार्थक्यका हमें यदि एक बार सन्धान मिल गया तो वह हमें किस दिशामें और कितनी दूर, किस मानवीय अथवा दिव्य भविष्यकी ओर ले जाता है। वस्तुतः ऐसा हो सकता है कि हमारा इह-जीवन जड़की ही अथवा जड़को निर्मित करनेवाली किसी 'ऊर्जा'की परिणामहीन सनक हो या 'अध्यात्म-सत्ता'की कोई अव्याख्येय सनक। या, फिर, हमारा इह-जीवन किसी विश्वातीत स्रष्टाकी मनमौजी कल्पना भी हो सकता है। यदि ऐसा हो तो उसका कोई मर्मनिहित सार्थक्य नहीं, और यदि जड़-तत्त्व अथवा कोई निश्चेतन ऊर्जा ही इस कल्पनाकी निर्मात्री हो, तब तो कोई भी सार्थक्य नहीं रहता; कारण, तब वह, अधिकसे अधिक, यदृच्छाकी एक चंचल सर्पिल धाराकी असंबद्ध गति या अन्धी नियतिकी कुटिल पाषाण-लिपि मात्र होता है। और यदि वह 'अध्यात्म-सत्ता'की कोई भूल है तो उसकी केवल एक भ्रामक सार्थकता हो सकती है जो शून्यमें विलुप्त हो जाती है। वस्तुतः ऐसा हो सकता है कि किसी चिन्मय स्रष्टाने हमारे जीवनके अन्दर कोई अर्थ रखा हो, किन्तु उसका आविष्कार उस स्रष्टाकी इच्छाके प्राकट्यसे ही होना चाहिये, वह अर्थ वस्तु-स्वभावमें स्वतः-निहित नहीं और वहाँ उसका आविष्कार नहीं हो सकता। किन्तु यदि कोई स्वयंभू 'सद्वस्तु' है जिसका एक परिणाम हमारा इह-जीवन है, तो अवश्य ही उस 'सद्वस्तु'का कोई सत्य होगा जो यहाँ अभिव्यक्त हो रहा है, कार्यान्वित हो रहा है, विकसित हो रहा है, और वही हमारी सत्ता तथा जीवनका अर्थ होगा। वह 'सद्वस्तु' चाहे जो भी हो, वह ऐसी कुछ तो है ही जिसने कालगत संभूतिका रूप धारण किया है,—और यह संभूति अविभाज्य है, क्योंकि जिस अतीतने हमारे वर्तमान और भविष्यकी रचना की है उसे वह वर्तमान और भविष्य रूपान्तरित कर, भिन्न बना-

कर, अपने अन्दर लिये चलते है, और फिर, अतीत तथा वर्तमानने भी तबतकके असृष्ट भविष्यमें होनेवाले अपने उस रूपान्तरणको अपने अन्दर समाये रखा था और समाये रहते हैं जो हमारे लिये इस कारण अदृश्य है कि वह अभी भी अनभिव्यक्त है, अविकसित है। हमारे इह-जीवनका तात्पर्य हमारी नियतिको निर्धारित करता है : वह नियति ऐसी कुछ है जो हममें एक आवश्यकता तथा शक्यताके रूपमें विद्यमान है ही, वह है हमारी सत्ताके गूढ़ तथा उन्मेषशील सत्यकी आवश्यकताके रूपमें, उसकी शक्यताओंके एक ऐसे सत्यके रूपमें जिसे कार्यान्वित किया जा रहा है; वह आवश्यकता और शक्यता, दोनों ही, यद्यपि अभी तक चरितार्थ नहीं हुई हैं, तथापि वे, जिसे अभिव्यक्त किया जा चुका है, अभी भी उसके अन्दर निहित हैं। यदि कोई ऐसा 'सत्-पुरुष' हो जो संभूत हो रहा है, अस्तित्वका कोई ऐसा तत्त्व हो जो अपने-आपको कालमें खोलता जा रहा है, तो वह सत्-पुरुष, वह तत्त्व गूढ़तः जो है वही हमें बन जाना है, और वैसा बन जाना ही हमारे जीवनका सार्थक्य है।

जिसे कालमें इस भांति क्रियान्वित किया जा रहा है उसकी कुंजी चेतना तथा प्राणमें ही मिलनी चाहिये, कारण, उनके बिना जड़-तत्त्व और जड़-जगत् एक अर्थहीन व्यापार, एक ऐसी वस्तु होंगे जो बस संयोगसे या किसी अचेतन नियतिसे घटित हो गयी है। परन्तु चेतना अभी जैसी है, प्राण अभी जैसा है, वे समग्र रहस्य नहीं हो सकते, कारण, यह सुस्पष्ट हैं कि दोनों ही अधूरी वस्तुएँ हैं जिनका अभी भी विकास चल रहा है। हममें चेतना मन है, और हमारा मन अज्ञ तथा अपूर्ण है, एक मध्यवर्तिनी शक्ति है जो ऐसे कुछकी ओर वर्द्धित हुई है और अभी भी हो रही है जो उससे परे है : चेतनाके निम्नतर स्तर थे जो मनसे पहले आये थे और जिसमेंसे वह उठा है; बहुत स्पष्ट है कि उच्चतर स्तर भी होंगे जिनकी ओर स्वयं वह उठ रहा है। हमारे विचारशील, युक्तिशील, चिन्तनशील मनसे पहले एक ऐसी चेतना थी जो विचारहीन थी परन्तु जीवन्त और संज्ञासंपन्न थी, और उससे पहले अवचेतन और अचेतन थे; सम्भव है कि हमारे बाद, या हमारी उन सत्ताओंमें जो अभी तक क्रमविकासमें प्रकट नहीं हुई हैं, एक महत्तर चेतना प्रतीक्षा कर रही हो जो स्वयंज्योतिर्मयी हो, निर्माणात्मक विचारपर निर्भर नही हो : हमारा अपूर्ण तथा अज्ञानी विचारात्मक मन अवश्य ही चेतनाका अन्तिम शब्द नहीं, उसकी अन्तिम सम्भावना नही। कारण, चेतनाका सार है अपने-आपकी और

अपने विषयोंकी संवित्की शक्ति, और अपने सच्चे स्वरूपमें यह शक्ति अवश्य ही अपरोक्ष, स्वतः-चरितार्थ तथा सम्पूर्ण होगी : यदि हममें उसकी क्रिया परोक्ष, अधूरी, अपरिपूरित है, निर्मित उपकरणोंपर निर्भर है, तो इसका कारण यह है कि यहाँ चेतना एक आद्या आवरिका निश्चेतनामेंसे उन्मज्जित हो रही है और अभी भी निश्चेतनके स्वगुण प्रथम निर्ज्ञानसे भाराक्रान्त और आच्छादित है; किन्तु पूरे उन्मज्जित हो उठनेकी शक्ति उसमें अवश्य ही होगी, विकसित होकर अपनी उस स्वीय पूर्णताको पा लेना जो कि उसका सच्चा स्वभाव है, अवश्य ही उसकी नियति होगी। उसका सच्चा स्वभाव अपने विषयोंकी सम्पूर्ण संवित्की प्राप्ति है, और इन विषयोंमें प्रथम है आत्मा, वह पुरुष जो यहाँ अपनी चेतनाको विकसित कर रहा है, और बाकी सब कुछ वह है जिसे हम अनात्मवत् देखते हैं,—परन्तु यदि सत्ता अविभाज्य है तो बाकी सब भी यथार्थतः आत्मा ही होगा : अतएव, विकसनशील चेतनाकी नियति अवश्य ही उसकी संवित्-की पूर्णता, उसकी आत्म-संवित् एवं सर्व-संवित्की सम्पूर्णता होगी। चेतनाकी यह पूर्ण और स्वाभाविक अवस्था हमारे लिये अतिचेतना है, एक ऐसी स्थिति है जो हमसे परे है और जिसमें हमारे मनको यदि अकस्मात् स्थानान्तरित कर दिया जाय तो वह आरम्भमें कार्य ही नहीं कर सकता; किन्तु हमारी सचेतन सत्ता अवश्यमेव उस अतिचेतनाकी ओर ही विकसित हो रही है। परन्तु हमारी चेतनाका एक अतिचेतनाकी ओर या अपने-आपके परम पदकी ओरका यह क्रमविकास केवल तब सम्भव होता है जबकि निश्चेतना, जो कि यहाँ हमारा आधार है, वस्तुतः स्वयं ही एक संवृत अतिचेतना हो; कारण, हममें 'सद्वस्तु'की संभूतिमें जो कुछ होना है वह अवश्य ही वहाँ संवृत या उसके आरम्भमें प्रच्छन्न रहा होगा। निश्चेतन कोई ऐसी संवृत सत्ता या शक्ति है, यह कल्पना हम भली भाँति तब कर पाते हैं जब हम एक अचेतन ऊर्जाकी इस भौतिक सृष्टिका समीपसे अवलोकन करते हैं, उसे विलक्षण निर्माण और अन्तहीन उपाय-कौशलसे एक विशाल संवृत प्रज्ञाके कार्य-साधनका श्रम करते देखते हैं, और यह भी देखते हैं कि हम भी उस प्रज्ञाके अंश हैं, उसकी संवृतिमेंसे विकसित होती वस्तु हैं, एक उन्मज्जित होती चेतना हैं जिसका उन्मज्जन तब तक मार्गमें बीचमें नहीं रुक सकता जबतक कि 'जो' संवृत है 'वह' विकसित न हो जाय और परम प्रज्ञा, समग्र रूपसे आत्मवित् तथा सर्ववित् प्रज्ञाके रूपमें प्रकट न हो जाय। इसे ही हमने अतिमानस अथवा विज्ञानका

नाम दिया है। कारण, यह स्पष्ट है कि इसे ही उस 'सद्वस्तु', उसे 'सत्-पुरुष', उस 'आत्मा'की चेतना होना चाहिये जो हममें निगूढ़ है और यहाँ धीमे-धीमे अभिव्यक्त हो रहा है; हम उसी 'सत्-पुरुष'की संभूतियाँ हैं और उसीकी प्रकृतिकी ओर हमें विकसित होना होगा।

यदि जड़गत सत्ताका मर्मरहस्य चेतना है, तो प्राण उस सत्ताका बाह्य संकेत है, उसकी प्रभाविनी शक्ति है; कारण, वही चेतनाको मुक्त करता और उसे उसका रूप, उसका शक्ति-विग्रह देता और भौतिक क्रियामें उसका सम्पादन करता है। यदि विकसनशील 'सत्-पुरुष'के जन्म लेनेका अन्तिम उद्देश्य जड़में उसका कोई प्राकट्य या सम्पादन है, तो प्राण उसके प्राकट्य और सम्पादनका बाह्य और क्रियावंत चिह्न तथा संकेत है। परन्तु प्राण भी, अभी वह जैसा है, अपूर्ण है और विकासकी राहपर है; जैसे चेतना श्रेष्ठतर संगठन और पूर्णता द्वारा विकसित होती है प्राण भी चेतनाके वर्द्धन द्वारा विकसित होता है : विशालतर चेतनाका अर्थ विशालतर प्राण-वृत्तियाँ होता है। मनोमय जीव मनुष्यका जीवन अपूर्ण है, कारण, मन उस 'सत्-पुरुष'की चेतनाकी प्रथम तथा उच्चतम शक्ति नहीं; यदि मनको पूर्ण बना भी दिया गया, तो भी ऐसा कुछ रह जायगा जिसे उपलब्ध करना बाकी है और जो अभी भी अभिव्यक्त नहीं हुआ है। कारण, जो संवृत तथा उन्मिषन्त है, वह 'मन' नहीं, 'अध्यात्म-तत्त्व' है, और मन 'अध्यात्म-तत्त्व'की चेतनाकी स्वाभाविक क्रियाशक्ति भी नहीं; वह स्वाभाविक क्रियाशक्ति अतिमानस है, विज्ञान-ज्योति है। अतः यदि प्राणको अध्यात्म-तत्त्वकी अभिव्यक्ति होना है तो अवश्य ही हममें आध्यात्मिक पुरुषकी अभिव्यक्तको और आध्यात्मिक सत्ताकी अतिमानसिक अथवा विज्ञानमयी शक्तिमें सिद्ध चेतनाके दिव्य जीवनको ही क्रमविकासिका प्रकृतिका निगूढ़ भार और अभिप्राय होना चाहिये।

सकल आध्यात्मिक जीवन, तत्त्वतः, दिव्य जीवनयापनकी ओर विकास है। मनोमय जीवन कहाँ समाप्त होता और दिव्य जीवनका कहाँ आरम्भ होता है, इस सीमान्तका निर्धारण कठिन है, क्योंकि ये दोनों एक दूसरेके भीतर प्रक्षिप्त होते है और इनके परस्पर-मिश्रित अस्तित्वका एक लम्बा अन्तराल होता है। जब आध्यात्मिक प्रेरणा पृथ्वी या जगत्से सर्वथा विमुख नहीं हो जाती है तो इस अन्तरालके एक बड़े भागको उन्मिषन्त उच्चतर जीवनकी प्रक्रियाके रूपमें देखा जा सकता है। मन और प्राण ज्यों-ज्यों अध्यात्मके आलोकसे आलोकित होते जाते हैं, त्यों-त्यों वे

दिव्यत्वका, गूढ़ महत्तर 'सद्वस्तु'का कोई अंश धारण या प्रतिबिम्बित करते हैं, और यह चीज तब तक बढ़ती जायगी जब तक कि वह अन्तराल पार न हो जाय और समूचा जीवन आध्यात्मिक तत्त्वकी परिपूर्ण ज्योति एवं शक्तिमें एकीबद्ध न हो जाय। परन्तु क्रमविकासकी प्रेरणाकी समग्र तथा पूर्ण पूर्तिके लिए तो इस आलोकीकरण और परिवर्तनको समग्र सत्ता, मन, प्राण तथा शरीरको हाथमें लेना ही होगा, उनका पुनर्सृजन करना ही होगा : यह भगवान्का केवल आन्तरिक अनुभव नहीं, अपितु आन्तरिक तथा बाह्य, दोनों जीवनोंका भगवान्की शक्ति द्वारा नये रूपसे गढ़ा जाना होगा, इसे केवल व्यक्तिके जीवनमें नहीं, अपितु विज्ञानमय पुरुषोंका ऐसा सामूहिक जीवन होकर साकार होना होगा जो पृथ्वी-प्रकृतिमें 'अध्यात्म-पुरुष'की संभूतिकी उच्चतम शक्ति तथा रूपकी तरह प्रतिष्ठित हुआ हो। इसके सम्भव होनेके लिये यह आवश्यक है कि हमारे अन्दरकी आध्यात्मिक सत्ताने अपनी सर्वांगपूर्ण पूर्णताका सम्पादन जीव-सत्ताकी केवल आन्तरिक स्थितिमें नहीं, अपितु उसकी बहिर्गामिनी शक्तिमें भी कर लिया हो और, उस पूर्णताके साथ साथ और अपनी क्रियाके सम्पूर्ण होनेके लिये एक आवश्यक तत्त्वके रूपमें, उसने बाह्य जीवनके लिये अपने ही क्रियाबल और साधनयंत्रोंका विकास कर लिया हो।

निस्संदेह अन्तरमें एक आध्यात्मिक जीवन हो सकता है, हमारे अन्तरमें एक स्वर्ग-राज्य हो सकता है जो किसी बाह्य अभिव्यक्तिपर या बाह्य सत्ताके साधन या सूत्रपर निर्भर नहीं करता। आन्तरिक जीवनका एक परम आध्यात्मिक महत्त्व है और बाह्यका मूल्य वहीं तक है जहाँ तक वह आन्तरिक स्थितिको व्यक्त करता है। जिसे आध्यात्मिक सिद्धि मिल गई है वह मनुष्य जिस तरह भी रहता हो, कर्म करता हो, बर्ताव करता हो, वह सर्वभावेन और अपने सारे कर्मोंमें, जैसा कि गीतामें कहा गया है, "सर्वथा मयि वर्तते", "मुझमें रहता और कर्म करता है"; वह भगवान्में निवास करता है, उसने आध्यात्मिक जीवन उपलब्ध कर लिया है। आध्यात्मिक मनुष्य, अध्यात्म-सत्ताका प्रत्यक्ष बोध रखता हुआ, अपने अन्दर और सर्वत्र भगवान्की अनुभूतिमें निवास करता हुआ, अन्तरमें दिव्य जीवन व्यतीत कर रहा होगा और उसका प्रतिबिम्ब उसके जीवनके बाह्य कर्मोंपर पड़ेगा, भले ही वे कर्म पार्थिव प्रकृतिके इस जगत्में मानवीय विचार तथा कर्मके सामान्य साधनोंसे आगे न निकले

हों,—या आगे निकले न लगते हों। हमारे विषयका प्रथम सत्य तथा सार यही है; परन्तु तब भी, आध्यात्मिक क्रमविकासके दृष्टिकोणसे, यह केवल एक वैयक्तिक मुक्ति और पूर्णता होगी, परिवेशके जीवनमें परिवर्तन नही हुआ होगा। वस्तुतः पृथ्वी-प्रकृतिमें एक महत्तर, क्रियावंत परिवर्तनके लिये, जीवन और कर्मके सारे तत्त्व तथा उपकरणोंके आध्यात्मिक परिवर्तनके लिए, हमें अपनी समग्र संसिद्धिकी, दिव्य परिणामकी धारणामें जीवोंकी एक नयी श्रेणी और एक नये पार्थिव जीवनके प्रादुर्भावका समावेश करना होगा। यहाँ विज्ञानमय परिवर्तनका एक प्राथमिक महत्त्व हो जाता है; जो कुछ भी पहले आया है उसे समूची प्रकृतिके इस रूपान्तरकारी परावर्तनके लिये एक तैयारी और ऊर्ध्वमुख निर्माण माना जा सकता है। कारण, क्रियावंत जीवनकी विज्ञान-रीति ही, ऐसी जीवन-रीति ही सिद्ध दिव्य जीवन होगी जो भौतिक जीवनमें चेतनाको सक्रिय करनेके लिये जगत्-ज्ञान तथा जगत्-कर्मके उच्चतर साधनोंका विकास करती और जड़ प्रकृतिके जगत्के मूल्योंको हाथमें लेती और रूपान्तरित करती है।

परन्तु विज्ञानजीवनकी सारी नींव, सदा ही और स्वरूपतः ही, अन्तरमें होगी, बाहर नहीं। अध्यात्म-जीवनमें 'अध्यात्म-सत्ता'ने ही, आन्तरिक 'सद्वस्तु'ने ही, मन, प्राण-सत्ता और शरीरको अपने साधन-यंत्रोंके रूपमें निर्मित किया है और वही उनका उस रूपमें उपयोग करती है; विचार, भावना और कर्मका अस्तित्व अपने-आपके लिये नहीं होता, वे साध्य नही, साधन हैं; वे हममें अभिव्यक्त दिव्य 'सद्वस्तु'को प्रकट करनेका काम करते हैं : अन्यथा, इस अन्तर्मुखीनता, इस आध्यात्मिक उद्गमके विना, अत्यधिक वहिर्वृत्त चेतनामें या केवल वाह्य-साधनों द्वारा, कोई श्रेष्ठतर अथवा दिव्य जीवन सम्भव नही है। हमारे वर्तमान प्रकृति-जीवनमें, हमारे वहिर्वृत्त सतही जीवनमें, जगत् ही हमारा सर्जन करता जान पड़ता है; परन्तु आध्यात्मिक जीवनकी ओर मोड़में हमें ही अपना और अपने जगत्का सर्जन करना होगा। सर्जनके इस नव-सूत्रमें आन्तरिक जीवनका महत्त्व प्रथम स्थान ले लेता है और बाकी सब कुछ उसकी अभिव्यंजना और परिणाम ही हो सकता है। वास्तवमें यही वह है जिसका संकेत पूर्णताकी ओरके हमारे अपने प्रयास करते हैं,—हमारे अपने अन्तरात्मा, मन तथा प्राणकी पूर्णता और जातिके जीवनकी पूर्णता। कारण, हमें जो जगत् मिला है वह तमसाच्छन्न, अज्ञानमय, जड़मय और

अपूर्ण है, और हमारी अपनी वाह्य सचेतन सत्ताका सर्जन भी इस वृहत् मूक तमिस्राकी ऊर्जाओं, उसके चाप, उसकी निर्मात्री क्रियाओं द्वारा, भौतिक जन्म द्वारा, परिवेश द्वारा, जीवनकी टक्करों और आघातोंसे दी गई शिक्षा द्वारा होता है; और फिर भी हमें ऐसे कुछका अस्पष्ट बोध होता है जो हमारे भीतर है या होना चाहता है, इस भाँति जो कुछ बना है उससे भिन्न है, मानों एक स्वयंभू, और आत्म-निर्धारिक पुरुष है, जो हमारी प्रकृतिको अपनी स्वीय गुह्य पूर्णताकी अथवा पूर्णताके 'भाव'की प्रतिमूर्तिके सर्जनकी ओर प्रवृत्त करता है। ऐसा कुछ है जो इस माँगके उत्तरमें हममें वर्द्धित होता है, एक दिव्य 'किसी'की मूर्ति बननेका प्रयत्न करता है, और उसे जो वाह्य जगत् मिला है उसपर परिश्रम करने और उसे भी एक महत्तर प्रतिमूर्तिके अनुसार, अपने आध्यात्मिक, मानसिक तथा प्राणिक विकासकी प्रतिमूर्तिके अनुसार फिरसे गढ़नेके लिए, हमारे जगत्-को भी ऐसा कुछ बना देनेके लिए प्रेरित किया जाता है जो हमारे मन और स्वयं-भावक आत्माके अनुसार सृष्ट हो, अभिनव, सुसमंजस, पूर्ण हो।

परन्तु हमारा मन तमसाच्छन्न है, उसकी धारणाएँ आंशिक होती हैं, वह वाहरके विरोधी रूपोंके भुलावेमें आ जाता, विविध सम्भावनाओं-के वीच वँटा रहता है; वह तीन विभिन्न दिशाओंमें ले जाया जाता है जिनमेंसे वह किसी भी एकको अनन्य रूपसे पसन्द कर ले सकता है। क्या होना ही है इसकी खोजमें हमारा मन हमारे अपने आन्तरिक आध्यात्मिक विकास और पूर्णतापर, हमारी अपनी ही वैयक्तिक सत्ता तथा जीवनपर एकाग्र होनेकी ओर मुड़ता है; या वह हमारी वाह्य प्रकृतिके वैयक्तिक विकासपर, हमारे विचारकी पूर्णता और जगत्पर वाह्य सचल या व्यावहारिक क्रियाकी पूर्णतापर, हमारे चारों ओरके जगत्के साथ हमारे व्यक्तिगत सम्बन्धके किसी आदर्शवादपर एकाग्र होनेकी ओर मुड़ता है; या वल्कि वह वाह्य जगत्पर ही, उसे श्रेष्ठतर वनानेपर, उसे हमारे विचारों और स्वभावके अनुसार या क्या होना चाहिये इस विषयमें हमारी धारणाके अधिक उपयुक्त वनानेपर एकाग्र होनेकी ओर मुड़ता है। एक ओर हमारे आध्यात्मिक पुरुषकी पुकार है जो कि हमारा सच्चा आत्मा है, विश्वातीत सद्वस्तु है, 'दिव्य पुरुष'की सत्ता है, जगत्के द्वारा सृष्ट नहीं है, अपने-आपमें रहनेमें, जगत्से उठकर विश्वातीततामें जानेमें समर्थ है; दूसरी ओर हमारे चारों ओरके जगत्की माँग है जो 'दिव्य पुरुष'का एक विश्वरूप, एक रूपायण है, छद्मवेशमें उस 'सद्वस्तु'की एक

शक्ति है। फिर, हमारी प्रकृति-स्थ सत्ताकी विभक्त या दोहरी माँग है जो इन दो प्रान्तोंके बीच अवस्थित है, उनपर निर्भर है और उनमें सम्बन्ध स्थापित करती है; कारण, प्रतीयमानतः, जगत्‌ने ही उसे बनाया है, किन्तु फिर भी, चूँकि उसका सच्चा स्रष्टा हमारे अन्दर ही है, चूँकि जो वैश्व साधन-समूह उसे बनाता जान पड़ता है वह केवल प्रथम-व्यवहृत साधन है, अतः वास्तवमें वह हमारे अन्दरकी महत्तर आध्यात्मिक सत्ताका एक रूप, उसकी एक छद्मवेशिनी अभिव्यक्ति है। यह माँग ही हमारी अन्तर्मुखी पूर्णता या आध्यात्मिक मुक्तिकी ओर लगन और हमारी बाह्य जगत् तथा उसकी विरचनाकी ओर लगनके बीच मध्यस्थता करती, इन दो प्रान्तोंके बीच अधिक सुखके सम्बन्धका आग्रह करती और श्रेष्ठतर जगत्‌में श्रेष्ठतर व्यक्तिके आदर्शकी रचना करती है। परन्तु 'सद्‌वस्तु' को और पूर्णता-मण्डित जीवनके उत्स और भित्तिको भी हमें अपने अन्दर ही पाना होगा; कोई भी बहिर्मुखी विरचना उसका स्थान नहीं ले सकती। यदि जगत् और प्रकृतिमें सच्चा जीवन सिद्ध करना है तो अन्तरमें सच्चे आत्माकी उपलब्धि करनी ही होगी।

दिव्य जीवनकी ओर बढ़नेमें हमारी पहली लगन अध्यात्म-पुरुषके साथ होगी; जब तक हम उसे उसके मानसिक, प्राणिक, शारीरिक आच्छादनों और छद्मवेशोंमेंसे निकाल कर अपनी सत्तामें प्रकट और विकसित नहीं कर देते, हम अपने स्व-शरीरमेंसे उसे धीरतासे खींच बाहर नहीं ले आते, जैसा कि उपनिषदोंने कहा है, जब तक हम अपने अन्दर अध्यात्म-पुरुषका एक आन्तरिक जीवन नही बना लेते, तब तक यह स्पष्ट है कि कोई बाह्य दिव्य जीवन भी सम्भव नही हो सकता। यदि वस्तुतः कोई मनोमय या प्राणमय देव ही हमारी दृष्टिमें हो और हम वैसा होना चाहें तो बात दूसरी है,—परन्तु तब भी, हमारे अन्दरके वैयक्तिक मनोमय पुरुषको या शक्ति, प्राणिक बल और कामनाके पुरुषको विकसित होकर उसी देवका विग्रह हो जाना होगा, उसके बाद ही हमारा जीवन उस अवर अर्थमें दिव्य हो सकेगा, अव-आध्यात्मिक अतिमानव, मनोमय अर्ध-देव या प्राणिक दानव, देव या असुरका जीवन हो सकेगा। यह आन्तरिक जीवन एक बार सृष्ट हो जाय तो हमारी दूसरी लगन होगी अपनी समूची बहिस्तलीय सत्ताका, अपने विचार, अपनी भावना और जगत्‌में अपने सारे कर्मका धर्मान्तर करके उन्हें उस आन्तरिक जीवनकी पूर्ण शक्ति बना देनेकी।

हम यदि अपने सक्रिय अंगोंमें उस गभीरतर तथा महत्तर रीतिसे रहें, तभी एक महत्तर जीवनके सर्जनकी शक्ति हो सकती या जगत्का पुनर्निर्माण किया जा सकता है जिससे वह मन तथा प्राणकी किसी शक्ति या पूर्णता या अध्यात्मकी शक्ति और पूर्णताका रूप लेवे। पूर्णीकृत मानव-जगत् न तो ऐसे मानवोंसे सृष्ट हो सकता, न उनका बना हो सकता है जो स्वयं अपूर्ण हों। यदि हमारे सारे कार्योंको बहुत सूक्ष्मतासे ध्यान देकर शिक्षा या विधान, सामाजिक या राजनैतिक तंत्र द्वारा नियमित कर दिया जाय तो भी इससे हमें केवल मनोवृत्तियोंका एक नियमबद्ध नमूना, जीवनोंका एक कृत्रिम नक्शा, आचरणका एक पालित-पोषित प्रतिमान ही प्राप्त होगा; परन्तु इस प्रकारकी अनुरूपता अन्दरके मनुष्यका परिवर्तन या नवसृजन नहीं कर सकती, कोई पूर्ण अन्तरात्मा अथवा पूर्ण विचारशील मनुष्य या पूर्ण अथवा वर्द्धमान सजीव प्राणी गढ़ना या तराशना उसके लिए सम्भव नहीं होता। कारण, अन्तरात्मा, मन तथा प्राण सत्ताकी शक्तियाँ हैं और विकसित हो सकते हैं, परन्तु उन्हें तराशा या बनाया नहीं जा सकता; बाह्य प्रक्रिया या रचना अन्तरात्मा, मन तथा प्राणको सहायता दे सकती या व्यक्त कर सकती है, किन्तु उसका सर्जन या विकास नहीं कर सकती। निस्संदेह, जीवको विकसित होनेमें, यांत्रिक उत्पादनके प्रयत्न द्वारा नहीं, प्रत्युत उसपर उद्दीपक प्रभावोंको डालकर या उसे अपने अन्तरात्मा या मन या प्राणकी शक्तियाँ प्रदान करके सहायता दी जा सकती है; परन्तु ऐसा होनेपर भी, विकास-वृद्धिको फिर भी बाहरसे नहीं, उसके अन्दरसे ही आना होगा, और वहींसे यह निर्धारित करना होगा कि इन प्रभावों तथा शक्तियोंका क्या करना है। यही वह प्रथम सत्य है जिसे हमारे सर्जनशील उत्साह तथा अभीप्साको सीखना है, अन्यथा हमारा सारा मानव-प्रयास व्यर्थके वृत्तमें घूमते रहनेको पूर्वाभिशप्त रहेगा और उसका अन्त केवल ऐसी सफलतामें होगा जो एक सुन्दर दीखनेवाली विफलता ही होगी।

कुछ हो उठना या बन जाना, सत्ताके अन्दर कुछ ले आना, यही प्रकृति-शक्तिका सारा श्रम है; जानना, अनुभव पाना, करना, ये गौण ऊर्जाएँ हैं जिनका भी मूल्य है, क्योंकि वे जीवको, उसकी आंशिक आत्मोपलब्धिके क्रममें, वह जो है उसे व्यक्त करनेके लिये सहायता देती हैं, और इससे भी अधिक कुछ जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है और जो उसे होना है उसे व्यक्त करनेकी उसकी प्रेरणामें भी सहायता देती

हैं। परन्तु ज्ञान, विचार और कर्म चाहे धार्मिक, नैतिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, उपयोगितावादी या सुखवादी हों, चाहे जीवनका कोई मानसिक, प्राणिक या शारीरिक रूप या निर्माण, वे जीवनका सार या लक्ष्य नहीं हो सकते; वे केवल सत्ताकी शक्तियों या उसकी संभूतिकी शक्तियोंकी क्रियाधाराएँ हैं, उसके अपने-आपके क्रियावंत प्रतीक हैं, शरीरी 'आत्मा'की रचनाएँ है, वह जो होना चाहता है उसके आविष्कार या रूपायणके लिये उसके साधन हैं। मनुष्यके स्थूल मनकी प्रवृत्ति इससे भिन्नतया देखने और वस्तुओंकी सच्ची पद्धतिको उलट-पुलट कर देनेकी होती है, क्योंकि वह प्रकृतिकी बहिस्तलीय शक्तियों या रूपोंको सारगत या मूलगत मान लेता है। प्रकृति जो सृष्टि दृश्य या बाह्य प्रक्रिया द्वारा करती है उसे यह मन उसकी क्रियाका सार मानता है और यह नही देखता कि वह केवल एक गौण बाह्य रूप है जो एक महत्तर गूढ़ प्रक्रियाको छिपाये हुए है। कारण, वस्तुतः, प्रकृतिकी गुह्य प्रक्रिया सत्ताकी शक्तियों और रूपोंको बाहर लाकर उसे प्रकट करना है; प्रकृतिका बाह्य चाप संवृत सत्ताको इस क्रमविकास, इस आत्म-रूपायणकी आवश्यकता-की ओर जागृत करनेका एक साधन मात्र है। जब प्रकृतिके क्रमविकासका आध्यात्मिक पर्व आ जाता है, यह गुह्य प्रक्रिया ही समूची प्रक्रिया हो जाती है। अतः शक्तियोंके आवरणको पार करना और उनके गूढ़ और मुख्य उत्स तक पहुँचना जो कि अध्यात्मपुरुष ही है, प्रधान महत्त्वकी बात है। आत्मस्वरूप हो जाना ही एकमात्र करणीय वस्तु है; परन्तु हमारा सच्चा आत्मस्वरूप वह है जो हमारे अन्दर है और यह उच्चतम सत्ता, जो कि हमारी सच्ची और दिव्य सत्ता है, अपने-आपको प्रकट करे और सक्रिय हो जाय, इसके लिये यह शर्त है कि हम अपने शरीर, प्राण तथा मनकी बाह्य सत्ताका अतिक्रमण करें। हम अन्तरमें विकसित होकर और अन्तरमें निवास करके ही इसे पा सकते हैं; और यह हो जाने पर वहाँसे आध्या-त्मिक अथवा दिव्य मन, प्राण, शरीरका सर्जन और इन साधनों द्वारा एक ऐसे जगत्का सर्जन जो दिव्य जीवन-यापनके लिये सच्चा परिवेश होगा,—यही वह अन्तिम लक्ष्य है जिसे प्रकृतिकी शक्तिने हमारे सामने रखा है। अतः पहली आवश्यकता यह है कि व्यक्ति, प्रत्येक व्यक्ति, अध्यात्म-पुरुषका, अपने अन्दरकी दिव्य सद्वस्तुका आविष्कार करे और उसे अपनी समूची सत्ता तथा जीवनमें व्यक्त करे। दिव्य जीवनको प्रथ-मतः और मुख्यतः एक आन्तरिक जीवन होना ही चाहिये; कारण, चूँकि

जो अन्तरमें है बाह्य उसीकी अभिव्यक्ति होगा, अतः आन्तरिक सत्ता दिव्य न बना दी गयी हो तो बाह्य जीवनमें दिव्यत्व हो नहीं सकता। मनुष्यमें अन्तःस्थ भगवान् उसके आध्यात्मिक केन्द्रमें अवगुण्ठित होकर निवास करते हैं; यदि शाश्वत आत्मा, शाश्वत पुरुष, मनुष्यके अन्दर सत्यतः न हो, तो उसके लिये स्वातिक्रमण जैसी कोई बात नहीं हो सकती, न ही उसके जीवनका उच्चतर परिणाम हो सकता है।

होना और परिपूर्णतः होना, यही हममें प्रकृतिका लक्ष्य है; परन्तु परिपूर्णतः होना अपनी सत्ताके प्रति पूरा चेतन होना है : अचेतना, अर्ध-चेतना या अपूर्ण चेतना सत्ताकी वह अवस्था है जब वह आत्मप्रतिष्ठ नहीं होती; वह अस्तित्व तो है, किन्तु सत्ताकी परिपूर्णता नहीं। अपने आपकी और अपनी सत्ताके सारे सत्यकी सम्पूर्ण तथा अखंड संवित् अस्तित्वपर सच्चे अधिकारकी प्राप्तिकी आवश्यक शर्त है। यह आत्म-संवित् ही आध्यात्मिक ज्ञानका अर्थ है : आध्यात्मिक ज्ञानका सार है अन्तर्मुखी स्वयंभू चेतना; उसका सारा ज्ञान-कर्म, वस्तुतः उसका किसी भी प्रकारका कर्म, अपने-आपको निरूपित करती वह चेतना ही होगा। सारा अन्य ज्ञान वह आत्म-विस्मृत चेतना है जो अपने बारेमें और अपने अन्दर जो है उसके बारेमें अपनी स्व-संवित्को पुनः पानेका प्रयत्न कर रही है; वह आत्म-ज्ञानमें वापस रूपान्तरित होनेका प्रयास करता आत्म-अज्ञान है।

परन्तु यह भी है कि चूँकि चेतना अस्तित्वकी शक्तिको अपने अन्दर लिये रहती है, परिपूर्णतः होना अपनी सत्ताकी अन्तरंग और अखंड शक्तिको धारण करना है; यह अपनी सारी आत्म-शक्ति और उसके सारे प्रयोगपर अधिकार करना है। केवल होना, जबकि अपनी सत्ताकी शक्ति अधिकृत न हो या वह शक्ति आधी या अपूर्ण हो, विकलांग अथवा ह्रसित अस्तित्व है; यह अस्तित्वमें रहना तो है, परन्तु सत्ताकी परिपूर्णता नहीं। वस्तुतः यह सम्भव है कि केवल निष्क्रिय स्थितिमें अस्तित्व बनाये रखा जाय और हो उठनेकी शक्ति, सत्ताकी शक्ति आत्मामें आत्म-संहृत और निश्चल रहे; परन्तु फिर भी, स्थिति और क्रिया दोनोंमें ही होना अस्तित्वकी सर्वांगपूर्णता है : आत्माकी शक्ति आत्माकी दिव्यता-का चिह्न है,—निःशक्त 'अध्यात्म-पुरुष' 'अध्यात्म-पुरुष' नहीं, परन्तु जैसे आध्यात्मिक चेतना अन्तर्भूत और स्वयंभू है, वैसे ही हमारी आध्यात्मिक सत्ताकी यह शक्ति भी अन्तर्भूत, स्वयंक्रिय, स्वयंभू और स्वयंसिद्धिकर होनी ही चाहिये। वह जिस साधन-यंत्रका उपयोग करती है वह उसीका

अंग होगा; वह जिस बाह्य साधन-यंत्रका उपयोग करती है उसे भी उसीका अंग और उसीकी सत्ताको व्यक्त करनेवाला बना देना होगा। इच्छा है चेतन क्रिया करती सत्ताकी शक्ति, और जो कुछ भी 'अध्यात्म-पुरुष'की चिन्मयी इच्छा है, उसकी सत्ता तथा संभूतिकी इच्छा है, उसे सामंजस्यसे पूरी करनेमें समूचे अस्तित्वको समर्थ होना ही चाहिये। जिस किसी भी कर्म या क्रिया-ऊर्जाको यह प्रभुता नहीं या क्रिया-यंत्रपर अधिकार नहीं उसमें, उस त्रुटिके कारण, सत्ताकी शक्तिकी अपूर्णताका, चेतनाके विभाजन अथवा अक्षमकारी खंडीकरणका, सत्ताकी अभिव्यक्तिमें असंपूर्णताका लक्षण रहेगा।

अन्तमें, परिपूर्णतः होना होनेका, सत्ताका परिपूर्ण आनन्द पाना है। सत्ताके आनन्दसे रहित सत्ता, अपने-आपके और समस्त वस्तुओंके सम्पूर्ण आनन्दसे रहित सत्ता एक निष्प्रभ या ह्रसित वस्तु है; वह अस्तित्व तो है किन्तु सत्ताकी परिपूर्णता नहीं। यह आनन्द भी अवश्य ही अन्तर्भूत, स्वयंभू, स्वयंवह होगा; वह अपनेसे बाहरकी वस्तुओंपर आश्रित नहीं हो सकता : वह जिस किसी भी वस्तुमें आनन्द लेता है, उसे अपना अंग बना लेता है, उसके आनन्दको अपनी सार्विकताके अंगकी तरह पाता है। समस्त निरानन्द, समस्त कष्ट और वेदना अपूर्णताका, असम्पूर्णताका चिह्न है; उसका उद्भव सत्ताके विभाजनसे, सत्ताकी चेतनाकी असम्पूर्णतासे, सत्ताकी शक्तिकी असम्पूर्णतासे होता है। सत्तामें, सत्ताकी चेतनामें, सत्ताकी शक्तिमें, सत्ताके आनन्दमें सम्पूर्ण होना और इस समाकलित सम्पूर्णतामें जीना ही दिव्य जीवन है।

परन्तु फिर, परिपूर्णतः होना विश्वात्मभावसे होना है। तुच्छ प्रतिबन्धित अहंके परिसीमनोंमें होना अस्तित्व तो है, किन्तु अपूर्ण अस्तित्व है : यह स्वरूपतः ही एक असम्पूर्ण चेतनामें, अस्तित्वकी असम्पूर्ण शक्ति तथा आनन्दमें रहना है। यह आत्मस्वरूपसे कम होना है और इससे अज्ञान, दुर्बलता तथा कष्टके अधीन होना अनिवार्य होता है : या यदि इसमें प्रकृतिकी किसी दिव्य गठन द्वारा इन वस्तुओंका बहिष्कार भी किया जा सके, तो भी यह अस्तित्वकी सीमित परिधिमें, अस्तित्वकी एक सीमित चेतना, शक्ति और हर्षमें रहना होगा। सकल सत्ता एक है और जो कुछ भी है वह सब हो जाना परिपूर्णतः होना है। सबकी सत्ताके अन्दर होना और सबको अपनी सत्ताके अन्दर सम्मिलित करना, सबकी चेतनाके प्रति चेतन होना, शक्तिमें

विश्वशक्तिके साथ एक होना, सकल कर्म तथा अनुभवको अपने अन्दर वहन करना और उन्हें अपने ही कर्म तथा अनुभववत् अनुभव करना, सकल आत्माओंको अपने ही आत्मावत् अनुभव करना, सत्ताके सारे आनन्दको अपनी ही सत्ताके आनन्दवत् अनुभव करना पूर्ण दिव्य जीवनकी आवश्यक शर्त है।

परन्तु अपनी विश्वात्मकताकी परिपूर्णता तथा स्वतंत्रतामें इस प्रकार विश्वात्मभावसे होनेके लिये विश्वातीत भावसे भी होना होगा। सत्ताकी आध्यात्मिक परिपूर्णता है नित्यता, और यदि कालातीत नित्य सत्ताकी चेतना न हो, यदि शरीर या शरीरी मन या शरीरी प्राणपर निर्भर रहा जाय या इस जगत् या उस जगत्पर या सत्ताकी इस अवस्था या उस अवस्थापर निर्भर रहा जाय, तो यह आत्माकी सत्यता नहीं, हमारे आध्यात्मिक जीवनकी परिपूर्णता नहीं। केवल शारीर-आत्मारूप रहना या केवल शरीरके सहारे होना, मृत्यु और कामना, कष्ट और वेदना, अवनति और क्षयके अधीन क्षणभंगुर प्राणी होना है। शरीरकी चेतना-का अतिक्रमण करना, उससे परे जाना, शरीरमें या शरीर द्वारा धृत नहीं रहना, शरीरको आत्माके उपकरण मात्रकी तरह, एक अल्प बाह्य रूपायणकी तरह रखना, दिव्य जीवनकी एक पहली शर्त है। वह मन नहीं होना जो अज्ञान तथा चेतना-सीमायनके अधीन हो, मनका अतिक्रमण करना और उसे उपकरणकी तरह प्रयुक्त करना, उसे आत्माके बहि-स्तलीय रूपायणकी तरह नियंत्रित करना एक दूसरी शर्त है। आत्मा एवं अध्यात्म-सत्ताके सहारे होना, प्राणपर निर्भर नहीं करना, उसके साथ एकात्म नहीं होना, उसका अतिक्रमण करना और उसे आत्माकी अभि-व्यक्ति और आत्माके उपकरणकी तरह नियंत्रित तथा व्यवहृत करना एक तीसरी शर्त है। यदि चेतना शरीरका अतिक्रमण न करे और सारे जड़गत अस्तित्वके साथ अपना भौतिक एकत्व अनुभव नहीं करे, तो शारीरिक जीवन भी अपने निजी प्रकारमें परिपूर्ण स्वीय सत्ता उपलब्ध नहीं करता। यदि चेतना वैयक्तिक प्राण-शक्तिकी प्रतिबंधित क्रीड़ाका अतिक्रमण न करे और विश्वव्यापी प्राणको अपने ही जैसा और सकल प्राणके साथ अपना एकत्व अनुभव नहीं करे, तो प्राणिक जीवन भी अपने स्व-प्रकारमें परिपूर्ण स्व-जीवन उपलब्ध नहीं करता। यदि हम वैयक्तिक मानस-सीमाओंका अतिक्रमण न करें, विश्वमन और सकल मनके साथ एकत्व अनुभव न करें, और उनकी विभिन्नताके वैभवमें परिपूरित अपनी

चेतनाके अखंडत्वका रसास्वादन न करें तो मानसता अपने स्व-प्रकारमें परिपूर्ण चेतन अस्तित्व या क्रिया नहीं होती। परन्तु अतिक्रमण केवल वैयक्तिक सूत्रका नही, विश्वके सूत्रका भी करना होगा, कारण, वैयक्तिक जीवन हो या विश्व-जीवन, वह अपनी सच्ची सत्ता और पूर्ण सामंजस्यको इसी प्रकार पा सकता है; अपने वाह्य रूपायणमें दोनों ही विश्वातीतकी अधूरी अभिधाएँ हैं, परन्तु साररूपमें वे वही हैं, और उस सारके प्रति चेतन हो कर ही वैयक्तिक चेतना या विश्वचेतना अपनी सच्ची सत्ताकी परिपूर्णता और स्वतंत्रता पा सकती है। अन्यथा, व्यक्ति विश्व-गतिधारा और उसकी प्रतिक्रियाओं तथा सीमाओंके अधीन और अपने सम्पूर्ण आध्यात्मिक स्वातंत्र्यसे वंचित रह जा सकता है। उसे परम दिव्य सद्‌वस्तुमें प्रवेश करना, उसके साथ अपना एकत्व अनुभव करना, उसमें रहना, उसकी आत्म-सृष्टि होना ही होगा : उसके मन, प्राण और शरीरका उस सद्‌वस्तुकी पराप्रकृतिकी अभिधाओंमें पूरा धर्मान्तरण करना ही होगा; उसके सारे विचारों, अनुभवों और कर्मोंको उसी सद्‌वस्तु द्वारा निर्धारित होना होगा और वही, उसीका आत्म-रूपायण ही हो जाना होगा। यह सब उसमें केवल तब पूरा किया जा सकता है जबकि वह विकसित होकर अज्ञानमेंसे ज्ञानमें और ज्ञान द्वारा परमा चेतना और उसके क्रियाबल एवं परमानन्दमें पहुँच गया हो; किन्तु इन वस्तुओंका कुछ सार तत्त्व और उनके पर्याप्त साधन प्रथम आध्यात्मिक परिवर्तनके साथ-साथ चले आ सकते हैं और विज्ञानघना पराप्रकृतिके जीवनमें उनकी चरम परिणति हो सकती है।

ये प्राप्तियाँ अन्तरावृत्त जीवनके बिना असम्भव हैं; ये किसी ऐसी वाह्य चेतनामें रहते हुए नहीं मिल सकतीं जो सदा वहिर्मुखी हो, एकमात्र या प्रधान रूपसे सतहपर और सतहसे सक्रिय हो। व्यष्टि-जीवको अपने आपको, अपने सच्चे अस्तित्वको पाना होगा; इसके लिये उसे अन्तरमें जाना ही होगा, अन्तरमें और अन्तरके आधारसे ही जीवन-यापन करना होगा : कारण, वह वहिर्मुखी या वाह्य चेतना या जीवन जिसका आन्तर आत्मासे विच्छेद हो गया है, अज्ञानका क्षेत्र है; वह चेतना, वह जीवन अपना अतिक्रमण और अज्ञानका अतिक्रमण आन्तर आत्मामें तथा जीवनकी विशालतामें उन्मीलित होकर ही कर सकता है। यदि हममें विश्वातीतकी कोई सत्ता है, तो वह अवश्य ही हमारे गूढ़ आत्मामें होगी, वहिस्तल पर तो सीमा तथा परिस्थितिसे वनी, प्रकृतिकी क्षणिक सत्ता ही होती

है। यदि हममें कोई ऐसा आत्मा है जो विशालता तथा विश्वात्मकताके लिये समर्थ है, विश्वचेतनामें प्रवेश करनेमें सक्षम है, तो वह भी हमारी आन्तरिक सत्ताके अन्दर ही होगा; वाह्य चेतना मन, प्राण तथा शरीर-की रज्जुओं द्वारा अपनी वैयक्तिक सीमाओंसे बँधी स्थूल चेतना ही है : विश्वभावके लिए किसी भी वाह्य प्रयत्नका परिणाम या तो अहंका विवर्द्धन होगा या व्यक्तित्वका जनपुंजमें निर्वापण द्वारा या जनपुंजके अधीन होकर मिट जाना होगा। व्यक्ति अपनी सत्ताको केवल आन्तरिक विकास, गतिधारा और क्रिया द्वारा ही मुक्ततासे और प्रभावी रूपसे विश्वात्मक और विश्वातीतात्मक कर दे सकता है। दिव्य जीवनयापनके लिये यह आवश्यक है कि सत्ताके क्रियावंत सम्पादनके केन्द्र तथा साक्षात् उत्सको बाहरसे हटाकर अन्दरकी ओर कर दिया जाय; कारण, अन्तरात्मा वहीं आसीन है, परन्तु आवृत अथवा अर्धावृत है और हमारी साक्षात् सत्ता तथा क्रिया-उत्स वर्तमानमें बहिस्तलपर हैं। मनुष्योंमें, उपनिषद् कहती है, स्वयंभूने चेतनाके द्वार बाहरकी ओर काटे हैं, परन्तु थोड़ेसे लोग अपनी दृष्टि अन्दरकी ओर मोड़ते हैं और वे ही आत्माको देखते और जानते हैं और आध्यात्मिक सत्ताका विकास करते हैं। इस भाँति हमारा अपने अन्दर दृष्टिपात करना, अपने अन्दर देखना और प्रवेश करना और अन्तरमें निवास करना प्रकृति-रूपान्तर एवं दिव्य जीवनके लिये पहली आवश्यकता है।

अन्तरकी ओर जाने और अन्तरमें रहनेकी इस प्रवृत्तिको मानव-प्राणीकी सामान्य चेतनापर जमाना दुरूह कार्य है; किन्तु साथ ही, आत्म-प्राप्तिका कोई अन्य मार्ग भी नहीं। जड़वादी चिन्तक बहिर्मुखता और अन्तर्मुखताके बीच एक विरोध खड़ा करके बहिर्मुखी भावको ही एकमात्र सुरक्षितताके रूपमें स्वीकार किये जानेके लिये सामने रखता है। उसके अनुसार, अन्दरकी ओर जाना अन्धकार या रिक्ततामें प्रवेश करना या चेतनाका सन्तुलन खो देना और अस्वस्थ हो जाना है; जो कोई आन्तरिक जीवन निर्मित किया जा सके वह बाहरसे ही सृष्ट किया जाता है, और उसका स्वास्थ्य अपने हितकर तथा पुष्टिकर बाह्य स्रोतोंपर नियमनिष्ठ निर्भरता रखनेसे सुरक्षित होता है,—व्यक्तिगत मन तथा प्राणका सन्तुलन केवल बाह्य वास्तविकताके दृढ़ अवलम्बसे सुरक्षित किया जा सकता है, क्योंकि जड़ जगत् ही एकमात्र मूलभूत सत्यता है। यह बात अन्नमय मनुष्यके लिये, उस जन्मजात बहिर्मुख व्यक्तिके लिए तो सच्ची हो सकती है जो अपने-आपको

बाह्य प्रकृतिका जीव अनुभव करता है; उस प्रकृतिने उसे बनाया है और उसीपर वह निर्भर है, अतः वह यदि अन्दरकी ओर गया तो अपने-आपको खो बैठेगा : उसके लिए कोई आन्तरिक सत्ता नहीं, कोई आन्तरिक जीवन नहीं। किन्तु इस विभेदके अनुसार जिसे अन्तर्मुख व्यक्ति कहा जाता है उसका भी आन्तरिक जीवन नहीं होता; वह सच्चे आन्तर आत्मा और आन्तरिक वस्तुओंका द्रष्टा नहीं, अपितु वह छोटा मनोमय मनुष्य होता है जो अपने अन्तरमें ऊपर-ऊपर ही दृष्टिपात करता और वहाँ अपनी आध्यात्मिक सत्ताको नहीं, प्रत्युत अपने प्राणमय अहंको, अपने मनोमय अहंको देखता है और इस छोटे दयनीय बौने जीवकी गतिविधिमें उसकी अस्वस्थ लगन हो जाती है। अन्तरकी ओर देखनेमें एक आन्तरिक अन्धकारका भाव या अनुभव उस मानसताकी पहली प्रतिक्रिया है जो सदा बहिस्तलपर रही है और जिसने कोई आन्तरिक जीवन नहीं उपलब्ध किया है; उसे केवल एक निर्मित आंतरिक अनुभव होता है जो अपनी सत्ताके उपादानोंके लिये बाहरी जगत्पर निर्भर करता है। परन्तु जिनकी गठनमें एक अधिक अन्तर्मुख जीवनका सामर्थ्य प्रवेश कर गया है उन लोगोंके लिये अन्तरमें जाने और अन्तरमें रहनेकी क्रिया कोई अन्धकार या फीकी रिक्तता नहीं लाती, वह लाती है एक परिवर्द्धन, एक नवानुभूति-प्रवाह, एक महत्तर दृष्टि, एक विशालतर सामर्थ्य, एक विस्तृत जीवन जो हमारी सामान्य अन्नमयी मानवजातिके अपने लिये निर्मित जीवनकी प्रथम तुच्छतासे अनन्तगुना अधिक वास्तव और विविध होता है, और वह सत्ताका वह आनन्द लाती है जो जीवनके उस किसी भी आनन्दसे अधिक विशाल और समृद्ध होता है जिसे बाह्य प्राणमय मानव या बहिस्तलका मनोमय मानव अपनी सक्रिय प्राणिक शक्ति और क्रियाकलाप द्वारा या मनोमय जीवनकी सूक्ष्मता और विस्तरण द्वारा पा सकता है। एक नीरवता, एक विशाल या यहाँ तक कि अपरिमित अथवा अनन्त रिक्ततामें प्रवेश, आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभवका अंग है; इस नीरवता और शून्यताका स्थूल मनको एक विशेष भय होता है, बाहरी तलपर ही क्रिया करते विचारशील या प्राणिक लघु मनको उससे जुगुप्सा या अरुचि होती है,—कारण, उसे नीरवताको मानसिक और प्राणिक असामर्थ्य और शून्यको अवसान या अनस्तित्व माननेका भ्रम होता है: परन्तु यह नीरवता 'अध्यात्म-पुरुष'की नीरवता है जो एक महत्तर ज्ञान, शक्ति तथा आनन्दकी अवस्था है, और यह रिक्तता हमारी

प्राकृत सत्ताके पात्रको रिक्त करना है, उसे उसकी आविल अन्तर्वस्तुओंसे मुक्त करना है जिससे कि उसे ईश्वरकी सुरासे भरा जा सके; यह अन-स्तित्वकी ओर नहीं, एक महत्तर अस्तित्वकी ओर जाना है। जब जीव अवसानकी ओर अभिमुख होता है तब भी वह अवसान अनस्तित्वमें नहीं, आध्यात्मिक सत्ताकी किसी अनिर्वचनीय विशालतामें या 'निर्विशेष'की अनिर्वाच्य अतिचेतनामें गोता लगानेमें होता है।

वास्तवमें यह अन्तर्मुखीन मोड़ और गतिधारा व्यक्तिगत सत्तामें बन्दी हो जाना नहीं है, यह एक सच्ची विश्वात्मकताकी ओर पहला डग है; इससे हमें अपने अन्तर्जीवनका सत्य मिलता है और बहिर्जीवनका भी। कारण, यह आन्तरिक जीवन अपना विस्तार और विश्वजीवनका आलिंगन कर सकता है, हमारी बहिस्तलीय चेतनामें वस्तुतः जितनी संभव है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक विशाल वास्तवता और महत्तर सक्रिय शक्तिसे वह सबके जीवनके साथ संपर्क, उसमें वेधन, उसका परिरम्भण कर सकता है। बहिस्तलपर हमारा अधिकसे अधिक विश्व-धर्मी होना भी एक दरिद्र और लँगड़ाता प्रयास है,—वह एक निर्मित वस्तु है, आत्मप्रवंचना है, सच्ची वस्तु नहीं: कारण, अपनी बहिस्तलीय चेतनामें हमपर हमारी चेतनाका दूसरोंसे पृथक् रहनेका बन्धन है, और उसमें हम अहंकी बेड़ियाँ पहने हुए हैं। वहाँ तो हमारी निःस्वार्थता भी अधिक बार स्वार्थपरताका ही सूक्ष्म रूप हो जाती या हमारे अहंके विशालतर प्रतिष्ठापनमें बदल जाती है; अपनी परार्थपरताकी मुद्रासे तुष्ट रहकर हम यह नहीं देखते कि तब हमने दूसरोंको अपनी विस्तृत परिधिके अन्दर ले लिया है, और वह हमारी वैयक्तिक सत्ता, हमारे विचारों, और हमारे मनोमय और प्राणमय व्यक्तित्वको, हमारी अहं-परिवर्द्धनकी आवश्यकताको दूसरोंपर लादनेके लिये एक आवरण है। हम दूसरोंके लिये जीनेमें जहाँ तक सत्यतः सफल होते हैं, यह कार्य प्रेम एवं सहानु-भूतिकी एक आन्तरिक आध्यात्मिक शक्तिका होता है; किन्तु हममें इस शक्तिकी प्रभाविताका बल और क्षेत्र लघु होते हैं, उसे प्रेरित करनेवाली चैत्य गतिधारा अधूरी, उसकी क्रिया प्रायः अज्ञानमयी होती है, क्योंकि वहाँ मन तथा हृदयका सम्पर्क तो है किन्तु हमारी सत्ता दूसरोंकी सत्ताका आलिंगन आत्मवत् नहीं करती। दूसरोंके साथ बाह्य एकत्व सदा बाह्य जीवनोंका एक बाहरी जोड़ और साहचर्य ही होगा जिसका आन्तरिक परिणाम लघु होगा; मन और हृदय अपनी वृत्तियोंको

इस सर्वसामान्य जीवनसे और हमें वहाँ मिलनेवाले प्राणियोंसे सम्बद्ध करते हैं; किन्तु सर्वसामान्य बाह्य जीवन ही भित्ति रहता है,—और निर्मित अन्तर्मुखीन एकत्व या उसका उतना अंश जो पारस्परिक अज्ञान तथा विसंवादी अहंताओंके बावजूद, मन, हृदय, प्राणिक प्रकृति और स्वार्थोंके संघर्षके बावजूद भी, अस्तित्वमें रह सकता है, एक आंशिक और असुरक्षित अधिरचना होता है। अध्यात्मचेतना, अध्यात्मजीवन, निर्माणके इस सिद्धान्तको उलट देता है; वह सामूहिक जीवनमें अपनी क्रियाको हमारी अपनी सत्तामें दूसरोंके आन्तरिक अनुभव तथा समावेशपर, एकत्वके आन्तरिक बोध तथा सत्यपर आधारित करता है। आध्यात्मिक व्यक्ति एकत्वके उस अनुभवसे कार्य करता है जिससे उसे आत्माकी अन्य आत्मासे की गई माँगका, जीवनकी आवश्यकताका, मंगल, प्रेम तथा सहानुभूतिके सत्यतः किये जा सकनेवाले कार्यका अव्यवहित एवं प्रत्यक्ष बोध होता है। आध्यात्मिक एकत्वकी उपलब्धि, एकमेव सत्ताकी, सकल भूतोंमें विद्यमान एकमेव आत्माकी अन्तरंग चेतनाका सक्रियकरण, केवल यही अपने सत्यके द्वारा दिव्य जीवनकी क्रियाका आधार और प्रशास्ता बन सकता है।

विज्ञानपुरुष या दिव्य पुरुषमें, विज्ञानजीवनमें, दूसरोंके आत्माकी घनिष्ठ और पूरी चेतना होगी, उनके मन, प्राण तथा शारीरिक सत्ताकी चेतना होगी और उनका अनुभव आत्मीयवत् होगा। विज्ञानपुरुष प्रेम और सहानुभूतिकी किसी बहिस्तलीय भावना या किसी अन्य सदृश भावनासे नहीं, वरन् इस घनिष्ठ पारस्परिक चेतना, इस अन्तरंग एकत्व-भावसे कार्य करेगा। जगत्में उसका सारा कर्म, जो करना है उसके अवलोकनके सत्य द्वारा, दूसरोंके अन्दर भी 'दिव्य सद्वस्तु' रहनेवाली अपने अन्दरकी 'दिव्य सद्वस्तु'की इच्छाके बोध द्वारा प्रदीप्त होगा, और वह दूसरोंके अन्दरके भगवान् और सबके अन्दरके भगवान्के लिये, 'सर्व'के उद्देश्यका सत्य उच्चतम प्रकाशमें जैसा दीखता है उसके सम्पादनके लिये और पराप्रकृतिकी शक्तिमें उसे जिस विधि और जिन ढंगोंसे कार्यान्वित होना है उसीके अनुसार किया जायगा। विज्ञानपुरुष अपने-आपको केवल अपनी ही संपूर्तिमें नहीं जो कि उसके अन्दर दिव्य पुरुष एवं दिव्य इच्छाकी ही संपूर्ति है, वरन् दूसरोंकी संपूर्तिमें भी प्राप्त करता है; उसकी विश्वात्मिका वैयक्तिकता अपने-आपको एक महत्तर संभूतिकी ओर सकल सत्ताओंके अन्दर 'सर्व'की गतिधारामें सम्पादित करती है। उसे सर्वत्र एक दिव्य क्रिया

दीखती है; उस दिव्य क्रियाकी समष्टिमें जो कुछ भी उसके द्वारा, उसमें क्रियारत ज्योति, इच्छा एवं शक्तिमेंसे जाता है, वही उसका कर्म होता है। किसी भी वस्तुका आरम्भ करनेके लिये उसमें पृथगात्मक अहं नहीं होता; विश्वातीत और विश्वव्यापी ही उसकी विश्वात्मभाव-युक्त वैयक्तिकता द्वारा विश्वकी क्रियामें बाहर जाता है। जैसे वह किसी पृथक् अहंके लिये नहीं जीता, वैसे ही वह किसी सामुदायिक अहंके उद्देश्यके लिये भी नहीं जीता; वह अपने अन्तःस्थ भगवान्‌में और उनके लिये, समष्टिगत भगवान्‌में और उनके लिये, सकल भूतोंमें अन्तःस्थ भगवान्‌में और उनके लिये जीता है। कर्ममें यह विश्वात्मकता, जो कि 'सर्वदर्शिनी 'इच्छा' द्वारा सर्वैकत्व-भावकी संसिद्धिमें संगठित होती है, उसके दिव्य जीवनका धर्म है।

अतः हम जब दिव्य जीवनकी बात कहते हैं तो प्रथमतः हमारा अभिप्राय वैयक्तिक पूर्णताकी प्रेरणाकी इस आध्यात्मिक पूर्ति और सत्ताकी एक आन्तरिक सम्पूर्णतासे होता है। पृथ्वीपर पूर्णतामण्डित जीवनकी पहली मूल शर्त यही है; अतएव, हमारा यथासम्भव अधिकसे अधिक वैयक्तिक पूर्णताकी प्राप्तिको अपना पहला परम व्यवसाय बनाना सही होता है। व्यक्तिके चारों ओर जो है उस सबके साथ उसके आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक सम्बन्धकी पूर्णता हमारा दूसरा प्रधान व्यवसाय होती है; इस दूसरे अभीष्टका समाधान'एक सम्पूर्ण विश्वभावमें तथा पृथ्वीपर-के सारे जीवनके साथ एकत्वमें है जो कि विज्ञानचेतना तथा विज्ञानप्रकृतिमें क्रमविकसनका दूसरा सहवर्ती परिणाम होता है। परन्तु तीसरा अभीष्ट अभी भी रह जाता है,—एक नया जगत्, मानव-जातिके समग्र जीवनमें परिवर्तन या, कमसे कम, पार्थिव प्रकृतिमें नवीन और पूर्णतामण्डित सामूहिक जीवन। इसके लिये आवश्यकता अविकसित जनसमूहमें कार्य करनेवाले एकाकी विकसित व्यक्तियोंके ही आविर्भावकी नहीं, प्रत्युत ऐसे बहुत सारे विज्ञानमय व्यक्तियोंके आविर्भावकी होती है जो जीवोंके एक नये प्रकारकी और वर्तमान वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवनसे श्रेष्ठ-तर एक नये सामाजिक जीवनकी रचना करेंगे। स्पष्ट है कि इस प्रकार-का सामूहिक जीवन अवश्य ही उसी तत्त्वपर गढ़ा जाना चाहिए जिस पर विज्ञानमय व्यक्तिका जीवन। हमारे वर्तमान मानव-जीवनमें एक स्थूल सामूहिकता है जिसे संयुक्त रखती है सर्वसामान्य स्थूल जीवन-वास्तविकता और उससे उद्गत होनेवाली सारी चीजें,—स्वार्थोंका पार-

स्परिक मेल, सर्वसामान्य सभ्यता तथा संस्कृति, सर्वसामान्य सामाजिक नियम, समष्टि-मनोवृत्ति, आर्थिक सहचार, सामूहिक अहंके आदर्श, भावा-वेग और प्रयास, जिनमें साथ ही वैयक्तिक कड़ियों और सम्बन्धोंका धागा सारेके बीच गया रहता है और सारेको संहत रखनेमें सहायता देता है। या जहां इन चीजोंमें वैभिन्य, विरोध, द्वन्द्व होता है, वहाँ साथ रहनेकी आवश्यकताके कारण बाध्य होकर कोई व्यावहारिक समा-योजन या कोई संगठित समझौता किया जाता है; एक प्राकृतिक या निर्मित व्यवस्था खड़ी की जाती है। सामूहिक जीवनकी विज्ञानमयी दिव्य विधि ऐसी न होगी; कारण, वहाँ जो वस्तु सबको साथ-साथ बँधा और संयुक्त रखेगी, वह किसी पर्याप्त रूपसे संयुक्त सामाजिक चेतनाका सरजन करनेवाली जीवन-वास्तविकता नहीं, बरन् सामूहिक जीवनको संहत करनेवाली एक सर्वसामान्य चेतना होगी। सब अपने अन्दर ऋत-चेतनाके आविर्भावसे संयुक्त होंगे; यह चेतना उनमें जीवनकी जो परिवर्तित विधि ले आयगी उससे वे अपने-आपको एक ही आत्माके शरीरी रूप, एक ही 'सद्वस्तु'के जीव अनुभव करेंगे; ज्ञानके मूलभूत एकत्व द्वारा प्रदीप्त तथा चालित, मूलभूत और एकीबद्ध इच्छा तथा भावना द्वारा प्रवृत्त, आध्यात्मिक सत्यको व्यक्त करनेवाला जीवन उनके द्वारा अपनी संभूतिके अपने स्वाभाविक रूप प्राप्त करेगा। वहाँ व्यवस्था तो होगी, क्योंकि एकत्वका सत्य एक अपनी ही व्यवस्थाकी रचना करता है : वहाँ एक या अनेक जीवन-विधान भी हो सकते हैं, परन्तु वे आत्मनिर्धारित होंगे; वे आध्यात्मिकतः संयुक्त सत्ताके सत्य और आध्यात्मिकतः संयुक्त जीवनके सत्यकी अभिव्यक्ति होंगे। सामूहिक जीवनका सारा रूपायण आध्यात्मिक शक्तियोंका आत्म-निर्माण होगा और वे अपने-आपको ऐसे जीवनमें स्वतःस्फूर्त रूपसे कार्यान्वित करेंगी ही : वे शक्तियाँ अन्तःसत्ता द्वारा आन्तरिक रूपसे ग्रहण की जायँगी और भाव, कर्म तथा उद्देश्यके एक सहजात सामंजस्यमें व्यक्त की जायँगी या स्वतः व्यक्त होंगी।

सामंजस्यकी उपलब्धिके लिये मानसिक पद्धति है अधिकाधिक यंत्री-करण, मानकीकरण, सब कुछका एक सर्वसामान्य साँचेमें निर्धारण, परन्तु वह इस जीवनका विधान नहीं होगी। विभिन्न विज्ञान-समाजोंके बीच पर्याप्त निर्बन्ध विविधता होगी; प्रत्येक समाज आत्माके जीवनकी अपनी अपनी देहकी रचना करेगा : फिर, एक ही समाजके व्यक्तियोंको स्वाभि-

व्यक्तिमें भी पर्याप्त निर्बन्ध विविधता होगी। परन्तु यह निर्बन्ध विविधता अव्यवस्था नहीं होगी, किसी विस्वरताकी रचना नहीं करेगी; कारण, ज्ञानके अद्वय सत्य और जीवनके अद्वय सत्यकी विविधता एक सह-सम्बन्ध होगी, विरोध नहीं। विज्ञानचेतनामें व्यक्तिगत भावपर अहमात्मक आग्रह नहीं होगा, व्यक्तिगत इच्छा तथा स्वार्थका दबाव या कलरव नहीं होगा : इसके स्थानपर नाना रूपोंके अन्दर एक सर्वसामान्य सत्यका, नाना चेतनाओं तथा शरीरोंके अन्दर एक सर्वसामान्य आत्माका एकीकारी बोध होगा; एक सार्विकता तथा सुनम्यता होगी जो 'एकमेव'की अनेकानेक आकृतियोंमें 'एकमेव' को ही देखती और व्यक्त करती है और समस्त विविधताओंमें एकत्वको प्रस्फुटित करती है जैसा कि ऋत-चित् और उसके स्वभाव-सत्यका अन्तर्निहित विधान है। एक अद्वय चित्-शक्ति, जिसकी सबको संवित् होगी और जिसके यंत्र-स्वरूप ही सब कोई अपने-आपको देखेंगे, सबके द्वारा कार्य करेगी और उनके कर्ममें सामंजस्य ला देगी। विज्ञानपुरुष यह अनुभव करेगा कि पराप्रकृतिकी एक ही सत्ताादिनी शक्ति सबमें कार्य कर रही है : वह अपने अन्दर उसके रूपायणको स्वीकार करेगा और उसने उसे दिव्य कार्यके हेतु जो ज्ञान तथा बल दिये हैं उनका अनुसरण या उपयोग करेगा; परन्तु वह किसी ऐसी प्रेरणा अथवा बाध्यताके अधीन नहीं होगा कि वह अपने अन्दरके बल तथा ज्ञानको दूसरोंके बल तथा ज्ञानके विरुद्ध खड़ा करे या अपना प्रतिष्ठापन अन्य अहमोंके विरुद्ध प्रयास करते अहंकी तरह करे। कारण, आध्यात्मिक पुरुषमें एक अपना ही अविच्छेद्य आनन्द रहता है, सारी अवस्थाओंमें अव्याहत रहनेवाली एक अपनी ही परिपूर्णता रहती है, एक अपने ही स्वरूप-सत्यका आनन्त्य रहता है : इन्हें वह सदा पूराका पूरा अनुभव करता है, बाह्य निरूपण चाहे जो कुछ भी हो। अन्तःस्थ 'अध्यात्म-पुरुष' का सत्य किसी विशेष रूपायणपर निर्भर नहीं करेगा; अतः उसे किसी विशेष बाह्य निरूपण तथा आत्म-प्रतिष्ठापनके लिये संघर्ष करनेकी आवश्यकता नहीं होगी : अनेक रूप स्वतः ही नमनीयतासे उद्भूत होंगे, अन्य निरूपणोंके साथ उनका उपयुक्त सम्बन्ध होगा और सम्पूर्ण निरूपणके अन्दर प्रत्येक अपने-अपने स्थानपर होगा। विज्ञानचेतना तथा विज्ञानसत्ताका सत्य, अपनी स्थापना करता हुआ, अपने चारों ओरकी सत्ताओंके अन्य सारे सत्योंके साथ अपना सामंजस्य प्राप्त कर सकता है। आध्यात्मिक या विज्ञानमय पुरुष अपने चारों ओरके समूचे विज्ञान-जीवनके साथ अपना सामंजस्य

अनुभव करेगा, समूचेके भीतर उसका चाहे जो भी स्थान हो। समूचे-के भीतर अपने स्थानके अनुसार ही वह नेतृत्व अथवा शासन करना जानेगा, साथ ही अपने-आपको अधीनस्थ करना भी जानेगा; उसके लिये दोनों ही समान आनन्द होंगे : कारण, 'अध्यात्म-पुरुष'की स्वतंत्रता, शाश्वत, स्वयंभू और अविच्छेद्य रहनेके कारण, सेवामें, स्वैच्छिक अधीनतामें और दूसरे आत्माओंके साथ समायोजनमें भी उतनी ही अनुभूत की जा सकती है जितनी कि शक्ति और शासनमें। आन्तरिक आध्यात्मिक स्वतंत्रता अपना स्थान आन्तरिक आध्यात्मिक वर्ग-व्यवस्थाके सत्यमें भी वैसे ही स्वीकार कर सकती है जैसे कि मूलभूत आध्यात्मिक समानताके सत्यमें, और इस सत्यकी उस सत्यसे कोई असंगति नहीं होगी। सत्यका यह स्वतःस्फूर्त विन्यास ही, जो कि 'अध्यात्म-पुरुष'की स्वाभाविक व्यवस्था है, विकसित होती विज्ञानमयी सत्ताकी विभिन्न श्रेणियों तथा पर्वोंके सर्वसामान्य जीवनमें विद्यमान रहेगा। एकत्व विज्ञान-चेतनाका आधार है, पारस्परिकता विविधताके अन्दर उसकी एकत्व-सम्बन्धी अपरोक्ष संवित्‌का स्वाभाविक परिणाम, सामंजस्य उसकी शक्तिकी क्रियाका अरोध्य वीर्य। अतः एकत्व, पारस्परिकता एवं सामंजस्यको सर्वसामान्य अथवा सामूहिक विज्ञान-जीवनका अटल धर्म होना ही चाहिये। वह कौनसे रूप लेगा यह पराप्रकृतिकी क्रमवैकासिकी अभिव्यक्तिकी इच्छापर निर्भर करता है, परन्तु उसका सामान्य रूप और विधान यही होगा।

निरी मानसिक और भौतिक सत्ता तथा जीवनसे प्रस्थान कर आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक सत्ता तथा जीवनमें जानेका सारा अर्थ और अन्तर्निहित विधान तथा आवश्यकता यही है कि अज्ञान-जगत्‌में जीव जिस मुक्ति, पूर्णता, आत्म-संपूर्तिकी खोज कर रहा है, उस तक केवल तब पहुँचा जा सकता है जबकि वह अपनी वर्तमान अज्ञानमयी प्रकृतिमें-से निकलकर आध्यात्मिक आत्मज्ञान तथा जगत्-ज्ञानमयी प्रकृतिमें चला जाय। इस महत्तर प्रकृतिको हम पराप्रकृति कहते हैं, क्योंकि वह उसकी चेतना तथा सामर्थ्यके वर्तमान स्तरसे परे है। परन्तु, वस्तुतः, वह उसकी अपनी ही सच्ची प्रकृति है, उसकी चोटी और सम्पूर्णता है; यदि उसे अपने सच्चे आत्माको और सत्ताकी समूची सम्भावनाको पाना है, तो वहां तक उसे पहुँचना ही होगा। यदि प्रकृतिमें जो कुछ घटित होता है उसे प्रकृतिका ही परिणाम, जो उसमें उपलक्षित या अन्तर्निहित है उसका ही कार्यान्वयन, उसका ही अनिवार्य फल

तथा परिणाम होना चाहिये। यदि हमारी प्रकृति मूलभूत निश्चेतना तथा अज्ञान है जो एक अपूर्ण ज्ञानतक, चेतना तथा सत्ताके एक अपूर्ण निरूपणतक कठिनाईसे पहुँच रही है, तो हमारी सत्ता, जीवन, कर्म एवं सर्जनमें जो परिणाम होंगे वे, अभीकी भाँति, एक सतत अपूर्णता और असुरक्षित अर्ध-परिणाम, अपूर्ण मत, अपूर्ण प्राण, अपूर्ण शरीर होंगे। हम ज्ञान-प्रणालियाँ और जीवन-प्रणालियाँ निर्मित करना चाहते हैं जिनके द्वारा हम अपने जीवनकी कोई पूर्णता, सम्यक् सम्बन्धोंकी कोई व्यवस्था, मनका सम्यक् उपयोग, प्राणका सम्यक् उपयोग, सुख तथा सौन्दर्य, और शरीरका सम्यक् उपयोग प्राप्त कर सकें। परन्तु वस्तुतः हमारी प्राप्ति एक निर्मित अर्ध-सम्यक्ताकी ही होती है जिसमें ऐसा बहुत कुछ मिश्रित रहता है जो ठीक नहीं है, असुन्दर और असुख-कर है; हमारे क्रमानुगत निर्माणोंमें, उनके अन्दरके दोषके कारण और इस कारण कि मन तथा प्राण अपनी खोजमें कहीं भी चिरस्थायी रूपसे नहीं टिके रह सकते, विनाश और अवनतिकी, उनकी व्यवस्थाके भंग होनेकी सम्भावना साथ रहती है, और हम उन्हें छोड़कर दूसरोंकी ओर चले जाते हैं, और वे दूसरे भी, किसी किसी दिशामें समृद्धतर और परिपूर्णतर या अधिक युक्तिसम्मत भले ही हों, अधिक अन्तिम रूपसे सफल या स्थायी नहीं होते। इससे भिन्न हो भी नहीं सकता, क्योंकि हम ऐसा कुछ भी निर्मित नहीं कर सकते जो हमारी प्रकृतिसे परे जाय; हम अपूर्ण रहकर पूर्णताकी रचना नहीं कर सकते, फिर हमारे मनकी प्रवीणता द्वारा आविष्कृत यंत्र-तंत्र हमें चाहे कितने ही आश्चर्य-कारी क्यों न लगें, वे बाहरमें चाहे कितने ही प्रभावकारी क्यों न हों। हम अज्ञानी रहकर सम्पूर्णतया सच्चे तथा फलदायक आत्म-ज्ञान या जगत्-ज्ञानकी कोई प्रणाली निर्मित नहीं कर सकते : हमारा भौतिक विज्ञान भी सूत्रों और साधन-उपायोंकी एक रचना, उनका एक समूह ही है; प्रक्रियाओंके ज्ञान और उपयुक्त यंत्रकी रचनामें अधिकारपूर्ण रहनेवाला, परन्तु हमारी सत्ता और जगत्-सत्ताकी आधार-नींवोंको नहीं जाननेवाला यह विज्ञान हमारी प्रकृतिको पूर्ण नहीं बना सकता, अतएव हमारे जीवनको भी पूर्ण नहीं बना सकता।

हमारी प्रकृति, हमारी चेतना, एक-दूसरेसे अज्ञ, एक-दूसरेसे पृथक्, विभक्त अहंमें जड़े जीवोंकी है जिन्हें अपनी मूर्त अज्ञानताओंके बीच किसी प्रकारका सम्बन्ध स्थापित करनेका प्रयास करना ही होगा; कारण,

ऐक्यकी प्रेरणा और ऐक्यके लिये कार्य करनेवाली शक्तियां प्रकृतिमें विद्यमान हैं। व्यक्तयों और गोष्ठियोंमें सामंजस्योंकी रचना होती है जिनकी सम्पूर्णता सापेक्षिक और सीमित ही होती है, एक सामाजिक संहति भी सम्पादित होती है; परन्तु जनपुंजमें जो सम्बन्ध बनते हैं वे निरन्तर अपूर्ण सहानुभूति, अपूर्ण समझ, घोर गलत समझ, संघर्ष, विस्वरता और असुखसे बिगड़ जाते हैं। इससे भिन्न कोई चीज तब तक हो भी नहीं सकती जब तक कि चेतनाका वह सच्चा ऐक्य प्राप्त न हो जाय जो उस प्रकृतिपर अधिष्ठित होगा जिसे आत्मज्ञान, आन्तरिक परस्पर-ज्ञान, एकत्वकी आन्तरिक उपलब्धि, हमारी सत्ताकी आन्तरिक शक्तियों और जीवनकी आन्तरिक शक्तियोंकी समस्वरता आयत्त हैं। अपने सामाजिक संगठनमें हम एकत्व, पारस्परिकता और सामंजस्यके समीप जानेका कोई मार्ग स्थापित करनेका परिश्रम करते हैं, क्योंकि इन वस्तुओंके बिना कोई पूर्ण सामाजिक जीवन नहीं हो सकता; परन्तु हम जो बनाते हैं वह निर्मित एकत्व ही होता है, स्वार्थों और अहंताओंका साहचर्य ही होता है जिसे विधान और परम्परा द्वारा लागू किया जाता है और जो एक कृत्रिम निर्मित व्यवस्था ही लादता है जिसमें कुछके स्वार्थ दूसरोंके स्वार्थपर अभिभावी होते हैं और केवल एक अर्ध-स्वीकृत और अर्ध-आरोपित, अर्ध-प्राकृतिक और अर्ध-कृत्रिम समायोजन सामाजिक समग्रको अस्तित्वमें रखता है। समुदाय और समुदायके बीचका समायोजन और भी बुरा होता है, उसमें सामूहिक अहंके साथ सामूहिक अहंके संघर्षका सतत पुनरावर्तन होता है। परन्तु हम इससे अधिक अच्छा और कुछ नहीं कर पाते, और सामाजिक व्यवस्थाके जितने भी पुनर्समंजन हम बारबार करते रहते हैं वे हमें जीवनकी एक अपूर्ण निर्मिति ही दे सकते है, उससे बेहतर कुछ नहीं।

यदि हमारी प्रकृति विकसित होकर अपने-आपसे परे चली जाय, वह आत्मज्ञान, पारस्परिक समझ और एकत्वसे युक्त प्रकृति हो, सच्ची सत्ता और सच्चे जीवनकी प्रकृति हो, तभी यह परिणाम हो सकता है कि हमारी अपनी पूर्णता और हमारे जीवनकी पूर्णता आय, सच्ची सत्ताका जीवन, एकत्व, पारस्परिकता, सामंजस्यका जीवन, सच्चे सुखका जीवन, एक सामंजस्यपूर्ण और सुन्दर जीवन आय। हमारी प्रकृति अभी जैसी है, जैसी वह हो चुकी है, यदि वह उसीमें जड़ी रह जाय, तो पार्थिव जीवनमें कोई भी पूर्णता, कोई भी यथार्थ और स्थायी सुख सम्भव नहीं; तब हमें

उसकी खोज ही नहीं करनी चाहिए और अपनी अपूर्णताओंको साथ लिये हम जो अच्छेसे अच्छा कर सकते हैं, बस उतना ही करते रहना चाहिए, या हमें उसकी खोज और कहीं किसी अतिपार्थिव परलोकमें करनी चाहिये, या हमें इस सारी खोजसे परे चले जाना चाहिए और, जिस किसी 'निर्विशेष'मेंसे हमारी यह विचित्र और असंतोषप्रद सत्ता अस्तित्वमें आयी है, उसीमें प्रकृति तथा अहंका निर्वापण करके जीवनका अतिक्रमण करना चाहिए। परन्तु यदि हममें कोई आध्यात्मिक सत्ता है जो उन्मज्जित हो रही है और हमारी वर्तमान अवस्था एक अपूर्णता या अर्ध-उन्मज्जन ही है, यदि निश्चेतन एक आरम्भ-विन्दु है जिसने उस अतिचेतना और पराप्रकृतिकी शक्तिको अपने अन्दर धारण कर रखा है जिसे क्रमविकासमें प्रकट होना है, यदि वह प्रत्यक्ष प्रकृतिका एक आवरण है जिसमें वह महत्तर चेतना छिपी है और जिसमेंसे उसे अपना उन्मेष करना है, यदि सत्ताका क्रमविकास ही नियम है, तो हम जिसकी खोज कर रहे हैं वह सम्भव ही नहीं, अपितु वस्तुओंकी अन्तिम नियति-का अंग है। उस पराप्रकृतिको अभिव्यक्त करना और वही हो जाना हमारी आध्यात्मिक नियति है,—कारण, वह हमारे सच्चे आत्माकी, अनुन्मिषित रहनेके कारण अभी भी गुह्य रहती हमारी अखंड सत्ताकी प्रकृति है। तब एकत्वमयी प्रकृति अपना एकत्व, पारस्परिकता और सामंजस्यका जीवन-परिणाम अवश्यमेव लायगी। जिनका आन्तरिक जीवन परिपूर्ण चेतना और चेतनाकी परिपूर्ण शक्तिकी ओर जागृत होगा उन सबमें वह जीवन अपना अवश्यम्भावी फल,—आत्म-ज्ञान, पूर्णता-मण्डित जीवन, तुष्ट सत्ताका हर्ष, निष्पन्न प्रकृतिका सुख,—उत्पन्न करेगा।

विज्ञान-चेतनाका और पराप्रकृतिके अभिव्यक्ति-साधनोंका अन्तर्निष्ठ लक्षण है दृष्टि तथा कर्मकी समग्रता, ज्ञानके साथ ज्ञानका एकत्व, मन द्वारा देखने और जाननेमें हमें जो कुछ विपरीत लगता है उस सबकी संगति, वस्तुओंके सत्यके साथ पूर्ण स्वरैक्यमें एक ही शक्तिकी तरह क्रियमाण ज्ञान तथा इच्छाकी एकात्मता। पराप्रकृतिका यह सहज स्वभाव उसकी क्रियाके पूर्ण एकत्व, पारस्परिकता, सामंजस्यका आधार है। मनोमय जीवमें उसके निर्मित ज्ञानका वस्तुओंके यथार्थ या सम्पूर्ण सत्यसे विसंवाद होता है; फलस्वरूप, उसमें जो सत्य है भी वह प्रायः या अन्तमें अप्रभावी या अंशतः ही प्रभावी होता है। आज हम जिन सत्योंका आविष्कार करते हैं कल उन्हें उखाड़ फेंका जाता है, हमारे

सत्यके आवेशपूर्ण कार्यान्वियन विफल हो जाते हैं; हमारे कर्मका परिणाम प्राय: ऐसी योजनाका अंग हो जाता है जिसे हमने चाहा नहीं था, एक ऐसे उद्देश्यके लिए होता है जिसकी वैधता हमें स्वीकार नहीं होती, या भावके सत्यको उसकी व्यावहारिक सफलताका वास्तविक परिणाम धोखा देता है। यदि भावकी कोई सफल चरितार्थता हुई भी, तो चूंकि वह भाव अधूरा है, चूंकि वह मनका वस्तुओंके अद्वय तथा समूचे सत्यसे पृथक् कोई एकाकी निर्माण ही है, अत: उसकी सफलताका अन्त, अवेर-सवेर, भ्रम-भंग और एक नये प्रयासमें होगा। हमारी दृष्टि और हमारी धारणाओंकी वस्तुओंके सच्चे सत्य और सम्पूर्ण सत्यसे विसंवादिता, हमारे मनके छलनाकारी निर्माणोंकी आंशिकता और अगंभीरता, हमारी विफलताका कारण है। परन्तु ज्ञानके साथ ज्ञानका विसंवाद ही नहीं है, वरन् उसी जीवमें इच्छाके साथ इच्छाका और इच्छाके साथ ज्ञानका विसंवाद भी होता है, उनके बीच एक विभाजन और असामंजस्य होता है; फलत:, जहाँ ज्ञान पक्व अथवा पर्याप्त होता है, जीवमें कोई इच्छा उसका विरोध करती है या उसकी इच्छा-शक्ति कम पड़ जाती है, जहाँ इच्छा सशक्त, उग्र, या दृढ़त: अथवा सबलत: प्रभावी होती है, वहाँ उसके सही उपयोगका निर्देशन करनेवाले ज्ञानका अभाव होता है। हमारे ज्ञान, इच्छा, सामर्थ्य, कार्यकारी बल तथा व्यवहारके सब प्रकारके वैषम्य, कुसमंजन और अधूरेपन हमारे कार्यमें, हमारे जीवन-सम्पादनमें निम्नतर हस्तक्षेप करते हैं और अपूर्णता या प्रभावहीनताका प्रचुर उद्गम रहते हैं। ये अव्यवस्थाएँ, त्रुटियाँ और असामंजस्य अज्ञान-स्थिति और अज्ञान-ऊर्जाके लिये स्वाभाविक हैं और इनका विलयन किसी ऐसी ज्योतिसे ही किया जा सकता है जो मनोमयी प्रकृति या प्राणमयी प्रकृतिसे महत्तर हो। एक तादात्म्य और प्रामाणिकता, साथ ही सत्योंके बीच सामंजस्य, विज्ञान-दृष्टि एवं विज्ञान-कर्मका सहज धर्म हैं। मन ज्यों-ज्यों विज्ञान-तत्त्वमें विकसित हो उठता है, त्यों-त्यों हमारे मनकी दृष्टि और कृति विज्ञान-ज्योतिमें उत्थित होती हैं या वह ज्योति वहाँ आती है और वे उससे शासित होती हैं, फलत: वे इस विज्ञान-धर्मको अंगीकार करना शुरू करती है और तब, भले ही वे प्रतिबन्धित हों, सीमाओंमें हों, वे अवश्य ही बहुत अधिक पूर्ण हो जायँगी और इन सीमाओंके अन्तर्गत प्रभावी भी होंगी : हमारी असमर्थता और विफलताके कारण क्षीण और विलुप्त होने लगेंगे। परन्तु विशालतर अस्तित्व

एक महत्तर चेतना एवं महत्तर शक्तिकी समर्थताओंको साथ लेकर, सत्ताकी नयी शक्तियोंको प्रकट करता हुआ, मनपर भी धावा करेगा। ज्ञान चेतनाका बल और कार्य है, इच्छा सत्ताकी शक्तिका चेतन बल तथा चेतन कार्य; विज्ञान-पुरुषमें दोनों ही हमें अभी ज्ञात रहनेवाले आयामोंसे विशालतर आयाम, अपनी एक उच्चतर कोटि, अपनी अभिव्यक्तिके समृद्धतर साधन प्राप्त करेंगे : कारण, जहाँ कहीं भी चेतनाकी विवृद्धि होती है, वहाँ जीवनकी सम्भाव्य शक्ति और उसके वास्तविक बलकी वृद्धि होती है।

ज्ञान और शक्तिके पार्थिव रूपायणमें यह सह-सम्बन्ध सर्वथा प्रत्यक्ष नहीं रहता, क्योंकि वहाँ स्वयं चेतना एक आद्या निश्चेतनामें छिपी है और उसकी शक्तियोंके उन्मज्जनमें उनके स्वाभाविक बल और छन्द अज्ञानके विसंवादों और आवरणोंसे ह्रसित और अस्तव्यस्त होते हैं। वहाँ 'निश्चेतन' ही आद्या, सबल तथा स्वतःपरिणामिनी शक्ति है, चेतन मन केवल एक श्रमशील क्षुद्र अभिकर्ता है; परन्तु इसका कारण यह है कि हमारे अन्दरके चेतन मनकी सीमित वैयक्तिक क्रिया होती है और 'निश्चेतन' एक विश्वव्यापिनी प्रच्छन्न चेतनाकी अमेय क्रिया है : विश्वशक्ति, भौतिक ऊर्जाके छद्मवेशमें, अपनी प्रक्रियाकी हठी भौतिकता द्वारा इस गुह्य तथ्यको हमारी दृष्टिसे ओझल रखती है कि 'निश्चेतन'-की क्रियाशीलता यथार्थमें एक विशाल विश्वप्राण, एक आवृत विश्वमन, एक आच्छन्न विज्ञानकी अभिव्यक्ति है, और उसके मूलमें यदि ये न रहते तो उसमें कृतिशक्ति नही होती, कोई संगठनकारी संबद्धता नहीं होती। भौतिक जगत्‌में प्राण-शक्ति भी मनकी अपेक्षा अधिक सक्रिय और प्रभावी लगती है; हमारा 'मन' केवल भाव और संबोधमें स्वतंत्र और पूरा सबल है : इस मानस-क्षेत्रसे बाहर उसकी क्रिया-शक्ति, उसकी सम्पादन-शक्ति प्राण तथा जड़को अपने यंत्रके रूपमें लेकर कार्य करनेको बाध्य होती है, और हमारे मनपर प्राण तथा जड़ द्वारा जो अवस्थाएँ आरोपित हैं उनके नीचे वह बाधाग्रस्त और अर्ध-प्रभावी होता है। परन्तु ऐसा होनेपर भी हम देखते हैं कि पशुमें रहनेवाली प्रकृति-शक्तिकी अपेक्षा मनोमय जीवमें रहनेवाली प्रकृति-शक्ति स्वयं उसके साथ और प्राण तथा जड़के साथ व्यवहार करनेमें बहुत अधिक सबल है; यह श्रेष्ठता चेतना तथा ज्ञानकी महत्तर शक्तिसे ही, सत्ता तथा इच्छाकी महत्तर शक्तिके उन्मेषसे ही बनी है। फिर, मानव-जीवनमें,

प्राणात्मक मनुष्य अपनी श्रेष्ठतर क्रियामुखी प्राण-शक्तिके कारण मनोमय मनुष्यकी अपेक्षा कर्मका एक सबलतर क्रियाबल धारण किये प्रतीत होता है : ऐसी प्रवृत्ति दीखती है कि बौद्धिक मनुष्य विचारमें तो प्रभावी, किन्तु जगत्पर अधिकार करनेमें अप्रभावी होता है, जबकि गतिशील और कर्मी प्राणोच्छ्वल मनुष्य जीवनपर आधिपत्य करता है। परन्तु इस श्रेष्ठतासे पूरा लाभ उठानेमें उसका मनका उपयोग ही उसे समर्थ करता है, और अन्तमें, मनोमय मनुष्य अपने ज्ञानबलसे, अपने भौतिक विज्ञान द्वारा, जीवनपर अपने अधिकारके विस्तारको, जड़गत प्राण अपने निजके अभिकरणोंसे जो कुछ संपादित कर सका था या प्राणिक मनुष्य प्रभावी ज्ञानके उस वर्द्धनके बिना अपनी प्राण-शक्ति और प्राणिक सहज-प्रवृत्तियोंसे जो कुछ सम्पादित कर सका था, उससे आगे दूर बढ़ा ले जानेमें सक्षम होता है। जब एक और भी महत्तर शक्ति उन्मिषित होगी और हमारी अति व्यष्टिभावापन्न तथा प्रतिबन्धित जीवन-शक्तिमें होनेवाली मानस-ऊर्जाकी बाधाग्रस्त क्रियाओंका स्थान लेगी, तो जीवन तथा प्रकृतिपर एक अत्यधिक महत्तर अधिकारका प्रादुर्भाव अवश्य होगा।

अपने-आपपर और जगत्पर हमारे बड़ेसे बड़े मानसिक अधिकारके मध्य भी प्राण और जड़के नीचे मनकी एक निश्चित मूलभूत अधीनता और इस अधीनताके प्रति एक स्वीकृति बनी रहती है, मनके विधान-को अपरोक्ष रूपसे प्रधान बनाने और सत्ताकी इन निम्नतर शक्तियोंके अन्यतर विधान और क्रियाओंको उसकी शक्तियों द्वारा परिवर्तित करने-में एक असमर्थता बनी रहती है; परन्तु यह सीमन अलंघ्य नहीं। गुह्य विद्या हमें यह दिखलानेमें रुचि रखती है,—और आध्यात्मिक ज्ञानकी क्रियावंत शक्ति भी हमें इसका प्रमाण देती है,—कि जड़के नीचे मनकी, प्राणके एक न्यूनतर धर्मके नीचे अध्यात्म-तत्त्वकी यह अधीनता, जैसी वह प्रथम दिखायी देती थी वैसी नहीं है, वह वस्तुओंकी मूलभूत अवस्था, प्रकृतिका अलंघ्य और अपरिवर्तनीय नियम नहीं है। जो सबसे श्रेष्ठ, सबसे महत्त्वपूर्ण स्वाभाविक आविष्कार मनुष्य कर सकता है वह यह है कि मन, और उससे भी अधिक, अध्यात्म-शक्ति, बहुतसी परीक्षित और अब तककी अपरीक्षित राहों और सारी दिशाओंमें—अपनी ही प्रकृति और साक्षात् शक्तिसे, न कि केवल भौतिक विज्ञानके आविष्कृत श्रेष्ठतर भौतिक उपकरण-यंत्रों जैसे उपाय-साधन और जुगतों से,—प्राण

और जड़को जीत सकती और नियंत्रित कर सकती है। चेतनाकी यह साक्षात् शक्ति, सत्ताकी शक्तिकी यह अपरोक्ष क्रिया, प्राण और जड़पर उसका निर्बन्ध अधिकार और नियंत्रण, विज्ञानमयी पराप्रकृतिके विकासमें सम्पन्न होंगे और अपनी पराकाष्ठा प्राप्त करेंगे। कारण, विज्ञानपुरुष-का महत्तर ज्ञान, प्रधानतः, कोई बाह्यतः अर्जित अथवा सीखा हुआ ज्ञान नहीं, वरन् चेतना और चेतना-शक्तिके क्रमविकासका परिणाम, सत्ताकी एक नयी सक्रियता होगा। परिणामतः, वह एक स्पष्ट और सम्पूर्ण आत्म-ज्ञान, एक अपरोक्ष अन्य-ज्ञान, प्रच्छन्न शक्तियों-के एक अपरोक्ष ज्ञान, मन, प्राण और जड़के गुह्य तंत्रके एक अपरोक्ष ज्ञान प्रभृति ऐसी बहुतेरी वस्तुओंके प्रति जागृत होगा और जो हमारी वर्तमान प्राप्तिसे परे हैं उन्हें अधिकृत करेगा। इस नूतन ज्ञान तथा ज्ञान-क्रियाका आधार होगा विषयोंके सम्बन्धमें अपरोक्ष संबोधि-चेतना और उनपर एक अपरोक्ष संबोधि-प्रशासन; एक क्रियमाण अन्तर्दृष्टि, जो अभी हमारे लिये अधिसामान्य है, इस चेतनाकी सामान्य क्रिया होगी, और कर्मके मोटा-मोटी रूप और ब्यौरों दोनोंमें एक सर्वांगीण सुनिश्चित प्रभावशालिता इस परिवर्तनका परिणाम होगी। कारण, विज्ञानपुरुषका सर्व-मूल चित्-शक्तिके साथ सामरस्य और आन्तर योग रहेगा : उसकी दृष्टि और उसकी इच्छा अतिमानसिक 'सत्-भाव'की स्वतःपरिणामिनी ऋत-शक्तिकी वाहिका होंगी; उसका कर्म अस्तित्वकी मूल शक्तिके, उस सर्व-निर्धारक चिदात्माकी शक्तिके बल और क्रियाओं-की अभिव्यक्ति होगा जिसके चेतना-निरूपण मन, प्राण तथा जड़में अनि-वार्यतः क्रियान्वित होते हैं। उन्मिषन्त विज्ञानपुरुष, अतिमानसिक ज्ञानकी ज्योति तथा शक्तिमें कार्य करता हुआ, अधिकाधिक अपने-आपका स्वामी, चेतनाकी शक्तियोंका स्वामी, प्रकृतिकी ऊर्जाओंका स्वामी, अपने प्राण तथा जड़के साधनोंका स्वामी होगा। न्यूनतर अवस्थामें, विकसित होती विज्ञानप्रकृतिकी मध्यवर्ती भूमिकाओं या रूपणोंमें, वह शक्ति अपने पूरे रूपमें विद्यमान नहीं होगी : परन्तु अपनी क्रियाओंकी कुछ मात्रामें तो वह विद्यमान होगी ही; वह उदीयमान् शक्ति, सोपान-आरोहणके साथ-साथ वर्द्धित होती हुई, चेतना तथा ज्ञानके वर्द्धनकी स्वाभाविक सहवर्तिनी होगी।

अतः मनसे आगे निकलकर एक श्रेष्ठतर ज्ञानात्मक और सक्रिय तत्त्वकी ओर चित्-शक्तिके क्रमविकासका एक अवश्यम्भावी परिणाम चेतनाकी एक

नयी शक्ति और नयी नयी शक्ति-कलाओंका उदय होगा। अपने सार स्वरूपमें इन नयी शक्तियोंका धर्म अवश्य ही प्राण और जड़पर मनका अधिकार, जड़पर चेतन प्राण-संकल्प तथा प्राण-शक्तिका अधिकार, मन, प्राण तथा जड़पर आत्माका अधिकार होगा। अन्तरात्मा और अन्तरात्माके बीच, मन और मनके बीच, प्राण और प्राणके बीच अवरोधोंका टूट पड़ना भी उनका वैशिष्ट्य होगा। ऐसा परिवर्तन विज्ञान-जीवनके साधनके लिये अपरिहार्य होगा। कारण, अखंड विज्ञानमय या दिव्य जीवन जीवके वैयक्तिक जीवनको ही नहीं, अपितु सर्वसामान्य संयुक्तकारिणी चेतनामें व्यक्तिके साथ एकीभूत दूसरोंके जीवनको भी समाविष्ट करेगा। ऐसे जीवनकी प्रधान स्वरूपगत शक्ति अवश्य ही एक कृत्रिम नहीं, वरन् स्वतःस्फूर्त तथा अन्तर्जात एकत्व और सामंजस्य होगी : इसका आगमन केवल तब हो सकता है जबकि अपने आध्यात्मिक सत्त्वमें एकीभूत व्यक्तियोंमें एक दूसरेके बीच सत्ता तथा चेतनाका विशालतर तादात्म्य हो, और वे अपने-आपको एक ही आत्मावत्, एक ही स्वयंभू सत्ताके स्वरूपवत् अनुभव करते हों, एकत्वमूलक ज्ञानकी एक विपुलतर शक्तिमें, सत्ताकी एक महत्तर शक्तिमें कार्य करते हों। उस जीवनमें अवश्य ही एकत्व और तादात्म्यकी चेतनापर आधारित एक आन्तरिक और अपरोक्ष पारस्परिक ज्ञान होगा, प्रत्येकको एक दूसरेकी सत्ता, विचार, भावना, आन्तरिक तथा बाह्य गतिविधिकी चेतना होगी, मनके साथ मनका, हृदयके साथ हृदयका चेतन विनिमय होगा, प्राणसे प्राणका एक चेतन संस्पर्श होगा, सत्ताकी शक्तियोंके साथ सत्ताकी शक्तियोंका एक चेतन आदानप्रदान होगा; इन शक्तियों और इनके अन्तरंग प्रकाशके किसी भी अभाव या अपूर्णताकी दशामें प्रत्येक व्यक्तिकी सत्ता, विचार, भावना, आन्तरिक तथा बाह्य गतिविधिका अपने चारों ओरके व्यक्तियोंकी सत्ता, विचार, भावना, आन्तरिक तथा बाह्य गतिविधिके साथ यथार्थ या पूरा एकत्व या यथार्थ और पूरा स्वाभाविक मेल नहीं हो सकेगा। चेतन एकप्राणताकी वर्द्धमान भित्ति और निर्मिति, हम कह सकते हैं, इस अधिक विकसित जीवनका लक्षण होगी।

सामंजस्य 'अध्यात्म-सत्ता'का स्वाभाविक नियम है, वह बहुत्वमें एकत्वका, विविधतामें एकत्वका, एकत्वकी बहुरूपिणी अभिव्यक्तिका अन्तर्निहित विधान तथा स्वतःस्फूर्त परिणाम है। निस्सन्देह, शुद्ध तथा रिक्त एकत्वमें सामंजस्यके लिये कोई स्थान नहीं हो सकता, क्योंकि

वहाँ ऐसा कुछ भी नहीं होता जिसे समंजस करना हो; जहाँ विविधता परिपूर्ण या प्रधान है वहाँ या तो विस्वरता होगी या भिन्नताओंका एक साथ-साथ जँचा दिया जाना, एक कृत्रिम सामंजस्य होगा। परन्तु विज्ञानके बहुत्वगत एकत्वमें सामंजस्य उस एकत्वकी स्वतःस्फूर्त अभिव्यक्तिकी तरह होगा, और इस स्वतःस्फूर्त अभिव्यक्तिमें उस पारस्परिकताकी वर्तमानता ध्वनित होती है जिसमें चेतनाको अन्य चेतनाकी संवित् अपरोक्ष और आन्तरिक सम्पर्क तथा आदान-प्रदान द्वारा होती है। अवबौद्धिक जीवनमें सामंजस्यकी प्राप्ति प्रकृतिकी सहज-वृत्तिमूलक एकता और प्रकृतिकी क्रियाकी एकतासे, सहज-वृत्तिमूलक विनिमयसे, सहज-वृत्तिमूलक या अपरोक्ष प्राणिक-संबोधिमूलक ऐंद्रिय समझसे सुनिश्चित होती है जिससे पशु-समाज या कीट-समाजके व्यक्ति सहयोगके लिये समर्थ होते हैं। मानव-जीवनमें इसका स्थान इन्द्रिय-ज्ञानसे, मानस-अनुभवसे और वाणीके द्वारा भावोंके विनिमयसे होनेवाली समझ लेती है, परन्तु जिन साधनोंका व्यवहार करना होता है वे अपूर्ण होते हैं और सामंजस्य तथा सहयोग अधूरे। विज्ञान-जीवनमें, पराबुद्धि तथा परा-प्रकृतिके जीवनमें, सत्ताका एक स्वतःसंविद् आध्यात्मिक एकत्व और प्रकृतिका आध्यात्मिक तथा चेतन संहति-बोध एवं पारस्परिक सम्पर्क ही समझकी गहरी और व्यापक जड़ होंगे : इस महत्तर जीवनने चेतनाको चेतनाके साथ अन्तरतः संयुक्त करनेके लिये नवीन और श्रेष्ठतर साधनों तथा शक्तियोंका विकास किया होगा; चेतनाके साथ आन्तरिक और अपरोक्ष सम्पर्क करनेवाली चेतनाकी अन्तरंगता, विचारके साथ विचारकी, दृष्टिके साथ दृष्टिकी, इन्द्रियके साथ इन्द्रियकी, प्राणके साथ प्राणकी, दैह्य संवित्के साथ दैह्य संवित्की अन्तरंगता, उसके स्वाभाविक और आधारिक साधन होंगी। ये सारी नूतन शक्तियाँ, जो कि पुराने बहिर्मुखी उपकरणोंको हाथमें लेंगी और उन्हें एक कहीं महत्तर शक्तिसे और अधिक विस्तृत उद्देश्यके लिये गौण साधनकी तरह व्यवहृत करेंगी, सत्ता तथा जीवनके गम्भीर एकत्वमें 'अध्यात्म-पुरुषकी' स्वाभिव्यक्तिके लिये नियोजित की जायँगी।

चेतनाकी जो शक्तियाँ अन्तर्निष्ठ और सुप्त हैं, परन्तु अबतक विकास-क्रममें प्रकट नहीं हुई हैं, उनके उन्मेषकी सम्भावना आधुनिक मनको स्वीकार्य नहीं होती, क्योंकि वे शक्तियाँ हमारे वर्तमान प्रकृति-रूपायणसे परे हैं और सीमित अनुभवपर अधिष्ठित हमारी पूर्वधारणाओंको वे अति-

प्राकृतिक प्रदेश, चमत्कारिक और गुह्य प्रदेशकी वस्तुएँ लगती हैं। इसका कारण यह है कि अभी सामान्यतः भौतिक ऊर्जाको ही वस्तुओं-का एकमात्र कारण और विधि और 'जगत्-शक्ति'का एकमात्र साधन स्वीकार किया जाता है और ये शक्तियाँ भौतिक ऊर्जाकी परिचित क्रियासे आगे निकल जाती हैं। स्वयं प्रकृतिने जो कुछ संगठित किया है चेतन सत्ता उस सबसे भी आगे भौतिक शक्तियोंके साधनविनियोग-का आविष्कार तथा विकास करे, मनुष्य इस प्रकार अद्भुत कर्म करता चले, इसे तो हमारे जीवनके प्राकृतिक तथ्य तथा एक लगभग असीम भविष्णुताके रूपमें स्वीकार किया जाता है, परन्तु मनुष्य या प्रकृतिने अब तक जो भी संगठित किया है उससे आगे जानेवाली चेतना-शक्तियों और आध्यात्मिक, मानसिक तथा प्राणिक शक्तियोंका जागरण, आविष्कार, साधनविनियोग भी सम्भव है, इसे नहीं माना जाता। तथापि ऐसे क्रमोन्मेषमें अतिप्राकृतिक अथवा चमत्कारिक जैसा कुछ भी नहीं होगा, केवल इतना ही होगा कि वह प्रकृति हमारे लिये वैसे ही पराप्रकृति या हमारी प्रकृतिसे श्रेष्ठतर प्रकृति होगी जैसे हमारी मानवीय प्रकृति पशु, वनस्पति या जड़पदार्थोंकी प्रकृतिके लिये पराप्रकृति अथवा श्रेष्ठतर प्रकृति है। हमारा मन और उसकी शक्तियाँ, हमारा बुद्धिका उपयोग, हमारी मनोमयी संबोधि और अन्तर्दृष्टि, हमारी वाणी, दर्शनशास्त्र, विज्ञान और सौन्दर्यचेतनाके द्वारा सत्ताके सत्यों और अन्तःशक्तियोंके अविष्कारकी और उसकी शक्तियोंके वशीकरणकी सम्भावनाएँ, ये एक ऐसा क्रमविकास है जो वस्तुतः हुआ है : फिर भी, यदि हम सीमित पशु-चेतना और उसके सामर्थ्योंपर ही खड़े होकर देखें तो वह हमें असम्भव लगेगा, क्योंकि वहाँ ऐसा कुछ भी नहीं है जो ऐसी विपुल प्रगतिकी सम्भावनाका समर्थन करता हो। परन्तु फिर भी पशुमें ऐसे अस्पष्ट आरम्भिक स्फुटन, प्रारम्भिक तत्त्व या अवरुद्ध सम्भावनाएँ हैं जिनके लिये इतने असाधारण विकासोंवाली हमारी युक्ति और बुद्धि एक दरिद्र और अनाशाजनक प्रस्थान-बिन्दुसे चलनेवाली एक अकल्पनीय यात्रा जैसी लगती है। उसी प्रकार, विज्ञानघना पराप्रकृतिकी वस्तुएँ रहनेवाली आध्यात्मिक शक्तियोंके आरम्भ हमारे सामान्य संघटनमें भी हैं, परन्तु केवल यदाकदा और छुटपुट रूपमें ही क्रियाशील हैं। यह अनुमान अयौक्तिक नहीं होगा कि क्रमविकासकी इस बहुत उच्चतर भूमिका-में एक वैसी ही किन्तु महत्तर प्रगति इन प्रारम्भिक आरम्भोंसे यात्रा

शुरू करती हुई एक अन्य विपुल विकास तथा नवयुगकी ओर ले जायगी।

रहस्य-पथका अनुभव कहता है कि अन्तरके चक्र खुलनेसे या अन्य विधियोंसे, अनायास ही या संकल्प अथवा प्रयाससे, या आध्यात्मिक प्रगति-धारामें ही, चेतनाकी नूतन शक्तियोंका विकास देखनेमें आता है; वे इस भाँति उपस्थित होती हैं मानों वे किसी आन्तरिक उन्मीलन का स्वयंवह परिणाम हों या जीवकी किसी पुकारका उत्तर, यहाँ-तक कि साधकोंको यह परामर्श देना आवश्यक पाया गया कि वे इन शक्तियोंके पीछे न पड़ें, इन्हें स्वीकार न करें, इनका व्यवहार न करें। जो लोग जीवनसे उपरत होना चाहते हैं उनके लिये यह वर्जन युक्तिसिद्ध है; कारण, महत्तर शक्तिका जो भी अंगीकार होगा वह जीवनसे आवद्ध करेगा या मुक्तिकी निरावरण एवं शुद्ध प्रेरणापर एक भार होगा। अन्य सारे लक्ष्यों और परिणामोंकी ओर उदासीनता उस ईश्वर-प्रेमीके लिये स्वाभाविक है जो ईश्वरकी खोज ईश्वरके ही लिये करता है, न कि शक्ति या किसी अन्य अवर आकर्षणके लिये; इन आकर्षक किन्तु प्रायः संकट लानेवाली शक्तियोंके पीछे पड़ना उसके उद्देश्यसे विचलन होगा। वैसा ही वर्जन अपरिपक्व साधकके लिये भी एक आवश्यक आत्म-संयम और आध्यात्मिक अनुशासन होता है, क्योंकि ऐसी शक्तियाँ एक वड़ा संकट, घातक संकट भी हो सकती हैं; इसका कारण यह है कि उनकी अलौकिकता अहंकी एक अपसामान्य स्फीतिका पोषण कर सकती है। पूर्णताका अभीप्सु शक्ति मात्रको प्रलोमन मान कर उससे भय खा सकता है, क्योंकि शक्ति ऊँचा उठा सकती है और नीचे भी गिरा सकती है; जितनी सम्भावना शक्तिके अपव्यवहारकी है, उससे अधिक अन्य किसीकी नहीं। परन्तु जब विकसित होकर एक महत्तर चेतना और एक महत्तर जीवनमें जानेके अनिवार्य परिणामस्वरूप नयी क्षमताएँ आती हैं और वह विकास हमारे अन्दरकी आध्यात्मिक सत्ताके लक्ष्यका ही अंग होता है, तब यह रोक लागू नहीं होती; कारण, जीव-का पराप्रकृतिमें विकास और पराप्रकृतिमें उसका जीना तब तक नहीं हो सकता या पूरा नहीं हो सकता जब तक कि एक महत्तर चेतना-शक्ति, एक महत्तर प्राण-शक्ति और उस पराप्रकृतिके लिये सामान्य रहनेवाले ज्ञान तथा शक्तिके साधनका एक स्वतःस्फूर्त विकास उसके साथ न आय। जीवके इस भावी विकासक्रममें ऐसा कुछ भी नहीं है

जिसे युक्ति-असंगत या अविश्वसनीय माना जा सके; उसमें असामान्य या चमत्कारिक कुछ भी नहीं है : यह हमारे जीवनके मनोमय निरूपणसे चलकर विज्ञानमय अथवा अतिमानसिक निरूपणकी ओर संक्रमणमें चेतना तथा उसकी शक्तियोंके विकासक्रममें आनेवाला आवश्यक गतिक्रम होगा। पराप्रकृतिकी शक्तियोंकी यह क्रिया उस नयी, उच्चतर या महत्तर चेतनाकी एक स्वाभाविक, सामान्य और स्वतःस्फूर्ततया सरल क्रिया होगी जिसमें जीव अपने आत्म-विकासक्रमकी यात्रामें प्रवेश करता है। विज्ञान-जीवनको स्वीकार करनेवाला विज्ञानपुरुष इस महत्तर चेतनाकी शक्तियोंका विकास और व्यवहार वैसे ही करेगा जैसे मनुष्य अपनी मनोमयी प्रकृतिकी शक्तियोंका विकास और व्यवहार करता है।

यह स्पष्ट है कि चेतनाकी शक्ति या शक्तियोंकी ऐसी वृद्धि महत्तर एवं पूर्णतर जीवनके लिये स्वाभाविक ही नहीं, अपरिहार्य भी होगी। मानव-जीवनमें सामंजस्य आंशिक है और जहाँ तक वह सामंजस्य समाजके व्यक्तियोंपर एक अंशतः इच्छुक, अंशतः राजी की गयी, अंशतः बलात्कृत या बाध्यकृत स्वीकृतिके सहारे किसी निर्धारित नियम और व्यवस्थाके आरोपणपर नहीं टिक रहा होगा, वह जीवन उनके मन, हृदय, ऐन्द्रिय जीवनके प्रबुद्ध या स्वार्थबद्ध तत्त्वोंके मेलपर, सर्वसामान्य विचारों, कामनाओं, प्राणिक तुष्टियों और जीवन-लक्ष्योंके मिश्रित समूहको दिये गये अनुमोदनपर आश्रित रहता है। परन्तु जिन व्यक्तियोंसे समाज बना है उनके समूहमें स्वीकृत विचारों, जीवन-लक्ष्यों, जीवन-प्रेरणाओंकी समझ और ज्ञान अपूर्ण रहते हैं, उनकी क्रियान्वयन-शक्ति अपूर्ण रहती है, उन्हें सर्वदा अक्षत बनाये रखने, उन्हें परिपूर्ण रूपसे निष्पादित करने या जीवनको एक श्रेष्ठतर पूर्णतातक पहुँचानेका संकल्प अपूर्ण रहता है; संघर्ष और विस्वरताका तत्त्व, दमित या अपरिपूरित कामनाओं और निराश इच्छा-संकल्पोंका समूह, समान तुष्टि न पाये हुए स्वार्थोंका एक उबलता दमित असन्तोष या जगा हुआ या विस्फोटक असन्तोष रहता है; नये भाव और प्राणिक हेतु होते हैं जो घुस आते हैं और उथलपुथल तथा विक्षोभके बिना उन्हें सहसंबद्ध नहीं किया जा सकता; मानव-प्राणियों और उनके परिवेशमें ऐसी प्राण-शक्तियाँ कार्य करती हैं जो निर्मित सामंजस्यसे मेल नहीं खातीं, और मन तथा प्राणकी परस्पर संघर्ष करनेवाली विभिन्नता द्वारा और विश्व-प्रकृतिमें रहनेवाली विरोधिनी शक्तियोंके आक्रमण द्वारा सृष्ट द्वन्द्वों और विपर्ययोंको

जीतनेकी पूरी शक्ति भी वहाँ नहीं होती। वहाँ अभाव होता है आध्यात्मिक ज्ञान तथा आध्यात्मिक बलका, अपने-आपपर अधिकारका, दूसरोंके साथ आन्तरिक एकीबद्धतासे उत्पन्न होनेवाले बलका, परिवेशकी या आक्रमणकारिणी जगत्-शक्तियोंपर अधिकारका, ज्ञानके कार्यान्वयनकी सम्पूर्ण दृष्टिसम्पन्न और पूरी सज्जित शक्तिका; ये सामर्थ्य, जो हममें होते नहीं या अपूर्ण रहते हैं, विज्ञानमय पुरुषमें तो उसके सत्त्वकी ही वस्तुएँ हैं, क्योंकि ये विज्ञानप्रकृतिकी ज्योति तथा क्रियाबलमें अन्तर्निष्ठ हैं।

परन्तु, जिन व्यक्तियोंसे मानव-समाज बनता है उनके मन, हृदय और प्राणके समायोजनकी अपूर्णताके अलावा यह बात भी है कि व्यक्तिके भी मन और प्राण ऐसी शक्तियोंसे प्रचालित होते हैं जिनका परस्पर मेल नहीं खाता; उनमें संगति बैठानेके लिये हमारे प्रयत्न अपूर्ण होते हैं, और उनसे भी अधिक अपूर्ण उनमेंसे किसी एकको भी जीवनमें सर्वांगीण अथवा सन्तोषप्रद निष्पादनमें नियोजित करनेके लिये हमारी शक्ति होती है। इस भाँति, प्रेम तथा सहानुभूतिका धर्म हमारी चेतनाके लिये स्वाभाविक है; हम ज्यों-ज्यों 'अध्यात्म-सत्ता' में विकसित होते हैं, हमपर उसकी माँग बढ़ती है : परन्तु साथ ही हमारे अन्दर बुद्धिकी माँग होती है, प्राणिक शक्ति और उसके आवेगोंका भी जोर होता है, अन्य बहुत सारे तत्त्वोंका दावा और दबाव होता है जो प्रेम तथा सहानुभूतिके धर्मसे मेल नहीं खाते, और न ही हम यह जानते हैं कि उन सबको जीवनके समूचे विधानके अन्दर कैसे यथास्थान बैठाया जाय अथवा कैसे उनमेंसे किसीको या सबको या तो न्यायतः और सम्पूर्णतः प्रभावी या अनुल्लंघ्य बनाया जाय। उन्हें समूची सत्ता और समूचे जीवनमें समस्वरित करने और सक्रिय रूपसे फलदायक बनानेके लिये हमें विकसित होकर अधिक सम्पूर्ण आध्यात्मिक प्रकृति उपलब्ध करनी होगी; हमें उस विकास द्वारा एक उच्चतर, विशालतर और अधिक सर्वांगीण चेतनाकी ज्योति और शक्तिमें निवास करना होगा जिसमें ज्ञान और बल, प्रेम और सहानुभूति और प्राणिक इच्छाकी क्रीड़ा, सबके सब स्वाभाविक और समस्वरित तत्त्वोंके रूपमें नित्य वर्तमान होंगे। हमें सत्यकी उस ज्योतिमें विचरण और कार्य करना होगा जो क्या करना है उसे और उसे करनेकी विधिको संबोधि द्वारा और स्वतःस्फूर्त रूपसे देखती है और कार्यमें, और शक्तिमें, संबोधि द्वारा और स्वतःस्फूर्त रूपसे अपने-आपको चरितार्थ करती है; वह हमारी सत्ताकी शक्तियोंकी

जटिलताको उनके सत्यकी उस संबोधिमूलिका स्वतःस्फूर्ततामें, अपने सरल आध्यात्मिक तथा परम स्वाभाविक छन्दमें समा लेती है और प्रकृतिके सारे डगोंको उनके समंजस सत्योंसे परिप्लुत कर देती है।

यह स्पष्ट होना चाहिये कि बुद्धिकी सहायतासे टुकड़ोंका कोई भी जोड़ बैठाना या मानसिक निर्माणका कोई भी कौशल इस जटिलतामें संगति या सामंजस्य प्रतिष्ठित नहीं कर सकता; जाग्रत् 'अध्यात्म-पुरुष' की संबोधि और आत्म-ज्ञान ही ऐसा कर सकते हैं। वह तो विकसित अतिमानसिक पुरुष और उसके जीवनका स्वरूप होगा; उसकी आध्यात्मिक दृष्टि और उसका आध्यात्मिक बोध सत्ताकी सारी शक्तियोंको एकत्व-विधायिका चेतनामें उठा लेंगे और सुसंगत कर्मको स्वाभाविक बना देंगे। इसका कारण यह है कि यह संगति और समस्वरता 'अध्यात्म-सत्ता'की सच्ची स्वाभाविक अवस्था है; हमारे जीवन तथा प्रकृतिका कलह या असामंजस्य उसके लिये अस्वाभाविक है, भले ही अज्ञानके जीवनके लिये स्वाभाविक। वह 'अध्यात्म-तत्त्व'के लिये स्वाभाविक नहीं है, वस्तुतः इस कारण ही हमारे अन्दर एक ऐसा ज्ञान है जो असंतुष्ट रहता और हमारे जीवनमें एक महत्तर सामंजस्यके लिये प्रयास करता है। समूची सत्ताकी यह संगति और समस्वरता जो कि विज्ञानमय व्यक्तिके लिये स्वाभाविक है, विज्ञानमय पुरुषोंके समुदायके लिये समान रूपसे स्वाभाविक होगी; कारण, वह एक सर्व-सामान्य तथा पारस्परिक आत्म-संवित्के आलोकमें आत्माके साथ आत्माके ऐक्यपर आधारित होगी। यह सच है कि समग्र पार्थिव सत्तामें, विज्ञान-जीवन जिसका एक अंग होगा, फिर भी एक कम विकसित श्रेणीकी वस्तु रहनेवाला जीवन चालू रहेगा; संबोधिमय तथा विज्ञानमय जीवनको इस समग्र जीवनके अन्दर जँच जाना और उसमें अपने एकत्व तथा सामंजस्यके स्वधर्मका उतना अंश ले जाना होगा जितना कि सम्भव हो सके। यहाँ स्वतःस्फूर्त सामंजस्यका विधान लागू नहीं होता लग सकता है, क्योंकि विज्ञान-जीवनका अपने चारों ओरके अज्ञान-जीवनके साथका सम्बन्ध आत्मज्ञानकी पारस्परिकता और अद्वय सत्ता तथा सर्वसामान्य चेतनाके बोधपर नहीं आधारित होगा; यह अज्ञान-कर्मके साथ ज्ञान-कर्मका सम्बन्ध होगा। परन्तु यह कठिनाई हमें अभी जितनी बड़ी दीखती है उसका उतनी बड़ी होना आवश्यक नहीं, क्योंकि चिद्घन ज्ञानमें अज्ञान-चेतनाकी पूर्ण समझ रहेगी और फलतः यह असम्भव नहीं होगा कि एक सुप्रतिष्ठित

विज्ञान-जीवन अपने अस्तित्वको पृथ्वी-प्रकृतिमें अपने सहवर्ती रहनेवाले सारे ही कम विकसित जीवनके अस्तित्वके साथ समंजस कर ले।

यदि यही हमारे क्रमविकासकी नियति है तो हमें यह देखना रह गया है कि क्रमविकास-प्रगतिकी इस सन्धि-वेलामें,—और यह प्रगति सीधी रेखामें न होकर बल्कि चक्राकारी या सर्पिल रही है या अन्ततः उसकी यात्रा बहुत ही टेढ़ीमेढ़ी, बलखाते घुमावोंकी राहसे हुई है,—हम कहाँ खड़े हैं और अदूर अथवा अनतिदूर भविष्यमें निश्चायक डगकी ओर मुड़नेकी क्या आशा है। वैयक्तिक पूर्णता तथा जातिके जीवनकी पूर्णताके लिये हमारी मानव-अभीप्सामें भावी विकासक्रमके तत्त्वोंका पूर्वाभास मिलता है और उनके लिये उद्योग भी होता है, परन्तु यह सब अर्ध-आलोकित ज्ञानकी अस्पष्टतामें ही होता है; आवश्यक तत्त्वोंके बीच एक विस्वरता रहती है, एक विरोधी आग्रह रहता है, आरम्भिक और असन्तोषप्रद समाधानोंका प्राचुर्य रहता है जिनमें ठीक संगति नहीं हुई होती। वे हमारी आदर्शवादिताकी तीन प्रधान प्रवृत्तियोंके बीच झूलते हैं,—मानव-जीवनका अपने-आपका सम्पूर्ण एकाकी विकास, व्यक्तिका पूर्ण बनाया जा सकना; सामूहिक सत्ताका परिपूर्ण विकास, समाजका पूर्ण बनाया जा सकना; और व्यावहारिक दृष्टिसे अधिक प्रतिबन्धित रूपमें, व्यक्ति तथा समाजके साथ व्यक्तिके और समुदायके साथ समुदायके पूर्ण अथवा यथासम्भव उत्तम सम्बन्ध। कभी व्यक्तिपर, कभी समष्टि या समाजपर, कभी व्यक्ति और सामूहिक मानव-समष्टिके बीच सही और सन्तुलित सम्बन्धपर ऐकान्तिक या प्रधान रूपसे बल दिया जाता है। एक विचारधारा मानव-व्यक्तिके जीवन, स्वतंत्रता या पूर्णताकी निरन्तर वृद्धिको हमारे जीवनके सच्चे लक्ष्यके रूपमें खड़ा करती है,—वह आदर्श चाहे वैयक्तिक सत्ताकी स्वच्छन्द स्वाभिव्यक्ति मात्र हो, चाहे समूचे मन, उत्कृष्ट तथा समृद्ध प्राण और पूर्ण शरीरकी स्वानुशासित सम्पूर्णता, चाहे आध्यात्मिक मुक्ति एवं पूर्णता। इस दृष्टिके अनुसार समाज केवल मानव-व्यक्तिकी क्रियाशीलता और उन्नतिका क्षेत्र है और अपना काम उत्तम रूपसे तब करता है जब वह, जहाँ तक सम्भव हो सके, व्यक्तिके विचार, उसके कर्म, उसकी उन्नति, उसकी सत्ताकी परिपूर्णताकी सम्भावनाको बढ़नेके लिये चौड़ा स्थान, प्रचुर साधन, पर्याप्त स्वतंत्रता या निर्देशन प्रदान करता है। एक विपरीत विचारधारा सामूहिक जीवनको प्रथम या एकमात्र महत्त्व देती है;

जातिका अस्तित्व, जातिकी उन्नति ही सब कुछ है : व्यक्तिको समाजके लिये या मानव-जातिके लिए जीना है, या यहाँ तक कि वह समाजका एक कोशाणु मात्र है, उसके जन्मका कोई अन्य उपयोग या प्रयोजन नहीं, प्रकृतिमें उसकी उपस्थितिका कोई अन्य अर्थ नहीं, उसका कोई अन्य कार्य नहीं। या, ऐसा माना जाता है कि राष्ट्र, समाज, समुदाय एक सामूहिक सत्ता है जो अपने अन्तरात्माको अपनी संस्कृति, प्राण-शक्ति, आदर्शों और संस्थाओंमें, अपनी स्वाभिव्यक्तिकी सारी विधियोंमें प्रकट कर रही है; व्यक्तिके जीवनको उसी संस्कृतिके साँचेमें ढल जाना होगा, उसी प्राण-शक्तिकी सेवामें नियुक्त होना होगा, सामूहिक जीवनके बने रहने और उसकी कार्यकुशलताके लिये साधन-यंत्रके रूपमें ही अस्तित्व रखनेको राजी होना होगा। एक अन्य विचारधारा है जिसके अनुसार मनुष्यकी पूर्णता उसके अन्य मनुष्योंके साथके नैतिक तथा सामाजिक सम्बन्धोंमें रहती है; मनुष्य सामाजिक जीव है और उसे समाजके लिये, दूसरोंके लिये, जातिके लिये उसकी जो उपयोगिता है उसके लिये जीना है; फिर, समाज भी सर्व-सेवाके लिये ही है, सभीको उनका सम्यक् सम्बन्ध, शिक्षा, प्रशिक्षण, आर्थिक सुयोग, जीवनका सही ढाँचा देनेके लिये है। प्राचीन संस्कृतियोंमें सबसे अधिक बल समुदायपर और व्यक्तिको समुदायके अन्दर यथास्थान बैठानेपर दिया गया था, किन्तु व्यक्तिकी पूर्णताकी भावनाका भी उद्भव हुआ था; प्राचीन भारतमें आध्यात्मिक व्यक्तिकी भावना ही प्रधान थी, किन्तु समाजका महत्व अत्यधिक था, क्योंकि व्यक्तिको पहले समाजमें और उसके गढ़नकारी प्रभावके अधीन होकर ही शारीरिक, प्राणिक, मानसिक सत्ताकी एक सामाजिक स्थितिमेंसे गुजरना होता था जिसमें उसे अर्थ और कामकी तुष्टि मिलती थी और वह ज्ञान तथा सम्यक् जीवनकी खोज करता था, उसके बाद ही वह अधिक सच्ची आत्मोपलब्धि और मुक्त आध्यात्मिक जीवनकी योग्यता पा सकता था। हालके दिनोंमें सारा जोर जातिके जीवनकी ओर, पूर्ण समाजकी खोजकी ओर, और बादमें समग्र मानव-जातिके सही संगठन और वैज्ञानिक यंत्रीकरणपर एकाग्र होनेकी ओर मुड़ गया है। अब व्यक्तिके बारेमें यह माननेकी प्रवृत्ति अधिक है कि वह समष्टिका एक अंग मात्र, जातिकी एक इकाई मात्र है जिसके अस्तित्व-को संगठित समाजके सर्वसामान्य लक्ष्यों तथा समग्र हितके नीचे ही रखना होगा; वह कोई मनोमय अथवा आध्यात्मिक जीव हो, जिसे अस्तित्वका

स्वाधिकार और बल हो, यह तो बहुत कम, या बिल्कुल ही नहीं, माना जाने लगा है। यह प्रवृत्ति अभी तक सर्वत्र अपनी पराकाष्ठापर नहीं पहुँची है, किन्तु सर्वत्र तेजीसे वर्द्धित हो रही है और प्रधानताके पदकी ओर बढ़ रही है।

इस प्रकार, मानव-विचारके उलटफेरोंमें एक ओर तो व्यक्तिको अपने-आपके ही प्रतिष्ठापन, अपने ही मन, प्राण तथा शरीरके विकास, अपनी ही आध्यात्मिक पूर्णताके अनुसन्धान और अनुशीलनकी ओर प्रवृत्त या आमंत्रित किया जाता है और दूसरी ओर उससे यह माँग की जाती है कि वह अपने-आपको मिटा दे, गौण बनकर रहे, समुदायके विचारों, आदर्शों, इच्छाओं, सहजप्रवृत्तियों और हितको अपना बना ले। प्रकृति उसे अपने-आपके लिये जीनेकी ओर और उसके अन्दरकी गहराईमें रहने-वाली कोई वस्तु उसे अपनी वैयक्तिकता प्रतिष्ठित करनेकी ओर प्रवृत्त करती है; समाज और एक विशेष मानसिक आदर्श उससे मानवताके लिये या समुदायके श्रेष्ठतर शुभके लिये जीनेकी माँग करता है। एक ओर निजत्व और स्वार्थभाव, दूसरी ओर परहितभाव, इनका आमना-सामना और मुठभेड़ होती है। राष्ट्र कहता है कि वही ईश्वर है और वह व्यक्तिकी आज्ञाकारिता, प्रणति, अधीनता, उसका आत्म-बलिदान माँगता है; इस अतिशय माँगके विरोधमें व्यक्तिको अपने आदर्शों, अपने भावों, अपने व्यक्तित्व, अपने विवेकके अधिकारोंका प्रतिष्ठापन करना होता है। यह स्पष्ट है कि मानकोंका यह सारा संघर्ष मनुष्यके मानसिक अज्ञानका वह टटोलना है जो अपनी राह खोज रहा है और सत्यके विभिन्न पहलुओं-को पकड़ रहा है, किन्तु चूंकि उसका ज्ञान सर्वांगपूर्ण नहीं है, अतः वह उन्हें साथ-साथ समंजस कर सकनेमें असमर्थ है। केवल एकत्व-विधायक और सामंजस्य-स्थापक ज्ञान ही मार्ग पा सकता है, परन्तु वह ज्ञान हमारी सत्ताके उस गंभीरतर तत्त्वकी वस्तु होता है जिसके लिए एकता और सर्वांगीणता स्वाभाविक हैं। उसे अपने अन्दर पा करके ही हम अपने अस्तित्वकी समस्या और साथ ही वैयक्तिक तथा सामूहिक जीवनके सच्चे मार्गकी समस्याका समाधान कर सकते हैं।

एक 'सद्वस्तु' है, सकल अस्तित्वका एक सत्य है जो अपने सारे रूपायणों और अभिव्यक्तियोंसे महत्तर और अधिक स्थायी है। उस सत्य तथा 'सद्वस्तु'की प्राप्ति और उसमें निवास, उसकी यथासम्भव अधिकसे अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति और रूपायण,—इसे ही पूर्णताका

रहस्य होना चाहिये, वह पूर्णता चाहे व्यष्टि-सत्ताकी हो, चाहे सामुदायिक सत्ताकी। वह 'सद्वस्तु' प्रत्येक वस्तुमें है और अपने रूपायणोंमेंसे प्रत्येकको सत्ताकी अपनी शक्ति और सत्ताकी अपनी महत्ता प्रदान करती है। विश्व उसी 'सद्वस्तु'की एक अभिव्यक्ति है, और विश्व-जीवनका एक सत्य है, विश्वसत्ताकी एक शक्ति है, एक सर्वात्मा या जगदात्मा है। मानव-जाति विश्वमें उसी 'सदवस्तु'का एक रूपायण या अभिव्यक्ति है, और मानव-जातिका एक सत्य तथा आत्मा है, एक मानवीय चित्-सत्ता है, मानव-जीवनकी एक नियति है। समुदाय उस 'सद्वस्तु'का एक रूपायण, मनुष्यकी चित्-सत्ताकी एक अभिव्यक्ति है, और सामूहिक सत्ताका एक सत्य, एक आत्मा, एक शक्ति है। व्यक्ति उसी 'सद्वस्तु'का एक रूपायण है, और व्यक्तिका एक सत्य है, एक वैयक्तिक आत्मा, अन्तरात्मा या पुरुष है जो अपने-आपको वैयक्तिक मन, प्राण तथा शरीर द्वारा प्रकट करता है और अपने-आपको किसी ऐसी वस्तुमें भी प्रकट कर सकता है जो मन, प्राण तथा शरीरसे परे, मानवजातिसे भी परे चली जाती हो। कारण, हमारी मानवता न तो वह समूची 'सद्वस्तु' है, न उसका यथासम्भव उत्तम आत्म-रूपायण या आत्म-अभिव्यक्ति ही,—मनुष्य अस्तित्वमें आया उसके पहले उस 'सद्वस्तु'ने अवमानवताका रूप धारण किया, अवमानव-रूपमें आत्म-सृजन किया, और मनुष्यके वाद या मनुष्यमें वह अतिमानवताका रूप धारण कर सकती है, अतिमानव-रूपमें आत्म-सृजन कर सकती है। आत्मा-रूप या सत्ता-रूपमें व्यक्ति अपने मानवत्वकी सीमामें नहीं बँधा है; वह मानवसे कम रहा है, वह मानवसे अधिक हो जा सकता है। जैसे व्यक्ति अपने-आपको विश्वके अन्दर पाता है, विश्व भी अपने-आपको व्यक्तिके द्वारा पाता है, परन्तु व्यक्तिमें विश्वसे अधिक कुछ बन जानेका सामर्थ्य है, क्योंकि वह उसका अतिक्रमण कर सकता और ऐसे कुछमें प्रविष्ट हो सकता है जो उसमें है, विश्वमें है, विश्वसे परे है और निर्विशेष है। वह समुदायकी सीमामें नहीं बँधा है; यद्यपि उसके मन और प्राण, एक प्रकारसे, सामुदायिक मन तथा प्राणके अंग हैं, तथापि उसमें ऐसा कुछ है जो उनसे परे जा सकता है। समुदायका अस्तित्व व्यक्तिसे है, क्योंकि उसके शरीर, प्राण और मनकी रचना उसके घटक व्यक्तियोंके शरीर, प्राण और मनसे हुई है; यदि व्यक्तियोंके शरीर, प्राण और मनका विनाश या विघटन हो जाय तो समुदायका भी अस्तित्व विनष्ट अथवा

विघटित हो जायगा, यद्यपि उसकी कोई अन्तःसत्ता या शक्ति अन्य व्यक्तियोंमें फिरसे रूपायित हो सकती है : परन्तु व्यक्ति सामूहिक सत्ताका कोशाणु मात्र नहीं है; उसे यदि सामूहिक पिंडसे पृथक् या निष्कासित कर दिया जाय तब भी उसके अस्तित्वका अवसान नही होगा। कारण यह है कि समूह ही, समुदाय ही, जगत् नही है, वह तो समूची मानवजाति भी नहीं : व्यक्ति मानव-जातिमें और कही या जगत्में अपने-आपसे अस्तित्वमें रह सकता और अपने-आपको पा सकता है। यदि समुदायका जीवन अपने घटक व्यक्तियोंके जीवनपर प्रधान रहनेवाला जीवन हो ही तो भी वह उनका समूचा जीवन नही होता। यदि उसकी अपनी सत्ता है जिसे वह व्यक्तियोंके जीवन द्वारा प्रतिष्ठित करना चाहता है, तो व्यक्तिकी भी एक अपनी सत्ता है जिसे वह समुदायके जीवनमें प्रतिष्ठित करना चाहता है। परन्तु वह उससे बंधा नहीं है; वह अपना प्रतिष्ठापन किसी अन्य सामुदायिक जीवनमें या, यदि वह पर्याप्त सबल हुआ तो, यायावरके जीवन या संन्यासीके एकान्तमें कर सकता है, और वहाँ, भले ही वह किसी सम्पूर्ण भौतिक जीवनकी खोज या प्राप्ति नहीं कर सके, आध्यात्मिक रूपसे अस्तित्वमें रह सकता और अपने स्वरूप-सत्यको, अपनी सत्ताके अन्तर्वासी आत्माको पा सकता है।

व्यक्ति वास्तवमें क्रमवैकासिकी गतिधाराकी कुंजी है; कारण, व्यक्ति ही अपने-आपको पाता है, उस 'सद्वस्तु'के प्रति चेतन होता है। समूहकी गतिधारा प्रधानतः एक अवचेतन सामुदायिक गतिधारा होती है; चेतन होनेके लिए उसे अपने-आपको व्यक्तियों द्वारा निरूपित और व्यक्त करना पड़ता है : उसकी सामान्य जन-चेतना सदा ही अपने अधिकतम विकसित व्यक्तियोंकी अपेक्षा कम विकसित रहती है, और वह जहाँ तक उनकी छापको स्वीकार करती है या जहाँ तक उसे ही विकसित करती है जिसे कि वे विकसित करते हों, वहीं तक वह प्रगति करती है। व्यक्तिकी अन्तिम निष्ठा न तो राष्ट्रके लिये होती है जो कि एक यंत्र मात्र है, न समुदायके ही लिये जो कि जीवनका एक अंग मात्र है, समूचा जीवन नहीं : उसकी निष्ठा होनी होगी सत्यके लिये, आत्माके लिये, अध्यात्म-पुरुषके लिये, भगवान्के लिये जो उसमें और सबमें हैं। जन-पुंजके अधीन हो जाना या उसमें अपने-आपको खो देना नहीं, वरन् सत्ताके उस सत्यको अपने अन्दर पाना और व्यक्त करना और समुदाय तथा मानवजातिको उसकी अपनी सत्ताके सत्य और परिपूर्तिकी खोजमें

सहायता देना ही उसके जीवनका यथार्थ लक्ष्य होना चाहिए। परन्तु वैयक्तिक जीवन या उसके अन्दरकी आध्यात्मिक 'सद्वस्तु'की शक्ति किस दूरी तक सक्रिय होती है, यह व्यक्तिके अपने विकासपर निर्भर करता है; जब तक वह अविकसित रहता है उसे अपनी अविकसित सत्ताको, जो कुछ भी उससे महत्तर है, बहुत प्रकारसे उसके अधीन करना होता है। वह जैसे-जैसे विकसित होता है, वैसे-वैसे एक आध्यात्मिक स्वतंत्रताकी ओर बढ़ता है, किन्तु वह स्वतंत्रता कोई सर्वसत्तासे पूरी पृथक् वस्तु नहीं, उसके साथ उसकी एक संहति है क्योंकि वह भी आत्मा है, अभिन्न अध्यात्म-सत्ता है। वह ज्यों-ज्यों आध्यात्मिक स्वतंत्रताकी ओर बढ़ता है, त्यों-त्यों आध्यात्मिक एकत्वकी ओर भी बढ़ता है। अध्यात्म-सिद्ध व्यक्ति, मुक्त पुरुष, गीता कहती है, सकल भूतोंके हितमें रत रहता है; निर्वाणके पथका आविष्कार करनेवाले बुद्धको उस मार्गको उन लोगोंके लिये खोलनेके लिये वापस मुड़ना ही होता है जो अभी भी अपनी सच्ची सत्ता—या अ-सत्ता—के ज्ञानके बदले अपनी कृत्रिम सत्ताके मोहमें रह रहे हैं; 'निर्विशेष'के द्वारा आकर्षित विवेकानन्दको भी मानवताके छद्मवेशमें रहते ईश्वरकी पुकारका और, सबसे अधिक, पतित तथा संतप्त जनोंकी पुकारका, विश्वकी तमोवृत देहमें आत्माकी आत्मासे की गई पुकारका अनुभव होता है। जागृत व्यक्तिमें उसकी प्रथम आकूति अपनी सत्ताके सत्यकी उपलब्धि और अपनी आन्तरिक मुक्ति तथा पूर्णताके लिये ही होगी,—प्रथमतः इस कारण कि उसमें 'अध्यात्म-तत्त्व'की यही पुकार है, परन्तु इस कारण भी कि जीवनयापनके सत्यतक मनुष्य मुक्ति तथा पूर्णता और सत्ताके सत्यकी उपलब्धिके द्वारा ही पहुँच सकता है। पूर्ण समुदायका अस्तित्व भी उसके व्यक्तियोंकी पूर्णताके सहारे ही हो सकता है और पूर्णता केवल तब आ सकती है जबकि जीवनमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वकीय आध्यात्मिक सत्ताका आविष्कार और प्रतिष्ठापन करे और सब कोई अपनी आध्यात्मिक एकताका आविष्कार करें जिसके परिणाममें जीवन-एकता होती है। हमारे लिये कोई भी यथार्थ पूर्णता केवल तब हो सकती है जब कि हमारा आन्तर आत्मा और आध्यात्मिक जीवनका सत्य हमारे जीवन-साधनोंके समूचे सत्यको अपने अन्दर कर लेवे और उन्हें एकता, समाकलन तथा सामंजस्य प्रदान करे। जैसे हमारी एकमात्र यथार्थ स्वतंत्रता हमारे अन्दरकी आध्यात्मिक 'सद्वस्तु'का आविष्कार और विमोचन ही है, वैसे ही सच्ची पूर्णताके लिये हमारा

एकमात्र साधन हमारी प्रकृतिके सारे तत्त्वोंमें आध्यात्मिक 'सद्वस्तु'का प्रभुत्व और आत्म-सम्पादन ही है।

हमारी प्रकृति जटिल है और हमें उसकी जटिलताके मध्य किसी पूर्ण एकता तथा परिपूर्णताकी कुंजी पानी है। उसका प्रथम क्रमवैकासिक आधार भौतिक जीवन है : प्रकृतिने वहींसे शुरू किया है और मनुष्यको भी उसीसे शुरू करना होता है; उसे पहले अपना भौतिक और प्राणिक अस्तित्व प्रतिष्ठित करना होता है। परन्तु यदि वह वहीं रुक जाय तो उसके लिये कोई विकासक्रम नहीं हो सकता, उसकी अगली और महत्तर लगन भौतिक जीवनमें ही वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों प्रकारसे, अपनी यथासंभव पूर्ण मनोमयी सत्ताकी प्राप्तिके लिए होगी। यूरोपीय सभ्यताको यही दिशा यूनानी विचारधाराने दी थी और रोमकी विचार-धाराने संगठित बलके आदर्शसे उसे सबल—या दुर्बल—किया था। युक्ति-बुद्धिकी उपासना, आलोचनात्मक, उपयोगितावादी, संगठक और निर्माणा-त्मक बौद्धिक विचार द्वारा जीवनकी व्याख्या, भौतिक विज्ञान द्वारा जीवनपर शासन, इसी प्रेरणाके अन्तिम परिणाम हैं। परन्तु प्राचीन युगोंमें उच्चतर सर्जनशील और क्रियाशील तत्त्व था एक आदर्श सत्य, शिव एवं सुन्दरका अनुसरण करना और मन, प्राण तथा शरीरको इस आदर्श द्वारा पूर्णता तथा सामंजस्यमें गढ़ना। इस लगनसे आगे और ऊपर, ज्योंही मन पर्याप्त विकसित हो जाता है, मनुष्यमें आध्यात्मिक लगन जगती है, वह लगन आत्माका और सत्ताके अन्तरतम सत्यका आविष्कार करने, मनुष्यके मन तथा प्राणको 'अध्यात्म-सत्ता'के सत्यमें विमुक्त करने, उसे 'अध्यात्म-सत्ता'की शक्ति द्वारा पूर्ण करने, 'अध्यात्म-सत्ता'के अन्दर सकल भूतोंकी संहति, एकता और पारस्परिकता पानेकी होती है। यह वह प्राच्य आदर्श था जिसे बौद्ध मत तथा अन्य आध्यात्मिक साधना-पंथ एशिया और मिश्रके तटपर ले गये और जो वहाँसे ईसाई धर्म द्वारा यूरोपमें प्रवाहित हुआ। किन्तु प्राचीन सभ्यताओंको निमग्न करनेवाली बर्बरता-की बाढ़ने जिस अस्तव्यस्तता और अन्धकारकी सृष्टि की उसमें कुछ समय-तक ये उद्देश्य मन्द मशालोंकी तरह जलते रहे, फिर आधुनिक मनोवृत्तिने, जिसे एक दूसरा प्रकाश, भौतिक विज्ञानका प्रकाश मिला है, इनका परित्याग कर दिया। आधुनिक मनोवृत्तिने जिसकी खोज की है वह मूलतः एक आर्थिक और सामाजिक लक्ष्य है,—सभ्यता और आरामका एक आदर्श भौतिक संगठन, उपयोगितावादिनी यौक्तिकताके व्यापकीकरणके

लिये बुद्धि, विज्ञान और शिक्षाका उपयोग, जिससे व्यक्तिको पूर्णाङ्कित आर्थिक समाजमें पूर्णाङ्कित सामाजिक जीव बनाया जायगा। आध्यात्मिक आदर्शमेंसे जो कुछ बचा रह गया वह,—कुछ समयके लिये,—धार्मिक रंगसे पूरा विमुक्त, मानसिक और नैतिक रूपका मानवतावाद और एक सामाजिक सदाचारवाद था जिसे धार्मिक तथा वैयक्तिक सदाचारका स्थान लेनेके लिये पूरा पर्याप्त माना गया। जाति इतनी ही दूर आयी थी जब कि उसीका वेग उसे आगे बढ़ाकर तेजीसे एक आन्तरिक अस्तव्यस्तता और जीवनकी अस्तव्यस्ततामें ले गया जिसमें परंपरासे प्राप्त सारे मूल्योंका विध्वंस कर दिया गया और उसके सामाजिक संगठन, उसके आचरण और उसकी संस्कृतिके नीचेसे सारी दृढ़ भूमि विलुप्त होती लगी।

कारण, यह आदर्श, भौतिक और आर्थिक जीवनके लिये यह सज्ञान आग्रह, वस्तुतः मनुष्यकी प्रथम अवस्थाकी ओर, उसकी आरम्भिक बर्बर अवस्थाकी ओर और उस अवस्थामें उसका प्राण तथा जड़में जो अभिनिवेश था उसकी ओर वापस जाना था; यह एक आध्यात्मिक पश्चगमन था जिसमें विकसित मानवजातिके मन और एक पूरे विकसित भौतिक विज्ञानके साधन साथ थे। आर्थिक तथा भौतिक जीवनको पूर्ण बनानेके लिये इस आग्रहका मानव-जातिकी समग्र जटिलताके अन्दर एक तत्वके रूपमें समूचेके भीतर एक अपना स्थान है; किन्तु एकमात्र या बहुत ही प्रधान आग्रह हो जानेपर तो वह मानव-जातिके लिये, विकासक्रमके लिये, संकटोंसे भरा ही होता है। पहला संकट आदिकालके पुराने प्राणिक तथा भौतिक बर्बरका एक सभ्य रूपमें पुनरोद्भव है; विज्ञानने हमारे हाथमें जो साधन दिये हैं उनसे इस संकटका तो अन्त हो जाता है कि जर्जर सभ्यताको कोई सबलतर आदिम जातियाँ उच्छेदित और विनष्ट कर दें, परन्तु संकट यह है कि स्वयं हममें, सभ्य मनुष्यमें बर्बरका पुनरोद्भव हो जाय, और यह हमें अपने चारों ओर दीख रहा है। कारण, यदि हमारे अन्दरके प्राणिक और भौतिक मनुष्यको नियंत्रित और उन्नीत करनेवाला कोई उच्च और प्रबल मानसिक तथा नैतिक आदर्श नहीं हो, उसे अपने-आपमेंसे मुक्त कर उसकी आन्तरिक सत्तामें ले जानेवाला कोई आध्यात्मिक आदर्श नहीं हो, तो बर्बरताका यह पुनरागमन होगा ही। हम इस पुनःपतनसे यदि बच भी जायँ तो एक अन्य संकट है,—कारण, विकास-प्रेरणाका विराम, आदर्श

या परिदृष्टिसे रहित एक स्थिर आरामदायक यंत्रीकृत सामाजिक जीवन-में मूर्तायन दूसरा संभव परिणाम है। अकेली युक्तिबुद्धि जातिको लम्बे समय तक प्रगतिशील नहीं बनाये रख सकती है; ऐसा वह केवल तब कर सकती है जबकि वह एक ओर प्राण तथा शरीर और दूसरी ओर मनुष्यके अन्दरकी उच्चतर और महत्तर वस्तुके बीच मध्यस्थ हो; कारण, मनुष्य जब एक बार मनको प्राप्त कर लेता है तो आन्तरिक आध्यात्मिक आवश्यकता ही, उसके अन्दर तबतक जो कुछ अनुपलब्ध है उससे आता हुआ प्रेरण ही, क्रमवैकासिक चापको, आध्यात्मिक प्रेरणाको उसमें बनाये रखता है। उसका परित्याग कर देनेसे या तो उसका पुनःपतन हो जायगा और उसे पूराका पूरा फिरसे आरम्भ करना होगा या वह अपनेसे पहलेके जीवनके अन्य रूपोंकी तरह क्रमविकासकी किसी विफलता-की तरह विलुप्त हो जायगा, क्योंकि वहाँ क्रमवैकासिकी प्रेरणाको बनाये रखने या उसका अनुगामी होनेकी समर्थता नहीं थी। वह अधिकसे अधिक, अन्य पशु-प्रकारोंकी तरह, किसी प्रकारकी मध्यवर्तिनी प्रारूपिक पूर्णतामें अवरुद्ध रहेगा, जबकि प्रकृति उससे आगे एक महत्तर सृष्टिकी ओर चली जा रही होगी।

आजके दिन मानवजाति विकासक्रमकी एक संकटावस्थामेंसे गुजर रही जिसमें उसकी नियतिका चुनाव छिपा है; कारण, एक ऐसी स्थिति आ गयी है जिसमें मनुष्यका मन कुछ दिशाओंमें विपुल प्रगति कर चुका है, जबकि अन्य दिशाओंमें वह अवरुद्ध और भ्रमित होकर खड़ा है और अब अपनी राह नहीं खोज सक रहा है। मनुष्यके सदा क्रियाशील रहनेवाले मन और प्राण-इच्छाने बाह्य जीवनकी एक इमारत खड़ी कर दी है और वह इमारत इतने बड़े आकारकी है, इतनी जटिल है कि वह दुःसाध्य हो गयी है; वह इमारत उसने अपने मन, प्राण और शरीरके दावों और प्रेरणाओंके लिये बनायी है; वह एक संश्लिष्ट राजनैतिक, सामाजिक, शासनिक, आर्थिक, सांस्कृतिक यंत्र है, उसकी बौद्धिक, संवेद-नात्मक, सौन्दर्यबोधी और भौतिक तुष्टिके लिये एक संगठित सामूहिक साधन है। मनुष्यने जिस सभ्यता-तंत्रकी रचना की है वह इतना बड़ा बन गया है कि मनुष्यकी सीमित मानसिक समर्थता और समझ और उसकी और भी अधिक सीमित आध्यात्मिक तथा नैतिक समर्थता उसका उप-योग और संचालन नहीं कर सकतीं; यह तंत्र मनुष्यके प्रमादपूर्ण अहं और उसकी क्षुधाओंका अत्यन्त संकटास्पद सेवक हो गया है। कारण,

उसकी चेतनाकी सतहपर अब तक कोई महत्तर दृष्टिसम्पन्न मन, ज्ञानका कोई संबोधिमय आत्मा नहीं आया है जो जीवनकी इस आधारिक परिपूर्णताको उसका अतिक्रमण करनेवाली किसी वस्तुके मुक्त विकासके लिये उपयुक्त परिस्थिति बना सके। जीवन-साधनोंकी यह नयी परिपूर्णता, मनुष्यको उसकी आर्थिक तथा भौतिक आवश्यकताओंके अनवरत और अतृप्त दबावसे छुड़ा सकनेमें अपने सामर्थ्यके कारण, भौतिक जीवनसे ऊपर उठे हुए अन्य और महत्तर लक्ष्योंके पूरे अनुसरणके लिये, एक उच्चतर सत्य, शिव एवं सुन्दरके आविष्कारके लिये, एक ऐसे महत्तर तथा दिव्यतर आत्माके आविष्कारके लिये मिलनेवाला सुयोग हो सकती है जो जीवनमें प्रविष्ट होगा और जीवनको सत्ताकी एक उच्चतर पूर्णताके अर्थ व्यवहृत करेगा; परन्तु इसके बदले उसका उपयोग नयी आवश्यकताओंकी संख्यावृद्धि और सामूहिक अहंके आक्रामक विस्तारके ही लिये किया जा रहा है। साथ ही, भौतिक विज्ञानने विश्वशक्तिकी बहुत सारी क्षमताओंको मनुष्यके हाथोंके तले कर दिया है और मानवजातिके जीवनको भौतिक रूपसे एक कर दिया है, परन्तु इस विश्वशक्तिका उपभोक्ता तो एक तुच्छ, मानवीय, वैयक्तिक या सामुदायिक अहं ही होता है जिसके ज्ञान-प्रकाश या गतिविधिमें कुछ भी विश्वात्मक नहीं होता, कोई आन्तरिक बोध या शक्ति नहीं होती जो मानव-जगत्‌के इस स्थूल रूपमें साथ खिंच आनेमें किसी सच्ची जीवन-एकता, मानसिक एकता या आध्यात्मिक एकत्वकी रचना करे। वहाँ तो बस परस्पर-विरोधी मानसिक भावोंकी विशृंखलता है, व्यक्ति और समुदायके शारीरिक अभावों और आवश्यकताओंकी प्रेरणाएँ हैं, प्राणके दावे और कामनाएँ हैं, अज्ञानमयी प्राण-प्रेरणाके अन्तर्वेग हैं, व्यक्तियों, वर्गों और राष्ट्रोंकी जीवन-तुष्टिकी क्षुधाएँ और पुकारें हैं, राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक सर्वरोगनाशकों और धारणाओंका फलाफूला कुकुरमुत्ता है, नारों और रामबाणोंकी भीड़-भाड़की रेलपेल है जिनके लिये मनुष्य अत्याचार करने और अत्याचार सहनेको, मारने और मरनेको तैयार रहता है, उन्हें अपने हाथमें आये हुए विशाल और अति कराल साधनोंसे किसी न किसी तरह आरोपित करनेको तैयार रहता है, और ऐसा वह इस विश्वाससे करता है कि यह उसका किसी आदर्श वस्तुतक पहुँचनेका मार्ग है। मानवीय मन तथा प्राणका विकासक्रम अवश्य ही वर्द्धमान विश्वभावकी ओर ले जायगा; परन्तु अहं और खंडकारक तथा विभाजक मनके आधार-

पर विश्वसत्ताकी ओर यह उन्मीलन केवल असंगत विचारों और अन्त-र्वेगोंका विशाल अंकुरण, विपुल शक्तियों और कामनाओंका उभार, एक विशालतर जीवनकी अपरिपाचित और परस्पर-मिश्रित मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक सामग्रीका अस्तव्यस्त समूह ही रच सकता है,—चूंकि वह सामग्री 'अध्यात्म-सत्ता'के सर्जनशील और सामंजस्यकारी प्रकाश द्वारा ऊपर नहीं उठायी हुई होगी, वह अवश्य ही विश्वव्याप्त अस्तव्यस्तता और विसंगतिमें लथपथ हो रही होगी जिसमेंसे किसी महत्तर सामंजस्य-पूर्ण जीवनका निर्माण असम्भव होगा। भूतकालमें मनुष्यने जीवनको संगठित भावन और सीमायन द्वारा समंजस किया है; उसने निर्धारित भावों या निर्धारित रूढ़ियोंपर, किसी निर्धारित संस्कृति-प्रणाली या जीवन्त जीवन-प्रणालीपर आधारित समाजोंकी रचना की है जिनमें प्रत्येककी अपनी-अपनी व्यवस्था थी; इन सबका एक अधिकाधिक परस्पर-मिश्रित होते जीवनकी कुठालीमें डाल दिया जाना और नित्य नये भावों और उद्देश्यों, वास्तविकताओं और सम्भावनाओंका प्लावित होकर अन्दर आते रहना जीवनकी बढ़ती सम्भावनाओंका सामना करने, उनपर अधिकार करने और उनमें सामंजस्य लानेके लिये एक अभिनव, एक महत्तर चेतनाकी माँग करते हैं। युक्तिबुद्धि और भौतिक विज्ञान मानकोंका निर्धारण करके, प्रत्येक वस्तुको भौतिक जीवनके कृत्रिम रूपसे व्यवस्थित और यंत्रीकृत एकत्वके भीतर जड़ करके ही सहायता दे सकते हैं। सबको अखंड-जीवनके महत्तर एकत्वमें संयुक्त करनेके लिये एक महत्तर अखंड-सत्ता, अखंड-ज्ञान, अखंड-शक्तिकी आवश्यकता होती है।

अतीतके मानसिक निर्माण अपूर्ण थे, साहचर्य और नियमबद्ध संघर्ष-का सम्मिलन थे, समाज-रचनाके लिए गोष्ठीबद्ध या परस्पर-ग्रथित अहंभावों और स्वार्थोंका समायोजन थे, सामान्य और सार्वजनीन जीवन-उद्देश्योंके सहारे होनेवाली संहति थे, आवश्यकताके कारण और बाह्य शक्तियोंसे संघर्षके चापके कारण होनेवाला एकीकरण थे: जीवनका जो एकमात्र सत्य इन निर्माणोंका स्थान ले सकता है वह है हमारी सत्ताके गंभीरतर तथा विशालतर सत्यसे उत्पन्न एकत्व, पारस्परिकता और सामंजस्यका जीवन। मानवजाति ऐसे ही परिवर्तन और जीवनकी ऐसी ही नवगठनकी खोज अंधतासे आरम्भ कर रही है, और अब अधिकाधिक इस बोधके साथ कर रही है कि उसका तो अस्तित्व ही उस मार्गको खोज सकनेपर निर्भर कर रहा है। प्राणपर क्रिया करते मनके

क्रमविकासने मनकी क्रियाशीलताका एक ऐसा संगठन और जड़का ऐसा उपयोग विकसित किया है कि वह आन्तरिक परिवर्तनके बिना मनुष्यकी धारण-शक्तिके बाहर हो गया है। मानवीय वैयक्तिकता अहंकेन्द्रिका है, साहचर्यमें भी पृथगात्मिका है; यह अनिवार्य हो गया है कि उसका समायोजन ऐसी जीवन-प्रणालीसे किया जाय जिसमें एकत्व, पूर्ण पारस्परिकता और सामंजस्यकी मांग होगी। परन्तु चूंकि मानव-जातिपर डाला जा रहा बोझ मानव-व्यक्तित्वकी वर्तमान तुच्छता और उसके तुच्छ मन और क्षुद्र प्राणिक सहजप्रवृत्तियोंके लिये अत्यधिक बड़ा है, चूंकि वह आवश्यक परिवर्तन नहीं कर सकता, चूंकि वह इस नये यंत्रसमूह और संगठनको मानवजातिकी उस पुरानी ही प्राण-सत्ताकी सेवामें काममें ले रहा है जिसे आध्यात्मिक और बौद्धिक प्रकाश प्राप्त नहीं हुआ है, चूंकि प्राणिक अहं अतिकाय शक्तियोंकी पकड़में है जिनका पैमाना मानवजाति द्वारा विकसित विशाल यांत्रिक जीवन-संगठन और वैज्ञानिक ज्ञानके पैमानेके जितना है और इतना अधिक बड़ा है कि उसकी बुद्धि और इच्छाशक्ति उनका परिचालन नहीं कर सकतीं, अतः परिणाम यह है कि प्राणिक अहंके चालनके अधीन मानवजातिकी नियति एक दीर्घ-स्थायी अव्यवस्था, खतरनाक संकटावस्था और उत्ताल तथा चलायमान अनिश्चितिकी तमिस्राकी ओर संकटशाली रूपसे, मानों अधीरतासे और अपने-आपके बावजूद बढ़ती लग रही है। यह यदि एक अस्थायी पर्व या रूप ही प्रमाणित हो और रचनाके ढांचेमें कोई कामचलाऊ समायोजन मिल भी जाय जो मानवजातिको उसकी अनिश्चित यात्रामें कम सर्वनाशी रूपसे बढ़नेमें सक्षम करे, तो भी यह एक विराम ही हो सकता है। कारण, समस्या मूलगत है और उसे सामने रखनेमें मनुष्यगत क्रमविकासिनी प्रकृति अपने सामने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण चुनाव खड़ा कर रही है, और यदि मानवजातिको अपने लक्ष्यतक पहुँचना या जीवित ही रहना है, तो उसे उसका समाधान, सच्चे अर्थमें, एक दिन करना ही होगा। क्रमविकास-प्रेरणा पार्थिव जीवनमें विश्वशक्तिके एक ऐसे विकासकी ओर प्रवृत्त कर रही है जिसके आधारके लिये एक विशालतर मनोमयी तथा प्राणमयी सत्ता, एक विशालतर मन, एक अधिक श्रेष्ठ, अधिक विशाल, अधिक चेतन, सर्वात्मगुण 'प्राणपुरुष'की आवश्यकता है, और फिर, उसके आश्रयके लिये अन्तरके सच्चे 'आत्मा' तथा 'अध्यात्म-पुरुष'के अनावरणकी आवश्यकता है।

इस संकटावस्थामें इसके समाधानके लिये प्रस्तावके रूपमें आधु-

निक मन जो कुछ उपस्थित करता है वह प्राणवादी और जड़वादी मनुष्य और उसके जीवनके लिये युक्तिबुद्धि और भौतिक विज्ञानसे मिला हुआ सूत्र ही, पूर्णीकृत आर्थिक समाजकी खोज और औसत मनुष्यकी गणतंत्रीय उपासना भर ही है। इन विचारोंको अवलम्ब देनेवाला सत्य चाहे जो कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि वह उस मानवजातिकी आवश्यकता पूरी करनेके लिये पर्याप्त नहीं जिसे अपने-आपसे परे विकसित होनेका लक्ष्य दिया गया है, या अन्ततः जिसे यदि जीना ही है तो वर्तमानमें वह जो कुछ भी है उससे आगे कहीं दूर निकल जाना होगा। जातिमें और औसत मनुष्यमें भी एक प्राणिक सहज-वृत्तिने यह अपर्याप्तता अनुभव कर ली है और वह मूल्योंको उलट देने या नये मूल्योंका अनुसंधान करने और जीवनको एक नयी भित्तिपर स्थानान्तरित करनेकी ओर संचालित कर रही है। उसने सामूहिक जीवनके लिए एकता, पारस्परिकता और सामंजस्यका एक सरल और बना-बनाया आधार पाने, उस आधारको अहं-भावोंके प्रतिस्पर्द्धात्मिक संघर्षका दमन करके आरोपित करने और इस प्रकार विभिन्नताके जीवनके स्थानपर समुदायके लिये एकसमताके जीवनपर पहुँचनेके प्रयत्नका रूप लिया है। किन्तु इन वांछनीय लक्ष्योंकी सिद्धिके लिये उसने जो साधन अपनाये हैं वे अन्य सारे विचारोंका बहिष्कार करके कुछ थोड़ेसे सीमित भावों या नारोंका अधिष्ठापन और उनकी बलात्कृत और सफल चरितार्थता ही हैं; वे तो व्यक्तिके मनका दमन, जीवन-तत्त्वोंका यंत्रित संकोचन, प्राणशक्तिकी यांत्रिक एकता और परिचालना, राज्यके द्वारा मनुष्यपर बलात्कार और वैयक्तिक अहंके स्थानपर सामुदायिक अहंका स्थापन ही रहे हैं। सामुदायिक अहंको आदर्श बना कर उसे राष्ट्र, जाति और समुदायका अन्तरात्मा कहा जाता है, परन्तु यह एक बृहत् भूल है जो सांघातिक भी प्रमाणित हो सकती है। जिसे महत्तर माना जाता हो,—जैसे सामूहिक अन्तरात्मा, सामूहिक जीवन,—मन, प्राण और कर्मको किसी वैसी वस्तुके परिचालनके अधीन कर उनके अधिकतम तनावतक उठाना और उनकी एक बलारोपित और लादी गई एकताको लाना,—इसी सूत्रकी प्राप्ति हुई है। परन्तु यह तमोवृत सामूहिक सत्ता समुदायका अन्तरात्मा या आत्मा नहीं है; यह एक प्राण-शक्ति ही है जो अवचेतनमेंसे उठती है और यदि उसे बुद्धिके निर्देशनके प्रकाशसे वंचित रखा जाय तो वह केवल उन महाकाय तमिस्र शक्तियों द्वारा परिचालित हो सकती है

जो शक्तिशालिनी तो होतीं हैं किन्तु जातिके लिये संकटजनक भी, क्योंकि मनुष्य जिस चेतन क्रमविकासका संरक्षक और वाहन है उसके वे प्रतिकूल होती हैं। यह वह दिशा नहीं है जिसकी ओर क्रमविकासिका प्रकृतिने मानवजातिको इंगित किया है; यह किसी ऐसी वस्तुकी ओर वापसी है जिसे प्रकृति अपने पीछे छोड़ चुकी है।

जिस दूसरे समाधानका प्रयत्न किया गया है वह फिर भी जड़वादिनी युक्ति-बुद्धिपर और जातिके आर्थिक जीवनके एकीबद्ध संगठनपर आश्रित है; परन्तु पद्धति वहीकी वही प्रयुक्त की जा रही है,—मन और प्राण-का बलात् संकोचन, उनपर कृत्रिम एकमतताका आरोपण और सामु-दायिक जीवनका यांत्रिक संगठन। इस प्रकारकी एकमतता विचार तथा जीवनकी सारी स्वतंत्रताको संकुचित करके ही कायम रखी जा सकती है, और वह या तो वल्मीक सभ्यताका निपुण स्थायित्व लायगी या जीवनके स्रोतोंको सुखा डालेगी और द्रुत या धीमी अवनति लायगी। सामूहिक अन्तरात्मा और उसका जीवन चेतनाके विकास द्वारा ही अपने-आपको जान सकता और प्रगति कर सकता है; चेतनाके विकासके लिये मन और प्राणकी मुक्त क्रीड़ा आवश्यक है : कारण, जब तक कोई उच्चतर साधन नहीं विकसित हो जाता, मन और प्राण ही अन्तरात्माके एकमात्र साधन होते हैं; उनकी क्रियाको निरुद्ध नहीं करना है, उन्हें दुर्नम्य, नम्यताविहीन और अप्रगतिशील नहीं बना देना है। वैयक्तिक मन तथा प्राणके विकाससे उत्पन्न कठिनाइयों और अव्यवस्थाओंको व्यक्तिका दमन करके दूर करना स्वास्थ्यकर नहीं हो सकता; सच्चा उपचार केवल तब हो सकता है जबकि वह उस महत्तर चेतनामें प्रगति कर जाय जिसमें उसे अपनी परिपूर्ति और पूर्णता मिलती हो।

एक दूसरा समाधान है प्राकृत मनुष्यमें प्रकाशदीप्त बुद्धि और इच्छाशक्तिका विकास जबकि वह एक नये समाजभावापन्न जीवनके लिये सहमत होगा और उस जीवनमें वह अपने अहंको समुदाय-जीवनके सही आयोजनके हेतु गौण बना देगा। यदि हम यह पूछते हैं कि यह आमूल परिवर्तन करना कैसे है तो दो साधन प्रस्तावित लगते है, एक तो विशालतर और श्रेष्ठतर मानसिक ज्ञान, सही विचार, सही जान-कारी, सामाजिक और नागरिक व्यक्तिका सही प्रशिक्षण, और दूसरे, एक नये सामाजिक तंत्रका साधन जो प्रत्येक वस्तुका समाधान सामाजिक

यंत्रके जादूसे करेगा, और वह सामाजिक यंत्र मानवजातिको एक वेहतर नमूनेके अनुसार तराश रहा होगा। परन्तु किसी समय आशा चाहे जो भी रही हो, अनुभवमें ऐसा नही पाया गया है कि शिक्षा और बौद्धिक प्रशिक्षण अकेले ही मनुष्यको परिवर्तित कर सकते हैं; वे तो मनुष्यके वैयक्तिक तथा सामूहिक अहंको वेहतर जानकारी और उसके स्व-प्रतिष्ठापनके लिये एक निपुणतर यंत्र ही देते हैं, परन्तु उसे वहीका वही अपरिवर्तित मानवीय अहं छोड़ देते है। फिर, मानवीय मन तथा प्राणको किसी भी प्रकारके सामाजिक यंत्रसे तराश कर पूर्ण भी नहीं बनाया जा सकता; जिसे पूर्णता समझा जाता हो, पूर्णताका जो कृत्रिम अनुकल्प हो, उसके जैसा भी नहीं बनाया जा सकता; जड़को इस प्रकार तराशा जा सकता है, विचारको इस प्रकार तराशा जा सकता है, परन्तु हमारे मानव-जीवनमें जड़ और विचार अन्तरात्मा तथा प्राण-शक्तिके उपकरण मात्र हैं। यंत्र अन्तरात्मा और प्राण-शक्तिको मानकीकृत आकारोंमें नहीं ढाल सकता; अधिकसे अधिक वह उनपर बलप्रयोग कर सकता, अन्तरात्मा और मनको निश्चेष्ट तथा अचल बना दे सकता और प्राणकी बहिर्क्रियाको नियमित कर सकता है; परन्तु इसे यदि प्रभावी रूपसे करना है तो मन और प्राणपर बलप्रयोग और उनका संकोचन अपरिहार्य होते हैं और फिर, या तो अप्रगतिशील स्थाणुता या अवनति उसका परिणाम होती हैं। अपनी तार्किक व्यावहारिकताको साथ रखनेवाले युक्ति-धर्मी मनको प्रकृतिकी अस्पष्ट तथा संश्लिष्ट गति-विधिपर विजय पानेके लिये मन तथा प्राणके नियमन और यंत्री-करणके अतिरिक्त और कोई राह नहीं है। यदि ऐसा किया जाय तो मानवजातिके अन्तरात्माको या तो विद्रोह करके और जिस यंत्रकी जकड़में उसे डाल दिया गया था उसका विनाश करके अपनी स्वतं-त्रता और वृद्धि पुनः पानी होगी, या उसे अपने अन्दर प्रत्याहृत होकर और जीवनका परित्याग कर निष्कृति पानी होगी। मनुष्यके लिये सच्चा उपाय अपने अन्तरात्मा और उसकी आत्म-शक्ति तथा साधनोंका आविष्कार करना और उन्हें मनके यंत्रीकरण तथा प्राण-प्रकृतिके अज्ञान और अव्यवस्था दोनोंके स्थानपर वैठाना है। परन्तु विस्तीर्ण रूपसे नियमित तथा यंत्रीकृत सामाजिक जीवनमें आत्माविष्कार और आत्म-संसाधनकी ऐसी चेष्टाके लिये अवकाश और स्वातंत्र्य बहुत ही अल्प रहेगा।

यह सम्भावना रहती है कि जीवन और समाजकी यांत्रिक धारणासे

वापसीके झकोलेमें मनुष्यका मन धार्मिक विचार और धर्मशासित या धर्मानुमोदित समाजमें फिरसे शरण लेना चाहे। परन्तु यद्यपि संगठित धर्म व्यक्तिके लिये आन्तरिक उत्थानका साधन दे सकता और आध्यात्मिक अनुभवकी ओर व्यक्तिके खुलनेका मार्ग उस साधनके अन्दर या पीछे बचाये रख सकता है, तथापि उसने मनुष्यके जीवन तथा समाजको परिवर्तित नहीं किया है; वह ऐसा नहीं कर सका, क्योंकि समाजपर शासन करनेमें उसे प्राणके अवर अंगोंसे समझौता करना पड़ा और वह समूची सत्ताके आन्तरिक परिवर्तनका आग्रह नहीं कर सका; वह केवल किसी मतमान्यताकी संहृति, अपने नैतिक मानकोंके औपचारिक स्वीकरण और विधि-निषेध, रीति-रिवाज और आचार-अनुष्ठानके पालनका ही आग्रह कर सका। इस प्रकारका कल्पित धर्म एक धार्मिक-नैतिक रंग या बाह्य आभा दे सकता है,—कभी कभी, जब वह आन्तरिक अनुभवका कोई सबल अन्तःसार कायम रखता है, तब वह कुछ दूरीतक एक अधूरी आध्यात्मिक प्रवृत्तिको व्यापक बना दे सकता है, परन्तु वह जातिका रूपान्तर नहीं करता, वह मानव-जीवनके अभिनव तत्त्वकी सृष्टि नही कर सकता। केवल समूचे जीवन और समूची प्रकृतिको समग्र रूपसे आध्यात्मिक दिशाकी ओर मोड़कर ही मानव-जातिको उसकी अपनी भूमिसे ऊपर उठाया जा सकता है। धार्मिक समाधानसे सजातीय एक दूसरी यह धारणा सम्भव है कि समाजका निर्देशन वे लोग कर जिन्हें आध्यात्मिक उपलब्धि हो चुकी है, समधर्मियों या समपन्थियोंमें भ्रातृभाव या एकत्व हो, जीवनके पुराने यंत्रको किसी ऐसे एकीकरणमें उठाकर या एक नये यंत्रका आविष्कार कर जीवन तथा समाजका आध्यात्मीकरण हो। इसका भी प्रयत्न पहले किया जा चुका है, किन्तु सफलता नहीं मिली; यह अनेक धर्मोंका आद्य प्रस्थापक भाव था, परन्तु मानवीय अहं और प्राण-प्रकृति इतनी सबल थीं कि मनपर और मनके द्वारा कार्य करनेवाला धार्मिक भाव उसके प्रतिरोधको नहीं जीत सका। अन्तरात्माका परिपूर्ण उन्मज्जन, 'अध्यात्म-सत्ता'की स्वरूप ज्योति तथा शक्तिका परिपूर्ण अवतरण और परिणामस्वरूप हमारी अपर्याप्त मनोमयी और प्राणमयी प्रकृतिके स्थानपर आध्यात्मिक तथा अतिमानसी पराप्रकृतिका आगमन, या उस प्रकृतिका पराप्रकृति द्वारा रूपान्तर और उन्नयन,—केवल यही यह क्रमवैकासिक चमत्कार संपन्न कर सकता है।

प्रकृतिके आमूल परिवर्तनके लिये यह आग्रह, प्रथम दृष्टिमें, मानव-

जातिकी सारी आशाको क्रमविकासके किसी सुदूर भविष्यके लिये टाल देता प्रतीत हो सकता है; कारण, हमारी सामान्य मानवीय प्रकृतिका अतिक्रमण, हमारी मानसिक, प्राणिक और शारीरिक सत्ताका अतिक्रमण, एक अति उच्च तथा दुष्कर प्रयास लगता है और, वर्त्तमानमें, मनुष्य अभी जैसा है उसे देखते हुए असम्भव भी। यदि ऐसा हो तो भी वह जीवन-रूपान्तरके लिये एकमात्र सम्भावना रहेगा; कारण, मानव-प्रकृतिके परिवर्तनके विना मानव-जीवनके सच्चे परिवर्तनकी आशा एक युक्ति-असंगत और अनाध्यात्मिक वात है; यह किसी अस्वाभाविक और अवास्तव वस्तुकी, एक असम्भव चमत्कारकी माँग है। परन्तु यह परिवर्तन जिसकी माँग करता है वह ऐसा कुछ नहीं जो सर्वथा दूरवर्ती हो, हमारे जीवनके लिये विजातीय और मूलतः असम्भव हो; कारण, जिसे विकसित करना है वह हमारी सत्ताके भीतर विद्यमान है, उससे वाहरकी वस्तु नहीं : क्रमविकासिनी प्रकृति जिसके लिये जोर दे रही है वह है आत्मज्ञानकी ओर जागरण, आत्म-प्राप्ति, हमारे अन्दरके आत्मा तथा अध्यात्म-पुरुषकी अभिव्यक्ति और आत्माके ज्ञान, आत्माकी शक्ति, आत्माकी स्वाभाविक साधन-सम्पदाकी निर्मुक्ति। इसके अतिरिक्त, वह एक ऐसा डग है जिसके लिये समूचा क्रमविकास एक तैयारी रहा है, और मानव-नियतिकी प्रत्येक संकटावस्थामें, जव-जव सत्ताके मानसिक और प्राणिक क्रमविकासने ऐसे विन्दुका स्पर्श किया है जहाँ बुद्धि और प्राणिक शक्ति तनावकी किसी पराकाष्ठापर पहुँची हैं और यह आवश्यक हो गया है कि वे ढह जायँ, पराजयकी अवसन्नता या अप्रगतिशील निष्क्रियताकी विश्रान्तिमें वापस जा डूबें, या जिस आवरणके विरुद्ध वे जोर लगा रही हैं उसके वीचमेंसे अपनी राह चीर निकालें, वह डग समीपतर लाया जाता रहा है। आवश्यक यह है कि मानव-जातिमें इस परिवर्तनके आदर्शकी ओर दृष्टि मुड़े, उसका अनुभव थोड़े-से या वहुत सारे लोगोंको हो, उसकी अनुल्लंघ्य आवश्यकता अनुभूत हो, उसकी सम्भावनाका वोध हो, उसे अपने अन्दर सम्भव करने और मार्ग पानेकी इच्छा हो। वह प्रवृत्ति अनुपस्थित नहीं है और मानव-जगत्की नियतिमें संकटावस्थाके तनावकी वृद्धिके साथ-साथ यह प्रवृत्ति भी अवश्य वढ़ेगी; किसी निष्कृति या समाधानकी आवश्यकता, यह भावना कि आध्यात्मिक समाधानके अतिरिक्त कोई अन्य समाधान नहीं है, संकटापन्न परिस्थितिकी गुरुताके सामने वर्द्धित और अधिक अनिवार्य

हुए बिना न रहेगी। जीवकी उस पुकारका कोई उत्तर दिव्य सद्वस्तुमें और प्रकृतिमें सदा ही होगा।

निस्सन्देह, यह सम्भव है कि उत्तर केवल वैयक्तिक हो; इसका परिणाम अध्यात्मभावापन्न व्यक्तियोंकी संख्याका वर्द्धन हो सकता है या यह भी कल्पनीय है, किन्तु इसके होनेकी सम्भावना नहीं, कि मानवजातिके अध्यात्म-भावापन्न न हुए जनपुंजके बीच एक या कई विज्ञानमय व्यक्ति एकाकी रूपसे हों। ऐसे एकाकी सिद्ध पुरुष या तो अपने गुह्य दिव्य राज्यमें प्रत्याहृत हो जायँगे और आध्यात्मिक निर्जनतामें अपनी रक्षा किये रहेंगे या एक अधिक सुखद भविष्यके लिये ऐसी अवस्थामें जो थोड़ा कुछ तैयार किया जा सकता है उसके लिये मानव-जातिपर अपने आन्त-रिक प्रकाशसे क्रिया करेंगे। आन्तरिक परिवर्तन किसी सामूहिक रूपमें केवल तब साकार होना आरम्भ कर सकता है जबकि विज्ञानमय व्यक्तिको ऐसे अन्य लोग मिलें जिनका आंतरिक जीवन उसीके जैसा हो और वह उनके साथ एक ऐसी गोष्ठी बना सके जिसका अपना ही स्वतंत्र जीवन हो, या नहीं तो एक पृथक् जीव-समुदाय या वर्ग बना सके जिसके जीवनका अपना आन्तरिक स्वधर्म हो। यह जो ऐसे पृथक् जीवनकी आवश्यकता है जिसका अपना जीवन-नियम हो, जो आध्यात्मिक जीवनके आन्तरिक बल या चालिका शक्तिके अनुरूप किया गया हो और जो अपने लिये अपने स्वाभाविक वातावरणका सर्जन कर रहा हो, यही आवश्यकता भूतकालमें मठ-जीवनकी रचनामें या उन विभिन्न प्रयत्नोंमें व्यक्त हुई है जिन्होंने ऐसे नये पृथक् सामूहिक जीवनकी रचना करनी चाही थी जो स्वशासित था और अपने आध्यात्मिक तत्त्वके कारण सामान्य जीवनसे भिन्न था। मठ-जीवन स्वरूपतः परलोककी खोज करनेवालोंका, ऐसे मनुष्योंका संघ है जिनका सारा प्रयत्न आध्यात्मिक सद्वस्तुको अपने अन्दर पाना और सिद्ध करना है और जो अपने सामान्य जीवनकी गठन ऐसे जीवन-नियमोंसे करते हैं जो उन्हें उस प्रयासमें सहायता देते हों। साधारणतः यह किसी नूतन जीवन-रूपणकी सृष्टिके लिये प्रयास नहीं होता जो सामान्य मानव-समाजका अतिक्रमण और एक नयी जगत्-व्यवस्था-का सर्जन करे। हो सकता है कि कोई धर्म उस अन्तिम क्षितिजको अपने सामने रखे या उसकी ओर जानेका प्राथमिक प्रयत्न करे; कोई मानसिक आदर्शवाद भी वही प्रयास कर सकता है। परन्तु ये प्रयत्न सदा ही हमारी मानवीय प्राणिक प्रकृतिकी दृढ़ निश्चेतना तथा अज्ञान द्वारा

पराजित हुए हैं; कारण, वह प्रकृति एक ऐसी बाधा है जिसके हठधर्मी पुंजमें परिवर्तन लाना या जिसपर अपना स्थायी प्राधान्य बनाये रखना केवल आदर्शवादिता या असम्पूर्ण आध्यात्मिक अभीप्साके लिये सम्भव नहीं। वह प्रयास या तो अपनी ही अपूर्णताके कारण हार खा जाता है या उसपर बाह्य जगत्‌की अपूर्णताका आक्रमण होता है और वह अपनी अभीप्साके ज्योति-शिखरोंसे गिरकर सामान्य मानवीय स्तरकी मिश्रित और अवर वस्तु हो जाता है। जो आध्यात्मिक संघ-जीवन अन्न-प्राण-मनोमयी सत्ताको नहीं, अपितु आध्यात्मिक सत्ताको अभिव्यक्त करनेके लिये अभिप्रेत है, उसे सामान्य मानव-समाजके अन्नप्राण-मनोमय मूल्योंकी अपेक्षा महत्तर मूल्योंपर स्थायी रूपसे प्रतिष्ठित होना और निर्वाह करना होगा; यदि उसका आधार ऐसा नहीं हुआ तो वह बस थोड़ीसी भिन्नतावाला प्राकृत मानव-समाज ही रह जायगा। नया जीवन आविर्भूत हो इसके लिए यह आवश्यक है कि बहुत सारे व्यक्तियोंमें एक पूरी नयी चेतना आये जो उनकी समूची सत्ताको रूपान्तरित करे, उनकी मनोमयी, प्राणमयी और अन्नमयी प्राकृत सत्ताको रूपान्तरित करे; सर्वसामान्य मन-प्राण-शरीरकी प्रकृतिका रूपान्तर ही एक नये और सार्थक सामूहिक जीवनका आविर्भाव ला सकता है। क्रमविकास-प्रेरणाकी धारा अवश्य ही केवल मनोमय जीवोंके एक नये प्ररूपकी सृष्टि ही नहीं, अपितु ऐसे जीवोंके एक अन्य वर्गकी सृष्टि करनेकी होनी चाहिये जिन्होंने अपनी समग्र सत्ताको वर्तमान मननधर्मी पशुभावमेंसे पृथ्वी-प्रकृतिके एक महत्तर आध्यात्मिक स्तरपर उठा दिया हो।

पार्थिव जीवनका ऐसा सम्पूर्ण रूपान्तर बहुसंख्यक मनुष्योंमें तुरन्त ही सर्वथा स्थापित नहीं हो सकेगा; मोड़का बिन्दु आ जानेपर भी, निर्णायक रेखाको पार कर लेने पर भी, नये जीवनको अपने आरम्भमें अग्नि-परीक्षा और श्रमसाध्य विकासकी अवधिमेंसे निकलना होगा। पुरानी चेतनाका एक सामान्य परिवर्तन जो समूचे जीवनको आध्यात्मिक तत्त्वमें उन्नीत कर दे, पहला आवश्यक डग होगा; इसकी तैयारी लम्बी हो सकती है और रूपान्तरका एकबार आरम्भ होनेपर पर्व-पर्व आगे बढ़ना हो सकता है। व्यक्तिमें, एक विशेष बिन्दुके बाद, वह रूपान्तर द्रुत गतिसे हो सकता, यहाँ तक कि कूद लगाकर, क्रमवैकासिक छलांग भरकर अपने-आपको कार्यान्वित कर सकता है; किन्तु वैयक्तिक रूपान्तर जीवोंके-

किसी नये प्ररूप या किसी नये सामूहिक जीवनकी सृष्टि तो नहीं होगा। यह कल्पना की जा सकती है कि कतिपय व्यक्ति प्राचीन जीवनके बीच इस प्रकार पृथक्-पृथक् विकसित हों और बादमें नवजीवनका केंद्र स्थापित करनेके लिये सम्मिलित हों। परन्तु ऐसी सम्भावना नहीं है कि प्रकृति इस रीतिसे कार्य करेगी, और व्यक्तिके लिए भी निम्नतर प्रकृतिके जीवनके घेरेमें रहकर एक सम्पूर्ण परिवर्तन तक पहुँचना कठिन होगा। एक विशेष पर्वमें पृथक् समुदायके युग-पुरातन उपायका अनुसरण आवश्यक हो जा सकता है, परन्तु उसके उद्देश्य दो होंगे,—पहले तो एक निरापद वातावरण, एक अलग स्थान और जीवनका आयोजन जिसमें व्यक्तिकी चेतना ऐसे परिवेशोंमें अपने विकासपर एकाग्र हो सके जहाँ सब कुछ उस एक प्रयासकी ओर मुड़ा और केंद्रित रहे और, फिर, जब सारी तैयारी हो जाय तो उन परिवेशों और इस प्रस्तुत किये गये आध्यात्मिक वातावरणमें नवजीवनका निरूपण और विकास। हो सकता है कि प्रयासके ऐसे संकेंद्रणमें परिवर्तनकी सारी कठिनाइयाँ केंद्रीभूत शक्तिके साथ उपस्थित हो जायँ; कारण, चूँकि प्रत्येक साधक, जिस जगत्को रूपान्तरित करना है, उसकी सम्भावनाओंके साथ साथ उसकी अपूर्णताओंको भी अपने अन्दर लिये चलता है; अतः वह केवल अपनी समर्थताओंको ही नहीं, अपनी कठिनाइयों और प्राचीन प्रकृतिके विरोधोंको भी अन्दर लेता आयगा, और एक छोटेसे और निबिड़ संघजीवनकी सीमित परिधिमें साथ-साथ मिल जानेसे ये कठिनाइयाँ और विरोध अपनी विघ्नकारिताकी एक बहुत परिवर्द्धित शक्ति धारण कर ले सकते हैं जो क्रमविकासके लिये कार्य करनेवाली शक्तियोंके परिवर्द्धित बल और संकेंद्रणके पलड़ेकी बराबरी करना चाहेगी। यह एक ऐसी कठिनाई है जिसने भूतकालमें सामान्य मनोमय तथा प्राणमय जीवनकी अपेक्षा किसी श्रेष्ठतर, सत्यतर और अधिक समंजस वस्तुके विकासके लिये किये गये मनोमय मनुष्यके सारे प्रयत्नोंको तोड़ दिया है। परन्तु यदि प्रकृति प्रस्तुत हो और उसने अपना क्रमवैकासिक निर्णय ले लिया हो या यदि उच्चतर लोकोंसे अवतरित होते 'अध्यात्म-तत्त्व'की शक्ति पर्याप्त सबल हो, तो कठिनाई पराभूत हो जायगी और एक या अनेक प्रथम क्रमवैकासिक रूपायण सम्भव हो जायेंगे।

परन्तु यदि निर्देशिका 'ज्योति' एवं 'इच्छा' पर पूरी निर्भरताको और जीवनमें 'अध्यात्म-तत्त्व'के सत्यकी एक ज्योतिर्मयी अभिव्यक्तिको

ही विधान होना है, तो इसके लिये विज्ञानमय जगत्का, एक ऐसे जगत्का होना आवश्यक लगता है जिसमें उसके सारे जीवोंकी चेतना इसी आधारपर प्रतिष्ठित होगी। यह समझमें आ सकता है कि वहाँ विज्ञानमय समुदाय या समुदायोंमें विज्ञानमय व्यक्तियोंके जीवनमें पारस्परिक आदान-प्रदान स्वरूपतः ही एक बोधमयी और सामंजस्यमयी प्रक्रिया होगा। परन्तु यहाँ, वास्तविकतामें, विज्ञानमय पुरुषोंका जीवन अज्ञानमें रहनेवाले प्राणियोंके जीवनके मध्य या साथ-साथ बढ़ रहा होगा, उसमें आविर्भूत होने या उसमेंसे बाहर निकल आनेका प्रयत्न कर रहा होगा और फिर भी इन दो जीवनोंके धर्म एक दूसरेसे विपरीत और टकराते लगेंगे। तब आध्यात्मिक समुदायके जीवनका अज्ञान-जीवनसे पूरा ही अलगाव या पार्थक्य आवश्यक हो जाता जान पड़ेगा : कारण, नहीं तो, इन दो जीवनोंके बीच समझौता करना आवश्यक होगा और समझौतेसे महत्तर जीवनको छूत लग जाने या उसके अधूरे रहनेका संकट आयगा; जीवनके दो भिन्न-भिन्न और बेमेल तत्त्वोंका सम्पर्क होगा, और यद्यपि महत्तर निम्नतरको प्रभावित करेगा, तुच्छतर जीवनका भी महत्तरपर प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि ऐसा पारस्परिक आघात सारे सामीप्य तथा आदान-प्रदानका धर्म है। यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि क्या संघर्ष और संघट्ट ही उनके सम्बन्धका प्रथम नियम नहीं होंगे, क्योंकि अज्ञानके जीवनमें उन अन्धकार-शक्तियोंका कराल प्रभाव विद्यमान तथा सक्रिय है जो अशुभ और हिंसाको अवलम्ब देती हैं और जिन्हें मानव-जीवनमें प्रविष्ट होनेवाली सारी उच्चतर ज्योतिको संदूषित या नष्ट करना प्रिय है। जो कुछ भी नया है या मानव-अज्ञानकी स्थापित व्यवस्थासे ऊपर उठने या उससे अलग हो जानेका प्रयत्न करता है उसका विरोध और उसके प्रति असहिष्णुता, यहाँ तक कि उसका उत्पीड़न भी, या यदि वह विजयी हो जाय तो उसके अन्दर निम्नतर शक्तियोंका घुस आना, जगत्-के द्वारा उसका स्वीकार किया जाना जोकि उसके विरोधकी अपेक्षा अधिक संकटकारी होता है, और अन्तमें, जीवनके नये तत्त्वका विलोपन, उसका अवनयन या संदूषण, भूतकालका प्रायिक दृश्य रहे हैं; और यदि कोई आमूल नयी ज्योति या नयी शक्ति पृथ्वीको अपने दायके रूपमें माँगती हो, तो वह विरोध और भी अधिक हिंस्र हो जा सकता है और विफलताकी सम्भावना और भी अधिक बढ़ जा सकती है। परन्तु यह भी मानना होगा कि नयी और सम्पूर्णतर ज्योति एक नयी और

संपूर्णतर शक्ति भी लायगी। उसके लिये पूरा पृथक् होना आवश्यक नहीं भी हो सकता है; वह अपनी स्थापना बहुतेरे छोटे-छोटे द्वीपोंमें कर सकती है और वहाँसे प्राचीन जीवनपर अपने प्रभाव डालती हुई, उसमें अन्तःस्पन्दन करती हुई, उसपर अधिकार करती हुई, उसके लिये एक ऐसी सहायता और दीप्ति लाती हुई उसमें फैल जा सकती है जिसे मानवजातिमें एक नयी अभीप्सा कुछ समयके बाद समझना और चाहना शुरू कर सकती है।

परन्तु ये स्पष्टतः संक्रमण-कालकी समस्याएँ हैं; अभिव्यक्त होती 'शक्ति'का परिपूर्ण तथा विजयी परावर्तन हो जाने और विज्ञानमय पुरुषका जीवन मनोमय पुरुषके जीवनके जितना ही पार्थिव जगत-व्यवस्था-का स्थापित अंग हो जानेसे पहलेके क्रमविकासकी समस्याएँ हैं। हम यदि पृथ्वी-जीवनमें विज्ञान-चेतनाके स्थापित हो जानेकी कल्पना करें तो उसे उपलब्ध रहनेवाली शक्ति और ज्ञान मनोमय मनुष्यकी शक्ति तथा ज्ञानकी अपेक्षा बहुत महत्तर होंगे, और यदि हम विज्ञानमय पुरुषोंके किसी समुदायका जीवन पृथक् रहनेकी कल्पना करें, तो वह किसी निम्न-तर जातिके आक्रमणकी ओरसे उतना ही सुरक्षित होगा जितना कि मनुष्य-का संगठित जीवन। परन्तु जैसे यह ज्ञान और विज्ञानमयी प्रकृतिका तत्त्व ही विज्ञानमय पुरुषोंके संघ-जीवनमें ज्योतिर्मयी एकताको सुनिश्चित रखेगा, वैसे ही वह जीवनके इन दो प्ररूपोंके बीच एक प्रधा-नताशाली सामंजस्य तथा मेलको सुनिश्चित रखनेके लिये पर्याप्त होगा। अतिमानसिक तत्त्वका पृथ्वीपर जो प्रभाव होगा वह अज्ञानके जीवनपर भी पड़ेगा और उसकी सीमाओंमें उसपर सामंजस्य प्रतिष्ठित करेगा। यह कल्पनीय है कि विज्ञान-जीवन पृथक् हो, परन्तु वह अपने सीमान्तोंके अन्तर्गत अपने मानव-जीवनको अवश्य ही प्रवेश देगा जो आध्यात्मिकता-की ओर अभिमुख हो गया होगा और शिखरोंकी ओर प्रगति कर रहा होगा; बाकी जीवन अपना संगठन प्रधानतः मनोमय तत्त्व और प्राचीन भित्तियोंपर करता रह सकता है, किन्तु यह सम्भावना रहेगी कि ऐसा वह एक स्पष्ट श्रेष्ठतर ज्ञानकी सहायता पाकर और उससे प्रभावित होकर, उस सम्पूर्णतर सामंजस्य-सम्पादनकी रेखाओंपर करेगा जिसके लिये मानव-समष्टि अभी तक समर्थ नहीं है। तथापि, यहाँ भी, मन केवल सम्भावनाओं और सम्भाव्यताओंका ही पूर्वांकन कर सकता है; नूतन जगत्-व्यवस्थाके संतुलनका निर्धारण पराप्रकृति-स्थ अतिमानसिक तत्त्व ही वस्तु-सत्यके अनुसार करेगा।

विज्ञानघना पराप्रकृति हमारी सामान्य अज्ञानमयी प्रकृतिके सारे मूल्योंसे परे है; हमारे मानक और मूल्य अज्ञान द्वारा सृष्ट हैं, अतएव वे पराप्रकृतिके जीवनको निर्धारित नहीं कर सकते। साथ ही, हमारी वर्तमान प्रकृति पराप्रकृतिसे निःसृत हैं, वह निरा अज्ञान नहीं, वरन् अर्ध-ज्ञान है; अतः यह मानना युक्तिसंगत है कि उसके मानकों और मूल्योंके अन्दर या पीछे जो भी आध्यात्मिक सत्य है वह उच्चतर जीवनमें पुनः प्रकट होगा, मानकोंके रूपमें नहीं, अपितु रूपान्तरित तत्त्वों, अज्ञानमेंसे उठाये गये और एक अधिक ज्योतिर्मय जीवनके सच्चे सामंजस्यमें ऊपर ले जाये गये तत्त्वोंके रूपमें। विश्वात्मभावको धारण करनेवाला आध्यात्मिक व्यक्ति जैसे-जैसे सीमित व्यक्तित्वको, अहंको उतार डालता है, जैसे-जैसे वह पराप्रकृतिमें अधिक सम्पूर्ण ज्ञानकी ओर मनसे परे उठता है, वैसे-वैसे मनके विरोधी आदर्श भी अवश्य ही उससे दूर छिटकते जायेंगे, परन्तु उनके पीछे जो वस्तु सत्य है वह पराप्रकृतिके जीवनमें रहेगी। विज्ञान-चेतना एक ऐसी चेतना है जिसमें सारे विरोध दृष्टि और स्थितिकी उच्चतर ज्योतिमें, एकीबद्ध आत्म-ज्ञान तथा जगत्-ज्ञानमें एक दूसरेमें रद्द हो जाते या घुलमिल जाते हैं। विज्ञानपुरुष मनके आदर्शों और मानकोंको नहीं मानेगा; वह अपने लिये, अपने अहंके लिये, मानव-जाति या दूसरोंके लिये, समुदाय या राष्ट्रके लिये जीनेको प्रवृत्त नहीं होगा; कारण, उसे इन अर्द्ध-सत्योंकी अपेक्षा किसी श्रेष्ठतर वस्तुकी, दिव्य 'सद्वस्तु'की संवित् रहेगी, और वह उसीके लिये, अपने अन्दर और सबके अन्दर उसकी जो इच्छा है उसीके लिये, एक विशाल विश्वात्मकताके अन्तर्भावमें, विश्वातीतकी इच्छाके आलोकमें जीयेगा। इसीलिये विज्ञान-जीवनमें स्व-प्रतिष्ठापन और परहितके बीच कोई संघर्ष नहीं हो सकता, क्योंकि विज्ञान-पुरुषका आत्मा सबके आत्माके साथ एक है,—व्यक्तिवादके आदर्श और समाजवादके आदर्शके बीच भी कोई संघर्ष नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों ही एक महत्तर 'सद्वस्तु'की अभिधाएँ हैं और विज्ञानपुरुषके आत्माके लिये उनका मूल्य वहीं तक हो सकता है जहाँ तक वे उस 'सद्वस्तु'को व्यक्त करते हैं या उनकी परिपूर्ति उस 'सद्वस्तु'की इच्छाके लिये उपयोगी होती है। परन्तु साथ ही, मनोमय आदर्शोंमें जो सत्य है और उनमें धुँधले रूपसे व्यक्त हुआ है, वह विज्ञानमय पुरुषके जीवनमें परिपूरित होगा; कारण, जबकि उसकी चेतना मानव-मूल्योंका अतिक्रमण किये होगी जिसके परिणामस्वरूप वह

मनुष्य-जाति या समुदाय या राष्ट्र या दूसरोंको या अपने-आपको ईश्वरके स्थानपर प्रतिष्ठित नहीं कर सकेगा, उसका अपने अन्दर भगवान्‌का प्रतिष्ठापन और दूसरोंके अन्दर भगवान्‌का बोध और मानव-जातिके साथ, अन्य सकल प्राणियोंके साथ, सारे जगत्‌के साथ, उनके अन्दर भगवान्‌के रहनेके कारण एकत्वका बोध, और उनमें वर्द्धमान 'सद्वस्तु' के महत्तर तथा श्रेष्ठतर प्रतिष्ठापनकी ओर पथप्रदर्शन, उसके जीवन-कर्मका अंग होगा। परन्तु वह क्या करेगा इसका निर्णय होगा उसमें विद्यमान 'ज्ञान' एवं 'इच्छा'के 'सत्य' द्वारा, समग्र तथा अनन्त सत्य द्वारा जो किसी एक ही मानसिक नियम या मानकसे बँधा नहीं होता, वरन् अखंड सत्यतामें स्वतंत्र रूपसे, प्रत्येक सत्यको उसके अपने-अपने स्थानमें आदर देता हुआ और विश्व-विकासक्रमके डग-डगपर और प्रत्येक घटना तथा परिस्थितिमें क्रियारत शक्तियोंका और अभिव्यक्त हो रहे भागवत प्रवेगके अभिप्रायका स्पष्ट ज्ञान रखता हुआ कार्य करता है।

आध्यात्मिक अथवा विज्ञानमय पुरुषकी सिद्ध चेतनाके लिये सारा ही जीवन 'अध्यात्म-सत्ता'के सिद्ध सत्यकी अभिव्यक्ति होगा; जीवनकी स्वीकृति केवल उसे ही दी जा सकेगी जो अपने-आपको रूपान्तरित कर सकता, अपने आध्यात्मिक स्वरूपको उस महत्तर सत्यमें ढूंढ़ ले सकता और उसके सामंजस्यमें घुलमिल जा सकता है। इस प्रकार क्या क्या टिका रहेगा इसका निर्णय मन नहीं कर सकता, क्योंकि अति-मानसिक विज्ञान स्वयं ही अपने स्व-सत्यको उतार लायगा और उस सत्यका जो भी अंश हमारे मन, प्राण और देहके आदर्शों और उप-लब्धियोंमें व्यक्त हुआ है उसे वह सत्य धारण कर लेगा। उस सत्यांशने इनमें जो रूप लिये हैं वे वहाँ शायद नहीं टिक सकते, कारण, परिवर्तन या नवस्थापनके बिना नवजीवनमें उनके उपयुक्त रहनेकी सम्भावना नहीं है; परन्तु इनमें या इनके रूपोंमें भी जो सत्य और स्थायी है उसके टिके रहनेके लिये उसका आवश्यक रूपान्तरण होगा। मानव-जीवनके लिये प्राकृत रहने वाली बहुत सी बातें विलुप्त हो जायेंगी। जो इतनी बहुत सारी मानसिक प्रतिमाएँ, निर्मित सिद्धान्त और प्रणालियाँ हैं, परस्पर संघर्ष करनेवाले आदर्श हैं जिनका सर्जन मनुष्यने अपने मन तथा प्राणके सारे प्रदेशोंमें किया है, उनकी कोई मान्यता या आदरणीयता विज्ञानके आलोकमें नहीं रह सकेगी; इन आकर्षक मूर्तियोंमें यदि कोई सत्य छिपा हो तो केवल उस सत्यको ही एक बहुत विशालतर आधारपर

अविच्छिन्न सामंजस्यके तत्त्वोंके रूपमें प्रवेशका अवसर मिल सकेगा। यह स्पष्ट है कि विज्ञान-चेतनाके द्वारा शासित जीवनमें न तो अपनी विरोध और शत्रुताकी भावनाको, अपनी क्रूरता, विनाशकारिता और अज्ञानमयी हिंसाको साथ रखनेवाले युद्धके अस्तित्वका कोई आधार रह सकेगा, न राजनैतिक संघर्षके ही अस्तित्वका जिसके साथ चिरकलह, प्रायिक उत्पीड़न, बेईमानियाँ, भ्रष्टता, स्वार्थी हेतु रहते हैं, उसकी अज्ञता, मूर्खता और गड्डमड्ड रहते हैं। कला और शिल्प रहेंगे, परन्तु किसी अवर मानसिक या प्राणिक विनोदके लिये नहीं, अवकाशमें मनोरंजन और आरामदायक उत्तेजना या सुखके लिये नहीं, वरन् 'अध्यात्म-सत्ता'के सत्य और जीवनके सौन्दर्य तथा आनन्दकी अभिव्यक्ति और साधनके रूपमें। तब प्राण और शरीर वे अत्याचारी स्वामी नहीं रह जायेंगे जो जीवनका नव-दशांश अपनी तुष्टिके लिये माँग रहे हों, वरन् वे 'अध्यात्म-सत्ता'-की अभिव्यक्तिके लिये साधन और शक्तियाँ होंगे। साथ ही, चूंकि जड़ और शरीरको स्वीकार किया गया है, भौतिक वस्तुओंका सही उप-योग और उनपर प्रशासन पृथ्वी-प्रकृतिगत अभिव्यक्तिमें 'अध्यात्म-सत्ता'के सिद्ध जीवनका अंग होगा।

लगभग सर्वत्र ऐसा माना जाता है कि आध्यात्मिक जीवनको अनिवा-र्यतः संन्यासोचित दैन्यका जीवन, शरीरके निर्वाह मात्रके लिये जो नितान्त आवश्यक नहीं है उस सबका वर्जन होना होगा; और यह उस आध्या-त्मिक जीवनके लिये उपयुक्त है भी जिसका स्वरूप और उद्देश्य जीवनसे उपरतिका जीवन हो। उस आदर्शके अलावा भी ऐसा सोचा जा सकता है कि आध्यात्मिक मोड़ निरपवाद रूपसे एक चरम सादगी लायगा ही, क्योंकि बाकी सब कुछ प्राणिक कामना और शारीरिक भोगका जीवन होगा। परन्तु विशालतर दृष्टिकोणसे यह वह मानसिक मानक है जो अज्ञानके विधानपर आधारित है और जिसकी प्रेरिका शक्ति कामना है; अज्ञानको जीतनेके लिये, अहंका उच्छेद करनेके लिये, कामनाका ही नहीं, अपितु कामनाको तुष्ट कर सकनेवाली सारी वस्तुओंका समग्र वर्जन वैध सिद्धान्तके रूपमें प्रवेश कर सकता है। परन्तु यह मानक या कोई भी मानसिक मानक परम-चरम नहीं हो सकता, न ही वह कामनासे ऊपर उठ चुकी चेतनाको बाँधनेवाला विधान हो सकता है, क्योंकि सम्पूर्ण शुचिता और आत्म-प्रभुता तो उस चेतनाके स्वभाव-मर्ममें ही होगी और चाहे दरिद्रता हो चाहे समृद्धि, वह समान रहेगी; वस्तुतः, यदि इनमेंसे

किसीने भी उसे विचलित या गँदली कर दिया तो इसका अर्थ यह होगा कि वह अभी तक सच्ची या सम्पूर्ण नहीं है। विज्ञानजीवनका एकमात्र नियम होगा 'अध्यात्म-सत्ता'की स्वाभिव्यक्ति, 'दिव्य पुरुष' की इच्छा। वह इच्छा, वह स्वाभिव्यक्ति, चरम सादगी द्वारा प्रकट हो सकती है, या चरम संश्लिष्टता और वैभव द्वारा, या उनके स्वाभाविक सन्तुलनमें, —कारण, सौन्दर्य और समृद्धि, वस्तुओंमें छिपी मधुरता और हँसी; जीवनकी सूर्योज्ज्वलता और प्रसन्नता, ये भी 'अध्यात्म-सत्ता'की शक्तियाँ और अभिव्यक्तियाँ हैं। प्रकृतिके विधानका निर्धारण करता हुआ अन्तःस्थ 'अध्यात्म-पुरुष' सभी दिशाओंमें जीवनके ढाँचे और उसके ब्योरे और परिस्थितिका निर्धारण करेगा। सबमें वही सुनम्य रीति होगी; अनम्य मानकीकरण मनःरचित व्यवस्थाके लिये कितना ही आवश्यक क्यों न हो, वह आध्यात्मिक जीवनका विधान नहीं हो सकेगा। अन्तःस्थ एकता पर आधारित स्वाभिव्यक्तिकी एक बड़ी विविधता और स्वतंत्रता भली भाँति प्रकट हो सकेगी; परन्तु व्यवस्थाका सामंजस्य और सत्य सर्वत्र ही विद्यमान रहेगा।

क्रमविकासकी धाराको उच्चतर अतिमानसिक स्थितिकी ओर ले जाते विज्ञानपुरुषोंके जीवनको सत्यतः दिव्य जीवन कहा जा सकता है; कारण, वह जीवन भगवान्में होगा, भौतिक प्रकृतिमें अभिव्यक्त आध्यात्मिक ज्योति, शक्ति और आनन्दके आरम्भका जीवन होगा। मनोमय मानवका स्तर पार किये रहनेके कारण उसका वर्णन आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक अतिमानवताका जीवन कह करभी किया जा सकता है। परन्तु अवश्य ही इसे अतीत और वर्तमानकी अतिमानवता-सम्बन्धी धारणाओंसे उलझा नहीं देना है; कारण, मानसिक धारणाके अनुसार अतिमानवताका अर्थ सामान्य मानवीय स्तरसे ऊपर उठना है, स्तरके प्रकारमें नहीं, अपितु उसी प्रकारकी श्रेणीमें, परिवर्द्धित व्यक्तित्व द्वारा, वर्द्धित और अतिरंजित अहं द्वारा, मनकी वर्द्धित शक्ति द्वारा, प्राणिक शक्तिके वर्द्धित बल द्वारा,—वह तो मानव-अज्ञानकी शक्तियोंकी परिमार्जित या घनी और विशालकाय अतिवृद्धि है; अतिमानवका मानवजातिपर निरंकुश अधिकार होगा, यह भावना भी, सामान्यतः अन्तर्निहित रूपमें, उसके साथ चलती है। यह अतिमानवता नीट्शेकी अतिमानवताके प्रकारकी होगी; उसके बुरेसे बुरे रूपमें उसका अर्थ "गौरवर्ण पशु" या काले वर्णके पशु, या किसी भी और हर पशुका राज्य हो सकता है, बर्बर बल और

निर्ममता और शक्तिकी ओर वापस जाना हो सकता है : परन्तु यह कोई विकास नहीं होगा, यह एक प्राचीन दुर्निवार बर्बरताकी ओर प्रत्यावर्तन होगा। या इसका अर्थ मानव-जातिकी अपने-आपको पार करने और आगे निकल जानेकी, किन्तु गलत दिशामें होती कड़ी प्रचेष्टामेंसे राक्षस या असुरका प्राकट्य हो सकता है। हिंस्र, दुर्दान्त और स्फीत-काय प्राणिक अहं जो कि आत्म-परिपूर्तिके चरम अत्याचारी या अराजक बलसे अपनी तुष्टि कर रहा होगा, एक राक्षसी अतिमानवताका प्ररूप होगा : परन्तु दानव, दैत्य, जगत्‌भक्षी राक्षस,—यद्यपि वह अभी भी बचा हुआ है,—अन्तश्चेतनामें अतीतकी वस्तु है; उस प्ररूपका बृहत्तर उन्मज्जन भी एक पीछेकी ओर जानेवाला क्रमविकास होगा। एक दुर्द्धर्ष शक्तिका, एक स्व-प्रतिष्ठ, स्व-धृत,—यहाँ तक कि शायद तापसिक साधनों द्वारा आत्म-नियंत्रित—मानसिक सामर्थ्य और प्राण-बलका महत् प्रदर्शन, सशक्त, घनीभूत प्रचंडतामें स्थिर या भावशून्य या कराल, सूक्ष्मयुक्तिपूर्ण और अभिमावी; मानसिक अहं और प्राणिक अहं दोनोंका एक चरम विकास,—यह असुरका प्ररूप है। परन्तु पृथ्वीको भूतकालमें यह प्रकार पर्याप्त मिल चुका है और उसकी पुनरावृत्ति प्राचीन रेखाओंको ही दीर्घायु कर सकती है; उसे दानव या असुरसे अपने भविष्यके लिये कोई सच्चा लाभ, स्वातिक्रमणका कोई बल नहीं मिल सकता : उसमें यदि कोई महती या अधिसामान्य शक्ति हो तो भी वह उसे उसकी पुरानी धुरीपर ही विशालतर परिक्रमाओंमें ले जायगी। परन्तु जिसका आविर्भाव होना है वह एक बहुत अधिक दुरूह और एक बहुत अधिक सरल वस्तु है, वह है आत्मसिद्धि-प्राप्त सत्ता, आध्यात्मिक सत्ताका निर्माण, अन्तरात्माकी तीव्रता एवं प्रेरणा और अन्तरात्माकी ज्योति, शक्ति तथा सौन्दर्यकी निर्मुक्ति और प्रभुता,—अहमिकापूर्ण अतिमानवता नहीं जो कि मानव-जातिपर मनोमय और प्राणमय आधिपत्यको हस्तगत करना चाहती है, वरन् 'अध्यात्म-पुरुष'का अपने उपकरणोंपर प्रभुत्व, उसका अपने-आपपर अधिकार और 'अध्यात्म-तत्त्व'की शक्तिसे ही जीवनपर अधिकार, एक अभिनव चेतना जिसमें स्वयं मानवजातिको अपने स्वातिक्रमण और आत्म-सम्पूर्तिकी प्राप्ति उस दिव्यताके प्रगटनसे होगी जो उसमें जन्म लेनेके लिये उद्योग कर रही है। यही है एकमात्र सच्ची अतिमानवता, यही है क्रमविकासिनी प्रकृतिके आगेके डगकी एकमात्र यथार्थ सम्भावना।

यह नूतन स्थिति, वास्तवमें, मानवीय चेतना तथा जीवनके वर्त्तमान धर्मका परावर्तन होगी, क्योंकि वह अज्ञान-जीवनके सारे तत्त्व-विधानको ही पलट देगी। कहा जा सकता है कि अज्ञानके रसास्वादनके लिये, उसके कौतुकके लिये, उसमें साहसी अभियानके लिये ही, आत्मा निश्चेतनामें उतरा है और उसने जड़तत्त्वका छद्मवेश धारण किया है; यह उसने किया है सृष्टि तथा अन्वेषणके अभियान और आनन्दके लिये, नूतन और अज्ञातकी खोज और विजयके लिये; यह 'अध्यात्म-पुरुष'का अभियान है, मन और प्राणका अभियान है, उनका जड़के अन्दर अपने क्रिया-कलापोंके दुस्साहसी कौतुकके लिये अभियान है; जीवनका बीड़ा इस सबसे ही संघटित है और ऐसा लग सकता है कि अज्ञानके अवसानके साथ साथ इस सबका अवसान हो जायगा। मनुष्यका जीवन अज्ञानजनित प्रकाश-अंधकार, लाभ-हानि, कठिनाई-विपत्ति, सुख-दुःखसे बना है; वह निश्चेतनकी निर्ज्ञानता और असंवेदनशीलतापर आधारित जड़तत्त्वकी सामान्य निर्वर्ण भूमिपर गतिमान् रंगोंकी क्रीड़ा है। जिस जीवनमें सफलता और विफलता, प्राणिक हर्ष और शोक, संकट और अनुराग, सुख और दुःखकी प्रतिक्रियाएँ नहीं, भाग्य और संघर्ष, संग्राम और प्रयासके उलटफेर और अनिश्चितियाँ नहीं, नवीनता और विस्मयका हर्ष नहीं, अज्ञातमें प्रक्षिप्त होती सृष्टिका आनन्द नहीं, वह जीवन प्राकृत प्राण-सत्ताको विविधतासे रहित और फलतः प्राणिक आस्वादसे रहित लग सकता है। इन सबसे ऊपर उठनेवाला कोई भी जीवन उसे किसी ऐसी वस्तुकी तरह दीखने लगता है जो लक्षणहीन और रिक्त हो या किसी अपरिवर्त्तनशील एकसमताके आकारमें ढली हो; मनुष्यका मन स्वर्गका जो चित्र बनाता है वह किसी एक ही चिरन्तन तानकी सतत पुनरावृत्ति होता है। परन्तु यह एक गलत धारणा है; कारण, विज्ञानचेतनामें प्रविष्ट होना अनन्तमें प्रविष्ट होना है। वह वह आत्म-सृजन होगा जो अनन्तको सत्ताके रूपोंमें अनन्ततया व्यक्त कर रहा होगा, और अनन्तका रसास्वादन सान्तके रसास्वादनकी अपेक्षा बहुत महत्तर और बहुविचित्र है और साथ ही अक्षय रूपसे अधिक आनन्दमय भी। ज्ञानमें होनेवाला क्रमविकास अज्ञानमें हो सकनेवाले किसी भी क्रमविकासकी अपेक्षा एक अधिक सुन्दर और महिमायुक्त अभिव्यक्ति होगा जिसकी प्रगाढ़ता सर्वप्रकारेण अधिक होगी, और वहांके क्षितिज होंगे विशालतर, चर-उन्मेषशील। 'अध्यात्म-पुरुष'का आनन्द नित्य नूतन है, वह जिन सौन्दर्य-

रूपोंको धारण करता है वे असंख्य हैं, उसका देवत्व नित्य युवा है और अनन्तका रस शाश्वत एवं अक्षय। जीवनकी विज्ञानमयी अभिव्यक्ति अधिक परिपूर्ण और फलपूर्ण होगी और उसका रसास्वादन अज्ञानके सृजनात्मक रसास्वादनकी अपेक्षा अधिक उज्ज्वल होगा; वह एक महत्तर और सुखदतर सतत चमत्कार होगी।

यदि भौतिक प्रकृतिमें कोई क्रमविकास है और वह यदि सत्ताका वह क्रमविकास है चेतना तथा प्राण जिसकी युगल कुंचिकाएँ और साधन-शक्तियाँ हैं, तो अवश्य ही सत्ताकी यह परिपूर्णता, चेतनाकी यह परिपूर्णता, जीवनकी यह परिपूर्णता वह विकास-लक्ष्य होनी ही चाहिए जिसकी ओर हम बढ़ रहे हैं और जो, जल्दी हो या देरमें, हमारी भावीमें अभिव्यक्त होगी ही। प्राण और जड़की प्राथमिक निश्चेतनामेंसे जो आत्मा, जो अध्यात्म-पुरुष, जो सद्वस्तु अपने-आपको व्यक्त कर रही है, वह उसी प्राण तथा जड़में अपनी सत्ता एवं चेतनाके सम्पूर्ण सत्यको विकसित करेगी। वह 'आत्मा' अपने स्वरूपमें वापस लौट जायगा,—या यदि व्यष्टि-रूपमें उसका लक्ष्य अपने 'निर्विशेषत्वमें' लौटना हो तो वह उसमें भी वापस जा सकेगा,—परन्तु ऐसा वह जीवनसे निराश होकर नहीं, वरन् जीवनके अन्दर अपने-आपकी एक आध्यात्मिक सम्पूर्णताके द्वारा करेगा। अज्ञानमें हमारा क्रमविकास जिसमें आत्मान्वेषण और विश्वान्वेषणके रंग-बिरंगे हर्ष और वेदनाएँ हैं, पूर्तियाँ अधूरी हैं, प्राप्ति और विफलता नित्य साथ-साथ हैं, हमारी प्रथमावस्था ही है। वह हमें अनिवार्यतः ऐसे विकासक्रमकी ओर ले जायगा जो ज्ञानमें होगा, तब 'अध्यात्म-पुरुष' की स्व-प्राप्ति होगी, उसका स्वोन्मेष होगा, 'दिव्य पुरुष'का घट-घटमें अपनी प्रकृतिगत उस सच्ची आत्म-शक्तिके साथ आत्म-प्राकट्य होगा जो अभी भी हमारे लिये पराप्रकृति है।

समाप्त

परिशिष्ट

हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावली

अ

अंतःशायी	underlying
अंतःसंवृत	involved
अंतर्निष्ठ	inherent
अखण्ड	entire, integral
अति	excessive
अतिशय	excessive
अतीव	excessive
अपरार्द्ध	lower hemisphere
अमूर्त्तीकरण	abstraction

आ

आशु	immediate

क

केलासन	crystallisation

त

त्रुटिपूर्ण	deficient

द

दृष्टिशक्ति	vision

न

नर्सरी	nursery
निर्ज्ञान	nescient

प

परार्द्ध	higher hemisphere
परिणाम	consequence, result
पात्र	vessel

ब

बहुपुरुष	multi-person

म

मनःधातु	mind-substance
मनःप्रकृति	mental nature, mind-nature
मनोलोक	mental world
मनीषी	thinker
मायी	Lord of Maya
मुनि	spiritual sage

व

वैयक्तिकीकृत	individualised
व्यष्टि	individual

स

संन्यस्त	put forth
समीकरण	equation
समुच्चयित	aggregated
सर्वत्रग	All pervading
सुझावोंकी धौलधप्पड़	battery of suggestions
स्वतःसिद्धिकर	self-realising
स्वरूप-सत्य और वस्तु-सत्य	truth of being and truth of things